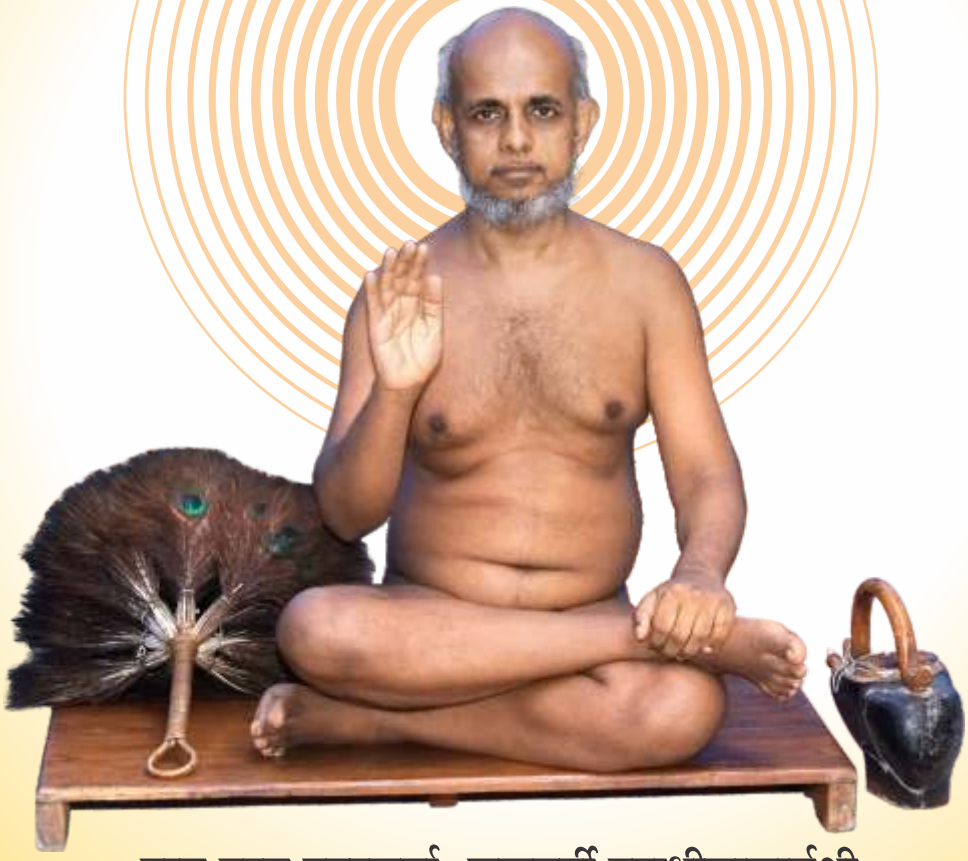

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

ॐ

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्

(चर्तुथ खण्ड)

हिन्दीभाषानुवादिका
पूज्य गणिनी आर्यिका 105 श्री सुपार्श्वमती माताजी

स्वर्णिम अमृत महोत्सव की भेंट

(परम्परानायक)

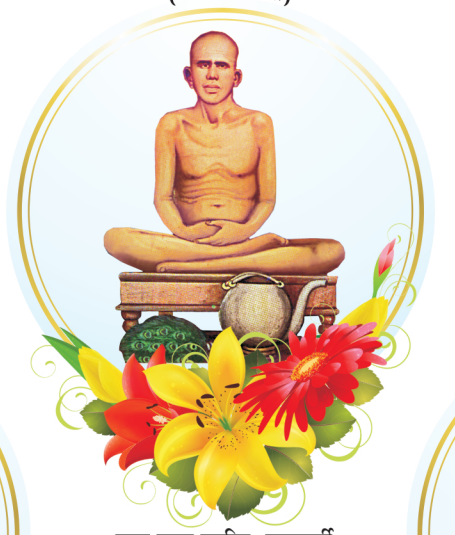

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

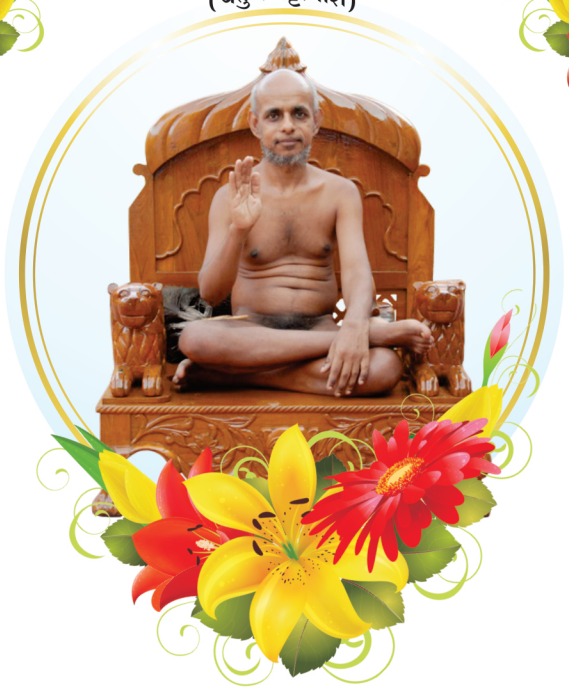

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

महर्षिविद्यानन्दविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारः

चतुर्थ खण्ड

हिन्दीभाषानुवादिका

गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी

श्रीमद्विद्यानन्दस्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालङ्कारः

(चतुर्थ खण्ड)

हिन्दी भाषानुवादिका

गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी

प्रकाशक :

पन्नालाल पाटनी

29-A/3, रामकृष्ण समाधि रोड (तीसरी मंजिल)

कोलकाता - 700054

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः
(चतुर्थ खण्ड)

रचयिता	:	महर्षि विद्यानन्द
हिन्दी अनुवादकर्त्री	:	गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी
सम्पादक	:	डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर
अर्थसहयोग	:	श्रीमान् पन्नालाल एवं श्रीमती सरोज पाटनी 29-A/3, रामकृष्ण समाधि रोड (तीसरी मंजिल) कोलकाता - 700054
प्राप्तिस्थान	:	चूड़ीवाल फार्म हाउस ओमेक्स सिटी के सामने, जयपुर
संस्करण	:	प्रथम, ५०० प्रतियाँ
प्रकाशन तिथि	:	दीपमालिका, वि.सं. २०६७
संकल्पना	:	निधि कम्प्यूटर्स, जोधपुर ✆ ०२९१-२४४०५७८
मुद्रक	:	हिन्दुस्तान प्रिन्टिंग हाउस, जोधपुर ✆ ०२९१-२४३३३४५

आर्यिकाश्री के दीक्षागुरु

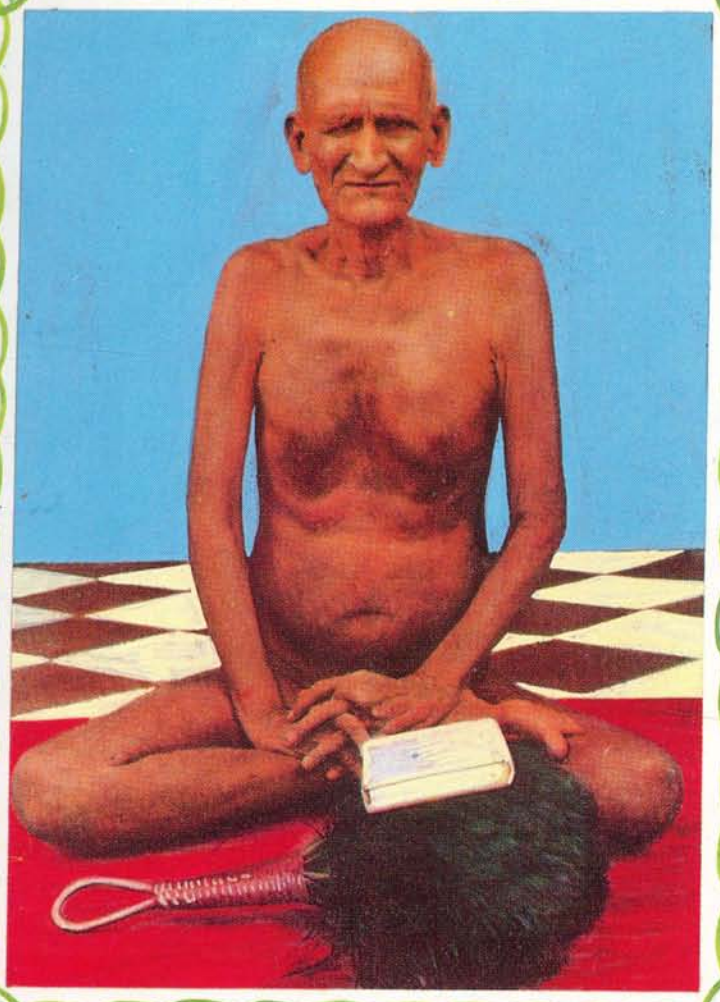

परम पूज्य (स्व.) आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज

स्वात्मैकनिष्ठं नृसुरादिपूज्यं, षड्जीवकायेषु दयार्द्रचित्तं।
श्रीवीरसिन्धुं भववार्धिपोतं, तं सूरिवर्यं प्रणमामि भक्त्या॥

जिनशासनप्रभाविका, सिद्धान्तसंरक्षिका, तपोनिधि अध्यात्ममूर्ति

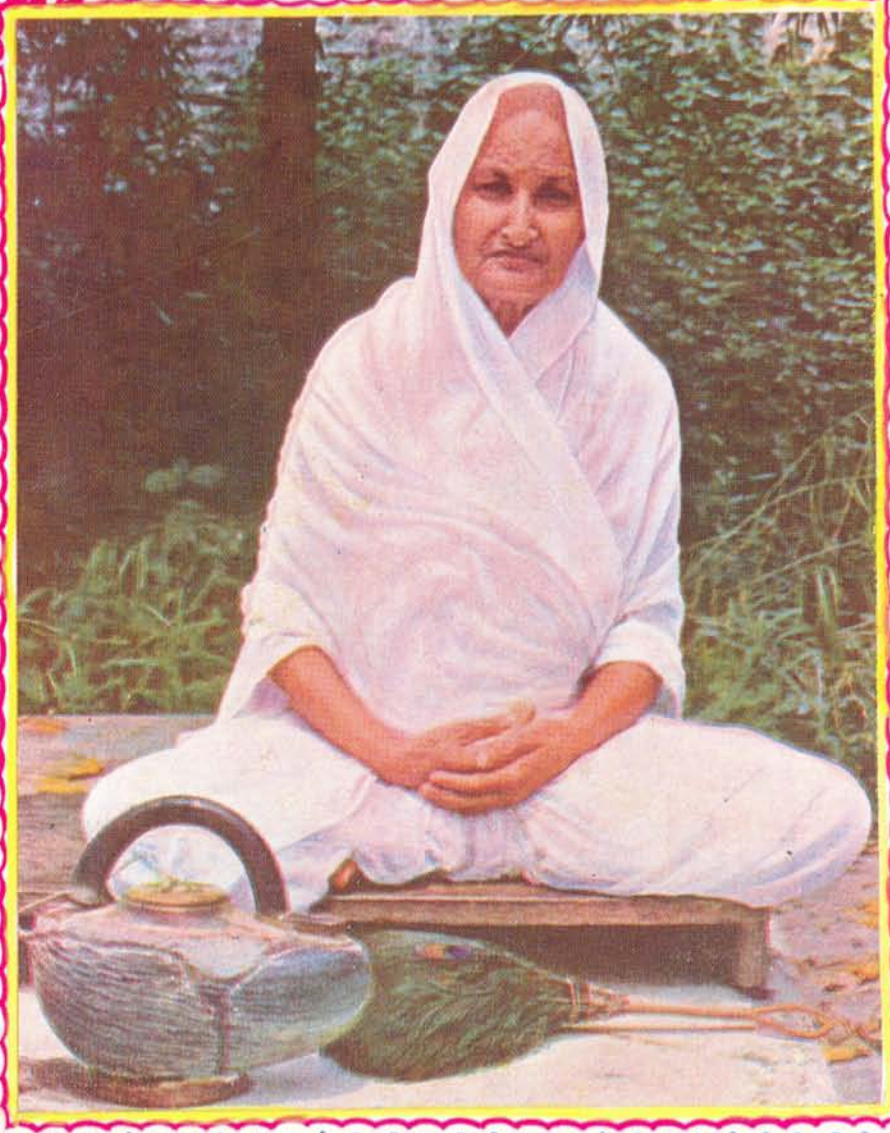

(स्व.) पूज्य आर्यिकाश्री इन्दुमती माताजी

जन्म	आर्यिका दीक्षा	समाधि
वि. सं. १९६२	वि. सं. २००६	वि. सं. २०४२
डेह (नागौर) राज.	नागौर (राज.)	सम्मेदशिखर (बिहार)

प्रस्तुत ग्रन्थ की अनुवादिका

आर्यिकाश्री सुपार्श्वमती माताजी

जन्म
वि. सं. १९८५
मैनसर-नागौर (राज.)

आर्यिका दीक्षा
वि. सं. २०१४
खानिया-जयपुर

गणिनी पद
वि. सं. २०४३
कानकी (बिहार)

卐 दो शब्द 卐

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार में **विद्यानन्दाचार्य** ने जैन दर्शन के तत्त्वों का तलस्पर्शी सूक्ष्म विवेचन किया है। उसके पठन, मनन और चिन्तन से तत्त्वों के स्वरूप की जानकारी हृदय को जो आनन्द प्रदान करती है, वह अलौकिक है। इसके प्रकरणों का अध्ययन कर चित्त आनन्द से गद्‌गद हो जाता है।

यह निश्चित है कि **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार** उमा स्वामी आचार्य विरचित **तत्त्वार्थसूत्र** के गहन गम्भीर तत्त्वों का विविध दृष्टिकोण से दर्शन कराने वाला विशाल दर्पण है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रमेयों का इतना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन करने वाला अन्य ग्रन्थ नहीं है।

सर्वप्रथम इस ग्रन्थ में मोक्षोपाय के सम्बन्ध में अत्यन्त गवेषणा के साथ विचार किया गया है। मुमुक्षु प्राणी का ध्येय है-संसार-भ्रमण से छुटकारा पाना। मोक्ष की प्राप्ति की कारणभूत क्रियाओं वा मानसिक प्रणतियों का दिग्दर्शन महर्षि विद्यानन्द स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** की विशिष्ट व्याख्या करके विशदार्थ का कथन किया है। ग्रन्थ के **प्रथम खण्ड** में मात्र पहले सूत्र का ही विषय विवेचित हुआ है। रत्नत्रय के बिना मुक्तिश्री वश में नहीं हो सकती है। रत्नत्रय की प्राप्ति से ही यह आत्मा मुक्तिरमा का वरण कर सकती है। इस तत्त्व का दर्शन हम आचार्यश्री विद्यानन्दजी के विवेचन में देखकर गद्‌गद हो जाते हैं।

ग्रन्थ के **दूसरे खण्ड** में त.सूत्र के प्रथम अध्याय के दूसरे से आठवें सूत्र तक का विवेचन है। इसमें सम्यग्दर्शन का स्वरूप, भेद, अधिगमोपाय, तत्त्वों का स्वरूप और भेद, तत्त्वज्ञान के साधक निक्षेपादि, निर्देशादि पदार्थ विज्ञान, सत्संख्याक्षेत्रादिक-तत्त्वज्ञान के साधनों की विस्तारपूर्वक व्याख्या है। इस व्याख्या में सम्यग्दर्शन से सम्बन्धित सर्वांगीण विस्तृत विवेचन है। ऐसा गहन विश्लेषण अन्यत्र नहीं मिलता।

नौवें सूत्र से बीसवें सूत्र तक का विवेचन-विश्लेषण ग्रन्थ के **तीसरे खण्ड** में है। सम्यग्ज्ञान का स्वरूप, सम्यग्ज्ञान के भेद, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विवेचन इस खण्ड का विषय है। ज्ञान (सामान्य) सर्वजीवों में पाया जाता है। अनन्तानन्त जीवों में एक भी जीव ज्ञानहीन नहीं है क्योंकि ज्ञान के अभाव में जीव का अस्तित्व ही नहीं रहता परन्तु जैसे कड़वी तूम्बी के संयोग से मधुर दूध भी कटु बन जाता है वैसे ही मिथ्यादर्शन के संयोग से ज्ञान भी मिथ्या बन जाता है। जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक ज्ञान सम्यग् नहीं कहलाता। सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र भी सम्यक् नहीं होता और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता के बिना आत्मा कर्मबन्ध से रहित होकर मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता।

ज्ञान पाँच प्रकार का है जो परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप में है। तार्किक विद्यानन्द आचार्य ने अकाट्य युक्तियों के द्वारा इनका तर्कपूर्ण विवेचन किया है जो आश्चर्यजनक है।

प्रस्तुत **चतुर्थखण्ड** में २१ वें सूत्र से अन्तिम ३३ वें सूत्र तक का विषय वर्णित है। अवधिज्ञान और मन: पर्ययज्ञान का विस्तार में कथन करते हुए विद्यानन्दाचार्यदेव ने केवलज्ञान-सर्वज्ञता की सुसंगत व्याख्या की है और नास्तिकों व मीमांसकों की सभी शंकाओं का निरसन किया है। अन्तिम सूत्र में वस्तु की सिद्धि करने के लिए नयों का सुसंगत विवेचन कर एकान्तवादियों के मतों का खण्डन किया है। सूत्र में सात नयों का उल्लेख आया है परन्तु आचार्य विद्यानन्द ने नयों के अनेक भेद किये हैं जो इन सप्त में गर्भित हो जाते हैं जैसे पुद्गल के सारे भेद परमाणु और स्कन्ध में गर्भित हो जाते हैं। ये नय शब्दनय, अर्थनय और ज्ञाननय के भेद से तीन प्रकार के हैं। जो नय जिस अंश का वाचक है वह शब्दनय है, वाच्य अंश अर्थ नय है और उस कथन से अनेक धर्मात्मक वस्तु की जो प्रतीति है वह ज्ञाननय है।

इसके अनन्तर आचार्यदेव ने **'तत्त्वार्थाधिगम भेद:'** के अन्तर्गत ४७० श्लोकों में जाति, छल, निग्रह, सभ्य, सभासद आदि का कथन किया है। स्वार्थ और परार्थ के भेद से अधिगम दो प्रकार का हैं। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान स्वार्थाधिगम है। श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है और परार्थ भी। ज्ञान रूप अधिगम स्व के लिए उपयोगी है और वचन रूप अधिगम श्रोताओं के लिए उपयोगी है। 'तत्त्व' का विशद कथन करके आचार्य विद्यानन्द ने भव्य जीवों का महाउपकार किया है।

ग्रन्थ के सम्पादन का दुरूह कार्य **डॉ. चेतनप्रकाश जी पाटनी, जोधपुर** ने किया है। चेतन जी नि:स्वार्थ सेवाभावी हैं और जिनवाणी की सेवा में समर्पित हैं। उनको मेरा आशीर्वाद है कि वे अन्त में दिगम्बर मुद्रा धारण कर जिनगुणसम्पत्ति को प्राप्त करें। यहाँ पर बहुत समय तक सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार करते रहें।

मेरे सभी कार्यों में सहयोग देने वाली **आर्यिका गौरवमती** (संघ को गौरवान्वित करने वाले नाम की धारक) के परिणामों की विशुद्धि की वृद्धि हो। उन्हें निर्दोष चारित्र पालने की शक्ति प्राप्त हो। वे दीर्घकाल तक भव्यों को सन्मार्ग पर लगायें और अन्त में समाधिपूर्वक प्राणों का विसर्जन करें-यही मेरी कामना भावना और आशीर्वाद है।

ग्रन्थ के प्रकाशन में अर्थसहयोगी **श्रीमान् घेवरचन्द जी पाटनी के सुपुत्र श्री पन्नालाल जी तथा उनकी पत्नी श्रीमती सरोज देवी** को शुभाशीर्वाद है कि उनके जीवन में संयम की ज्योति जगे; वे अपने धन का सत्कार्यों में उपयोग करें तथा सच्चे देवशास्त्रगुरु के प्रति उनकी दृढ़ आस्था बनी रहे।

- गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमती

卐 प्रस्तुति 卐

पूज्य गणिनी **आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी** कृत मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद सहित **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार** का प्रस्तुत **चतुर्थ खण्ड** स्वाध्यायी पाठकों के कर-कमलों में सौंपते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है।

जैन समाज की दोनों परम्पराओं - दिगम्बर और श्वेताम्बर - में **'तत्त्वार्थ सूत्र'** ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रचयिता **पूज्य उमास्वामी आचार्य** ने इसमें 'गागर में सागर' उक्ति को चरितार्थ किया है। **महर्षि विद्यानन्द स्वामी** ने इस परमागम के गूढ़ विषयों को अपनी गम्भीर शैली में सरल बना कर संस्कृत गद्य पद्य में **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार** के रूप में अभिव्यक्त कर तत्त्वजिज्ञासुओं का महदुपकार किया है।

पूज्य माताजी ने अतिविस्तार एवं स्वतंत्र विवेचन से बच कर 'अलंकार' का यथासम्भव मूलानुगामी सरस शब्दानुवाद-भावानुवाद प्रस्तुत किया है।

प्रथम खण्ड में तत्त्वार्थसूत्र के **प्रथम अध्याय** के प्रथम सूत्र की संस्कृत व्याख्या का अनुवाद हुआ था। **द्वितीय खण्ड** में दूसरे सूत्र से आठवें सूत्र तक के विषयों का गम्भीर विवेचन है। **तृतीय खण्ड** में नौवें सूत्र से २० वें सूत्र तक ग्रानी तृतीय आह्निक पर्यन्त सूत्रों का विशद विवेचन है।

प्रस्तुत **चतुर्थ खण्ड** में प्रथम अध्याय के २१वें सूत्र से अन्तिम ३३वें सूत्र तक के प्रमेयों का गम्भीर प्रतिपादन है। ग्रन्थकार ने अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान के स्वरूप और भेद के सम्बन्ध में प्रतिभापूर्ण विवेचन कर नयों के सम्बन्ध में गहन एवं विशद प्रतिपादन किया है। अन्त में **'तत्त्वार्थाधिगमभेदः'** शीर्षक से **आचार्यश्री विद्यानन्द जी** ने जो प्रकरण निबद्ध किया है वह विद्वानों के उपयोग की सामग्री है। इस प्रकरण में आचार्यश्री के ज्ञानकौशल का सम्पूर्ण वैभव चरम पर दिखाई देता है। आपकी मेधा, प्रतिभा और धारणाशक्ति को कोटि-कोटि नमन।

सूत्र २१ - चार निकाय के सभी देवों और सम्पूर्ण नारकियों के भव को ही कारण मान कर भवप्रत्यय अवधिज्ञान हो जाता है। सम्यग्दर्शन की सन्निधि में ही यह अवधिज्ञान है अन्यथा विभङ्गज्ञान है। संयम के अभाव में इनको गुणप्रत्यय अवधिज्ञान नहीं होता क्योंकि देव और नारकियों के सदा अप्रत्याख्यानावरण कर्म का उदय बना रहता है। बहिरंग कारण (भव) एक समान होने पर भी अन्तरंग क्षयोपशम की जाति का विशेष भेद होने से भिन्न-भिन्न देवों में और भिन्न-भिन्न नारकियों में अनेक प्रकार का देशावधिज्ञान होजाता है।

सूत्र २२ - क्षयोपशम को निमित्त पाकर शेष यानी कुछ मनुष्य, तिर्यंचों में गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। इसके छह प्रकार के विकल्प हैं - अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित। प्रतिपात और अप्रतिपात इन दो भेदों का इन्हीं छह भेदों में अन्तर्भाव कर दिया जाता है। यहाँ अवधिज्ञान का प्रकरण पूर्ण होता है।

सूत्र २३ - मन:पर्यय ज्ञान दो भेद वाला है ऋजुमति और विपुलमति। मन:पर्यय का प्रधान कारण क्षयोपशमविशिष्ट आत्मा है, दूसरे का या अपना मन तो अवलम्ब मात्र है। ऋजुमति मन:पर्यय सात - आठ योजन दूर तक के पदार्थों का विशद प्रत्यक्ष कर लेता है और विपुलमति तो चतुरस्र मनुष्यलोक में स्थित हो रहे पदार्थों को प्रत्यक्ष जान लेता है। द्रव्य की अपेक्षा मन:पर्ययज्ञानी कार्मण द्रव्य के अनन्तवें भाग को जानता है।

सूत्र २४ - मन:पर्ययज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर आत्मा की जो प्रसन्नता है, वह विशुद्धि है। मोहनीयकर्म का उद्रेक नहीं होने के कारण संयमशिखर से पतन नहीं होना अप्रतिपात है। इन दो धर्मों से ऋजुमति

और विपुलमति में ज्ञान का विशेष है। ऋजुमति की विशुद्धता से विपुलमति की विशुद्धि बढ़ी हुई है। विपुलमति गुणश्रेणियों में उत्तरोत्तर चढ़ता ही चला जाता है किन्तु ऋजुमति का गुणश्रेणी से अधोगुणस्थान में पतन हो जाता है, उपशम श्रेणी से गिरना अनिवार्य है। श्रेणियों में उपयोगात्मक तो श्रुतज्ञान वर्त रहा है। एकाग्र किये गये अनेक श्रुतज्ञानों का समुदाय ध्यान है। अत: मोक्षोपयोगी तो श्रुतज्ञान है। फिर भी इन ज्ञानों-अवधि, मन:पर्यय के सद्भाव का निषेध नहीं किया जा सकता है।

सूत्र २५ - विशुद्धि, ज्ञेयाधिकरण, स्वामी और विषय की अपेक्षा अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में अन्तर है। विशुद्धि में मन:पर्यय अवधि से अधिक विशुद्धि वाला है। क्षेत्र की अपेक्षा अवधि ही मन:पर्यय से प्रधान है। देशावधि का ही क्षेत्र लोक है। परमावधि और सर्वावधि तो असंख्यात लोकों में भी यदि रूपी पदार्थ विद्यमान हों तो उनको भी जान सकती हैं। स्वामी की अपेक्षा मन:पर्यय का स्वामी विशेष है। मन:पर्यय के विषय सूक्ष्म हैं। संख्या में अवधिज्ञान के विषय अत्यधिक हैं।

सूत्र २६ - जीवादि छहों द्रव्यों में तथा इन द्रव्यों की कतिपय पर्यायों में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय नियत है। केवल पर्यायों अथवा केवल द्रव्यों को ही विषय करने वाले दोनों ज्ञान नहीं हैं। ये दोनों अन्तरंग और बहिरंग अर्थों को जानते हैं। यहाँ आचार्यश्री ने बौद्धों के विज्ञानाद्वैत का प्रत्याख्यान कर अनेकान्त को सिद्ध किया है। श्रुतज्ञान अनेकान्तस्वरूप वस्तु का अच्छा प्रकाशक है और प्रमाण है। द्रव्य और पर्याय दोनों वास्तविक पदार्थ हैं। विशिष्ट रूप से ज्ञानावरण का विनाश नहीं होने के कारण अनन्त पर्यायों को मति और श्रुत नहीं जान सकते हैं। फिर भी जीवों में लघुकीट से लेकर प्रकाण्ड पण्डितों तक में इन दोनों ज्ञानों का ही वर्तमान में विस्तार है।

सूत्र २७ - अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अनुसार रूपी द्रव्य और उनकी कतिपय पर्यायों को अवधिज्ञान जान सकता है। अमूर्तद्रव्य और अनन्त पर्यायों को नहीं जान पाता है।

सूत्र २८ - अनन्त परमाणुवाले कार्माणद्रव्य के अनन्तवें भाग को सर्वावधिज्ञान जान लेता है, उसके भी अनन्तवें भाग स्वरूप छोटे पुद्गलस्कन्ध को द्रव्य की अपेक्षा मन:पर्ययज्ञान जान लेता है। इस प्रकार स्व पर मन में स्थित हो रहे मनुष्यलोक में विद्यमान सूक्ष्म स्कन्ध तक छोटे-बड़े रूपी पदार्थों को और उनकी कतिपय पर्यायों को मन:पर्ययज्ञान प्रत्यक्ष कर लेता है।

सूत्र २९ - सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी सम्पूर्ण पर्यायें केवलज्ञान का विषय हैं। केवल उपयोग में आ रहे या संसार और मोक्षतत्त्व के ज्ञान में उपयोगी थोड़े से पदार्थों को जान लेने मात्र से सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। हेय और उपादेय कतिपय तत्त्वों को जान लेने से भी सर्वज्ञपना इष्ट नहीं है। ज्ञान का स्वभाव सम्पूर्ण पदार्थों को जानना है। यहाँ आचार्यश्री ने नास्तिकों और मीमांसकों के कुतर्कों का खण्डन कर सर्वज्ञता की सिद्धि की है। यह ज्ञान इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता और क्रम से होने वाला भी नहीं है।

सूत्र ३० - एक आत्मा में एक ही समय में एक को आदि लेकर भाज्यस्वरूप चार ज्ञान तक हो सकते हैं। अर्थात् आत्मा की ज्ञानहीन रहने की कोई अवस्था नहीं है। चाहे विग्रह गति में हो अथवा सूक्ष्म निगोदिया के शरीर में हो उसके कोई-न-कोई एक ज्ञान तो अवश्य होगा। तथा एक समय में चार ज्ञानों से अधिक लब्धिस्वरूप ज्ञान नहीं हो सकते हैं। एक साथ पाँच ज्ञान कैसे भी नहीं हो सकते हैं। छद्मस्थ जीवों के एक समय में दो उपयोग नहीं होते हैं, इस पर आचार्यश्री ने अच्छा विचार किया है। क्षायोपशमिक ज्ञान क्रम से ही होते हैं। यहाँ बौद्धों की युक्तियों से ही जैन सिद्धान्त को पुष्ट किया गया है।

सूत्र ३१ - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये विपरीत भी हो जाते हैं। आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का विभाव परिणमन हो जाने पर इन तीनों ज्ञानों का विपर्ययपना सिद्ध होता है। आचार्यश्री ने इस तथ्य को दृष्टान्तों से पुष्ट किया है। कूटस्थ आत्मा का निराकरण कर उसे परिणमनशील सिद्ध किया है। संसारस्थ अनन्तानन्त जीव

तो मिथ्यादृष्टि अवस्था में मिथ्याज्ञानों से घिरे हुए ही हैं। वर्तमान काल की अपेक्षा असंख्यात जीवों के भी सम्यग्दर्शन हो चुकने पर पुनः मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धी के उदय हो जाने से यथायोग्य तीन ज्ञान विपर्ययस्वरूप हो जाते हैं। मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान समीचीन ही होते हैं।

सूत्र ३२ - सत् अर्थात् विद्यमान और असत् अर्थात् अविद्यमान का भेद न करके जब जैसा जी में आया वैसा ग्रहण करने के कारण उन्मत्त की तरह ज्ञान भी अज्ञान होता है। इस सम्बन्ध में सभी प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं पर गम्भीर विचार कर उनका निराकरण किया गया है और स्याद्वाद सिद्धान्त की सिद्धि की है। सादि अनन्त केवलज्ञान का अपूर्वार्थपना साधा गया है। मनःपर्ययज्ञान भी विपरीत नहीं होता। अवधिज्ञानों में केवल देशावधि ही कदाचित् मिथ्यात्व का उदय हो जाने से विपर्यय रूप हो जाती है, परमावधि और सर्वावधि विपर्यय नहीं हैं। यहाँ चतुर्थ आह्निक पूर्ण होता है।

सूत्र ३३ - अधिगम के दो उपाय प्रमाण और नय पहले कहे थे। प्रमाण का विस्तार से वर्णन करने के बाद नयों का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा है। संक्षेप से नय दो हैं- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं - नैगम, संग्रह, व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं - ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नय अर्थनय माने गये हैं शेष नय शब्दनय हैं। पूर्व-पूर्व नय कारणात्मक होने से बहुविषय हैं और उत्तर-उत्तर नय सूक्ष्म विषय हैं। उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय होने से इन नयों का यह क्रम है। ये नय गौणता और प्रधानता से परस्पर में बद्ध हुए सम्यग्दर्शन में हेतु होते हैं। निरपेक्ष नय मिथ्या नय हो जाते हैं तब सम्यग्दर्शन वह उत्पत्ति कराने में सहायक नहीं होते।

द्रव्य की वर्तमान परिणति उसकी व्यक्त पर्याय है। द्रव्यपर्याय एक काल में एक ही होती है - इसे 'क्रमवर्तीपर्यायाः सहवर्तीगुणाः' कह कर समझाया गया है। गुण द्रव्य से पृथक् नहीं रहते इसलिए उन्हें विषय करने वाला तीसरा गुणार्थिक नय नहीं है। आचार्यश्री ने प्रमाणसप्तभंगी के समान नयसप्तभंगी की व्याख्या की है।

इस प्रकार **श्री विद्यानन्द स्वामी** ने भेद-प्रभेद करते हुए नयों का समीचीन व्याख्यान किया है और विस्तार से विशेष जानने के लिए **'नयचक्र'** ग्रन्थ को देखने का परामर्श दिया है।

तत्त्वार्थाधिगमभेदः - यद्यपि मूल सूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने ''प्रमाणनयैरधिगमः'' ''निर्देशस्वामित्व.'' ''सत्संख्या.'' इन सूत्रों से तत्त्वार्थों का अधिगम होना कह दिया है किन्तु आग्रहपूर्वक एकान्तों का घोष कर रहे नैयायिक, बौद्ध, अभिमानिक आदि वादियों के साथ शास्त्रार्थ कर भिन्न-भिन्नरूप से उनको स्याद्वादियों द्वारा तत्त्वार्थों का अधिगम कराने के लिए उपयोगी यह **'तत्त्वार्थाधिगम'** नामक पाण्डित्यपूर्ण प्रकरण स्वयं श्री विद्यानन्द स्वामी द्वारा रचित है। इसमें रचनाकार ने तत्त्व निर्णय की रक्षार्थ एकान्तवादियों द्वारा प्रयुक्त निग्रहस्थानों की गहन समीक्षा करते हुए उन्हें सर्वथा अनुचित सिद्ध किया है और स्थापना की है कि स्वपक्ष की सिद्धि और उसकी असिद्धि करके ही जय पराजय व्यवस्था नियत है। स्वपक्ष की सिद्धि करना ही दूसरे का निग्रह हो जाना है। यह अकलंक रीति ही प्रशस्त है।

तत्त्व निर्णय करने के लिए किये गये वाद में प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास अथवा अननुभाषण, पर्यनुयोज्योपेक्षण, अप्रतिभा, विक्षेप, अविज्ञातार्थ, हेत्वन्तर, दृष्टान्तान्तर (नैयायिक) अथवा असाधनाङ्ग वचन और अदोषोद्भावन (बौद्ध), तात्त्विक, प्रातिभ (अभिमानिक वाद) इनसे जैसे निग्रह नहीं हो पाता है उसी प्रकार मिथ्या उत्तर स्वरूप अनेक जातियों (चौबीस आदि) से भी निग्रह नहीं होता है। छल (वाक्छल, सामान्य छल, उपचार छल), जातियाँ (साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा आदि २४ जातियाँ न्यायदर्शन में कथित) आदि निग्रहस्थानों द्वारा जिन जल्प, वितण्डा नामक शास्त्रों में साधन और उलाहने दिये जाते हैं उनसे

भी तत्त्वनिर्णय की रक्षा नहीं हो पाती है। इस प्रकार आचार्यश्री ने एकान्तवादियों का विश्वसनीय शैली में सतर्क खण्डन किया है।

आरम्भ में संवाद और वाद की परिभाषा दी है। रागद्वेषरहित वीतराग पुरुषों में जो वचनों द्वारा परार्थाधिगम कराया जाता है, वह संवाद है और परस्पर जीतने की इच्छा रखने वालों में परार्थाधिगम प्रवर्तता है, वह वाद कहा जाता है। संवाद में चतुरंग की आवश्यकता नहीं है किन्तु वाद में वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति इन चार अंगों की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार यह प्रकरण शास्त्रार्थ की प्रविधि पर पाण्डित्यपूर्ण विवचेन है।

इसी के साथ पंचम आह्निक (प्रकरण समुदाय) पूर्ण होता है।

इस प्रकार इस खण्ड में अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, एक साथ कितने ज्ञान, मिथ्याज्ञान के भेद व हेतु तथा नय के भेद सम्बन्धी अनेक प्रमेयों की कुल ४०१ वार्त्तिकों में व्याख्या है। तत्त्वार्थाधिगमभेद ४७१ वार्त्तिकों सहित आचार्यश्री की स्वतंत्र पाण्डित्यपूर्ण रचना है। इससे वार्तिककार और टीकाकार की अगाध विद्वत्ता का पता लगता है। सूत्रकार ने तो गागर में सागर भरा ही है।

परिशिष्ट में श्लोकानुक्रमणिका संलग्न है।

आभार :

मैं पूज्य **गणिनी आर्यिकाश्री सुपार्श्वमती माताजी** के श्रीचरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ। आपने अपनी अभीक्ष्ण ज्ञानाराधना और तप:साधना के फलस्वरूप इस जटिल दार्शनिक संस्कृत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया है और इसके सम्पादन-प्रकाशन कर्म में मुझे संलग्न कर मुझ पर अपार कृपा की है। मैं आपका आभारी हूँ।

यथाशीघ्र प्रकाशन हेतु सतत प्रेरणा करने वाली पूज्य **आर्यिका गौरवमती माताजी** के चरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ।

पं. मोतीचन्दजी कोठारी द्वारा तैयार की हुई पाण्डुलिपि से भी मूल संस्कृत पाठ का मिलान किया है अतएव मैं उनका भी आभारी हूँ।

इस महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ के सफल भाष्यकार तर्करत्न, सिद्धान्तमहोदधि, स्याद्वादवारिधि, दार्शनिकशिरोमणि, न्यायदिवाकर **श्रद्धेय पं. माणकचन्द जी कौन्देय, न्यायाचार्य** ने आचार्य विद्यानन्द की इस कृति पर अनेक वर्षों तक अथक परिश्रम पर **'तत्त्वार्थचिन्तामणि'** नामक भाषाटीका रची है, जिसका स्वाध्याय कर विज्ञ विद्वद्जन ने लाभ प्राप्त किया है। इस टीका से प्रस्तुत संस्करण को सँवारने में अप्रतिम सहायता मिली है। प्रस्तुत खण्ड में अनेक स्थलों पर तो 'तत्त्वार्थ चिन्तामणि' का ही अनुकरण-अनुसरण किया है।

ग्रन्थ के प्रकाशक **श्रीमान् पन्नालालजी पाटनी एवं परिवार** को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

कम्प्यूटर कार्य के लिए **निधि कम्प्यूटर्स** के **डॉ. क्षेमंकर** व उनके सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। सुरुचिपूर्ण मोहक मुद्रण के लिए **हिन्दुस्तान प्रिंटिंग हाउस, जोधपुर** धन्यवादार्ह है।

सम्यग्ज्ञान के इस महदनुष्ठान में यत्किंचित् सहयोग देने वाले सभी भव्यों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ और सम्पादन व प्रस्तुतीकरण में रही भूलों के लिए स्वाध्यायी बन्धुओं से सविनय क्षमायाचना करता हूँ।

५४-५५ इन्द्रा विहार — दीपमालिका पर्व — विनीत

न्यू पॉवर हाउस रोड, जोधपुर-३४२००३ — वीर निर्वाण संवत् २५३७ — **डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी**

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

किं पुनः कुर्वन्निदमावेदयतीत्याह;-

भवप्रत्यय इत्यादिसूत्रमाहावधेर्बहिः। कारणं कथयन्नेकं स्वामिभेदव्यपेक्षया ॥१॥

देवनारकाणां भवभेदात्कथं भवस्तदवधेरेकं कारणमिति न चोद्यं भवसामान्यस्यैकत्वाविरोधात्। कथं बहिरंगकारणं भवस्तस्यात्मपर्यायत्वादिति चेत्।

नामायुरुदयापेक्षो नुः पर्यायो भवः स्मृतः। स बहिःप्रत्ययो यस्य स भवप्रत्ययोऽवधिः ॥२॥

परोक्षभूत मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का कथन करके श्री उमा स्वामी अब क्रमप्राप्त अवधिज्ञान का व्याख्यान करने के लिए सूत्र कहते हैं -

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों और नारकियों के होता है॥२१॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से रूपी पदार्थों को जानना अवधिज्ञान है।

यह सूत्र किसलिए बनाया है? ऐसा पूछने पर कहते हैं -

अवधिज्ञान के देव और नारकी इन दो अधिपतियों के भेदों की विशेष अपेक्षा नहीं करके अवधिज्ञान के केवल बहिरंग एक कारण का कथन करते हुए श्री उमास्वामी ने **"भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां"** इस सूत्र का कथन किया है अर्थात् भिन्न दो स्वामियों के सामान्यरूप से एक बहिरंग कारण द्वारा हुए अवधिज्ञान का प्रतिपादक यह सूत्र है॥१॥

शंका - देवों की उत्पत्ति, स्थिति, सुख आदि भव की प्रक्रिया भिन्न है और नारकियों की उत्पत्ति, दुःख भोगना, नरक आयु का उदय आदि भव की पद्धति भिन्न है। इस प्रकार देव और नारकियों के भवों में भेद है, तो सूत्रकार ने उन दोनों के अवधिज्ञान का एक कारण भव ही कैसे कह दिया है?

समाधान - इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि सामान्य रूप से भव के एकपन का कोई विरोध नहीं है अर्थात् उपपाद जन्म की अपेक्षा दोनों एक हैं।

शंका - भव अवधिज्ञान का बहिरंग कारण कैसे हो सकता है? क्योंकि भव तो जीवद्रव्य की पर्याय है अर्थात् जीव के भवविपाकी आयुष्यकर्म का उदय होने पर जीव को उपादान कारण मानकर जीव की भवपर्याय होती है।

समाधान - गति नामक नामकर्म और आयुकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले जीव (आत्मा) की पर्याय को भव कहा गया है। जिस अवधिज्ञान का बहिरंग कारण भव है, वह ज्ञान भवप्रत्यय अवधि कहलाता ह॥२॥

बहिरंगस्य देवगतिनामकर्मणो देवायुषश्चोदयाद्देवभवः। तथा नरकगतिनामकर्मणो नरकायुषश्चोदयान्नरकभव इति। तस्य बहिरंगतात्मपर्यायत्वेऽपि न विरुद्धा। कथमत्रावधारणं, देवनारकाणामेव भवप्रत्ययोऽवधिरिति वा भवप्रत्यय एव देवनारकाणामिति? उभयथाप्यदोष इत्याह;-

येऽग्रतोऽत्र प्रवक्ष्यन्ते प्राणिनो देवनारकाः। तेषामेवायमित्यर्थान्नान्येषां भवकारणः ॥३॥
भवप्रत्यय एवेति नियमान्न गुणोद्भवः। संयमादिगुणाभावाद्देवनारकदेहिनाम् ॥४॥

नन्वेवमवधारणेऽवधौ ज्ञानावरणक्षयोपशमहेतुरपि न भवेदित्याशंकामपनुदति-

---

बहिरंग देवगति नामक नामकर्म और आयुष्यकर्म के उदय से आत्मा को देवभव होता है तथा नरकगति नामक नामकर्म और नरक आयु इन दो बहिरंग कारणों के उदय से आत्मा की नरकभव पर्याय होती है। इस प्रकार उस भव को आत्मा का पर्यायपना होने पर भी बहिरंग कारणपना विरुद्ध नहीं है।

शंका - देव और नारकी जीवों के ही भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है अथवा भवप्रत्यय अवधि ही देव और नारकियों के होती है? ऐसा अभिमत है, इन दोनों में कैसी अवधारणा है?

समाधान - दोनों प्रकारों से अवधारण करने पर कोई दोष नहीं आता है। इसी बात को आचार्य स्पष्ट करते हैं -

इसी तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में आगे तीसरे, चौथे अध्याय में जो प्राणी नारकी और देव कहे जायेंगे, उन प्राणियों के ही भव को कारण मान कर उत्पन्न होने वाला अवधिज्ञान होता है। अन्य मनुष्य या तिर्यंच प्राणियों के भवप्रत्यय अवधिज्ञान नहीं होता है। ऐसी अवधारणा को अन्वितकर अर्थ कर देने से देव, नारकियों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में भवप्रत्यय अवधिज्ञान का निराकरण हो जाता है॥३॥

भवप्रत्यय ही अवधिज्ञान देव, नारकियों के होता है। इस प्रकार दूसरा नियम कर देने से देव और नारकियों के गुण से उत्पन्न क्षयोपशमनिमित्त अवधिज्ञान का निषेध हो जाता है। क्योंकि देव और नारकियों के सदा अप्रत्याख्यानावरण कर्म का उदय बना रहने के कारण संयम, देशसंयम और श्रेणी आदि के भावस्वरूप गुणों का अभाव होने से वैक्रियिक शरीरधारी देवनारकियों के गुणप्रत्यय अवधिज्ञान नहीं होता है॥४॥

देवनारकियों के अवधिज्ञान में भवप्रत्यय की ही यदि अवधारणा की जाएगी, तब तो ज्ञानावरण का क्षयोपशम भी उस अवधिज्ञान का हेतु नहीं हो सकेगा? इस प्रकार की आशंका का **श्री विद्यानंद स्वामी** वार्तिकों से निराकरण करते हैं -

''भवप्रत्यय एव'' ऐसा कह देने से अवधिज्ञानावरण के कर्म के क्षयोपशम की हेतुता का व्यवच्छेद हो जाने का प्रसंग नहीं आता है, क्योंकि क्षयोपशम के अप्रतियोगीपन का निर्णय हो चुका है अर्थात् अवधारण द्वारा विपक्षभूत प्रतियोगियों का निवारण हुआ करता है।

भावार्थ - भवप्रत्यय का प्रतियोगी भवप्रत्ययाभाव या संयम आदि गुण हैं। अतः 'भवप्रत्यय ही' ऐसा अवधारण करने पर भवप्रत्ययाभाव का ही निवारण होता है।

नावधिज्ञानवृत्कर्मक्षयोपशमहेतुता। व्यवच्छेद्या प्रसज्येताप्रतियोगित्वनिर्णयात् ॥५॥
बाह्यौ हि प्रत्ययावत्राख्यातौ भवगुणौ तयोः। प्रतियोगित्वमित्येकनियमादन्यविच्छिदे ॥६॥

यथैव हि चैत्रो धनुर्द्धर एवेत्यत्रायोगव्यवच्छेदेऽप्यधानुर्द्धर्यस्य व्यवच्छेदो नापाण्डित्यादेस्तस्य तदप्रतियोगित्वात्। किं चैत्रो धनुर्द्धरः किं वायमधनुर्द्धर इति आशंकायां धानुर्द्धर्येतरयोरेव प्रतियोगित्वाद्धानुर्द्धर्यनियतेनाधानुर्द्धर्यं व्यवच्छिद्यते। तथा किमवधिर्भवप्रत्यय किं वा गुणप्रत्यय इति बहिरंगकारणयोर्भवगुणयोः परस्परं प्रतियोगिनोः शंकायामेकतरस्य भवस्य कारणत्वेन नियमे गुणकारणत्वं व्यवच्छिद्यते। न

अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम को कारणता का व्यवच्छेद नहीं हो सकता है, क्योंकि उन दो प्रकार वाले अवधिज्ञानों के बहिरंग कारण के प्रकरण में भव और गुण ये दो कहे गये हैं। अतः भव और गुण परस्पर एक दूसरे के प्रतियोगी हैं। इस कारण शेष अन्य का व्यवच्छेद करने के लिए एक का नियम कर दिया जाता है अर्थात् जिस देव या नारकी के भव को कारण मानकर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसमें संयम आदि गुण कारण नहीं हैं किन्तु अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम कारण अवश्य है। गुण तो बहिरंगकारण है और क्षयोपशम अन्तरंग कारण है। अतः भव के प्रतियोगी बहिरंगकारण गुण का देव नारकियों के अवधिज्ञान में निषेध है। किन्तु अप्रतियोगी क्षयोपशम का निषेध नहीं किया गया है॥५-६॥

एवकार तीन प्रकार का होता है। अयोग व्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद तथा अत्यन्तायोगव्यवच्छेद। इस प्रकरण में यह कहना है कि चैत्र विद्यार्थी धनुषधारी ही है। इस प्रयोग में जिस प्रकार अयोग का व्यवच्छेद होने पर भी चैत्र के अधनुर्धारीपने का ही प्रतिषेध हो जाता है, किन्तु चैत्र के अपण्डितपन आदि का व्यवच्छेद नहीं होता है क्योंकि उस धनुषधारी चैत्र के वे अपण्डितपन आदि प्रतियोगी नहीं हैं अर्थात् अप्रतियोगी है। यहाँ प्रतियोगी तो धनुषधारी रहितपना ही है। चैत्र क्या धनुषधारी है? अथवा क्या यह चैत्र धनुषधारी नहीं है? इस प्रकार आशंका होने पर धनुषधारीपन और धनुषरहितपन, इन दोनों का ही प्रतियोगीपन नियत हो रहा है।

जब चैत्र धनुषधारी है, इस प्रकार नियम कर दिया जाता है, तो उस नियम से चैत्र के धनुष धारण नहीं करने का व्यवच्छेद हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ अवधिज्ञान में समझना चाहिए। अवधिज्ञान क्या भव को कारण मानकर उत्पन्न होता है? अथवा गुण का निमित्तकारण पाकर उत्पन्न होता है? इस प्रकार बहिरंग कारण परस्पर एक दूसरे के प्रतियोगी भव और गुण की शंका होने पर पुनः दोनों में से एक भव का कारणपन करके नियम कर देने पर देव नारकों के अवधिज्ञान में गुण को कारण मानकर उत्पन्न होना व्यवच्छिन्न कर दिया गया है किन्तु फिर अवधिज्ञानावरण के विशेष क्षयोपशमरूप कारण का निषेध नहीं किया गया है क्योंकि क्षेत्र, काल, आत्मा आदि के समान वह क्षयोपशम तो उस भवस्वरूप बहिरंग कारण का प्रतियोगी नहीं है।

भव का नियम कर देने पर यदि गुण के समान उस क्षयोपशम का भी एवकार द्वारा व्यवच्छेद कर दिया जायेगा तब तो भव को साधारणकारणपना हो जाने से सम्पूर्ण भवधारी प्राणियों के साधारणरूप से अवधिज्ञान होने का प्रसंग आएगा; किन्तु सब जीवों का साधारण अवधिज्ञानपना इष्ट नहीं है अर्थात् -

पुनरवधिज्ञानावरण- क्षयोपशमविशेषः क्षेत्रकालादिवत्तस्य तदप्रतियोगित्वात्। तद्व्यवच्छेदे भवस्य साधारणत्वात्सर्वेषां साधारणोऽवधिः प्रसज्येत। तच्चानिष्टमेव। परिहृतं च भवतीत्याह।

प्रत्ययस्यान्तरस्यातस्तत्क्षयोपशमात्मनः। प्रत्यग्भेदोऽवधेर्युक्तो भवाभेदेऽपि चाङ्गिनाम् ॥७॥

कुतः पुनर्भवाभेदेऽपि देवनारकाणामवधिज्ञानावरणक्षयोपशमभेदः सिद्ध्येत् इति चेत्, स्वशुद्धिभेदात्। सोऽपि जन्मान्तरोपपत्तिविशुद्धिभावात्, नाभेदात्। सोऽपि स्वकारणभेदात्। इति न पर्यनुयोगो विधेयः कारणविशेषपरम्पराया: सर्वत्रापर्यनुयोगार्हत्वात्।

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

देवनारकियों के भी अन्तरंग कारण क्षयोपशम विद्यमान है। तभी बहिरंग कारण भव को मानकर सभी देवनारकियों के अवधिज्ञान या विभंगज्ञान एकसा नहीं होता है। उस अवधिज्ञान को देव और नारकियों के एक समान मानना अनिष्ट है।

उसी का परिहार करने के लिए आचार्य कहते हैं -

अन्तरंग में होने वाले उस अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम कारणस्वरूप देव और नारकियों में पृथक् पृथक् भेद हैं। अतः देव और नारकियों के साधारण बहिरंग कारण भव का अभेद होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रकार का क्षयोपशम होने से अवधिज्ञान में भेद है। एक समान अवधिज्ञान नहीं है॥७॥

शंका - भव का अभेद होने पर भी फिर देव और नारकियों के अवधिज्ञानावरण कर्म सम्बन्धी क्षयोपशम का भेद किस कारण से सिद्ध होता है?

समाधान - अपनी-अपनी आत्मा की शुद्धि के भेद से क्षयोपशम में भेद हो जाता है। अनेक जन्मान्तरों में उत्पन्न विशुद्धियों के सद्भाव से जीवों के भिन्न-भिन्न शुद्धि हो जाती है। अभिन्न कारण से भिन्न-भिन्न कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। कार्यभेद है तो कारणभेद अवश्य होता है। वह विशुद्धि या पुरुषार्थ आदि के भेद भी अपने-अपने कारणों के भेद से होते हैं। इस प्रकार प्रश्न परम्परा उठाना योग्य नहीं है। क्योंकि कारण विशेषों की परम्परा सर्वत्र पर्यनुयोग शंका उठाने के योग्य नहीं मानी गई है। अर्थात्-देवों में अवधिज्ञान के स्वभाव भेदों की प्राप्ति में जन्मान्तर के कुछ परिणाम भी उपयोगी होते हैं अतः देवों में अवधिज्ञान भेदयुक्त होता है।

आत्मा के पुरुषार्थ या कारणों से विशुद्धि के भेद होने से क्षयोपशम का भेद हो जाने पर ज्ञानभेद हो जाता है। इन प्रमाणप्रसिद्ध कार्यकारण भावों में कुचोद्य[1] (झूठी शंका) नहीं उठाना चाहिए।

यदि भवप्रत्यय अवधि देव, नारकियों के है तो क्षयोपशम निमित्त अवधि किनके होती है? इस प्रकार की जिज्ञासा का उत्तर है -

शेष तिर्यंच और मनुष्यों के क्षयोपशम के निमित्त से होने वाला छह विकल्पवाला अवधिज्ञान होता है॥२२॥

किमर्थमिदमित्याह;-

गुणहेतुः स केषां स्यात् कियद्भेद इतीरितुम्। प्राह सूत्रं क्षयेत्यादि संक्षेपादिष्टसंविदे ॥१॥

कः पुनरत्र क्षयः कश्चोपशमः कश्च क्षयोपशम इत्याह-

क्षयहेतुरित्याख्यातः क्षयः क्षायिकसंयमः। संयतस्य गुणः पूर्वं समभ्यर्हितविग्रहः ॥२॥
तथा चारित्रमोहस्योपशमादुद्भवन्नयम्। कथ्येतोपशमो हेतोरुपचारस्त्वयं फले ॥३॥
क्षयोपशमतो जातः क्षयोपशम उच्यते। संयमासंयमोऽपीति वाक्यभेदाद्विविच्यते ॥४॥

इस सूत्र की रचना किस लिए की गई ह? ऐसा पूछने पर कहते हैं -

गुणों को कारण मानकर उत्पन्न होने वाला वह दूसरा अवधिज्ञान किन जीवों के होता है? तथा उसके कितने भेद हैं? इस बात का प्रदर्शन करने के लिए श्री उमास्वामी ने "**क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्**" इस प्रकार सूत्र को संक्षेप में अभिप्रेत अर्थ का ज्ञान कराने के लिए कहा है॥१॥

इस प्रकरण में फिर क्षय क्या पदार्थ है? और उपशम क्या है? तथा दोनों से मिले हुए क्षयोपशम स्वभाव का लक्षण क्या है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं -

प्रतिपक्षी कर्मों का क्षय जिस संयम का हेतु है, वह चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला क्षायिक संयम 'क्षय' शब्द से कहा गया है। अर्थात् व्रतों का धारण, समितियों का पालन, कषायों का निग्रह, मन, वचन, काय की उद्दण्ड प्रवृत्तियों का त्याग, इन्द्रियों पर विजय ऐसे संयम को धारने वाले साधुओं का यह क्षायिक संयमगुण है। गुण को कारण मानकर किसी-किसी मुनि के अवधिज्ञान हो जाता है। द्वन्द्व समास में क्षयोपशम शब्द में पूजित और अल्पस्वर होने के कारण क्षयपद पहले प्रयुक्त किया गया है॥२॥

चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न भाव **उपशम** कहा जाता है जो कि उपशम चारित्र किन्हीं संयमी पुरुषों का गुण है। इस उपशम भाव को निमित्त मानकर किन्हीं मुनियों के अवधिज्ञान हो जाता है। इस प्रकरण में उपशम और क्षय शब्दों से तज्जन्यभाव पकड़े गए हैं। अतः यह हेतु का फल में उपचार है। अर्थात् कारणों में क्षयपना या उपशमपना है, किन्तु क्षय और उपशम से जन्य क्षायिक संयम और औपशमिक संयमस्वरूप साधुगुणों को क्षय और उपशम कह दिया गया है॥३॥

प्रतिपक्षी कर्मों की सर्वघाति प्रकृतियों का क्षय और आगे उदय आने वाली सर्वघाति प्रकृतियों का वर्तमान में उपशम तथा देशघाति प्रकृतियों का उदय, इस प्रकार के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ भाव क्षयोपशम कहा जाता है। यहाँ भी कारण का कार्य में उपचार है। संयमासंयम भाव भी क्षयोपशम है। इस प्रकार क्षय, उपशम और क्षयोपशम, इनके वाक्यों के भेद से क्षयोपशम शब्द का विवेचन किया है॥४॥

क्षयनिमित्तोऽवधिः शेषाणामुपशमनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इति वाक्यभेदात्क्षायिकौपशमिकक्षायोपशमिकसंयमगुणनिमित्तस्यावधिरवगम्यते। कार्ये कारणोपचारात् क्षयादीनां क्षायिकसंयमादिषूपचारः तथाभिधानोपपत्तेः॥ किमर्थं मुख्यशब्दानभिधानमित्याह-

क्षायोपशम इत्यन्तरंगो हेतुर्निगद्यते। यदि वेति प्रतीत्यर्थं मुख्यशब्दाप्रकीर्तनम्॥५॥
तेनेह प्राच्यविज्ञाने वक्ष्यमाणे च भेदिनि। क्षयोपशमहेतुत्वात्सूत्रितं संप्रतीयते॥६॥

क्षयोपशम इत्यन्तरंगो हेतुः सामान्येनाभिधीयमानस्तदावरणापेक्षया व्यवतिष्ठते स च सकलक्षायोपशमिकज्ञानभेदानां साधारण इति। यथेह षड्विधस्यावधेर्निमित्तं तथा पूर्वत्र भवप्रत्ययेऽवधौ श्रुते मतौ

देवों और नारकियों से अवशिष्ट किन्हीं मनुष्यों के कर्म प्रकृतियों के क्षय को बाह्य निमित्त मानकर अवधिज्ञान होता है, और किन्हीं मनुष्यों के उपशम को बहिरंग निमित्त कारण मानकर अवधिज्ञान हो जाता है। तथा कतिपय मनुष्य-तिर्यंचों के क्षयोपशमस्वरूप बहिरंगकारण से अवधिज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार सूत्रस्थ क्षयोपशम इस पद के तीन भेद कर देने से क्षायिकसंयम, औपशमिकसंयम और क्षायोपशमिकसंयम-इन तीन गुणों के कारण बहिरंग निमित्त से जीवों के अवधिज्ञान होना समझ लिया जाता है। कार्य में कारण का उपचार हो जाने से क्षय, उपशम आदि कर्म सम्बन्धी भावों का क्षायिकसंयम, उपशमसंयम और क्षायोपशमिक संयम-इन तीन संयमी आत्मा के गुणों में उपचार कर लिया गया है। इस प्रकार कथन करना युक्तियों से सिद्ध है।

मुख्य शब्दों का उच्चारण क्यों नहीं किया? अर्थात् चारित्रमोहनीय के क्षय, उपशम और क्षयोपशमस्वरूप निमित्तों से अवधिज्ञान होता है, ऐसा स्पष्ट निरूपण करना चाहिए था। इस प्रकार जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

इस सूत्र से अवधिज्ञान का अन्तरंग कारण ज्ञानावरण का क्षयोपशम है,. इस तत्त्व की प्रतिपत्ति कराने के लिए ही मुख्यशब्द का स्पष्टरूप से उच्चारण नहीं किया है अतः यहाँ शेष जीवों के छह भेद वाले अवधिज्ञान में और पूर्व में कहे गये देव-नारकियों के भव प्रत्यय अवधिज्ञान में तथा उससे भी पूर्व में कहे गए भेदयुक्त मतिज्ञान, श्रुतज्ञानों में और भविष्य में कहे जाने वाले भेद सहित मनःपर्यय ज्ञान में ज्ञानावरण के क्षयोपशम को अन्तरंग हेतु मानकर उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र द्वारा निर्णीत किया गया है॥५-६॥

"क्षयोपशम" - इस पद के स्वतंत्र तीन भेद नहीं करने पर ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम इस प्रकार एक अन्तरंग हेतु ही सामान्यरूप से कहा गया उन ज्ञानों के आवरणों की अपेक्षा से व्यवस्थित हो जाता है, और वह क्षयोपशम तो सम्पूर्ण चारों क्षायोपशमिक ज्ञान के भेदों का साधारण कारण है। इस प्रकार भेद, प्रभेद सहित चार ज्ञानों के सामान्यरूप से एक अन्तरंग कारण को कहने का भी सूत्रकार का अभिप्राय है। जिस प्रकार प्रकृत सूत्र में अनुगामी आदिक छह प्रकार के अवधिज्ञान का साधारण अन्तरंगनिमित्त क्षयोपशम विशेष कहा गया है, उसी प्रकार पूर्व में कहे गये भव हेतुक अवधिज्ञान में और उसके पूर्व कहे

चावसीयते। वक्ष्यमाणे च मनःपर्यये स एव तदावरणापेक्षयेति सूत्रितं भवति। मुख्यस्य शब्दस्याश्रयणात्सर्वत्र बहिरंगकारणप्रतिपादनाच्च मुख्यगौणशब्दप्रयोगो युक्तोऽन्यथा गुणप्रत्ययस्यावधेरप्रतिपत्तेः।

के पुनः शेषा इत्याह-

शेषा मनुष्यतिर्यञ्चो वक्ष्यमाणाः प्रपंचतः। ते यतः प्रतिपत्तव्या गतिनामाभिधाश्रयाः ॥७॥
स्यात्तेषामवधिर्बाह्यगुणहेतुरितीरणात्। भवहेतुर्न सोऽस्तीति सामर्थ्यादवधार्यते ॥८॥
तेषामेवेति निर्णीतेर्देवनारकविच्छिदा। क्षयोपशमहेतुः सन्नित्युक्ते नाविशेषतः ॥९॥

गये श्रुतज्ञान में तथा उसके भी पूर्व में कहे गये मतिज्ञान में भी अंतरंगकारण क्षयोपशम का निर्णय कर लिया गया है। तथा, आगे ग्रन्थ में कहे जाने वाले मनःपर्यय ज्ञान में भी उस मनःपर्ययावरण कर्म की अपेक्षा से उत्पन्न हुआ वह क्षयोपशम ही अन्तरंग कारण है। परन्तु यहाँ विशेषतया संयम की अपेक्षा है।

मुख्य क्षयोपशम शब्द का आश्रय कर लेने और सभी ज्ञानों में बहिरंगकारणों का प्रतिपादन करने से यहाँ मुख्य शब्द का प्रयोग और गौण शब्द का प्रयोग करना युक्तिसहित है अर्थात्-मुख्य शब्द का आश्रय करने से सब ज्ञानों के अन्तरंग कारणों का निर्णय हो जाता है और उपचरित क्षयोपशम शब्द के प्रयोग कर देने से मनुष्य तिर्यंचों की अवधि का बहिरंग कारण प्रतीत हो जाता है। अन्यथा (यानी) उपचरित शब्द का प्रयोग किये बिना क्षायिकसंयम आदि गुणस्वरूप बहिरंग कारणों से उत्पन्न होने वाले अवधिज्ञान की प्रतीति नहीं हो सकती थी।

इस प्रकार **श्री विद्यानन्द आचार्य** ने इस सूत्र के बहिरंग कारणों को प्रतिपादन करने वाला भाष्य-अर्थ कर दिया है। यह सूत्र गुणप्रत्यय अवधि के बहिरंग कारण और चारों ज्ञानों के अन्तरङ्गकारण का भी प्रतिपादक है।

इस सूत्र में कहे गये वे शेष जीव फिर कौन हैं जिनके गुणप्रत्यय अवधि होती है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं-

पूर्व सूत्र में कहे गये देव और नारकियों से अवशेष मनुष्य और तिर्यंच यहाँ शेष पद से लिये गये हैं। अग्रिम अध्यायों में विस्तार से मनुष्य और तिर्यंचों का कथन करेंगे। मनुष्य और तिर्यंच अपने योग्य मनुष्यगति और तिर्यंचगतिनामक नामकर्म के उदय से भिन्न भिन्न संज्ञाओं का आश्रय लेते हैं। गति नामक प्रकृति के उत्तर भेद अनेक हैं। अतः उस-उस गतिकर्म के अनुसार जीव मनुष्यों और तिर्यंचों को समझ लेना चाहिए॥७॥

उन कतिपय मनुष्य तिर्यंचों के अवधिज्ञान का बहिरंग कारण संयम आदि गुण हैं। इस प्रकार नियम कर कथन कर देने से उनके वह भवप्रत्यय अवधि नहीं है, यह मन्तव्य बिना कहे ही वचन के सामर्थ्य से अवधारित कर लिया जाता है, क्योंकि **"क्षयोपशमनिमित्त एव शेषाणाम्"** - इस प्रकार पहला एवकार अवधारण कर देने से शेषों के अवधिज्ञान में भव का बहिरंगकारणपना निषिद्ध हो जाता है॥८॥

"शेषाणामेव क्षयोपशमनिमित्तः" - उन शेषों के ही गुण प्रत्यय अवधि होती है। इस प्रकार एवकार द्वारा उत्तरवर्ती निर्णय (नियम) कर देने से देव और नारक जीवों का व्यवच्छेद कर दिया जाता है।

क्षयोपशमनिमित्त एव शेषाणामित्यवधारणाद्भवप्रत्ययत्वव्युदासः। शेषाणामेव क्षयोपशमनिमित्त इति देवनारकाणां नियमात्ततो नोभयथाप्यवधारणे दोषोऽस्ति। क्षयोपशमनिमित्तोऽवधिः शेषाणामित्युभयत्रानवधारणाच्च नाविशेषतोऽवधिस्तिर्यङ्मनुष्याणामन्तरङ्गस्य तस्य कारणस्य विशेषात्। तथा पूर्वत्रानवधारणाद्बहिरंगकारणाव्यवच्छेदः। परत्रानवधारणादेवनारकाव्यवच्छेदः प्रसिद्धो भवति॥

षड्विकल्पः समस्तानां भेदानामुपसंग्रहात्।
परमागमसिद्धानां युक्त्या सम्भावितात्मनाम् ॥१०॥

अनुगाम्यननुगामी वर्द्धमानो हीयमानोऽवस्थितोऽनवस्थित इति षड्विकल्पोऽवधिः

अवधिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशमस्वरूप अंतरंगकारण को हेतु मानकर अवधिज्ञान होता है। इस प्रकार कहने पर सामान्यरूप से सभी मनुष्य तिर्यंचों के अवधिज्ञान के सद्भाव का निषेध सिद्ध हो जाता है। किन्तु जिन जीवों के अंतरंगकारण क्षयोपशम होगा, उन्हीं के अवधिज्ञान का सद्भाव पाया जाएगा, अन्यों के नहीं। ऐसा जान लिया जाता है॥९॥

शेष बचे हुए मनुष्य तिर्यंचों के तो बहिरंगकारण क्षयोपशम को ही निमित्त मान कर अवधिज्ञान होता है। इस प्रकार अवधारण करने से शेष जीवों के अवधिज्ञान में भवप्रत्ययपने की व्यावृत्ति हो जाती है और शेष जीवों के क्षयोपशमनिमित्त अवधि होती है। इस प्रकार नियम करने से देवनारकियों के अवधिज्ञान में गुणप्रत्ययपने का व्यवच्छेद हो जाता है। इस प्रकार दोनों प्रकार-उद्देश्य और विधेय से अवधारण करने पर कोई दोष नहीं आता है; प्रत्युत गुण ही है।

तथा शेष जीवों के अवधिज्ञान क्षयोपशम को निमित्त पाकर होता है। इस प्रकार दोनों ही प्रकार से अवधारण नहीं करने से सभी अवधिज्ञानी तिर्यंच और मनुष्यों को विशेषताओं से रहित एकसा अवधि ज्ञान नहीं हो पाता है, क्योंकि उस अवधिज्ञान के अंतरंगकारण ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की प्रत्येक जीव में विशेषताएँ हैं। पहले दल में अवधारण नहीं करने से बहिरंगकारणों का व्यवच्छेद नहीं हो सकता है। अतः एवकार लगा दिया जाता तो बहिरंग कारण का भी व्यवच्छेद हो जाता। किन्तु गुण को बहिरंगकारण इस सूत्र द्वारा अवश्य कहना है। अतः पहले दल में तथा उत्तरदल में अवधारण नहीं करने से देव और नारकियों का व्यवच्छेद नहीं होता है।

भावार्थ - शेष रहे मनुष्य, तिर्यंचों के समान देव, नारकियों के भी अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम अंतरंग कारण है अतः दोनों ओर अवधारण नहीं करने से भी प्रमेय का लाभ होता है।

सर्वज्ञकथित परमागम में प्रसिद्ध और पूर्वोक्त युक्तियों से सम्भावितस्वरूप, देशावधि आदि सम्पूर्ण भेदों का संग्रह हो जाने से अवधिज्ञान के अनुगामी आदिक छह विकल्प हैं। अवधिज्ञान के अन्य भेद प्रभेदों का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है॥१०॥

अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित - इस प्रकार अवधिज्ञान छह प्रकार का है। अर्थात् कोई अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश के समान भवान्तर में जाने वाले के पीछे जाता है वह **अनुगामी** है। मूर्ख के प्रश्न के समान वहीं गिर जाता है- भवान्तर में साथ नहीं जाता है वह

संप्रतिपाताप्रतिपातयोरत्रैवान्तर्भावात्। देशावधिः परमावधिः सर्वावधिरिति च परमागमप्रसिद्धानां पूर्वोक्तयुक्त्या सम्भावितानामत्रोपसंग्रहात्। कुतः पुनरवधिः कश्चिदनुगामी कश्चिदन्यथा सम्भवतीत्याह-

विशुद्ध्यनुगमात्पुंसोऽनुगामी देशतोऽवधिः। परमावधिरप्युक्तः सर्वावधिरपीदृशः ॥११॥
विशुद्ध्यनन्वयादेशोऽननुगामी च कस्यचित्। तद्भवापेक्षया प्राच्यः शेषोऽन्यभववीक्षया ॥१२॥

अननुगामी है। सम्यग्दर्शनादि गुणों की विशुद्धि के कारण अरणी के निर्मथन से उत्पन्न शुष्क पत्रों से उपचीयमान ईंधन के समूह में वृद्धिंगत अग्नि के समान बढ़ता रहता है वह **वर्द्धमान** अवधिज्ञान है। वह असंख्यात लोक परिमाण तक बढ़ता रहता है। जो ईंधन रहित अग्नि के समान, जिस परिमाण से उत्पन्न हुआ था, उससे प्रतिदिन सम्यग्दर्शनादि गुणों की हानि, संक्लेश परिणाम की वृद्धि के योग से अंगुल के असंख्यात भाग तक घटता रहे वह **हीयमान** अवधिज्ञान है। सम्यग्दर्शनादि गुणों के अवस्थान से अवधिज्ञान मुक्तिप्राप्ति या केवलज्ञानपर्यन्त जैसा का तैसा बना रहे अर्थात् न घटे न बढ़े, वह **अवस्थित** अवधिज्ञान है जैसे तिलादि चिह्न न घटते हैं और न बढ़ते हैं। जिस परिमाण में उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणों की वृद्धि एवं हानि के कारण वायु से प्रेरित जल की तरंगों के समान जहाँ तक घट सकता है वहाँ तक घटता रहे और जहाँ तक बढ़ सकता है, वहाँ तक बढ़ता रहे, वह **अनवस्थित** अवधिज्ञान है। इस प्रकार अवधिज्ञान के छह विकल्प होते हैं। प्रतिपात और अप्रतिपात इन दो भेदों का इन्हीं छह भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है। बिजली के प्रकाश समान प्रतिपात होने वाला प्रतिपाती है और गुणश्रेणी से नहीं गिरने वाला ज्ञान अप्रतिपाती है।

देशावधि, परमावधि और सर्वावधि, इस प्रकार परमदेवाधिदेव अर्हंतसर्वज्ञ की आम्नाय से आगम में प्रसिद्ध भेदों का भी इन्हीं भेदों में यथायोग्य संग्रह हो जाता है। अतीन्द्रिय पदार्थों को साधने वाली पूर्वमें कही गई युक्तियों से देशावधि आदि भेदों की सम्भावना की जा चुकी है।

चरमशरीरी मुनिमहाराज के परमावधि और सर्वावधि ज्ञान होते हैं।

फिर कोई तो अवधिज्ञान अनुगामी होता है और कोई उसके भेद अन्य प्रकार से यानी अवस्थित, अनवस्थित आदि रूप होते हैं। इसका क्या कारण है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

आत्मा के अवधिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विशुद्धि का अनुगम करने से एकदेश से देशावधि भी अनुगामी हो जाती है और परमावधि भी सूर्यप्रकाश समान आत्मा का अनुगम करने वाली अनुगामी मानी गई है, तथा इसी प्रकार सर्वावधि भी अनुगामी होती है अर्थात्-तीनों प्रकार की अवधियों का भेद अनुगामी है। इस प्रकार हेतुपूर्वक सिद्धि कर दी गई है॥११॥

क्षयोपशमजन्य आत्मप्रसादस्वरूप विशुद्धि का अन्वयरूप करके गमन नहीं करने से यह अवधि किसी-किसी जीव के अननुगामी होती है। उन तीन प्रकार के अवधिज्ञानों में पहला देशावधिज्ञान तो उसी भव की अपेक्षा से अननुगामी कहा जाता है। अर्थात्-किसी-किसी जीव के देशावधिज्ञान उस स्थान से अन्य स्थान पर नहीं जाता है। या उस जन्म से दूसरे जन्म में साथ नहीं जाता है। तथा चरमशरीरी संयमी के पाये जाने वाले शेष बचे हुए परमावधि और सर्वावधि तो अन्य भव की अपेक्षा से अननुगामी हैं। अर्थात्-सर्वावधि परमावधि ज्ञानियों की उसी भव में मोक्ष हो जाने के कारण अन्य भवों का धारण नहीं होने से वे दो अवधिज्ञान अननुगामी हैं॥१२॥

वर्द्धमानोऽवधिः कश्चिद्विशुद्धेर्वृद्धितः स तु। देशावधिरिहाम्नातः परमावधिरेव च ॥१३॥
हीयमानोऽवधिः शुद्धेर्हीयमानत्वतो मतः। स देशावधिरेवात्र हानेः सद्भावसिद्धितः ॥१४॥
अवस्थितोऽवधिः शुद्धेरवस्थानान्नियम्यते। सर्वोङ्गिनां विरोधस्याप्यभावान्नानवस्थितेः ॥१५॥
विशुद्धेरनवस्थानात्सम्भवेदनवस्थितः। स देशावधिरेवैकोऽन्यत्र तत् प्रतिघाततः ॥१६॥
प्रोक्तः सप्रतिपातो वाऽप्रतिपातस्तथाऽवधेः। सोऽन्तर्भावममीष्वेव प्रयातीति न सूत्रितः ॥१७॥

विशुद्धेः प्रतिपाताप्रतिपाताभ्यां सप्रतिपाताप्रतिपातौ ह्यवधीषट्स्वेवान्तर्भवतः। अनुगाम्यादयो हि केचित् प्रतिपाताः केचिदप्रतिपाता इति।

विशुद्धि और सम्यग्दर्शन आदि गुणों की वृद्धि हो जाने से कोई-कोई वह अवधिज्ञान तो वर्द्धमान कहा जाता है। उनमें देशावधि और परमावधि ही यहाँ वर्द्धमान माना गया है, क्योंकि देशावधि के जघन्य अंश से लेकर उत्कृष्ट अंशों तक वृद्धियाँ होती हैं। उसी प्रकार तेजस्कायिक जीवों की अवगाहनाओं के भेदों के साथ तेजस्कायिक जीव राशि का परस्पर गुणा करने से जितना लब्ध आता है, उतने असंख्यात लोक प्रमाण परमावधि के द्रव्य अपेक्षा भेद हैं और क्षेत्रकाल की अपेक्षा से भी असंख्यात भेद हैं अतः परमावधि भी वर्द्धमान है किन्तु सर्वावधि का भेद वर्द्धमान नहीं है, वह अवस्थित है॥१३॥

सम्यग्दर्शनादि गुणों की हानि और संक्लेश परिणामों की वृद्धि तथा क्षयोपशमविशेषजन्य विशुद्धि की न्यूनता हो जाने से अवधिज्ञान हीयमान होता है। इन तीनों अवधिज्ञानों में विशुद्धि हानि के सद्भाव की सिद्धि हो जाने से वह देशावधि ही एक हीयमान है। बढ़ते हुए चारित्र गुण वाले मुनि महाराजों के परमावधि और सर्वावधि होती है। अतः ये हीयमान नहीं हैं॥१४॥

कोई अवधि तो सम्यग्दर्शनादि गुणों के और क्षयोपशमजन्य विशुद्धि के अवस्थान रहने से अवस्थित हैं। यह अवस्थित भेद सभी जीवों के तीनों अवधिज्ञानों में घटित हो जाता है, क्योंकि विरोध दोष होने का इसमें अभाव है। सर्वावधि में अनवस्थित का सर्वथा निषेध है तथा अवस्थित देशावधि, परमावधि में भी अनवस्थित का निषेध है, अतः तीनों ही अवस्थित भेद वाली हैं॥१५॥

विशुद्धि के समान क्षयोपशमजन्य आत्मा की विशुद्धि का अनवस्थान हो जाने से अवधि का अनवस्थित भेद सम्भव है। उनमें यह देशावधि ही एक अनवस्थित है। अन्य दो अवधियों में उस अनवस्थित का प्रतिघात है॥१६॥

उक्त छह भेदों के अतिरिक्त सप्रतिपात और अप्रतिपात ये दो भेद भी अवधिज्ञान के **श्री अकलंकदेव** ने कहे हैं। किन्तु ये भेद इन छह भेदों में ही अन्तर्भाव को प्राप्त हो जाते हैं। इसी कारण सूत्रकार ने अवधि के आठ भेदों का सूत्र द्वारा सूचन नहीं किया है॥१७॥

आत्मा की निर्मलता के प्रतिपात और अप्रतिपात से प्रतिपातसहित और प्रतिपात रहित दो अवधिज्ञान के भेद इन छह भेदों में ही गर्भित हो जाते हैं, क्योंकि अनुगामी आदिक छहों भेद कोई तो प्रतिपाती हैं और कोई अनुगामी आदि भेद प्रतिपातरहित हैं। यहाँ तक अवधिज्ञान को कहने वाला प्रकरण समाप्त हुआ।

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

नन्विह बहिरंगकारणस्य भेदस्य च ज्ञानानां प्रस्तुतत्वान्नेदं वक्तव्यं ज्ञानभेदकारणाप्रतिपादकत्वादित्यारेकायामाह-

मनःपर्ययविज्ञानभेदकारणसिद्धये। प्राहर्ज्वित्यादिकं सूत्रं स्वरूपस्य विनिश्चयात् ॥१॥

न हि मनःपर्ययज्ञानस्वरूपस्य निश्चयार्थमिदं सूत्रमुच्यते यतोऽप्रस्तुतार्थं स्यात्। तस्य मत्यादिसूत्रे निरुक्त्यैव निश्चयात्। किं तर्हि। प्रकृतस्य बहिरंगकारणस्य भेदस्य प्रसिद्धये समारभते। ऋज्वी मतिर्यस्य स ऋजुमतिः। विपुला मतिर्यस्य स विपुलमतिः। ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च ऋजुविपुलमती। एकस्य मतिशब्दस्य गम्यमानत्वाल्लोप इति व्याख्याने का सा ऋज्वी विपुला च मतिः किंप्रकारा च मतिशब्देन चान्यपदार्थानां वृत्तौ कोऽन्यपदार्थ इत्याह-

---

अवधिज्ञान का प्ररूपण कर अब अवसर संगति अनुसार क्रमप्राप्त मनःपर्यय ज्ञान का प्रतिपादन करने के लिए आचार्य आगे का सूत्र कहते हैं-

मनःपर्यय ज्ञान ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है॥२३॥

दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थों को जानने वाला मनःपर्यय ज्ञान कहलाता है।

इस प्रकरण में ज्ञानों के बहिरंग कारण और भेदों के निरूपण करने का प्रसंग चल रहा है अतः मनःपर्ययज्ञान के स्वरूप का प्रतिपादक यह सूत्र क्यों कहा गया है? ज्ञान के भेद और बहिरंग कारणों का प्रतिपादक तो यह सूत्र नहीं है। अतः इस प्रकरण में यह सूत्र नहीं कहना चाहिए। इस प्रकार की आशंका का आचार्य यहाँ स्पष्ट समाधान करते हैं -

मनःपर्यय ज्ञान के स्वरूप का विशेष निश्चय **"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्"** - सूत्र में कहे गये मनःपर्यय शब्द की निरुक्ति से करा दिया गया है। किन्तु यहाँ मनःपर्यय ज्ञान के भेद और बहिरंग कारणों की प्रसिद्धि कराने के लिए **उमास्वामी महाराज** ने **"ऋजुविपुल"** इत्यादि सूत्र को कहा है॥१॥

मनःपर्ययज्ञान के स्वरूप का निश्चय कराने के लिए यह सूत्र नहीं कहा गया है, जिससे कि प्रकरण के प्रस्ताव में प्राप्त अर्थ को प्रतिपादित करने वाला यह सूत्र न हो सके अर्थात् यह सूत्र प्रस्तावप्राप्त प्रकरण के अनुसार ही है। उस मनःपर्यय के स्वरूप का निश्चय तो **"मतिःस्मृतिः"** आदि सूत्र में निरुक्ति करके ही कह दिया गया है। परन्तु यहाँ बहिरंगकारण और भेद की प्रसिद्धि कराने के लिए यह सूत्र प्रारम्भ किया गया है।

जिसकी मति ऋजु (सरल) है उसको ऋजुमति कहते हैं। परकीय मनोगत पदार्थों को जानने वाला वह मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति है। विपुल (कुटिल) है मति जिसकी वह विपुलमति। परकीय मनोगत अनिर्वर्तित या वक्र, मन-वचन-काय सम्बन्धी पदार्थ को जानने वाला वह मनःपर्ययज्ञान विपुलमति है। ऋजुमति और विपुलमति इन दोनों का द्वन्द्व समास है-ऋजुविपुलमति। एक मति शब्द से ही गतार्थत्व होने से दो बार मति शब्द का प्रयोग नहीं है अर्थात् एक मति शब्द का लोप हो जाता है। "इस प्रकार व्याख्यान करने पर जिज्ञासाएँ खड़ी होती हैं कि मति शब्द के साथ ऋजु विपुल शब्दों की अन्य पदार्थों को प्रधान करने वाली बहुव्रीहि नामक समास वृत्ति हो जाने पर वह अन्य पदार्थ कौन है जो ऋजुमति और विपुलमति का वाच्य पड़ेगा? इसका **श्री विद्यानन्द आचाय** स्पष्ट समाधान करते हैं -

निर्वर्तितशरीरादिकृतस्यार्थस्य वेदनात्। ऋज्वी निर्वर्तिता त्रेधा प्रगुणा च प्रकीर्तिता ॥२॥
अनिर्वर्तितकायादिकृतार्थस्य च वेदिका। विपुला कुटिला षोढा वक्रर्जुत्रयगोचरा ॥३॥
एतयोर्मतिशब्देन वृत्तिरन्यपदार्थिका। कैश्चिदुक्ता स चान्योऽर्थो मनःपर्यय इत्यसन् ॥४॥
द्वित्वप्रसंगतस्तत्र प्रवक्तुं धीधनो जनः। न मनःपर्ययो युक्तो मनःपर्यय इत्यलम् ॥५॥
यदात्वन्यौ पदार्थौ स्तस्तद्विशेषौ बलाद्गतौ। सामान्यतस्तदेकोऽयमिति युक्तं तथा वचः ॥६॥

ऋजु शब्द का अर्थ बनाया गया और सरल दोनों प्रकार कहा गया है। सरलतापूर्वक काय, वचन, मन द्वारा किये गए परकीय मनोगत अर्थ का संवेदन करने से ऋजुमति तीन प्रकार की कही गई है। अर्थात् अपने या दूसरे के द्वारा सरलतापूर्वक शरीर से किये गये, वचन से बोले गये और मन से चिंतन किये गये अर्थ को यदि कोई जीव मन में विचार ले तो ऋजुमति मनःपर्यय उस मन में चिंतित पदार्थ का ईहामतिज्ञानपूर्वक विकल प्रत्यक्ष कर लेता है।

सरल और पूर्ण रूप से चिंतित, इन दोनों अर्थों को घटित कर मन, वचन, काय की अपेक्षा से ऋजुमति के तीन भेद हो जाते हैं-मन से चिंतित ऋजुकायकृत अर्थ को जानने वाला, मन से चिंतित ऋजुवाक्कृत अर्थ को जानने वाला और मन से चिंतित ऋजुमनस्कृत अर्थ को जानने वाला ॥२॥

तथा काय, वचन, मन से परकीय मनोगत विज्ञान से चिंतित नहीं किये गए सरल या कुटिल अथवा बहुत से शरीर आदि कृत अर्थों को जानने वाली मति विपुला है। वह वक्र और सरलस्वरूप से मन, वचन, काय इन तीनों के द्वारा किये गए मनोगत विषयों को जानती हुई छह प्रकार की है॥३॥

इन ऋजु और विपुल शब्दों की मति शब्द के साथ की गई अन्य पदार्थ को प्रधान कहने वाली बहुव्रीहि समास नामक वृत्ति किन्हीं विद्वानों ने कही है, वह अन्य पदार्थ मनःपर्यय ज्ञान है। अर्थात् जिस मनःपर्ययज्ञान की मति ऋजु है और जिस मनःपर्यय ज्ञान की मति विपुला है, वह ऋजुमति विपुलमति मनःपर्यय है-यह विग्रह किया गया है।

परन्तु इस प्रकार उन विद्वानों का कहना प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि इस प्रकार कहने पर वहाँ मनःपर्यय शब्द में द्विवचन हो जाने का प्रसंग आता है जैसे कि जिस पुरुष का धन बुद्धि है, वह **''बुद्धिधनो जनः''** या **''धीधनः''** है। यहाँ उद्देश्य के अनुसार जन शब्द एकवचन है अतः अन्य पदार्थ मनःपर्ययज्ञान के साथ वृत्ति करने पर **'मनःपर्ययः'** इस प्रकार एक वचन कहना युक्त नहीं पड़ता, किन्तु **''मनःपर्ययौ''**-यह कहना उस वृत्ति द्वारा अर्थ करने में समर्थ होगा क्योंकि दो मनःपर्ययज्ञानों की ऋजुमति और विपुलमति दो मतियाँ हैं॥४-५॥

अथवा जब वे दो विशेष अन्य पदार्थ उस सामान्य एक मनःपर्यय की शक्ति से ही जान लिये गए मान लेंगे तब तो जिस प्रकार यह मनःपर्यय शब्द एक वचन भी सामान्य रूप से प्रयुक्त करना युक्त है अतः बहुव्रीहि समास करने पर भी एकवचन रक्षित रह सकता है, कोई क्षति नहीं है॥६॥

सामानाधिकरण्यं च न सामान्यविशेषयोः। प्रबाध्यते तदात्मत्वात्कथंचित्संप्रतीतितः ॥७॥

येऽप्याहुः। ऋजुश्च विपुला च ऋजुविपुले ते च ते मतीति च स्वपदार्थवृत्तिस्तेन ऋजुविपुलमती विशिष्टे परिच्छिन्ने मनःपर्यय उक्तो भवतीति तद्भेदकथनं प्रतीयत इति तेषामप्यविरोधमुपदर्शयति।

स्वपदार्था च वृत्तिः स्यादविरुद्धा तथा सति। विशिष्टे हि मतिज्ञाने मनःपर्यय इष्यते ॥८॥

यथर्जुविपुलमती मनःपर्ययविशेषौ मनःपर्ययसामान्येनेति सामानाधिकरण्यमविरुद्धं सामान्यविशेषयोः कथंचित्तादात्म्यात्तथा संप्रतीतेश्च तद्वदृजुविपुलमती ज्ञानविशेषौ मनःपर्ययस्येति ज्ञानमित्यपि न विरुध्यते मनःपर्ययज्ञानभेदाप्रतिपत्तेः प्रकृतयोः सद्भावात् विशेषात्। कथं बाह्यकारणप्रतिपत्तिरत्रेत्याह-

---

"**ऋजुविपुलमती**" द्विवचन पद है और मनःपर्यय एकवचन शब्द है। अतः इनका समान अधिकरणपना नहीं बनता क्योंकि समान विभक्ति वाले, समान लिंग वाले, समान वचन वाले, शब्दों का ही सामानाधिकरण्य बन सकता है। यह शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सामान्य और विशेष में समानाधिकरणपना किसी भी प्रकार से बाधित नहीं होता है और सामान्य और विशेषों का कथंचित् तदात्मकपना होने के कारण समान अधिकरणपना प्रतीत होता है। अर्थात् "**मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवलानि ज्ञानम्**" अथवा "**साधोःकार्यं तपःश्रुते**" "**आद्ये परोक्षम्**" आदि प्रयोगों में निर्बाधित समानाधिकरणपना है। सामान्य प्रायः एकवचन और विशेष प्रायः द्विवचन और बहुवचन हुआ करते हैं ॥७॥

जो भी कोई विद्वान् समासवृत्ति कर कह रहे हैं कि ऋजु और विपुला इस प्रकार इतर-इतर योग करने पर '**ऋजुविपुले**' बनता है और वे ऋजुविपुलास्वरूप जो मति है, इस प्रकार अपने ही पद के अर्थों को प्रधान रखने वाली द्वन्द्वगर्भित कर्मधारय वृत्ति की गयी है। एतदर्थ विशिष्ट ऋजुमति और विपुलमति ज्ञान मनःपर्यय ज्ञान का कथन करता है। उस द्विवचन द्वारा भेदकथन करना प्रतीत होता है। इस प्रकार कहने वाले उन विद्वानों के यहाँ भी जैनसिद्धान्तानुसार कोई विरोध नहीं आता है। इस बात को स्वयं ग्रन्थकार प्रकट कर रहे हैं।

उक्त कथनानुसार समास वृत्ति करने पर स्वपदार्थप्रधाना कर्मधारयवृत्ति अविरुद्ध हो जाती है, और ऐसा होने पर मनःपर्यय स्वरूप ऋजुमति और विपुलमतिनामक मतिज्ञान एक मनःपर्यय, इसके साथ अन्वित इष्ट कर लिये हैं ॥८॥

जिस प्रकार ऋजुमति और विपुलमति ये मनःपर्ययज्ञान के दो विशेषण प्रकरणप्राप्त मनःपर्यय सामान्य के साथ समान अधिकरणपने को प्राप्त होने से विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि सामान्य और विशेषों को कथंचित् तदात्मकपना हो जाने से सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है।

उसी प्रकार जिसके समान ऋजुमति और विपुलमति ये दो ज्ञान विशेष हैं, वह एक मनःपर्यय ज्ञान है। इस प्रकार कथन करने पर कोई विरोध प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि मनःपर्यय ज्ञान में सामान्य से भेद की प्रतिपत्ति नहीं होने का सद्भाव इन प्रकरणप्राप्त ऋजुमति और विपुलमति दोनों में विद्यमान है। कोई अन्तर नहीं है।

परतोऽयमपेक्षस्यात्मनः स्वस्य परस्य वा। मनःपर्यय इत्यस्मिन्पक्षे बाह्यनिमित्तवत् ॥९॥

मनःपरीत्यानुसंधाय वायनं मनःपर्यय इति व्युत्पत्तौ बहिरंगनिमित्तकोऽयं मनःपर्यय इति बाह्यनिमित्त-प्रतिपत्तिरस्य कृता भवति।

न मतिज्ञानतापत्तिस्तस्यैवं मनसः स्वयं। निर्वर्त्तकत्ववैधुर्यादपेक्षामात्रतास्थितेः ॥१०॥

क्षयोपशममाबिभ्रदात्मा मुख्यं हि कारणं। तत्प्रत्यक्षस्य निर्वृत्तौ परहेतुपराङ्मुखः ॥११॥

मनोलिङ्गजतापत्तेर्न च तस्यानुमानतः। प्रत्यक्षलक्षणस्यैव निर्बाधस्य व्यवस्थितेः ॥१२॥

नन्वेवं मनःपर्ययशब्दनिर्वचनसामर्थ्यात्तद्बाह्यप्रतिपत्तिः कथमतः स्यादित्याह-

यदा परमनःप्राप्तः पदार्थो मन उच्यते। तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसंसिद्धेर्मंचक्रोशनवत्तदा ॥१३॥

तस्य पर्ययणं यस्मात्तद्वा येन परीयते। स मनःपर्ययो ज्ञेय इत्युक्तेस्तत्स्वरूपवित् ॥१४॥

इस ज्ञान में बहिरंग कारणा की प्रतिपत्ति किस प्रकार होती है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं -

अपने अथवा दूसरे के मन की अपेक्षा रखने वाला यह मनःपर्ययज्ञान अन्य बहिरंग कारण से उत्पन्न होता है। इस प्रकार इस व्युत्पत्ति के करने पर बहिरंग निमित्त कारण की ज्ञप्ति हो जाती है॥९॥

मनः+परि+इण+घञ्+सु मनः (मनःस्थित) का अनुसंधान कर जो प्रत्यक्ष जानता है वह मनःपर्यय है। इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर जिसका बहिरंग निमित्तकारण मन है-ऐसा यह मनःपर्ययज्ञान है। इस प्रकार मनःपर्यय ज्ञान के बहिरंग निमित्त की प्रतिपत्ति कर ली गई है।

इस प्रकार मनस्वरूपनिमित्त से उत्पन्न होने के कारण उस मनःपर्ययज्ञान को मतिज्ञानपने का प्रसंग आएगा। यह आपत्ति उठाना ठीक नहीं है क्योंकि मानस मतिज्ञान को मन स्वयं बनाता है किन्तु मनःपर्ययज्ञान का सम्पादकपना मन को प्राप्त नहीं है केवल मन की अपेक्षा है।

अपेक्षामात्र से स्थित हो रहे मन को मानसमतिज्ञान के समान मनःपर्यय का सम्पादकपना नहीं है अतः मनःपर्यय ज्ञान में मन कारण नहीं होने से मनःपर्यय ज्ञान मतिज्ञान नहीं है॥१०॥

उस मनःपर्यय प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति करने में मुख्य कारण मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम का धारक आत्मा ही है,जो आत्मा अन्य इन्द्रिय, मन, ज्ञापक लिंग, व्याप्ति, संकेतस्मरण आदि दूसरे कारणों से पराङ्मुख होता है अर्थात् अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबंधकों से रहित केवल आत्मा ही कारण माना गया है॥११॥

मन का सम्बन्ध होने से मनःपर्यय ज्ञान को अनुमान ज्ञान भी नहीं कह सकते, क्योंकि मनःपर्यय ज्ञान के प्रत्यक्ष लक्षण का विरोध नहीं है। प्रत्यक्ष लक्षण की निर्बाध व्यवस्था है अर्थात्-लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मरण पूर्वक मनःपर्यय ज्ञान नहीं हुआ है किन्तु बाधाओं से रहित होते हुए प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की ही मनःपर्यय में समीचीन व्यवस्था है॥१२॥

शंका - इस प्रकार मनःपर्यय शब्द की इस निरुक्ति के बल से ही उस मनःपर्यय के बाह्य कारणों की प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है? इस पर आचार्य कहते हैं।

जिस प्रकार दूसरे के मन में स्थित पदार्थ 'मन' ऐसा कहा जाता है क्योंकि तत् (उस) में स्थित होने के कारण तत् शब्दपना सिद्ध हो जाता है, जैसे कि **"मञ्चाः क्रोशन्ति"** मचान गा रहे हैं, या चिल्ला रहे हैं। अर्थात् यहाँ खेतों में या बगीचों में पशु, पक्षियों के भगाने, उड़ाने के लिए बाँधे गये मंचों पर बैठे हुए मनुष्यों के शब्द करने पर मचानों का शब्द करना व्यवहृत होता है। इस प्रकार कथन करने से उस

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

ननु ऋजुविपुलमत्योः स्ववचनसामर्थ्यादेव विशेषप्रतिपत्तेस्तदर्थमिदं किमारभ्यत इत्याशंकायामाह-

मनःपर्ययभेदयोः स्ववचोबलात्। विशेषहेतुसंवित्तौ विशुद्धीत्यादिसूत्रितम् ॥१॥

नर्जुमतित्वविपुलमतित्वाभ्यामेवर्जुविपुलमत्योर्विशेषोऽत्र प्रतिपाद्यते। यतोनर्थकमिदं स्यात्। किं तर्हि विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तयोः परस्परं विशेषान्तरमिहोच्यते ततोऽस्य साफल्यमेव।

का पुनर्विशुद्धिः कश्चाप्रतिपातः कोवानयोर्विशेष इत्याह-

आत्मप्रसत्तिरत्रोक्ता विशुद्धिर्निजरूपतः। प्रच्युत्य संभवश्चास्याप्रतिपातः प्रतीयते ॥२॥
ताभ्यां विशेष्यमाणत्वं विशेषः कर्मसाधनः। तच्छब्देन परामर्शो मनःपर्ययभेदयोः ॥३॥

बहिरंगकारण मन के स्वरूप की समीचीन वित्ति (ज्ञान) हो जाती है। अतः मनःपर्यय शब्द की षष्ठी तत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि समास द्वारा निरुक्ति करने पर मन का बहिरंगकारणपना जान लिया जाता है। इस प्रकार मनःपर्यय के भेद और कारण का ज्ञान मनःपर्यय शब्द से हो जाता है॥१३-१४॥

विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा इन दोनों में विशेषता है॥२४॥

ऋजुमति और विपुलमति ज्ञानों के अपने-अपने अर्थों के अभिधायक वचनों की सामर्थ्य से ही दोनों के विशेषों की प्रतिपत्ति हो जाती है और निरुक्ति द्वारा लभ्य अर्थ की जब प्राप्ति हो जाती है तो उस विशेष की ज्ञप्ति कराने के लिए यह सूत्र क्यों बनाया गया है? इस प्रकार की आशंका का उत्तर देते हैं-

यद्यपि सरल, सम्पादित और सरल, कुटिल, सम्पादित, असम्पादित, मनोगत विषयों को जानने की अपेक्षा अपने वाचक ऋजु और विपुल शब्दों की सामर्थ्य से निरुक्ति द्वारा ही दोनों मनःपर्ययों के परस्पर भेद कहे जा चुके हैं, फिर भी उन दोनों की अन्य विशेषताओं के कारणों का संवेदन कराने के निमित्त **"विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः"** यह सूत्र रचा है॥१॥

ऋजुमतित्व और विपुलमतित्व के कथन मात्र से ऋजुमति और विपुलमति का विशेष (अन्तर) इस सूत्र द्वारा नहीं समझाया जा रहा है, जिससे कि यह सूत्र व्यर्थ हो जाए। फिर यह सूत्र क्यों कहा गया है? इसका उत्तर है कि विशुद्धि और अप्रतिपात यह उन ऋजुमति और विपुलमति ज्ञानों का जो परस्पर में विशेष अन्तर है वह यहाँ इस सूत्र द्वारा कहा जा रहा है अर्थात् दोनों मनःपर्यय ज्ञानों में विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा अन्तर है। उसका कथन इस सूत्र के द्वारा किया गया है।

विशुद्धि क्या है? और अप्रतिपात क्या है? तथा इनका विशेष क्या है? इस प्रकार की जिज्ञासाओं का उत्तर कहते हैं-

प्रतिपक्षी कर्मों के विनाश से उत्पन्न आत्मा की प्रसन्नता विशुद्धि है। इस आत्मा का अपने स्वरूप से प्रच्युत नहीं होना अप्रतिपात धर्म प्रतीत होता है तथा उन धर्मों के द्वारा विशेषताओं का प्राप्त होना विशेष कहा गया है, क्योंकि यहाँ 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'शिष्' धातु से कर्म साधन में 'घञ्' प्रत्यय कर 'विशेष' शब्द सिद्ध किया गया है। तद्विशेष में कहे गये पूर्वपरामर्शक तत् शब्द करके मनःपर्ययज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति इन दो भेदों का परामर्श किया गया है। इस प्रकार सूत्र का वाक्यार्थ बोध होता है॥२-३॥

तयोरेवर्जुविपुलमत्योर्विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां विशेषोऽवसेय इत्यर्थः॥

ननूत्तरत्र तद्भेदस्थिताभ्यां स विशिष्यते। विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां पूर्वस्तु न कथंचन॥४॥
इत्ययुक्तं विशेषस्य द्विष्ठत्वेन प्रसिद्धितः। विशिष्यते यतो यस्य विशेषः सोऽत्र हीक्षते॥५॥

पाठापेक्षयोत्तरो मनःपर्ययस्य भेदो विपुलमतिस्तद्गताभ्यां विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां स एव पूर्वस्मात्तद्भेदादृजुमतेर्विशिष्यते न पुनः पूर्व उत्तरस्मात्कथमपीत्ययुक्तं विशेषस्योभयस्थत्वेन प्रसिद्धेः। यतो विशिष्यते स विशेषो यश्च विशिष्यते स विशेष्य इति व्युत्पत्तेः। विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां चोत्तरतद्भेदगताभ्यां पूर्वो यथोत्तरस्माद्विशिष्यते तथा पूर्वतद्भेदगाभ्यामुत्तर इति सर्वं निरवद्यं। ननु चर्जुमतेर्विपुलमतिर्विशुद्ध्या विशिष्यते

ऋजुमति और विपुलमति नामक उन मनःपर्यय के भेदों को ही विशुद्धि और अप्रतिपात से विशेष जान लेना चाहिए। "तयोरेव विशेषः" इस प्रकार अवधारण लगाकर अर्थ किया गया है।

शंका - पूर्वसूत्र में "ऋजुविपुलमति" शब्द द्वारा कहा गया विपुलमति ही उत्तर सूत्र में भेद करने में स्थित विशुद्धि और अप्रतिपात से विशेषित किया जा सकता है। किन्तु पहला ऋजुमति किसी भी प्रकार से विशुद्धि और अप्रतिपात से विशेषित नहीं किया जा सकता है।

समाधान - इस प्रकार शंका करना अयुक्त है, क्योंकि संयोग विभाग द्वित्व त्रित्व संख्या के समान विशेष पदार्थ भी दो आदि अधिकरणों में स्थित होकर प्रसिद्ध है। जिसके द्वारा विभाग किया जाता है अथवा जिसका विभाग किया जाता है, इस निरुक्ति के अनुसार विभाग दो में रहता है। इसी प्रकार जिससे जो विशेषित किया जाता है अथवा जिस पदार्थ का विशेष होता है, वह विशेष है। वह विशेष यहाँ दृष्टिगोचर हो रहा है अतः विपुलमति और ऋजुमति दोनों परस्पर में विशुद्धि, अप्रतिपात द्वारा विशेष से आक्रान्त हो जाते हैं॥४-५॥

सूत्र के पाठ की अपेक्षा से उत्तर में वर्त रहा मनःपर्यय ज्ञान का भेद विपुलमति है। उस विपुलमति में प्राप्त विशुद्धि और अप्रतिपात से वह विपुलमति ही पूर्ववर्ती उस मनःपर्यय के भेद ऋजुमति से विशेषता को प्राप्त हो सकता है। किन्तु फिर पूर्ववर्ती ऋजुमति उत्तरवर्ती विपुलमति से कैसे भी विशेषता को प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार कहना उचित नहीं है, क्योंकि विशेषता की दोनों में स्थिति होने से प्रसिद्धि है।

जिससे विशेषता को प्राप्त होता है, वह पंचमी विभक्तिवाला भी विशेष है और जो पदार्थ विशिष्ट हो रहा है, वह प्रथमा विभक्तिवाला पद भी विशेष है। इस प्रकार विशेष पद की व्युत्पत्ति करने से प्रतियोगी, अनुयोगी दोनों में रहने वाले दोनों विशेष लिये जाते हैं। जिसकी ओर से विशेषता आती है और जिस पदार्थ में विशेषता आकर बैठ जाती है, वे दोनों पदार्थ परस्पर में किसी विवक्षित धर्म द्वारा विशेष से युक्त माने जाते हैं। उस मनःपर्यय के उत्तरवर्त्ती भेदस्वरूप विपुलमति में प्राप्त विशुद्धि और अप्रतिपात से जिस प्रकार पूर्ववर्त्ती ऋजुमति विशेषित कर दिया जाता है उसी प्रकार उस मनःपर्यय के पूर्ववर्ती भेद ऋजुमति में प्राप्त हो रहे, प्रतियोगितावच्छिन्न विशुद्धि और अप्रतिपात के उन अल्प विशुद्धि और प्रतिपात से उत्तरवर्ती विपुलमति भी विशेषित हो जाता है। इस प्रकार सभी सिद्धान्त निर्दोष होकर सिद्ध होते हैं।

तस्य ततो विशुद्धतरत्वान्मन:पर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षादुत्पन्नत्वात्। अप्रतिपातेन च तत्स्वामिनामप्रतिपतितसंयमत्वेन तत्संयमगुणैकार्थसमवायित्वेन विपुलमतेरप्रतिपाताद्विपुलमतेस्तु कथमृजुमतिर्विशिष्यते? ताभ्यामिति चेत्स्वविशुद्ध्यात्पया प्रतिपातेन चेति गम्यताम्। विपुलमत्यपेक्षयर्जुमतेरल्प-विशुद्धित्वात्तत्स्वामिनामुपशान्तकषायाणामपि सम्भवत्प्रतिपतत्संयमगुणैकार्थसमवायिन: प्रतिपातसम्भवादिति प्रपंचितमस्माभिरन्यत्र ॥

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमन:पर्यययो: ॥२५॥

विशेष इत्यनुवर्त्तते। किमर्थमिदमुच्यते इत्याह-

शंका - ऋजुमति से विशुद्धतर होने से तथा मन:पर्यय ज्ञानावरण के प्रकर्ष क्षयोपशम से उत्पन्न होने से विपुलमति मन:पर्यय विशुद्धि की अपेक्षा विशेषित किया जा सकता है तथा मन:पर्यय के स्वामियों का संयम पतनशील न होने से और वर्द्धमान संयम गुण के साथ एकार्थ समवाय सम्बन्ध होने से विपुलमति ऋजुमति से विशिष्ट है, यह कहा जा सकता है किन्तु विपुलमति से ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान तो उन विशुद्धि और अप्रतिपात से विशेषताओं को कैसे प्राप्त हो सकता है? क्योंकि ऋजुमति में तो अधिक विशुद्धि और अप्रतिपात नहीं पाये जाते हैं वा उन दोनों में विशेषता स्वविशुद्धि की अल्पता से और प्रतिपात से जानी जाती है।

समाधान - इस प्रकार प्रविष्ट होकर शंका करने पर आचार्य कहते हैं कि अपनी अल्प विशुद्धि और प्रतिपात से ऋजुमति ज्ञान विपुलमति से विशेषता ग्रस्त है। इस प्रकार अपने चित्त में अवधारण करना चाहिए। उक्त शंका का इसके अतिरिक्त अन्य कोई समाधान नहीं है। विपुलमति की अपेक्षा से ऋजुमतिज्ञान अल्प विशुद्धिवाला है क्योंकि उस ऋजुमति के अधिकारी स्वामी छट्ठे से आरम्भ कर उपशान्त कषाय वाले ग्यारहवें गुणस्थान तक में यथायोग्य हो सकते हैं। तो भी प्रतिपतनशील संयमगुण के साथ एकार्थसमवाय सम्बन्ध को धारने वाले ऋजुमति का प्रतिपात होना सम्भव है अत: ऋजुमति भी अपनी अल्पविशुद्धि और प्रतिपात से विपुलमति से विशेषताओं का धारक है अर्थात् ऋजुमति से विपुलमति विशुद्धतर है और अप्रतिपात है, ऐसा जानना चाहिए। इसका विशेष विस्तार हमने अन्यत्र किया है।

मन:पर्यय के विशेष भेदों का ज्ञान कर अब श्री उमास्वामी महाराज अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान की विशेषताओं को कहते हैं -

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा अवधि और मन:पर्यय ज्ञान में विशेषता है॥२५॥

ऊपर के "**विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेष:**" इस सूत्र में से विशेष इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती है। किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए यह सूत्र कहा गया है? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

कुतोऽवधेर्विशेषः स्यान्मनःपर्ययसंविदः। इत्याख्यातुं विशुद्ध्यादिसूत्रमाह यथागमं ॥१॥

विशुद्धिरुक्ता क्षेत्रं परिच्छेद्याद्यधिकरणं स्वामीश्वरो विषयः परिच्छेद्यस्तैर्विशेषोऽवधिमनः-पर्याययोर्विशेषः। कथमित्याह-

भूयः सूक्ष्मार्थपर्यायविन्मनःपर्ययोऽवधेः। प्रभूतद्रव्यविषयादपि शुद्ध्या विशेष्यते ॥२॥
क्षेत्रतोऽवधिरेवातः परमक्षेत्रतामितः। स्वामिना त्ववधेः सः स्याद्विशिष्टः संयतप्रभुः ॥३॥
विषयेण च निःशेषरूप्यरूप्यर्थगोचरः। रूप्यर्थगोचरादेव तस्मादेतच्च वक्ष्यते ॥४॥

मनःपर्ययज्ञान का अवधिज्ञान से अथवा अवधिज्ञान का मनःपर्ययज्ञान से विशेष किन-किन विशेषताओं से हो सकता है? इस बात को बताने के लिए सूत्रकार "**विशुद्धिक्षेत्रस्वामि**" आदि सूत्र को आर्ष आगम का अतिक्रमण नहीं कर स्पष्ट कर रहे हैं॥१॥

"**विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः**" इसमें विशुद्धि का लक्षण कह दिया गया है। जानने योग्य आदि पदार्थों के अधिकरण को क्षेत्र कहते हैं। अधिकारी प्रभु, स्वामी कहा जाता है। ज्ञान द्वारा जानने योग्य पदार्थ विषय हैं। इन विशुद्धि आदिकों के द्वारा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में परस्पर विशेषता है।

इन दोनों का विशेष किस प्रकार है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

बहुत से द्रव्यों को विषय करने वाले भी अवधिज्ञान से बहुत सी सूक्ष्म अर्थपर्यायों को जानने वाला मनःपर्यय ज्ञान विशुद्धि करके विशेषित कर दिया जाता है अर्थात्-यद्यपि अवधिज्ञान बहुत से द्रव्यों को जानता है, किन्तु द्रव्य की सूक्ष्म अर्थपर्यायों को मनःपर्यय ज्ञान अधिक जानता है1 अवधिज्ञान से जाने हुए रूपीद्रव्य के अनन्तवें भाग को मनःपर्यय जान लेता है। द्रव्य की अपेक्षा सर्वावधि का विषय बहुत है। फिर भी भाव की अपेक्षा बहुत सी अर्थपर्यायों को विपुलमति जितना जानता है, उतना सर्वावधि नहीं जानता है। अतः अधिक विशुद्धि वाला मनःपर्ययज्ञान अल्पविशुद्धि वाले अवधिज्ञान से विशिष्ट है॥२॥

क्षेत्र की अपेक्षा अवधिज्ञान इस मनःपर्ययज्ञान से परम उत्कृष्ट क्षेत्रपने को प्राप्त है अर्थात् असंख्यात लोकस्थ रूपी पदार्थों को जानने की शक्तिवाला अवधिज्ञान ही केवल मनुष्य लोकस्थ पदार्थों को विषय करने वाले मनःपर्यय से विशिष्ट है। अर्थात् इस तीन सौ तैंतालीस घन रज्जु प्रमाण लोक के समान यदि अन्य भी असंख्याते लोक होते तो तत्रस्थ रूपी पदार्थों को भी अवधिज्ञान जान सकता है। किन्तु मनःपर्ययज्ञान केवल मनुष्य लोक में ही स्थित पदार्थों को विषय कर सकता है। अतः क्षेत्र की अपेक्षा अवधिज्ञान ही मनःपर्यय से प्रकृष्ट है। तथा स्वामी की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान ही अवधिज्ञान से उत्कृष्ट है क्योंकि अवधिज्ञान चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। चारों गतियों में पाया जाता है। किन्तु मनःपर्यय छट्ठे से ही आरम्भ होकर किसी-किसी ऋद्धिधारी मुनि के उत्पन्न होता है। अतः जिसका स्वामी संयमी है, ऐसा मनःपर्ययज्ञान उस असंयमी के पायी जाने वाली अवधि से विशिष्ट॥३॥

सम्पूर्ण रूपी और पुद्गल से बँधे हुए सम्पूर्ण अरूपी अर्थों को विषय करने वाला यह मनःपर्यय ज्ञान उस रूपी अर्थ को ही विषय करने वाले अवधिज्ञान से विषय की अपेक्षा भी विशिष्ट है। अर्थात्-रूपी पुद्गल

एवं मत्यादिबोधानां सभेदानां निरूपणम्। कृतं न केवलस्यात्र भेदस्याप्रस्तुतत्वत: ॥५॥
वक्ष्यमाणत्वतश्चास्य घातिक्षयजमात्मन:। स्वरूपस्य निरुक्त्यैव ज्ञानं सूत्रे प्ररूपणात् ॥६॥

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

मत्यादिज्ञानेषु सभेदानि चत्वारि ज्ञानानि भेदतो व्याख्याय बहिरंगकारणतश्च केवलमभेदं वक्ष्यमाण-कारणस्वरूपमिहाप्रस्तुतत्वात् तथानुक्त्वा किमर्थमिदमुच्यत इत्याह-

अथाद्यज्ञानयोरर्थविवादविनिवृत्तये। मतीत्यादि वच: सम्यक् सूत्रयन्सूत्रमाह स: ॥१॥

संप्रति के मतिश्रुते कश्च निबन्ध: कानि द्रव्याणि के वा पर्याया इत्याह-

---

की पर्यायें और अशुद्धजीव की अरूपी सूक्ष्म अर्थपर्यायों को मन:पर्यय जितना जानता है, अवधिज्ञान उतना नहीं जानता। इस कथन को "रूपिष्ववधे:" आदि सूत्रों के विवरण करते समय स्पष्ट करेंगे। अत: विषय की अपेक्षा उस अवधिज्ञान से यह मन:पर्ययज्ञान विशिष्ट है॥४॥

इस प्रकार यहाँ तक अनेक भेद सहित मति आदिक चार क्षायोपशमिक ज्ञानों का सूत्रकार ने निरूपण किया है। केवलज्ञान की यहाँ प्ररूपणा नही की गयी है क्योंकि यहाँ ज्ञान के भेदों का प्रकरण चल रहा है। केवलज्ञान के कोई भेद नहीं है। दसवें अध्याय में आत्मा के घातिकर्मों के क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है यह कहा है। यह निरूपण (केवलज्ञान का स्वरूप) तो **"मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलानि ज्ञानम्"** इस सूत्र में केवल शब्द की निरुक्ति करके ही प्ररूपित कर दिया गया है॥५-६॥

अब आचार्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय के सम्बन्ध में कहते हैं -

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान द्रव्यों की कुछ पर्यायों को विषय करते हैं। मति और श्रुत के निबन्ध को मतिश्रुत का निबन्ध कहते हैं॥२६॥

सामान्य रूप से मति श्रुत आदि ज्ञानों में भेद सहित वर्तन करने वाले मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय हैं। इन चारों ज्ञानों को भेद की अपेक्षा से तथा बहिरंगकारण रूप से व्याख्यान करके तथा आगे दसवें अध्याय में भेद रहित एक ही प्रकार के केवलज्ञान का यहाँ प्रस्ताव प्राप्त नहीं होने के कारण इसका कथन न करके "मतिश्रुतयो:" इत्यादि सूत्र किस प्रयोजन के लिए कहा जा रहा है? ऐसी जिज्ञासा होने पर **विद्यानन्द स्वामी** कहते हैं -

अब विषय प्रकरण के प्रारम्भ में ज्ञानों की आदि में कहे गये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दो ज्ञानों के विषयों की विप्रतिपत्ति का विशेषरूप से निवारण करने के लिए इस **"मतिश्रुतयोर्निबन्धो"** इत्यादि सूत्रस्वरूप समीचीन वचन को कहते हुए आचार्य ने सूत्र कहा है॥१॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कैसा है? और निबन्ध का अर्थ क्या है? तथा द्रव्य कौन से हैं? अथवा पर्यायें कौनसी हैं? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द स्वामी** एक ही वार्तिक द्वारा उत्तर देते हैं -

मतिश्रुते समाख्याते निबन्धो नियमः स्थितः। द्रव्याणि वक्ष्यमाणानि पर्यायाश्च प्रपंचतः ॥२॥

ततो मतिश्रुतयोः प्रपंचेन व्याख्यातयोर्वक्ष्यमाणेषु द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु निबन्धो नियमो प्रत्येतव्य इति सूत्रार्थो व्यवतिष्ठते। विषयेष्वित्यनुक्तं कथमत्रावगम्यत इत्याह-

पूर्वसूत्रोदितश्चात्र वर्त्तते विषयध्वनिः। केवलोऽर्थाद्विशुद्ध्यादिसहयोगं श्रयन्नपि ॥३॥

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोरित्यस्मात्सूत्रात्तद्विषयशब्दोऽत्रानुवर्त्तते। कथं स विशुद्ध्यादिभिः सहयोगमाश्रयन्नपि केवलः शक्योऽनुवर्तयितुं? सामर्थ्यात्। तथाहि-न तावद्विशुद्धेरनुवर्त्तनसामर्थ्यं प्रयोजनाभावात्, तत एव न क्षेत्रस्य स्वामिनो वा सूत्रसामर्थ्याभावात्। नन्वेवं द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु निबन्धन

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का वर्णन पूव में कर दिया है और निबन्ध का अर्थ यहाँ नियम (विषय) ऐसा व्यवस्थित किया है। द्रव्यों का परिभाषण आगे पाँचवें अध्याय में करेंगे तथा पर्यायें भी विस्तार के साथ कहेंगे। अर्थात् - मतिज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मनःस्वरूप निमित्तों से अभिमुख नियमित पदार्थों को जानने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। श्रुतज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम होने पर जो सुना जाय यानी अर्थ से अर्थान्तर को जानने वाला, मतिपूर्वक परोक्षज्ञान श्रुतज्ञान है। मति, श्रुत का विवरण पूर्व में कह दिया है। निबन्ध का अर्थ नियत करना या मर्यादा में बाँध देना है। छह द्रव्यों का कथन आगे करेंगे ॥२॥

अतः इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार व्यवस्थित हो जाता है कि विस्तार के साथ व्याख्यान किये गए मतिज्ञान श्रुतज्ञानों का भविष्य ग्रन्थ में कहे जाने वाले विषयभूत सम्पूर्ण द्रव्यों में और असम्पूर्ण (कतिपय) पर्यायों में निबन्ध (नियम) समझ लेना चाहिए अर्थात् मति श्रुतज्ञान सर्वद्रव्य और उनकी कुछ पर्यायों को जानते हैं।

इस सूत्र में "**विषयेषु**" यह शब्द नहीं कहा है तो फिर अनुक्त यह शब्द किस प्रकार समझ लिया जाता है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं -

इस सूत्र के पूर्ववर्ती "**विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः**" सूत्र में कथित विषय शब्द यहाँ अनुवर्तन कर लिया जाता है। यद्यपि वह विषय शब्द "**विशुद्धि, क्षेत्र**" आदि के साथ सम्बन्ध को प्राप्त है, तो भी प्रयोजन होने से विशुद्धि आदिक और पंचमी विभक्ति से रहित होकर केवल विषय शब्द की ही अनुवृत्ति कर ली जाती है ॥३॥

"**विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनः पर्याययोः**" इस सूत्र से विषय शब्द यहाँ अनुवृत्ति करने योग्य है।

प्रश्न - विशुद्धि, क्षेत्र आदि के साथ सम्बन्ध का आश्रय होने पर भी विषय शब्द केवल अकेला ही कैसे अनुवर्तित किया जा सकता है?

उत्तर - पहिले पीछे के पदों और वाच्य अर्थ की सामर्थ्य से केवल विषय शब्द अनुवर्तनीय हो जाता है। इसी बात को स्पष्ट रूप से दिखलाते हैं, कि सबसे प्रथम कही गई विशुद्धि की अनुवृत्ति करने

इति वचनसामर्थ्याद्विषयशब्दस्यानुवर्त्तने विषयेष्विति कथं विषयेभ्य इति पूर्वं निर्देशात्तथैवानुवृत्तिप्रसंगादित्याशंकायामाह-

द्रव्येष्विति पदेनास्य सामानाधिकरण्यतः। तद्विभक्त्यन्ततापत्तेर्विषयेष्विति बुध्यते ॥४॥

किं पुनः फलं विषयेष्विति सम्बन्धस्येत्याह-

विषयेषु निबन्धोऽस्तीत्युक्ते निर्विषये न ते। मतिश्रुते इति ज्ञेयं न चाऽनियतगोचरे ॥५॥

तर्हि द्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्विति विशेषणफलं किमित्याह-

की यहाँ सामर्थ्य प्राप्त नहीं है, क्योंकि प्रकरण में विशुद्धि का कोई प्रयोजन नहीं है अतः कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होने से क्षेत्र की अथवा स्वामी शब्द की अनुवृत्ति नहीं हो पाती है।

सूत्र की सामर्थ्य के अनुसार ही पदों की अनुवृत्ति हुआ करती है, किन्तु यहाँ विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी इन पदों की अनुवृत्ति करने के लिए सूत्र की सामर्थ्य नहीं है।

शंका - इस प्रकार द्रव्यों में और असर्वपर्यायों में मतिश्रुतों का निबन्ध है। इस वचन की सामर्थ्य से विषय शब्द की अनुवृत्ति करने पर **"विषयेषु"** ऐसा सप्तमी विभक्ति का बहुवचनान्तपद कैसे किया जा सकता है? क्योंकि पूर्व सूत्र में **"विषयेभ्यः"** ऐसा पंचमी विभक्ति का बहुवचनान्तपद कहा गया है। अतः पंचम्यन्त विषय शब्द की अनुवृत्ति हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार की आशंका होने पर आचार्य समाधान करते हैं-

इस विषय शब्द का **'द्रव्येषु'** इस प्रकार सप्तमी विभक्तिवाले पद के साथ समान अधिकरणत्व होने से उस सप्तमी विभक्ति के बहुवचनान्तपद की प्राप्ति हो जाती है अतः **'विषयेषु'** विषयों में यह अर्थ समझ लिया जाता है ॥४॥

पुनः **'विषयेषु'** इस प्रकार सप्तम्यन्त पद के सम्बन्ध का यहाँ फल क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं -

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का द्रव्य और कतिपय पर्यायस्वरूप विषयों में नियम है। इस प्रकार कथन करने पर वे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान दोनों विषय रहित नहीं हैं, यह निश्चय है।

अथवा दूसरा प्रयोजन यह भी है कि जिस किसी भी पदार्थ को विषय करने वाले दोनों ज्ञान नहीं हैं, किन्तु उन दोनों ज्ञानों का विषय नियत है। ऐसा जानना चाहिए।

भावार्थ - तत्त्वोपप्लववादी या यौगाचार बौद्ध अथवा शून्यवादी विद्वान् ज्ञानों को निर्विषय मानते हैं। घट, पट आदि के ज्ञानों में कोई बहिरंग पदार्थ विषय नहीं है। स्वप्नज्ञान समान उक्त ज्ञान भी निर्विषय है। अथवा कोई विद्वान् मतिश्रुतज्ञानों के विषयों को नियत स्वीकार नहीं करते हैं। उन दोनों प्रकार के प्रतिवादियों का निराकरण करने के लिए उक्त सूत्र कहा गया है।

'विषयेषु' - इस विशेष्य के द्रव्येषु और असर्वपर्यायेषु इन दो विशेषणों का फल क्या है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं -

पर्यायमात्रगे नैते द्रव्येष्विति विशेषणात्। द्रव्यगे एव तेऽसर्वपर्यायद्रव्यगोचरे ॥६॥
एतेष्वसर्वपर्यायेष्वित्युक्तेरिष्टनिर्णयात्। तथानिष्टौ तु सर्वस्य प्रतीतिव्याहतीरणात् ॥७॥

मतिश्रुतयोर्ये तावद्बाह्यार्थानालम्बनत्वमिच्छन्ति तेषां प्रतीतिव्याहतिं दर्शयन्नाह;-

मत्यादिप्रत्ययो नैव बाह्यार्थालम्बनं सदा। प्रत्ययत्वाद्यथा स्वप्नज्ञानमित्यपरे विदुः ॥८॥
तदसत्सर्वशून्यत्वापत्तेर्बाह्यार्थवित्तिवत्। स्वान्यसंतानसंवित्तेरभावात्तदभेदतः ॥९॥

विषयों का द्रव्येषु यह प्रथम विशेषण लगा देने से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान दोनों केवल पर्यायों को ही जानने वाले नहीं हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है। अर्थात् - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों, ये द्रव्यों को भी जानते हैं। बिना द्रव्य के निराधार पर्यायें ठहर नहीं सकतीं।

अत: वे मति श्रुतज्ञान द्रव्यों में ही प्राप्त है, यानी द्रव्यों को ही जानते हैं, पर्यायों को नहीं, यह एकान्त भी प्रशस्त नहीं है क्योंकि असर्वपर्यायेषु ऐसा दूसरा विशेषण भी लगा हुआ है। अत: कतिपय पर्याय और सम्पूर्ण द्रव्य इन विषयों में नियत हैं। यह सिद्धान्त सिद्ध होता है॥६॥

इन कतिपय पर्यायस्वरूप विषयों में मतिश्रुतज्ञान नियत हैं। इस प्रकार कह देने से इष्ट पदार्थ का निर्णय हो जाता है। अर्थात् - इन्द्रियजन्यज्ञान, अनिन्द्रियजन्यज्ञान, मतिपूर्वक श्रुतज्ञान ये ज्ञान कतिपय पर्यायों को विषय करते हैं। यह सिद्धान्त सभी विद्वानों के यहाँ अभीष्ट किया है। यदि इस प्रकार इन दो ज्ञानों के द्वारा कतिपय पर्यायों को विषय करना इष्ट नहीं किया जायेगा तो सभी वादी-प्रतिवादियों के यहाँ प्रतीतियों से व्याघात प्राप्त होगा, इस बात को सूचित किया है॥७॥

जो वादी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का बहिरंग अर्थों को आलम्बन करना नहीं मानते हैं, उनके यहाँ प्रतीतियों से स्वमतव्याघात होता है, उसको दिखलाते हुए आचार्य कहते हैं -

मति आदि ज्ञान ज्ञानपना होने से सदा ही बहिरंग अर्थों को विषय करने वाले नहीं हैं जैसे कि स्वप्न ज्ञान। इस प्रकार अनुमान से दूसरे (बौद्ध) कहते हैं। परन्तु उनका यह कहना सर्वथा असत्य है क्योंकि, ऐसा मानने पर सम्पूर्ण पदार्थों के शून्यपने का प्रसंग आता है। तथा घट, पट आदि बहिरंग अर्थों के ज्ञान समान अन्तस्तत्त्व माने गए अपना और अन्य संतानों का सम्यग्ज्ञान भी निरालम्बन हो जाता है।

क्योंकि घट, पट आदि के ज्ञानों में और स्वसंतान-परसंतानों को जानने वाले ज्ञानों में ज्ञानपना भेद रहित होकर विद्यमान है अत: स्वसन्तान और परसन्तान के ज्ञानों का भी निरालम्बन होने के कारण अभाव हो जाने से सर्वशून्यपने का प्रसंग आयेगा॥८-९॥

सम्पूर्ण मतिज्ञान और श्रुतज्ञान बहिरंग घट, पट आदि अर्थों को सदा ही विषय करने वाले नहीं हैं जैसे कि स्वप्न का ज्ञान बहिर्भूत नदी आदि को आलम्बन करने वाला नहीं है। इस प्रकार यौगाचार बौद्ध कहते हैं परन्तु उनका यह कहना अयुक्त है, क्योंकि इस प्रकार तो बहिरंग अर्थों के संवेदनसमान अपनी ज्ञान संतान और दूसरे की ज्ञान संतान संवेदन भी असम्भव हो जायेगा। क्योंकि स्वसंतान और परसंतान के ग्राहकज्ञानों की अपेक्षा से स्वसंतान और परसंतान का बाह्यपना विशेषता रहित है।

मतिश्रुतप्रत्ययाः न बाह्यार्थालंबनाः सर्वदा प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवदिति योगाचारस्तदयुक्तं, सर्वशून्यत्वानुषंगात्। बाह्यार्थसंवेदनवत्स्वपरसंतानसंवेदनासम्भवाद्ग्राहकज्ञानापेक्षया स्वसन्तानस्य परसन्तानस्य च बाह्यत्वाविशेषात्। संवेदनं हि यदि किंचित् स्वस्मादर्थान्तरं परसन्तानं स्वसन्तानं वा पूर्वापरक्षणप्रवाहरूपमालम्बते। तदा घटाद्यर्थेन तस्य कोऽपराधः कृतः यतस्तमपि नालम्बते। अथ घटादिवत्स्वपरसन्तानमपि नालम्बत एव तस्य स्वसमानसमयस्य भिन्नसमयस्य वालंबनासम्भवात्। न चैवं स्वरूपसन्तानाभावः स्वरूपस्य स्वतो गतेः। नीलादेस्तु यदि स्वतो गतिस्तदा संवेदनत्वमेवेति स्वरूपमात्रपर्यवसिताः सर्वे प्रत्यया निरालम्बनाः सिद्धास्तत्कुतः सर्वशून्यत्वापत्तिरिति मतं तदसत्, वर्त्तमानसंवेदनात्स्वयमनुभूयमानादन्यानि स्वपरसन्तानसंवेदनानि स्वरूपमात्रे पर्यवसितानीति निश्चेतुमशक्यत्वाद्। विवादाध्यासितानि स्वरूपसन्तानज्ञानानि स्वरूपमात्रपर्यवसितानि ज्ञानत्वात्स्वसंवेदनवदित्यनुमानात्तथा निश्चय इति चेत्, तस्यानुमानज्ञानस्य

यदि बौद्ध यों कहें कि कोई-कोई समीचीन ज्ञान किसी अपने ज्ञानशरीर से निराले पदार्थ और पहिले पीछे के क्षणों में प्रवाह स्वरूप परसंतान को अथवा आगे, पीछे तीनों कालों में प्रवाहित क्षणिक विज्ञान स्वरूप स्वसंतान को आलम्बन कर लेता है, तब तो हम जैन कहेंगे कि घट आदि अर्थ के द्वारा उस ज्ञान का कौनसा अपराध हो गया है? जिससे कि वह ज्ञान इन घट आदिकों का आलम्बन नहीं कर सकता है?

यदि यौगाचार कहता है कि घट, पट आदि के समान स्वसंतान परसंतान को भी कोई ज्ञान विषय नहीं करता है - क्योंकि ज्ञान के द्वारा स्वकीय ज्ञान के समान समय में और भिन्न समय में होने वाले स्व पर संतानों का आलम्बन करना असम्भव है। इस प्रकार मानने में विज्ञानस्वरूप सन्तान का अभाव भी नहीं होता है क्योंकि शुद्ध क्षणिकज्ञान में स्वरूप की स्वतः ही ज्ञप्ति हो जाती है। यदि नील स्वलक्षण, पीत स्वलक्षण आदि की भी स्वतः ज्ञप्ति होना मान लिया जाए तो वे नील आदि पदार्थ ज्ञान स्वरूप ही हो जायेंगे इसलिए केवल अपने स्वरूप को जानने में लवलीन सम्पूर्णज्ञान स्वयं से भिन्न विषयों की अपेक्षा निरालम्बन सिद्ध है अंतः बौद्धमत में किस प्रकार सर्वशून्यपने का प्रसंग आएगा? (जबकि अपनेअपने शुद्धस्वरूप को ही प्रकाशित करने वाले अनेक क्षणिक विज्ञान विद्यमान हैं)। जैनाचार्य कहते हैं कि उक्त जो यौगाचारों का मन्तव्य है, वह असत् है, क्योंकि भिन्न-भिन्न स्वसंतान के ज्ञान और परसंतानों के क्षणिक ज्ञान अपने-अपने केवलस्वरूप को प्रकाशित करने में चरितार्थ हैं। इस बात को स्वयं अनुभूत वर्तमान काल के संवेदन से तो निश्चय करने के लिए अशक्य है।

पुनः यौगाचार (बौद्ध) अपने मन्तव्य को अनुमान द्वारा पुष्ट करते हैं। विवाद में स्थित स्वसंतान और परसंतान के त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण क्षणिक विज्ञान का ज्ञानपना होने से केवल स्वकीयरूप के प्रकाशित करने में लवलीन है जैसे कि स्वसंवेदन ज्ञान। इस प्रकार यह अनुमान से निश्चय है अर्थात् ज्ञान ही को जानने वाला जैसे स्वसंवेदन ज्ञान किसी बहिरंग तत्त्व को नहीं जानता है, उसी प्रकार घट ज्ञान, स्वसंतान ज्ञान, दूसरे जिनदत्त आदि की संतानों का ज्ञान-ये सब स्वकीय ज्ञान शरीर को ही विषय करते हैं, अन्य ज्ञेयों को नहीं छूते हैं। इस प्रकार बौद्धों के कथन पर जैनाचार्य कहते हैं कि उस अनुमान ज्ञान को यदि प्रकरण प्राप्त

प्रकृतसालम्बनत्वेऽनेनैव हेतोर्व्यभिचारात्स्वरूपमात्रपर्यवसितत्वे प्रकृतसाध्यस्यास्मादसिद्धेः। संवेदनाद्वैतस्यैवं प्रसिद्धेस्तथापि न सर्वशून्यत्वापत्तिरिति मन्यमानं प्रत्याह-

न चैवं सम्भवेदिष्टमद्वयं ज्ञानमुत्तमम्। ततोऽन्यस्य निराकर्त्तुमशक्तेस्तेन सर्वथा ॥१०॥

यथैव हि सन्तानान्तराणि स्वसन्तानवेदनानि चानुभूयमानेन संवेदनेन सर्वथा विधातुं न शक्यन्ते। तथा प्रतिषिद्धमपि। तद्धि तानि निराकुर्वदात्ममात्रविधानमुखेन वा तत्प्रतिषेधमुखेन वा निराकुर्यात्। प्रथमकल्पनायां दूषणमाह-

स्वतो न तस्य संवित्तिरन्यस्य स्यान्निराकृतिः। किमन्यस्य स्वसंवित्तिरन्यस्य स्यान्निराकृतिः ॥११॥
स्वयं संवेद्यमानस्य कथमन्यैर्निराकृतिः। परैः संवेद्यमानस्य भवतां सा कथं मता ॥१२॥

साध्य स्वरूपमात्र निमग्न सालम्बनपना माना जाएगा, तो उस अनुमान ज्ञान से ही ज्ञानत्व हेतु का व्यभिचार आता है क्योंकि इस अनुमान में ज्ञानपन हेतु तो रह गया और केवल अपने स्वरूप में लवलीनपना साध्य नहीं रहा। यदि इस व्यभिचार के निवारणार्थ इस अनुमानज्ञान को भी स्वरूपमात्र के प्रकाशने में ही लगा हुआ निर्विषय मानोगे, अपने विषयभूत साध्य का ज्ञापन करने वाला नहीं मानोगे तो इस अनुमान से प्रकरण प्राप्त साध्य स्वरूपमात्र प्रकाशन की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

संवेदनाद्वैत ही प्रसिद्ध है उसमें सर्वशून्यता की आपत्ति नहीं है। इस प्रकार कहने वाले बौद्ध के प्रति आचार्य कहते हैं -

इस प्रकार बौद्धों के द्वारा कथित संवेदनाद्वैत ज्ञान उत्तमरूप से इष्ट एवं-संभव नहीं है क्योंकि संवेदन से अन्य घट, पटादिक विषयों का सर्वथा निराकरण करना शक्य नहीं है॥१०॥

जिस प्रकार वर्तमान काल में भूत संवेदन ज्ञान अन्य संतानों के ज्ञानों और अपनी ज्ञानमाला रूप संतान के विज्ञानों की विधि कराने के लिए सर्वथा समर्थ नहीं है। उसी प्रकार वह ज्ञान अंतरंग बहिरंग ज्ञेयों के निषेध करने के लिए भी समर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि जो जिसका विधान नहीं कर सकता है, वह उसका क्वचित् निषेध भी नहीं कर सकता है।

वह अनुभूत ज्ञान यदि उन पृथक् - पृथक् स्व पर संतानों का निराकरण करता भी है तो क्या केवल अपनी विधि के मुख से उनका निषेध करता है? अथवा उन अन्य पदार्थों के निषेध की मुख्यता करके निषेध करता है? प्रथम कल्पना इष्ट करने पर जो दूषण आते हैं उनके बारे में आचार्य कहते हैं -

उस अनुभूयमान संवेदन की स्वोन्मुख स्वयं अपने आपसे केवल अपनी ही सम्वित्ति होने से तो अन्य पदार्थों का निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि क्या अन्य पदार्थों की स्वसम्वित्ति उससे दूसरे पदार्थों का निषेधस्वरूप हो सकती है? कभी नहीं॥११॥

स्वकीय ज्ञानसंतान अथवा परकीय ज्ञानसंतान के संवेद्यमान ज्ञान का अन्य ज्ञानों के द्वारा निराकरण कैसे हो सकता है? तथा आपने दूसरों के द्वारा संवेदन किए गए पदार्थ का अन्य के द्वारा निराकरण कर देना कैसे मान लिया है? ॥१२॥

परैः संवेद्यमानं वेदनमस्तीति ज्ञातुमशक्तेस्तस्य निराकृतिरस्माकं मतेति चेत्, तर्हि तन्नास्तीति ज्ञातुमशक्तेस्तद्व्यवस्थितिः किन्न मता। ननु तदस्तीति ज्ञातुमशक्यत्वमेव। तन्नास्तीति ज्ञातुं शक्तिरितिचेत्, तन्नास्तीति ज्ञातुमशक्यत्वमेव। तदस्तीति ज्ञातुं शक्तिरस्तु विशेषाभावात्। यदि पुनस्तदस्तिनास्तीति वा ज्ञातुमशक्तेः संदिग्धमिति मतिस्तदापि कथं संवेदनाद्वैतं सिद्ध्येदसंशयमिति चिन्त्यतां। संवेदनान्तरं प्रतिषेधमुखेन निराकरोतीति। द्वितीयकल्पनायां पुनरद्वैतवेदनसिद्धिर्दूरोत्सारितैव तत्प्रतिषेधज्ञानस्य द्वितीयस्य भावात्। स्वयं तत्प्रतिषेधकरणाददोष इति चेत्, तर्हि स्वपरविधिप्रतिषेधविषयमेकसंवेदनमित्यायातं। तथा चैकमेव वस्तु-साध्यं साधनं वापेक्षातः कार्यं कारणं च, बाध्यं बाधकं चेत्यादि किन्न सिद्ध्येत्। विरुद्धधर्माध्यासादिति चेत्,

---

दूसरों के द्वारा संवेद्यमान ज्ञान हैं, इस बात को हम नहीं जान सकते हैं अतः उन अन्य वेद्यज्ञानों का निराकरण हो जाना हमारे यहाँ मान लिया गया है।

इस प्रकार बौद्धों के कहने पर तो दूसरों से संवेद्यमान वे ज्ञान 'नहीं हैं,' इसको भी तो हम नहीं जान सकते हैं अतः उन ज्ञानों के सद्भाव की व्यवस्था क्यों नहीं मान ली जाती है अर्थात् हम जैन छद्मस्थ जीव यदि परमाणु, पुण्य, पाप, परकीय सुख, दुःख आदि की विधि नहीं करा सकते हैं तो उनका निषेध भी नहीं कर सकते हैं। यदि जानने योग्य वे ज्ञान हैं- इस बात को नहीं जान सकना ही 'वे नहीं हैं' इस बात को जानने की शक्ति है। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर हम जैन भी कह सकते हैं कि उन अन्यों के द्वारा जानने योग्य ज्ञान नहीं हैं। इस बात को जानने के लिए अशक्यता ही 'वे ज्ञान हैं' इस बात को जानने के लिए शक्ति हो जाती है, उनमें कोई अन्तर नहीं है।

यदि फिर वे सन्तानान्तरों के ज्ञान एवं अपने ज्ञान "हैं अथवा नहीं हैं-" इस बात को निर्णीतरूप से नहीं जानने के कारण उन ज्ञानों के सद्भाव का संदेह प्राप्त होता है। बौद्धों के ऐसा कहने पर तो हम कहेंगे कि तुम्हारा माना गया संवेदनाद्वैत संशय रहित होता हुआ कैसे सिद्ध होगा? इस बात का चिन्तन करो।

अनुभूयमान पृथक् संवेदन प्रतिषेध मुख से अन्य ज्ञेयों का निराकरण करता है, ऐसी द्वितीय कल्पना यदि आपको इष्ट है, तब तो फिर अद्वैत सम्वेदन की सिद्धि होना दूर ही फेंक दिया जायेगा। क्योंकि स्वकीय विधि को ही करने वाले ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा उन अन्य ज्ञेयों के प्रतिषेध को जानने वाले ज्ञान का सद्भाव है। दो ज्ञानों के होने पर अद्वैत कहाँ रहा? द्वैत हो गया।

यदि बौद्ध यों कहे कि स्व की विधि को करने वाला वह संवेदन स्वयं अकेला अन्य ज्ञान या ज्ञेयों का प्रतिषेध कर देता है। अतः हमारे ज्ञान अद्वैत सिद्धान्त में कोई दोष नहीं है, तब तो हम कहेंगे कि स्वरूप की विधि को और पररूप के निषेध को विषय करने वाला एक ही संवेदन सिद्ध होता है। इस प्रकार अनेक धर्म वाले एकधर्मी पदार्थ के मानने का प्रसंग आता है और ऐसा होने पर स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार एक ही वस्तु साध्य अथवा साधन की अपेक्षाओं से क्यों नहीं सिद्ध होगी? अर्थात् एक ही ज्ञान साध्य और साधन हो सकता है। अथवा कारक पक्षानुसार धूम वह्नि का साध्य है और ज्ञापक पक्षानुसार अग्नि का धूम साधन है। तथा एक ही पदार्थ अपने कारणों का कार्य और अपने कार्यों का कारण बन जाता है। इसी प्रकार बाध्य-

तत एव संवेदनमेकं स्वपररूपविधिप्रतिषेधविषयं माभूत्स्वापेक्षाविधायकं परापेक्षया प्रतिषेधकमित्यविरोधे स्वकार्यापेक्षया कारणं स्वकारणापेक्षया कार्यमित्यविरोधोऽस्तु। अथ स्वतोऽन्यस्य कार्यस्य कारणस्य वा साध्यस्य साधकस्य वा सद्भावासिद्धेः कथं तदपेक्षा यतस्तत्कार्यं कारणं बाध्यं बाधकं च साध्यं साधनं च स्यादिति ब्रूते तर्हि परस्य सद्भावासिद्धेः कथं तदपेक्षा यतस्तत्परस्य प्रतिषेधकं स्वविधायकं वा स्यादित्युपहासास्पदं तत्त्वं सुगतेन भावितमित्याह-

न साध्यसाधनत्वादिर्न च सत्येतरस्थितिः। ते स्वसिद्धिरपीत्येतत्तत्त्वं सुगतभावितम् ॥१३॥

बाधक भाव भी एक हो सकता है। ऐसे ही आधार-आधेय, गुरु-शिष्य, विषय-विषयी आदि भी अपेक्षाओं से एक-एक ही पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं।

विरुद्ध धर्मों से आलीढ़ हो जाने के कारण एक ही पदार्थ साध्य और साधन अथवा कार्य और कारण आदि नहीं हो सकता है। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर हम कहेंगे कि तो फिर एक संवेदन भी स्वरूप की विधि और पर-रूप के निषेध को विषय करने वाला नहीं हो सकता। इसमें भी तो संवेदन में विधायकपन और निषेधकपन दो विरुद्ध धर्म हैं। यदि बौद्ध कहें कि स्वरूप की अपेक्षा विधायकपना और पररूप की अपेक्षा निषेधकपना इन दो धर्मों को मानने पर कोई विरोध नहीं है। तब तो हम अनेकान्तवादी भी कह देंगे कि अपने कार्यों की अपेक्षा से कारणपना और अपने कारणों की अपेक्षा से कार्यपना भी एक पदार्थ में विरोध रहित हो सकता है। अर्थात् अपने गुरु की अपेक्षा से जिनदत्त शिष्य तथा अपने पढ़ाये हुए शिष्यों की अपेक्षा से वही जिनदत्त गुरु भी हो सकता है।

बौद्ध कहते हैं कि स्वयं ज्ञानाद्वैत की अपेक्षा तो अन्य कार्य की और कारण की अथवा साध्य और साधक की सत्ता ही असिद्ध है। अतः उन अन्य पदार्थों की अपेक्षा कैसे हो सकती है? जिससे कि एक पदार्थ ही अपेक्षाकृत कार्य और कारण अथवा बाध्य और बाधक तथा साध्य और साधन हो सके। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो पर के सद्भाव की असिद्धि हो जाने के कारण किस प्रकार उस पर की अपेक्षा हो सकेगी? जिससे कि वह एक ही संवेदन पर का निषेध करने वाला और स्व का विधान कराने वाला हो सके। अतः संवेदन ज्ञान को स्व का विधायक और पर का निषेधक मानना सुगत के द्वारा हास्यास्पद तत्त्व कहा गया है। इसी बात को **श्री विद्यानन्द आचार्य** वार्त्तिक द्वारा स्पष्ट करते हैं -

ज्ञानाद्वैतवादियों के यहाँ साध्य-साधन, कार्य-कारण, बाध्य-बाधक आदि तथा सत्य-असत्य की कोई व्यवस्था नहीं है। ऐसी दशा में तुम्हारे इष्ट स्वतत्त्व संवेदन की सिद्धि नहीं हो सकती है अतः क्षणिक शुद्ध विज्ञानाद्वैत स्वरूप तत्त्व को सुगत ने श्रुतमयी, चिन्तामयी भावनाओं द्वारा विचारा है! यह हास्यास्पद कथन है ॥१३॥

ततः स्वरूपसिद्धिमिच्छता सत्येतरस्थितिरङ्गीकर्त्तव्या साध्यसाधनत्वादिरपि स्वीकरणीय इति बाह्यार्थालम्बनाः प्रत्ययाः केचित्सन्त्येव, सर्वथा तेषां निरालम्बनत्वस्य व्यवस्थानायोगात्॥

अक्षज्ञानं बहिर्वस्तु वेत्ति न स्मरणादिकं। इत्युक्तं तु प्रमाणेन बाह्यार्थस्यास्य साधनात्॥१४॥

श्रुतं तु बाह्यार्थालम्बनं। कथमित्युच्यते-

श्रुतेनार्थं परिच्छिद्य वर्त्तमानो न बाध्यते। अक्षजेनेव तत्तस्य बाह्यार्थालंबना स्थितिः॥१५॥

सामान्यमेव श्रुतं प्रकाशयति विशेषमेव परस्परनिरपेक्षमुभयमेवेति वा शंकामपाकरोति-

अनेकान्तात्मकं वस्तु संप्रकाशयति श्रुतं। सद्बोधत्वाद्यथाक्षोत्थबोध इत्युपपत्तिमत्॥१६॥

इसलिए संवेदन के स्वरूप को सिद्धि को चाहने वाले बौद्धों के द्वारा सत्यपन और असत्यपन की व्यवस्था स्वीकार की जानी चाहिए तथा संवेदन को साध्यपना और प्रतिभासमानत्व को साधनपना, पूर्व पर्याय को कारणपना और उत्तर पर्याय को कार्यपना या अद्वैत को बाध्यपना और द्वैत को बाधकपना आदि भी स्वीकार करने चाहिए। इस प्रकार मानने पर कोई ज्ञान बहिरंग अर्थों को भी विषय करने वाले हैं ही। उन घट ज्ञान आदि प्रत्ययों का सर्वथा निरालम्बपने की व्यवस्था करने का तुम्हारे पास कोई समीचीन व्यवस्था का योग नहीं है।

इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान तो बहिरंग पदार्थों को जानते हैं किन्तु स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि बहिरंग पदार्थों को नहीं जानते हैं इस प्रकार कहना भी युक्तियों से रहित है, क्योंकि प्रमाणों के द्वारा इस बहिर्भूत अर्थ की सिद्धि की जा चुकी है। अर्थात् उन वास्तविक बाह्य अर्थों को विषय करने वाले सभी समीचीन मतिज्ञान और श्रुतज्ञान हैं; जो ज्ञान विषयों को स्पर्श नहीं करते वे मतिज्ञानाभास और श्रुतज्ञानाभास हैं॥१४॥

श्रुतज्ञान बाह्य अर्थों को विषय करने वाला कैसे है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर कहते हैं -

श्रुतज्ञान के द्वारा अर्थ की परिच्छित्ति कर प्रवृत्ति करने वाला पुरुष अर्थक्रिया करने में उसी तरह बाधा को प्राप्त नहीं होता है, जैसे इन्द्रियजन्य मतिज्ञान के द्वारा अर्थ को जानकर प्रवृत्ति करने वाला पुरुष बाधा को प्राप्त नहीं होता। अतः उस श्रुतज्ञान के बहिरंग अर्थों के आलम्बन करने की व्यवस्था बन जाती है॥१५॥

मीमांसक कहते हैं कि श्रुतज्ञान केवल सामान्य को ही प्रकाशित करता है। बौद्धों का एकान्त है कि 'विशेषा एव तत्त्वं' सभी पदार्थ विशेषस्वरूप हैं, सामान्य कोई वस्तुभूत नहीं है, अतः श्रुतज्ञान विशेष को ही जानता है। वैशेषिकों नैयायिकों का यह कहना है कि परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते हुए पृथक्-पृथक् सामान्य और विशेष दोनों को ही श्रुतज्ञान विषय करता है। इस प्रकार एकान्तवादियों की *आशंकाओं का* ***श्री विद्यानन्द स्वामी*** *निराकरण करते हैं-*

जिस प्रकार समीचीन ज्ञान होने से इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ सांव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञान अनेकान्तात्मक अर्थ को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार सामान्य और विशेषरूप अनेक धर्मों के साथ तदात्मक वस्तु को श्रुतज्ञान प्रकाशित करता है। इस प्रकार वह श्रुतज्ञान सामान्य विशेषात्मक वस्तु को प्रकाशित करता है यह युक्तियों से युक्त है॥१६॥

नयेन व्यभिचारश्चेन्न तस्य गुणभावतः। स्वगोचरार्थधर्माण्यधर्मार्थप्रकाशनात्॥१७॥
श्रुतस्यावस्तुवेदित्वे परप्रत्यायनं कुतः। संवृतेश्चेद्वृथैवैषा परमार्थस्य निश्चितेः॥१८॥

ननु स्वत एव परमार्थव्यवस्थितेः कुतश्चिदविद्याप्रक्षयान्न पुनः श्रुतविकल्पात् तदुक्तं "शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते। अनागमविकल्पा हि स्वयं विद्योपवर्त्तत" इति तदयुक्तं, परेष्टतत्त्वस्याप्रत्यक्षविषयत्वा-त्तद्विपरीतस्यानेकान्तात्मनो वस्तुनः सर्वदा परस्याप्यवभासनात्। लिङ्गस्य त्वस्याङ्गीकरणीयत्वात्। न च तत्र लिंगं वास्तवमस्ति तस्य साध्याविनाभावित्वेन प्रत्यक्षत एव

प्रश्न - ऊपर कहे गए अनुमान में दिये गये समीचीन ज्ञानपन हेतु का नय के द्वारा व्यभिचार आता है, क्योंकि नयज्ञान समीचीन ज्ञान तो है किन्तु वह अनेकान्त वस्तु को प्रकाशित नहीं करता है अर्थात् अनेकान्त को जानने वाला ज्ञान प्रमाण ज्ञान है, नय एकान्त है।

उत्तर - ऐसा नहीं कहना क्योंकि उस नय ज्ञान को अपने विषयभूत अर्थ धर्म से अतिरिक्त धर्मीरूप अर्थ को प्रकाशित कराना गौण रूप से मान लिया गया है अतः नय से व्यभिचार दोष नहीं आता है। सुनयज्ञान अन्य धर्मों का निषेधक नहीं है॥१७॥ अर्थात् प्रमाणज्ञान मुख्य रूप से अनेक धर्मात्मक वस्तु को जानता है और नय ज्ञान मुख्य रूप से वस्तु के एक धर्म का कथन करता है परन्तु गौण रूप से वस्तु के अन्य धर्मों या धर्मी को भी जानता है।

श्रुतज्ञान को वस्तुभूत पदार्थ का ज्ञापक नहीं मानकर अवस्तुवादी माना जायेगा तो दूसरे प्रतिवादी या शिष्यों को स्वकीय तत्त्वों का किस उपाय से ज्ञान कराया जाएगा। संवृत्ति (लौकिक व्यवहार की अपेक्षा) से श्रुतज्ञान द्वारा दूसरों का समझाना मान लेने पर हम कहेंगे कि यह संवृत्ति तो वृथा है। जो संवृत्ति झूठी है, अनिश्चित है, वृथा है, कल्पनारूप है, उससे परमार्थ वस्तु का निश्चय कैसे हो सकताहै? किन्तु शास्त्रों द्वारा परमार्थ का निश्चय हो रहा है। दूसरों का ठीक समझना भी हो रहा है अतः वस्तु को जानने वाला श्रुतज्ञान प्रमाण है॥१८॥

शंका - परमार्थभूत पदार्थ की व्यवस्था तो "किसी भी अनिर्वचनीय कारण से अविद्या का प्रकृष्ट क्षय हो जाने पर स्वतः ही हो जाती है, किन्तु विकल्परूप मिथ्या श्रुतज्ञान से वस्तुभूत अर्थ की व्यवस्था नहीं हो पाती है। बौद्धों के ग्रन्थों में कहा गया है कि शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रक्रिया द्वारा अविद्या ही कही जाती है। क्योंकि शब्द वस्तुभूत अर्थ को नही छूते हैं। स्वयं सम्यग्ज्ञानरूप विद्या तो आगमस्वरूप निर्विषय विकल्पज्ञानों के गोचर नहीं होती है अपितु विद्या स्वयं ही अनागम अविकल्प रूप से प्रवृत्त होती है।

इस प्रकार बौद्धों का कहना अयुक्त है, क्योंकि दूसरे बौद्धों के यहाँ इष्ट तत्त्वों का प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा अगोचर होने से बौद्धों को इष्ट क्षणिक विज्ञान आदि तत्त्वों से विपरीत अनेकान्तात्मक वस्तु का ही सर्वदा प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिभास होता है अतः प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होने पर अपने अभीष्ट तत्त्व की ज्ञप्ति कराने के लिए लिंग को अवश्य स्वीकारना चाहिए। किन्तु उस इष्ट तत्त्व को साधने में तुम्हारे पास कोई वस्तुभूत ज्ञापक लिंग नहीं है क्योंकि इस हेतु की अपने साध्य के साथ अविनाभावीपन करके प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतिपत्ति नहीं

प्रतिपत्तुमशक्तेरनुमानान्तरात् प्रतिपत्तावनवस्थाप्रसंगात्, प्रवचनादपि नेष्टतत्त्वव्यवस्थितिः तस्य तद्विषयत्वायोगादिति कथमपि तद्गतेरभावात् स्वतस्तत्त्वावभासनासम्भवात्। तथा चोक्तं। "प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र तल्लिङ्गगम्यं न तदर्थलिङ्गं। वाचो न वा तद्विषये न योगः का तद्गतिः कष्टमसूज्यतान्ते॥" इति। तत एव वेद्यवेदकभावः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो वा न परमार्थतः किन्तु संवृत्यैवेति चेत्, तदिह महाधाष्टर्यं येनायं ब्रिष्टिकमपि जयेत्। तथोक्तं। "संवृत्या साधयंस्तत्त्वं जयेद्धाष्टर्येन डिंडिकं। मत्या मत्तविलासिन्या राजविप्रोपदेशिनं॥" इति। कथं वा संवृत्यसंवृत्योः विभागं बुद्ध्येत्? संवृत्येति चेत्, सा चानिश्चिता तयैव किञ्चिन्निश्चिनोतीति कथमनुन्मत्तः, सुदूरमपि गत्वा स्वयं किञ्चिन्निश्चिन्वन् परं च निश्चाययन्वेद्यवेदकभावं प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावं च परमार्थतः स्वीकर्त्तुमर्हत्येव, अन्यथोपेक्षणीयत्वप्रसंगात्। तथा च वस्तुविषयमध्यक्षमिव श्रुतं सिद्धं सद्बोधवत्त्वान्यथानुपपत्तेः। तर्हि द्रव्येष्वेव मतिश्रुतयोर्निबंधोस्तु तेषामेव वस्तुत्वात् पर्यायाणां परिकल्पितत्वात् पर्यायेष्वेव वा द्रव्यस्यावस्तुत्वादिति च मन्यमानं प्रत्याह-

---

की जा सकती है। अर्थात् व्याप्ति ज्ञान तो विचारक है, उसको बौद्ध प्रमाण नहीं मानते हैं। जो-जो धूमवान् प्रदेश हैं वे-वे अग्निमान् हैं, इतने विचारों को विचार करने के लिए प्रत्यक्ष कैसे भी समर्थ नहीं हो सकता है। यदि साध्य के साथ अविनाभावीपन की प्रतिपत्ति दूसरे अनुमान से की जाएगी तो उस अनुमान के उदय में भी व्याप्ति की आवश्यकता पड़ेगी। फिर भी व्याप्ति जानने के लिए अन्य-अन्य अनुमानों की शरण में जाने से अनवस्था दोष आ जाने का प्रसंग आता है। बौद्धों के इष्टतत्त्वों की व्यवस्था प्रवचन से भी नहीं हो सकती है, क्योंकि आपके मत में आगम को उन इष्ट पदार्थों के विषय करने का अयोग है। इस प्रकार बौद्ध मत में उस इष्ट तत्त्व का ज्ञान कैसे भी नहीं हो सकता है। उन तत्त्वों का स्वतः प्रकाश होना तो असम्भव है। बौद्धों के ग्रन्थों में भी कहा है कि तत्त्व में प्रत्यक्षज्ञान प्रवृत्ति नहीं करता है और जो तत्त्व ज्ञापक हेतुओं के द्वारा जानने योग्य नहीं है उसको जानने के लिए कोई ज्ञापक हेतु अभीष्ट नहीं है; तथा अपने इष्ट विषयों में वाचक शब्दों का वाच्यवाचक सम्बन्ध भी नहीं है। अतः आगम द्वारा भी इष्ट तत्त्व नहीं जाना जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम इन प्रमाणों के गोचर नहीं होने से इष्ट तत्त्वों की क्या गति होगी? अतीन्द्रिय अर्थों का शास्त्र द्वारा श्रवण नहीं होना मानने वाले बौद्धों की दयनीय दशा पर कष्ट उत्पन्न होता है।

वस्तुतः वेद्यवेदक भाव अथवा प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव ही नहीं है। किन्तु लौकिक व्यवहार से ही ज्ञेयज्ञायक भाव और प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव जगत् में कल्पित कर लिये गये हैं। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकरण में इस प्रकार कहना बड़ी भारी हठधर्मिता है। जिस दुराग्रह से यह बौद्ध महानिर्लज्ज हँसी करने वाले भांडों को भी जीत लेगा, उसी प्रकार ग्रन्थों में भी लिखा हुआ है कि झूठे व्यवहार से तत्त्वों को सिद्ध करने वाला बौद्ध अपनी धीठता से विदूषक या भांड अथवा डोंडीवाले को भी जीत लेगा। जो डिंडिक मदोन्मत्त विलास करने वाली बुद्धि से बड़े भारी विद्वान् राजपुरोहित को भी उपदेश सुनाता रहता है। इस प्रकार उपहास और भर्त्सना से बौद्धों के निःसार मत का कथन किया है।

तथा विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध संवृत्ति (व्यवहार सत्य) और असंवृत्ति (मुख्य सत्य) पदार्थों के विभाग को कैसे समझ सकेगा? क्योंकि अद्वैत में संवृत्ति और असंवृत्ति का विभाग नहीं हो सकता।

सर्वपर्यायमुक्तानि न स्युर्द्रव्याणि जातुचित्। सद्वियुक्ताश्च पर्याया: शशशृंगोच्चतादिवत् ॥१९॥

न सन्ति सर्वपर्यायमुक्तानि द्रव्याणि सर्वपर्यायनिर्मुक्तत्वाच्छशशृङ्गवत्। न सन्त्येकान्तपर्याया: सर्वथा द्रव्यमुक्तत्वाच्छशशृङ्गोच्चत्वादिवत्। ततो न तद्विषयत्वं मतिश्रुतयो: शङ्कनीयं प्रतीतिविरोधात्॥

नाशेषपर्ययाक्रान्ततनूनि च चकासति। द्रव्याणि प्रकृतज्ञाने तथा योग्यत्वहानित: ॥२०॥

यदि बौद्ध यों कहे कि झूठे व्यवहार से ही संवृत्ति और असंवृत्ति का विभाग मान लिया जाएगा है तो वह संवृत्ति तो स्वयं अनिश्चित है अत: उस अनिश्चित संवृत्ति से किसी पदार्थ का निश्चय करने वाला बौद्ध उन्मत्त कैसे नहीं है? अर्थात् अनिश्चित पदार्थ से किसी वस्तु का निश्चय करने वाला पुरुष उन्मत्त ही कहा जाएगा। बहुत दूर भी जाकर यह बौद्ध स्वयं किसी का निश्चय करता हुआ, और दूसरे प्रतिपाद्य को यदि अन्य पदार्थ का निश्चय कराना मानेगा तब तो वेद्यवेदकभाव और प्रतिपाद्यप्रतिपादक भावको वास्तविकरूप से स्वीकार करने के लिए योग्य हो ही जाता है। अर्थात् स्वयं निश्चय करने से वेद्यवेदकभाव और परपुरुष को निश्चय कराने से प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव हो ही जाता है। अन्यथा किसी निश्चित प्रमाण या वाक्य से अनिश्चित का निश्चय कराना नहीं मानोगे अथवा निश्चित किये गए तत्त्व से अन्य का निश्चय करना मानते हुए भी वेद्यवेदकभाव और प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव को नहीं मानोगे तो उपेक्षणीयपना प्राप्त हो जाने का प्रसंग आएगा।

भावार्थ - ऐसी अप्रामाणिक बात कहने वाले बौद्ध की अन्य विद्वान् कोई अपेक्षा नहीं रखेंगे।

अत: प्रत्यक्ष के समान श्रुतज्ञान भी वस्तुभूत अर्थ को विषय करने वाला सिद्ध हो जाता है। क्योंकि सद्बोधपना अन्यथा (पारमार्थिक पदार्थ को विषय करना माने बिना) नहीं बन सकता है।

श्रुतज्ञान का सालम्बनपना सिद्ध हो जाने पर अकेले द्रव्यों में ही मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय नियत रहेगा, क्योंकि उन द्रव्यों को ही वस्तुभूतपना है।

पर्यायें तो परिकल्पित हैं यथार्थ नहीं हैं अथवा पर्यायों में ही मति श्रुतज्ञानों की विषय नियति है क्योंकि द्रव्य तो वस्तुभूत पदार्थ नहीं है। इस प्रकार मानने वाले प्रतिवादियों के प्रति आचार्य कहते हैं -

वस्तुभूत द्रव्य सम्पूर्ण पर्यायों से रहित कदापि नहीं हो सकते हैं और खरगोश के सींग की ऊँचाई आदि के समान पर्यायें भी सत् द्रव्य से रहित कभी भी नहीं हो सकती हैं अर्थात् शश के सींग नहीं हैं अत: उसकी ऊँचाई आदि कुछ भी नहीं है। तथा द्रव्य के बिना केवल पर्यायें और पर्यायों के बिना द्रव्य स्थिर नहीं रहता है। पर्याय और द्रव्यों का तदात्मक पिण्ड वस्तुभूत द्रव्य है॥१९॥

सम्पूर्ण पर्यायों से रहित जीव आदि द्रव्य नहीं हैं, जैसे सम्पूर्ण पर्यायों से सर्वथा रहितपना होने से शश का सींग कोई वस्तु नहीं है। अत: मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में केवल द्रव्यों का या केवल पर्यायों का विषय करते हैं; ऐसी शंका करने योग्य नहीं है क्योंकि इसमें प्रमाणसिद्ध प्रतीतियों से विरोध आता है।

अशेष पर्यायों से आक्रान्त शरीर वाले द्रव्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में प्रतिभासित नहीं होते हैं क्योंकि इस प्रकार की योग्यतारूप क्षयोपशम या क्षय का अभाव है। अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों के मानने के क्षयोपशम का मतिश्रुतज्ञान में अभाव है॥२०॥

ननु च यदि द्रव्याण्यनंतपर्यायाणि वस्तुत्वं बिभ्रति तदा मतिश्रुताभ्यां तद्विषयाभ्यां भवितव्यमन्यथा तयोरवस्तुविषयत्वापत्तेरिति न चोद्यं, तथा योग्यतापायात्। न हि वस्तु सत्तामात्रेण ज्ञानविषयत्वमुपयाति। सर्वस्य सर्वदा सर्वपुरुषज्ञानविषयत्वप्रसङ्गात्। किं तर्हि वस्तुनः परिच्छित्तौ कारणमित्याह-

ज्ञानस्यार्थपरिच्छित्तौ कारणं नान्यदीक्ष्यते। योग्यतायास्तदुत्पत्तिः सारूप्यादिषु सत्स्वपि ॥२१॥

यस्मादुत्पद्यते ज्ञानं येन च सरूपं तस्य ग्राहकमित्ययुक्तं, समानार्थसमनन्तरप्रत्ययस्य तेनाग्रहणात्। तद्ग्रहणयोग्यतापायात्तस्याग्रहणे योग्यतैव विषयग्रहणनिमित्तं वेदनस्येत्यायातम्। योग्यता पुनर्वेदनस्य स्वावरणविच्छेदविशेष एवेत्युक्तप्रायम्॥

शंका - अनन्त पर्याय वाले द्रव्य यदि वस्तुत्व को धारण करते हैं तो मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के द्वारा उन सम्पूर्ण अनन्तपर्यायों को विषय कर लेना चाहिए। अन्यथा उन दोनों ज्ञानों के अवस्तु के विषय कर लेने का प्रसंग आयेगा।

समाधान - आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार का कुचोद्य करना अच्छा नहीं है, क्योंकि इस प्रकार अनन्तपर्यायों अथवा सम्पूर्ण पर्यायों के जानने की योग्यता का मति श्रुत दोनों ज्ञानों में अभाव है। क्योंकि केवल जगत् में सद्भाव हो जाने से ही कोई वस्तु ज्ञान के विषयपने को प्राप्त नहीं होती है। यदि जगत् में पदार्थ विद्यमान है, इतने मात्र से ज्ञान का विषय होना मानने पर तो सर्व पदार्थों का सदा ही सम्पूर्ण जीवों के ज्ञान में विषय हो जाने का प्रसंग आएगा।

वस्तु की यथार्थ ज्ञप्ति करने में क्या कारण है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

बौद्धों द्वारा माने गये ज्ञान का विषय के प्रति नियम करने में तदुत्पत्ति, तदाकारता, तदध्यवसाय आदि के होने पर भी योग्यता के अतिरिक्त अन्य कोई कारण अर्थ की परिच्छित्ति करने में नहीं दिख रहा है। अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति में पदार्थ कारण नहीं है, न तदाकार कारण है और न ही अर्थ का अध्यवसाय कारण है अपितु ज्ञान की उत्पत्ति में कारण है - ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप योग्यता, अर्थग्रहण करने की व्याप्ति ॥२१॥

जिस कारण से ज्ञान उत्पन्न होता है और जिसके समानरूप प्रतिबिम्ब को ले लेता है, वह ज्ञान उसका ग्राहक है, इस प्रकार बौद्धों का कहना युक्ति रहित है। क्योंकि दोनों कारणों के रहते हुए भी समान अर्थ के समनन्तर प्रत्यय का उस दूसरे उत्तरवर्ती ज्ञान के द्वारा ग्रहण नहीं होता है जबकि पूर्ववर्ती ज्ञान से दूसरा ज्ञान उत्पन्न हुआ है और पूर्व ज्ञान का उत्तर ज्ञान में आकार भी पड़ा हुआ है, फिर वह उत्तरवर्त्ती ज्ञान पूर्वज्ञान को विषय क्यों नहीं करता है? उस पूर्वज्ञान के ग्रहण करने की योग्यता नहीं होने से उत्तरज्ञान द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता है, ऐसा मानने पर तो सर्वत्र ज्ञान के द्वारा विषय के ग्रहण होने में निमित्तकारण या नियमकर्त्री योग्यता ही है, यह सिद्धान्त सिद्ध होता है और ज्ञान की योग्यता अपने आवरण करने वाले कर्मों का क्षयोपशमविशेष ही है। इस बात को पूर्व प्रकरण में कह चुके हैं। अतः ज्ञानावरण कर्मों का विशेषरूप से क्षय हो जाने स्वरूप योग्यता के नहीं होने पर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अनन्तपर्यायों को नहीं जान सकते हैं।

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

किमर्थमिदं सूत्रमित्याह-

प्रत्यक्षस्यावधेः केषु विषयेषु निबन्धनम्। इति निर्णीतये प्राह रूपिष्वित्यादिकं वचः ॥१॥
रूपं पुद्गलसामान्यगुणस्तेनोपलक्ष्यते। स्पर्शादिरिति तद्योगात् रूपिणीति विनिश्चयः ॥२॥
तेष्वेव नियमोऽसर्वपर्यायेष्ववधेः स्फुटम्। द्रव्येषु विषयेष्वेवमनुवृत्तिर्विधीयते ॥३॥

रूपं मूर्तिरित्येके, तेषामसर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्तिः स्पर्शादिर्वा मूर्तिरिति मतं स्यात्। प्रथमपक्षे जीवस्यरूपित्वप्रसक्तिरसर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणाया मूर्तेस्तत्र भावात्। सर्वगतत्वादात्मनस्तद्भाव इति चेन्न

अवधिज्ञान के विषय को बताने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं -

रूपवान पदार्थों में अवधिज्ञान का विषय नियमित है। अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन अमूर्त्त द्रव्यों को छोड़कर पुद्गल के साथ बन्ध को प्राप्त मूर्त्त जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य तथा इन दो द्रव्यों की कतिपय पर्यायों में अवधिज्ञान की प्रवृत्ति नियत है ॥२७॥

किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए यह सूत्र कहा है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

तीसरे प्रत्यक्ष ज्ञान स्वरूप अवधि का किन विषयों में नियम है? इसका निर्णय करने के लिए **"रूपिष्ववधेः"** इस प्रकार सूत्र वचन को कहा है। अर्थात् इस सूत्र के कहे बिना अवधिज्ञान के विषय का नियम नहीं हो सकता ॥१॥

रूप पुद्गल का सामान्य गुण है अतः उस रूप के कथन से स्पर्श, रस आदि भी पुद्गल के गुण उपलक्षण से ग्रहण हो जाते हैं। इसलिए रूप, रस आदि के योग से पुद्गल रूपी है, ऐसा निश्चय होता है ॥२॥

उन रूप वाले द्रव्यों में ही और उनकी अल्प पर्यायों में ही अवधिज्ञान का विषय नियम स्पष्ट रूप से विशद है। इस सूत्र में पूर्व सूत्र से **'द्रव्येषु'** और **'असर्वपर्यायेषु'** तथा पूर्व सूत्र से **'विषयेषु'** इस प्रकार तीन पदों की अनुवृत्ति कर ली जाती है, **'निबन्धः'** यह पद भी चला आ रहा है अतः अवधिज्ञान का विषयनिबन्ध रूपी द्रव्यों में और उनकी असर्वपर्यायों में ही है, यह वाक्यार्थ होता है ॥३॥

कोई कहते हैं कि रूप शब्द का अर्थ मूर्त्ति है। इस पर जैन पूछते हैं कि उन विद्वानों के यहाँ क्या अव्यापक द्रव्यों के परिणाम को मूर्त्ति माना है? अथवा स्पर्श आदि गुण ही मूर्त्ति है? यह मन्तव्य है।

प्रथम पक्ष ग्रहण करने पर तो जीव द्रव्य को भी रूपीपने का प्रसंग आयेगा क्योंकि अव्यापक द्रव्य के परिणामस्वरूप मूर्त्ति का उस जीव द्रव्य में सद्भाव पाया जाता है। सर्वत्र व्यापक होने के कारण आत्म-द्रव्य के उस अव्यापक द्रव्यपरिणामस्वरूप मूर्त्ति का अभाव है। अर्थात् सर्वगत आत्मा अमूर्त्त है ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने शरीर प्रमाण रहती है, यह सिद्ध कर दिया गया है। प्रत्येक जीव की आत्मा उसके शरीर बराबर होती हुई अव्यापक द्रव्य है, व्यापक नहीं है।

शरीरपरिमाणानुविधायिनस्तस्य प्रसाधनात्। स्पर्शादिमूर्तिरित्यस्मिंस्तु पक्षे रूपं पुद्गलसामान्यगुणस्तेन स्पर्शादिरूपं लक्ष्यते इति तद्योगाद्द्रव्याणि रूपीणि मूर्तिमन्ति कथितानि भवन्त्येव तथेह द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु इति निबन्ध इति चानुवर्त्तते। तेनेदमुक्तं भवति मूर्तिमत्सु द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु विषयेषु अवधेर्निबन्ध इति। कुत एवं नान्यथेत्याह--

स्वशक्तिवशतोऽसर्वपर्यायेष्वेव वर्त्तनम्। तस्य नानागतातीतानन्तपर्याययोगिषु ॥४॥
पुद्गलेषु तथाकाशादिष्वमूर्तेषु जातुचित्। इति युक्तं सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकत्वतः ॥५॥

अत्रासर्वपर्यायरूपिद्रव्यज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषावधेः स्वशक्तिस्तद्वशात्तस्यासर्वपर्यायेष्वेव पुद्गलेषु वृत्तिर्नातीताद्यनन्तपर्यायेषु नाप्यमूर्तेष्वाकाशादिषु इति युक्तमुत्पश्यामः। सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकत्वान्मति-श्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्वित्यादिवत्॥

द्वितीय कल्पनानुसार स्पर्श आदि गुण मूर्त्त हैं। इस प्रकार के पक्ष का ग्रहण करने पर तो अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता है। क्योंकि पुद्गल द्रव्य का सामान्य गुण रूप है। उस रूप के द्वारा स्पर्श, रस आदि गुणों का उपलक्षण कर लिया जाता है अतः उस रूप के योग से रूपवाले द्रव्य मत्वर्थीय प्रत्यय द्वारा मूर्त्ति वाले कह दिए जाते हैं। इसलिए पूर्व सूत्रों से **"द्रव्येषु" "असर्वपर्यायेषु", "विषयेषु"** ये शब्द और **'निबन्ध'** इस प्रकार चार शब्दों की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। इन शब्दों द्वारा इस वाक्यार्थ का ज्ञान हो जाता है कि मूर्त्तिमान द्रव्य और कतिपय पर्याय स्वरूप विषयों में अवधिज्ञान का नियम है। अर्थात् मूर्त्तिमान् द्रव्यों और उनकी थोड़ी सी पर्यायों में अवधिज्ञान का विषय नियत है।

अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ ही है, अन्य नहीं। ऐसा नियम कैसे हो सकता है? उसी को आचार्य कहते हैं -

अपनी शक्ति के कारण अवधिज्ञान की प्रवृत्ति रूपीद्रव्य और उनकी कतिपय पर्यायों में ही है। भविष्यत् और भूतकाल की अनन्त पर्यायों के सम्बन्ध वाले पुद्गलद्रव्यों में उस अवधिज्ञान की प्रवृत्ति नहीं है तथा आकाश आदि अमूर्त द्रव्यों में कभी भी अवधिज्ञान की प्रवृत्ति नहीं है। अमूर्त द्रव्यों की पर्यायों में तो अवधिज्ञान की वर्तना असम्भव है। यह सिद्धान्त युक्तिपूर्ण है, क्योंकि इसमें बाधक प्रमाणों का अभाव सुनिश्चित है॥४-५॥

यहाँ प्रकरण में असर्व पर्याय वाले रूपी द्रव्यों के ज्ञान का आवरण करने वाले अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को ही अवधिज्ञान की निजशक्ति माना गया है। उस शक्ति के कारण उस अवधिज्ञान की असम्पूर्ण पर्याय वाले ही पुद्गलों में प्रवृत्ति होती है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की अनन्तपर्यायों वाले पुद्गलों में अवधिज्ञान प्रवृत्ति नहीं कर सकता है तथा आकाश आदि अमूर्त्त द्रव्यों को भी अवधिज्ञान नहीं जानता है। इस स्थापना को हम समुचित समझ रहे हैं क्योंकि, इस सिद्धान्त में आने वाली बाधाओं की असम्भवता का निर्णय हो चुका है। जिस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषयनिबन्ध सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी कतिपय पर्यायों में सुनिश्चित है, निर्णीत सिद्धान्तों के समान **'रूपिष्ववधेः'** इस सूत्र का चार पदों की अनुवृत्ति करके अर्थ करना चाहिए।

अर्थात् अवधिज्ञान मूर्तिक पुद्गल द्रव्य की कुछ पर्यायों को जानता है, पुद्गल द्रव्य की सारी पर्यायें और अमूर्तिक आकाशादि द्रव्यों को नहीं जानता है परन्तु पुद्गल द्रव्य-कार्माण वर्गणाओं से युक्त संसारी जीवों की कुछ पर्यायों को जान सकता है।

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥२८॥

किमर्थमिदमित्याह–

क्व मनःपर्ययस्यार्थे निबन्ध इति दर्शयत्। तदित्याद्याह सत्सूत्रमिष्टसंग्रहसिद्धये ॥१॥

कस्य पुनस्तच्छब्देन परामर्शो यदनन्तभागेऽसर्वपर्यायेषु निबंधो मनःपर्ययस्येत्याह;–

परमावधिनिर्णीते विषयेऽनन्तभागताम्। नीते सर्वावधेर्ज्ञेयो भागः सूक्ष्मोऽपि सर्वतः ॥२॥
एतस्यानन्तभागे स्याद्विषयेऽसर्वपर्यये। व्यवस्थर्जुमतेरन्यमनःस्थे प्रगुणे ध्रुवम् ॥३॥
अमुष्यानन्तभागेषु परमं सौक्ष्म्यमागते। स्यान्मनःपर्ययस्यैवं निबन्धो विषयेऽखिले ॥४॥

अवधिज्ञान के विषय को नियत कर अब क्रमप्राप्त दूसरे मनःपर्यय नामक प्रत्यक्ष के विषय का नियम करने के लिए **श्री उमास्वामी आचार्य** सूत्र कहते हैं-

सर्वावधिज्ञान द्वारा गृहीत रूपीद्रव्य के अनन्तवें एक भाग में मनःपर्यय का विषय नियत है अर्थात् अनन्त परमाणु वाले कार्माण द्रव्य के अनन्तवें भाग को सर्वावधि ज्ञान से जाना गया था। उसके भी अनन्तवें भाग स्वरूप छोटे पुद्गलस्कन्ध को द्रव्य की अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञान जानता है ॥२८॥

यह **"तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य"** सूत्र किस प्रयोजन को साधने के लिए कहा गया है? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द स्वामी** कहते हैं-

मनःपर्ययज्ञान का विषय कौन से अर्थ में नियमित है? इस बात को दिखलाते हुए **श्री उमास्वामी आचार्य** ने अभीष्ट अर्थ के संग्रह की सिद्धि के लिए **'तदनन्तभागे'** इत्यादिक सूत्र को कहा है ॥१॥

इस सूत्र में दिये गए तत् शब्द के द्वारा किस पूर्व निर्दिष्ट पद का परामर्श किया गया है? जिसके कि अनन्तवें भाग में और उसकी असर्व पर्यायों में मनःपर्यय ज्ञान का विषय नियत है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं -

परमावधि द्वारा निर्णीत विषय में जिनदृष्ट अनन्त का भाग देने पर अनन्तवें भाग को प्राप्त छोटे स्कन्ध में सर्वावधि का विषय समझना चाहिए। यद्यपि यह सबसे सूक्ष्म भाग है, फिर भी इस सूक्ष्म स्कन्ध के अनन्तवें भाग स्वरूप और कतिपय पर्याय वाले विषय में ऋजुमतिज्ञान की द्रव्य अपेक्षा विषय व्यवस्था नियत है। छोटा वह स्कन्ध सरलरूप से त्रियोग द्वारा दूसरे के मन में स्थित होना चाहिए। उस अनन्तवें भाग छोटे स्कन्ध को निश्चितरूप से ऋजुमति मनःपर्यय जान लेता है। पुनःऋजुमति के विषय से सूक्ष्म स्कन्ध के अनन्त भागों के करने पर जो परम सूक्ष्मपने को प्राप्त हो गया है उस अल्पीयान् स्कन्ध को विपुलमति विषय कर लेता है। इस प्रकार पूर्वोक्तानुसार सम्पूर्ण विषय में मनःपर्ययज्ञान का नियम है। अर्थात् - अपने या दूसरे के मन में चिंतित सभी रूपी द्रव्य और उनकी कतिपय पर्यायों को मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष जान लेता है ॥२-३-४॥

तच्छब्दोऽत्रावधिविषयं परामृशति न पुनरवधिं विषयप्रकरणात्। स च मुख्यस्य परामर्श्यते गौणस्य परामर्शे प्रयोजनाभावात्। मुख्यस्य परमावधिविषयस्य सर्वतो देशावधिविषयात्सूक्ष्मस्यानंतभागीकृतस्यानन्तो भाग: सर्वावधिविषयस्तस्य सम्पूर्णेन मुख्येन सर्वावधिपरिच्छेद्यत्वात्। तत्रर्जुमतेर्निबन्धो बोद्धव्यस्तस्य मन:पर्ययप्रथमव्यक्तित्वात्सामर्थ्यादृजुमतिविषयस्यानन्तभागे विषये विपुलमतेर्निबन्धोऽवसीयते तस्य परमन:पर्ययत्वादसर्वपर्यायग्रहणानुवृत्तेर्नास्तीति नानाद्यनन्तपर्यायाक्रान्ते द्रव्ये मन:पर्ययस्य प्रवृत्तिस्तद्ज्ञानावरणक्षयोपशमासम्भवात्। अतीतानागतवर्त्तमानानन्तपर्यायात्मकवस्तुन: सकलज्ञानावरण-क्षयविजृंभितकेवलज्ञानपरिच्छेद्यत्वात्।

इस सूत्र में कहा गया तत् शब्द अवधिज्ञान के विषय का परामर्श करता है? किन्तु अवधिज्ञान का तो परामर्श नहीं करता है, क्योंकि विषय का प्रकरण होने से, विषयभूत पदार्थों का ग्रहण होता है, विषयी ज्ञान का नहीं और वह विषय भी अवधिज्ञान में मुख्य सर्वावधि का परामर्श कर रहा है। अवधिज्ञानों में गौण देशावधि के विषय का पूर्व परामर्श करने में प्रयोजन का अभाव है।

देशावधि के सम्पूर्ण विषयों से सूक्ष्म परमावधि का विषय है। उसके भी अनन्तवें भाग से भाजित एक अनन्तवाँ भाग सर्वावधिज्ञान का विषय है। उस सूक्ष्मभाग का सम्पूर्ण अवधियों में मुख्य सर्वावधिज्ञान द्वारा परिच्छेद किया गया है। उस सर्वावधि के विषय में या उसके अनन्तवें भाग द्रव्य में ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान का नियम जघन्यरूप से समझना चाहिए क्योंकि मन:पर्यय ज्ञान का वह ऋजुमति पहिला व्यक्तिरूप भेद है। आर्ष आगम अनुसार सूत्र व्याख्यान की सामर्थ्य से यह अर्थ भी यहाँ निर्णीत हो जाता है कि ऋजुमति द्वारा जाने गए विषय के अनन्तवें भाग रूप विषय में विपुलमति ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। वह विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान का दूसरा भेद है जो कि मन:पर्ययज्ञानों में उत्कृष्ट है। अर्थात्- देशावधि का उत्कृष्ट द्रव्य कार्माण वर्गणा है। उसमें असंख्यात बार अनन्त संख्यावाले ध्रुवहारों का भाग देने पर परमावधि का द्रव्य निकल आता है और परमावधि के द्रव्य में अनेक बार अनन्त का भाग देने पर सर्वावधि का सूक्ष्म द्रव्य प्राप्त होता है। ये सब कार्मणद्रव्य में अनन्तानन्त भाग स्वविषय हैं। सर्वावधि से जान लिये गए द्रव्य में पुन: अनन्त का भाग देने पर ऋजुमति का द्रव्य निकलता है। ऋजुमति के द्रव्य में अनन्त का भाग देने पर विपुलमति का द्रव्य निकलता है।

"**मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु**" इस सूत्र में से असर्वपर्याय शब्द के ग्रहण की अनुवृत्ति कर लेने से अनादि अनन्तपर्यायों से व्याप्त द्रव्य में मन:पर्ययज्ञान की प्रवृत्ति नहीं है, यह ध्वनित हो जाता है। क्योंकि, उन अनादि अनन्त पर्यायों के ज्ञान को आवरण करने वाले कर्मों का क्षयोपशम होना असम्भव है। ज्ञानावरण का उदय रहने पर छद्मस्थ जीवों के अनादि अनन्त पर्यायों का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतीतकाल, भविष्यकाल और वर्तमान काल की अनन्तानन्त पर्यायों के साथ तदात्मक वस्तु का परिच्छेद सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्मों के क्षय से उत्पन्न केवलज्ञान द्वारा किया जाता है। अत: वस्तु की कतिपय पर्यायों को ही मन:पर्ययज्ञान जान सकता है, अनन्तपर्यायों को नहीं।

कथं पुनस्तदेवंविधविषयं मनःपर्ययज्ञानं परीक्ष्यते इत्याह;–

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रकर्षं परमं व्रजेत्। सूक्ष्मे प्रकर्षमाणत्वादर्थे तदिदमीरितम् ॥५॥

न हि क्षायोपशमिकस्य ज्ञानस्य सूक्ष्मेऽर्थे प्रकृष्यमाणत्वमसिद्धं तज्ज्ञानावरणहानेः प्रकृष्यमाणत्वसिद्धेः। प्रकृष्यमाणात्तज्ज्ञानावरणहानित्वान्माणिक्याद्यावरणहानिवत्। कथमावरणहानेः प्रकृष्यमाणत्वे सिद्धेऽपि क्वचिद्विज्ञानस्य प्रकृष्यमाणत्वं सिद्ध्यतीति चेत् प्रकाशात्मकत्वात्। यद्धि प्रकाशात्मकं तत्स्वावरणहानिप्रकर्षे प्रकृष्यमाणं दृष्टं यथा चक्षुः। प्रकाशात्मकं च विवादाध्यासितं ज्ञानमिति स्वविषये प्रकृष्यमाणं सिद्ध्यत्, तस्य परमप्रकर्षगमनं साधयति। यत्तत्परमप्रकर्षप्राप्तं क्षायोपशमिकज्ञानं स्पष्टं तन्मनःपर्यय इत्युक्तं। यथा चापि मतिश्रुतानि परमप्रकर्षभाञ्जि क्षायोपशमिकानीति दर्शयन्नाह–

मनःपर्ययज्ञान द्रव्य की कुछ पर्यायों को और रूपीद्रव्य को जानता है। यह कैसे जाना जाता है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं -

सूक्ष्म अर्थों को जानने में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त, कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ क्षायोपशमिक ज्ञान, सूक्ष्म अर्थ में परम प्रकर्ष को प्राप्त हो जाता है अतः क्षायोपशमिक चार ज्ञानों में यह मनःपर्ययज्ञान अनन्तवें भाग सूक्ष्म द्रव्य को विषय करने वाला है, ऐसा कहा गया है॥५॥

क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान का सूक्ष्म अर्थों में तारतम्यरूप से प्रकर्ष को प्राप्त हो जाना असिद्ध नहीं है। कारण कि उन ज्ञानों के प्रतिपक्षी ज्ञानावरण कर्मों की हानि का उत्तरोत्तर अधिकरूप से प्रकर्षपना सिद्ध है। जैसे-जैसे ज्ञानावरण कर्मों की हानि होती है, वैसे-वैसे ज्ञानों की सूक्ष्म अर्थों को जानने में प्रवृत्ति भी अधिक-अधिक होती जाती है। कर्मों की हानि का प्रकृष्यमाणपना भी असिद्ध नहीं है। क्योंकि, माणिक आदि के आवरणों की हानि के समान हानिपना होने से उन ज्ञानावरण कर्मों की हानि चरमसीमा तक बढ़ती चली जाती है।

प्रश्न - आवरणों की हानि का उत्तरोत्तर प्रकर्ष सिद्ध होने पर भी किसी सूक्ष्म अर्थ में विज्ञान का प्रकृष्यमाणपना कैसे सिद्ध हो सकता है?

उत्तर - वह ज्ञान प्रकाशात्मक है। जो-जो प्रकाश आत्मक पदार्थ हैं, वे-वे अपने-अपने आवरणों की हानि का प्रकर्ष होने पर प्रकर्ष प्राप्त होते देखे गए हैं। जैसे चक्षु इन्द्रिय प्रकाशस्वरूप है, अतः स्वकीय आवरणों के तारतम्य भाव से दूर हो जाने पर उत्तरोत्तर दृष्टि निर्मल होती जाती है। विवाद में अध्यासीन (पड़ा हुआ) क्षायोपशमिकज्ञान भी प्रकाशात्मक है अतः अपने विषय में प्रकृष्यमाण सिद्ध होता हुआ उस ज्ञान के परम प्रकर्ष तक गमन करने को सिद्ध करता है, वह क्षायोपशमिक ज्ञान विशद प्रतिभासी होता हुआ उस सूक्ष्म अर्थ को जानने में परमप्रकर्ष को प्राप्त होता है, वह मनःपर्ययज्ञान है-ऐसा कहा गया है।

जैसे क्षयोपशमजन्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी अपने-अपने विषय में परमप्रकर्ष को प्राप्त होते हैं, इसी बात को दिखलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं -

क्षेत्रद्रव्येषु भूयेषु यथा च विविधस्थितिः। स्पष्टा या परमा तद्वदस्य स्वार्थे यथोदिते ॥६॥
यथा चेन्द्रियजज्ञानं विषयेष्वतिशायनात्। स्वेषु प्रकर्षमापन्नं तद्विद्भिर्विनिवेदितम् ॥७॥
मतिपूर्वं श्रुतं यद्वदस्पष्टं सर्ववस्तुषु। स्थितं प्रकृष्यमाणत्वात्पर्यंतं प्राप्य तत्त्वतः ॥८॥
मनःपर्ययविज्ञानं तथा प्रस्पष्टभासनं। विकलाध्यक्षपर्यन्तं तथा सम्यक्परीक्षितं ॥९॥
प्रकृष्यमाणता त्वक्षज्ञानादेः संप्रतीयते। इति नासिद्धता हेतोर्न चास्य व्यभिचारिता ॥१०॥
साध्ये सत्येव सद्भावादन्यथानुपपत्तितः। स्वेष्टहेतुवदित्यस्तु ततः साध्यविनिश्चयः ॥११॥
दृष्टेष्टबाधनं तस्यापह्नवे सर्ववादिनां। सर्वथैकान्तवादेषु तद्वादेऽपीति निर्णयः ॥१२॥

जिस प्रकार मतिज्ञान की बहुत से क्षेत्र और द्रव्यों में नाना प्रकार की स्थिति स्पष्ट और उत्कृष्ट होती है, उसी प्रकार इस मनःपर्यय की विविध व्यवस्था पूर्व में यथायोग्य कहे गए अनन्तवें भागरूप स्वार्थ में परमप्रकर्ष को प्राप्त हो जाती है ॥६॥

जिस प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ ज्ञान अपने नियत विषयों में अतिशय को उत्तरोत्तर अधिक प्राप्त करते हुए परमप्रकर्ष को प्राप्त होता है, उस इन्द्रिय ज्ञान को जानने वाले विद्वानों के द्वारा विशेष स्वरूप से कहा गया है, उसी प्रकार मनःपर्यय ज्ञान समझ लेना चाहिए ॥७॥

अपने विषयों में परम प्रकर्ष को प्राप्त होने से जिस प्रकार मतिज्ञानपूर्वक होने वाला श्रुतज्ञान सम्पूर्ण वस्तुओं को अविशदरूप से जानता हुआ अन्तिम सीमा को प्राप्त होकर यथार्थरूप से व्यवस्थित है, उसी प्रकार मनःपर्यय ज्ञान भी अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान स्वरूप विकल प्रत्यक्षों की सीमापर्यन्त अधिक स्पष्ट होकर व्यवस्थित है। इस प्रकार पूर्व प्रकरणों में इसकी समीचीन परीक्षा कर चुके हैं। क्षायोपशमिक ज्ञानों में विकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्षों में मनःपर्ययज्ञान प्रकृष्ट है। इससे अधिक सूक्ष्म विषय को जानने वाला कोई भी क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं है ॥८-९॥

इन्द्रियजन्यज्ञान और श्रुतज्ञान आदि ज्ञानों की स्व के प्रकर्षपर्यन्त प्रकर्षता प्रतीत होती है अतः पक्ष में रहने से हेतु असिद्ध नहीं है तथा इस प्रकृष्यमाणत्व हेतु की विपक्ष में वृत्ति नहीं होने से व्यभिचारीपना भी नहीं है। प्रकर्षपर्यन्त गमनरूप साध्य के होने पर ही प्रकृष्यमाणत्व हेतु का सद्भाव अन्यथानुपपत्ति हो जाने से अपने इष्ट धूम आदि हेतुओं के समान यह हेतु निर्दोष है। उस निर्दोष हेतु से साध्य का विशेषरूप करके निश्चय हो ही जाता है कि प्रत्यक्ष ज्ञानों में सर्वोत्कृष्ट मनःपर्यय ज्ञान है ॥१०-११॥

उन अभीष्ट ज्ञानों की प्रकर्षपर्यन्त प्राप्ति का अपलाप कर देने पर सम्पूर्णवादियों के प्रत्यक्ष प्रमाणों और इष्ट किये गए अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा बाधायें उपस्थित होती हैं अतः सर्वथा एकान्तवादों में और प्रसिद्ध अनेकान्तवाद में भी उक्त प्रकार से मनःपर्यय ज्ञान का निर्णय कर दिया गया है। अर्थात् ज्ञान के नियत विषयों की परीक्षा करने पर सभी विद्वानों के यहाँ प्रकृष्यमाणपन अविनाभावी हेतु से ज्ञानों का अपने विषयों में प्रकर्षगमन निर्णीत किया है ॥१२॥

चार क्षायोपशमिक ज्ञानों के विषय का नियम कर अब क्रमप्राप्त केवलज्ञान के विषय का नियम करने के लिए **श्री उमास्वामी आचार्य** सूत्र कहते हैं -

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

ननु असिद्धत्वात्केवलस्य विषयनिबन्धकथनं न युक्तमित्याशंकायामिदमाह–

केवलं सकलज्ञेयव्यापि स्पष्टं प्रसाधितम्। प्रत्यक्षमक्रमं तस्य निबन्धो विषयेष्विह ॥१॥
बोध्यो द्रव्येषु सर्वेषु पर्यायेषु च तत्त्वतः। प्रक्षीणावरणस्यैव तदाविर्भावनिश्चयात् ॥२॥
आत्मद्रव्यं ज्ञ एवेष्टः सर्वज्ञः परमः पुमान्। कैश्चित्तद्व्यतिरिक्तार्थाभावादित्यपसारितं ॥३॥
द्रव्येष्विति बहुत्वस्य निर्देशात्तत्प्रसिद्धितः। वर्त्तमानेऽस्तु पर्याये ज्ञानी सर्वज्ञ इत्यपि ॥४॥

जीव आदि सम्पूर्ण द्रव्यों और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों में केवलज्ञान का विषय नियत है ॥२९॥

असिद्ध होने से केवलज्ञान के विषय नियम का कथन करना युक्त नहीं है, इस प्रकार की आशंका होने पर **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं -

विशद सम्पूर्ण ज्ञेयों में व्यापक युगपत् सकल पदार्थों को जानने वाला प्रत्यक्ष केवलज्ञान है। उसकी पूर्व प्रकरणों में सिद्धि कर दी है अतः उस केवलज्ञान का विषयों में नियम करना इस प्रकरण में समुचित ही है ॥१॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सम्पूर्ण द्रव्यों में तथा इन द्रव्यों की सम्पूर्ण भूत, वर्तमान और भविष्यत्काल की अर्थपर्यायों तथा व्यंजनपर्यायों में परमार्थ रूप से केवलज्ञान का विषय समझ लेना चाहिए। जिस मनुष्य के सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्मों का प्रकृष्टरूप से क्षय हो गया है, उस आत्मा के ही उस सबको जानने वाले केवलज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। यह सिद्धान्त निश्चित है ॥२॥

आत्मा से अतिरिक्त घट, पट आदिक अर्थों का अभाव होने से किन्हीं ब्रह्माद्वैतवादियों ने परमपुरुष और सबको जानने वाले ज्ञातास्वरूप अकेले आत्म द्रव्य को ही अभीष्ट किया है अतः अद्वैत आत्मा ही एक तत्त्व है।

इस प्रकार अद्वैतवादियों के मत का सूत्र में कहे गए **'द्रव्येषु'** बहुवचन के निर्देश से निराकरण कर दिया गया है अर्थात् अकेला आत्मा ही तत्त्व नहीं है। किन्तु अनन्तानन्त आत्मायें हैं तथा आत्माओं के अतिरिक्त पुद्गल, कालाणु आदि भी अनेक द्रव्य जगत् में विद्यमान हैं। प्रमाणों से उन द्रव्यों की सिद्धि कर दी गई है।

बौद्ध कहते हैं कि सबको जानने वाला सर्वज्ञ भी वर्तमान काल की विद्यमान पर्यायों में ही ज्ञानवान है; पर्याय को ही जानने वाला है। किन्तु अविद्यमान भूत, भविष्यत्काल की पर्यायों को अथवा अनादि, अनन्त, अन्वित द्रव्यों को वह सर्वज्ञ नहीं जानता है। क्योंकि द्रव्यतत्त्व तो मूल ज्ञानके अव्यवहित पूर्वकाल में विद्यमान नहीं है। इस प्रकार बौद्धों के कथन का भी सूत्र में **'पर्यायेषु'** बहुवचनान्तपद का प्रयोग करने

पर्यायेष्विति निर्देशादवयवस्य प्रतीतितः। सर्वथाभेदतत्त्वस्य यथेति प्रतिपादनात् ॥५॥
तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यतां। कीटसंज्ञापरिज्ञानं तस्य नात्रोपयुज्यते ॥६॥
इत्येतच्च व्यवच्छिन्नं सर्वशब्दप्रयोगतः। तदेकस्याप्यविज्ञाने क्वाक्षूणां शिष्यसाधनं ॥७॥
हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकं। सर्वज्ञतामितं निष्टं तज्ज्ञानं सर्वगोचरम् ॥८॥
उपेक्षणीयतत्त्वस्य हेयादिभिरसंग्रहात्। न ज्ञानं न पुनस्तेषां न ज्ञानेऽपीति केचन ॥९॥
तदसद्वीतरागाणामुपेक्षत्वेन निश्चयात्। सर्वार्थानां कृतार्थत्वात्तेषां क्वचिदवृत्तितः ॥१०॥

से और अवयव की प्रतीति होने से निराकरण हो जाता है अतः तीनों काल सम्बन्धी पर्यायों में केवलज्ञान की प्रवृत्ति है। पूर्वकालवर्त्ती पर्यायों का समूलचूल नाश नहीं होता है। एक द्रव्य की कालत्रयवर्त्ती पर्यायों में अन्वय की प्रतीति होती है। पर्यायें कथंचित् भिन्न हैं और द्रव्य कथंचित् अभिन्न। सर्वथा भेदरूप अथवा अभेदरूप तत्त्व वास्तविक नहीं हो सकता है। इसका पूर्व प्रकरणों में प्रतिपादन किया है॥३-४-५॥

इन दो पदों की सफलता को दिखाकर अब सर्व शब्द की उपयोगिता का कथन करते हैं।

कोई कहता है कि मोक्ष के उपयोगी अनुष्ठान करने योग्य (कुछ जीव, पुद्गल, बन्ध, बन्धकारण, मोक्ष, मोक्षकारण आदि) पदार्थों में ही इस सर्वज्ञ का ज्ञान होता है, इस सर्वज्ञ के कीट आदि के नाम निर्देश और उन निस्सार पदार्थों का परिज्ञान करना उपयोगी नहीं है, ऐसा जानना चाहिए। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किसी का यह कहना सूत्रोक्त सर्व शब्द के प्रयोग से खण्डित हो जाता है, क्योंकि उन सम्पूर्ण पदार्थों से किसी एक भी कीड़े, कचरे का विशेषज्ञान न होने पर परिपूर्ण रूप से शिष्यों के प्रति निर्दोष शिक्षा देना कैसे हो सकता है? ॥६-७॥

सर्वज्ञपन को प्राप्त विज्ञान केवल उपायों से सहित हेय और उपादेय तत्त्वों का ही ज्ञान करने वाला माना गया है। वह ज्ञान सम्पूर्ण अनन्तानन्त पदार्थों को विषय करने वाला इष्ट नहीं किया गया है अर्थात् हेय तत्त्व संसार और उसके उपाय आस्रवतत्त्व, बन्धतत्त्व तथा उपादान करने योग्य मोक्ष और उसके उपाय संवर, निर्जरा तत्त्वों का, अथवा इसी प्रकार के अन्य कतिपय अर्थों को ही सर्वज्ञ जानता है। उपेक्षा करने योग्य तत्त्वों का हेय आदि के द्वारा संग्रह नहीं हो सकता अतः उन उपेक्षा करने योग्य पदार्थों का फिर सर्वज्ञ को ज्ञान नहीं होता है। उन उपेक्षणीय पदार्थों का ज्ञान नहीं होने पर भी ज्ञान नहीं हुआ, ऐसा नहीं समझा जाता है; ऐसा कोई कहता है॥८-९॥

जैनाचार्य कहते हैं - इस प्रकार मीमांसक का कहना सत्यार्थ नहीं है, क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ आत्माओं की दृष्टि में सम्पूर्ण पदार्थों का उपेक्षारूप से निश्चय हो जाता है अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग देव किसी पदार्थ में रागी नहीं होने के कारण उनका उपादान नहीं करते हैं और किसी भी पदार्थ में द्वेष नहीं रखने के कारण उनका त्याग नहीं करते हैं। किन्तु सर्वज्ञ आत्माओं के सम्पूर्ण पदार्थों में उपेक्षाभाव है। केवलज्ञान का फल उपेक्षा करना है। शेष चार ज्ञान और तीन कुज्ञानों का फल अपने विषयों में उपादान बुद्धि और त्याग बुद्धि करा देना है। वे केवलज्ञानी सर्वज्ञ तो कृतकृत्य हैं अतः उनकी किसी भी पदार्थ में हान, उपादान करने के लिए निवृत्ति या प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिए उपाय सहित कतिपय हेय और उपादेय तत्त्वों को ही जानने वाला सर्वज्ञ है। यह मीमांसकों का कथन प्रशंसनीय नहीं है॥१०॥

विनेयापेक्षया हेयमुपादेयं च किंचन। सोपायं यदि तेऽप्याहुस्तदोपेक्ष्यं न विद्यते ॥११॥
निःश्रेयसं परं तावदुपेयं सम्मतं सताम्। हेयं जन्मजरामृत्युकीर्णं संसरणं सदा ॥१२॥
अनयोः कारणं तत्स्याद्यदन्यत्तन्न विद्यते। पारंपर्येण साक्षाच्च वस्तूपेक्षं ततः किमु ॥१३॥
द्वेषो हानमुपादानं रागस्तद्द्वयवर्जनं। ख्यातोपेक्षेति हेयाद्या भावास्तद्विषयादिमे ॥१४॥
इति मोहाभिभूतानां व्यवस्था परिकल्प्यते। हेयत्वादिव्यवस्थानासम्भवात्कुत्रचित्तव ॥१५॥
हातुं योग्यं मुमुक्षूणां हेयतत्त्वं व्यवस्थितं। उपादातुं पुनर्योग्यमुपादेयमितीयते ॥१६॥
उपेक्षन्तु पुनः सर्वमुपादेयस्य कारणम्। सर्वोपेक्षास्वभावत्वाच्चारित्रस्य महात्मनः ॥१७॥
तत्त्वश्रद्धानसंज्ञानगोचरत्वं यथा दधत्। तद्भाव्यमानमाम्नातममोघमघघातिभिः ॥१८॥

"सर्वज्ञ की दृष्टि में कोई पदार्थ हेय और उपादेय नहीं है, किन्तु उपदेश प्राप्त करने योग्य विनयशाली शिष्यों की अपेक्षा से कोई त्यागने योग्य पदार्थ तो हेय हो जाते हैं और शिष्यों की दृष्टि से ग्रहण करने योग्य कोई पदार्थ उपादेय बन जाते हैं।" इस प्रकार उपाय सहित हेय, उपादेय तत्त्वों का जान लेना ही सर्वज्ञता के लिए पर्याप्त है।

इस प्रकार मीमांसक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि यदि रागी, द्वेषी, शिष्यों की अपेक्षा से हेय, उपादेय तत्त्वों को जानना सर्वज्ञ के लिए आवश्यक बताया जायेगा तो जगत् में उपेक्षा का विषय कोई पदार्थ नहीं रहेगा। यहाँ परमात्म अवस्थास्वरूप उत्कृष्ट मोक्ष सज्जन पुरुषों के द्वारा उपादान करने योग्य माना गया है और सर्वदा जन्म, जरा और मृत्यु से व्याप्त यह संसार विद्वानों की सम्मति में हेय है। मोक्ष और संसार इन दोनों के कारण संवर, निर्जरा या मिथ्याज्ञान, कषाय, योग, स्त्री आदिक पदार्थ हैं; मोक्ष, संसार और उनके कारण इन तीन जाति के पदार्थों से भिन्न कोई भी पदार्थ विद्यमान नहीं है, जो कि उपेक्षा करने योग्य कहा गया है। जगत् के सम्पूर्ण भी पदार्थ परम्परा अथवा साक्षात् रूप से हेय और उपादेय तत्त्वों में गर्भित हो जाते हैं। अतः किस वस्तु को उपेक्षागोचर कहा जाए? ॥११-१२-१३॥

द्वेष हान (त्याज्य) है। राग उपादान (ग्राह्य) है और राग, द्वेष रहित अवस्था उपेक्षित कही गयी है। इस प्रकार हेय, उपादेय, उपेक्षणीय प्रकार के भाव जगत् में प्रसिद्ध हैं। उन आत्मीय परिणामों राग, द्वेष, उपेक्षा के विषय हो जाने से ये पदार्थ भी कहे जाते हैं। इस प्रकार मोहग्रस्त जीवों की व्यवस्था चारों ओर से कल्पित कर ली गई है। तदनुसार तुम मीमांसकों के यहाँ किसी भी एक विवक्षित पदार्थ में हेयपन आदि की व्यवस्था करना असम्भव है॥१४-१५॥

वस्तुतः मोक्ष को चाहने वाले भव्य जीवों के त्याग करने योग्य पदार्थ तो हेयतत्त्व हैं और ग्रहण करने योग्य पदार्थ उपादेयरूप से व्यवस्थित हैं। इस प्रकार प्रतीति की जा रही है किन्तु फिर जीवनमुक्त हो जाने पर सम्पूर्ण पदार्थ भी उपेक्षा करने योग्य हो जाते हैं। उपादेय और हेय के कारण भी उपेक्षा करने योग्य हैं। क्योंकि महान् आत्मा वाले सर्वज्ञ के तदात्मक चारित्र गुण तो सम्पूर्ण पदार्थों में उपेक्षा स्वभाव वाला है॥१६-१७॥

तत्त्वार्थों का श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के विषयपने को धारण कर रहे वे पदार्थ यदि यथायोग्य वस्तु अनुसार भावना-चारित्र द्वारा भावे जाँय तो ज्ञानावरणादि पापकर्मों का नाश करने वाले ज्ञानी जीवों द्वारा अव्यर्थ माने गये हैं॥१८॥

मिथ्यादृग्बोधचारित्रगोचरत्वेन भावितम्। सर्वं हेयस्य तत्त्वस्य संसारस्यैव कारणं ॥१९॥
तदवश्यं परिज्ञेयं तत्त्वार्थमनुशासता। विनेयानिति बोद्धव्यं धर्म्मवत्सकलं जगत् ॥२०॥
धर्मादन्यत्परिज्ञानं विप्रकृष्टमशेषतः। येन तस्य कथं नाम धर्मज्ञत्वनिषेधनम् ॥२१॥
सर्वानतींद्रियान् वेत्ति साक्षाद्धर्ममतीन्द्रियम्। प्रमातेति वदन्न्यायमतिक्रामति केवलं ॥२२॥

यथैव हि हेयोपादेयतत्त्वं साभ्युपायं स वेत्ति न पुनः सर्वकीटसंख्यादिकमिति वदन्न्यायमतिक्रामति केवलं तत्संवेदने सर्वसंवेदनस्य न्यायप्राप्तत्वात्। तथा धर्मादन्यानतीन्द्रियान्सर्वानर्थान्विजानन्नपि धर्मं साक्षान्न स वेत्तीति वदन्नपि तत्साक्षात्करणे धर्म्मस्य साक्षात्करणसिद्धेरतीन्द्रियत्वेन जात्यन्तरत्वाभावात्। यस्य यज्जातीयाः

तथा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को विषय करके भावना किये गए सभी पदार्थ हेय हैं और हेयतत्त्व संसार के ही कारण हैं। अर्थात् इस अपेक्षा से सभी पदार्थ हेय हो गये। उपादेयों के लिए स्थान अवशिष्ट नहीं रहता है। मिथ्याज्ञान से जाने हुए उपायतत्त्व भी हेय हैं ॥१९॥

अतः विनीत शिष्यों के प्रति तत्त्वार्थों की शिक्षा देने वाले सर्वज्ञ द्वारा सम्पूर्ण पदार्थ अवश्य ही चारों ओर से जान लेने योग्य हैं। इस प्रकार धर्म के प्रधान उपदेष्टा को उचित है कि वह धर्म, अधर्म के समान सम्पूर्ण जगत् को साक्षात् जान लेवे ॥२०॥

जिस महात्मा ने धर्म के अतिरिक्त अन्य स्वभावव्यवहित परमाणु आदि और देशव्यवहित सुमेरु आदि तथा कालव्यवहित राम, रावण आदि विप्रकृष्ट पदार्थों को अशेष (परिपूर्ण) से जान लिया है, उस पुरुष के धर्म के ज्ञातापन का निषेध करना कैसे संभव हो सकता है? धर्म के सिवाय अन्य सम्पूर्ण पदार्थों को जो जानता है, वह धर्म को भी अवश्य जानता है। अतः सर्वज्ञ के लिए धर्म को जानने का निषेध करना मीमांसकों को उचित नहीं है ॥२१॥

प्रमाणज्ञान करने वाली आत्मा सम्पूर्ण अतीन्द्रिय पदार्थों को प्रत्यक्षरूप से जानती है। केवल अतीन्द्रिय पुण्य, पापरूप धर्म, अधर्म को ही साक्षात् नहीं जानती है।

"धर्मे चोदनैव प्रमाणं" - धर्म का निर्णयज्ञान करने में वेदवाक्य ही प्रमाण है। इस प्रकार कहने वाला मीमांसक केवल न्याय मार्ग का अतिक्रमण कर रहा है। अर्थात् जब न्याय की सामर्थ्य से उत्कृष्ट ज्ञान का स्वभाव सम्पूर्ण पदार्थों का जानना सिद्ध हो चुका है, तो फिर वह ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थों में से केवल धर्म को क्यों छोड़ देता है? ॥२२॥

जिस प्रकार उपाय सहित केवल हेय और उपादेय को ही वह सर्वज्ञ जानता है, किन्तु फिर सम्पूर्ण कीड़े, कूड़े और उनकी गिनती, नाप-तौल आदि को वह (सर्वज्ञ) नहीं जानता है। उन उपादेय सहित हेय उपादेय तत्त्वों के भले प्रकार जान लेने पर सम्पूर्ण पदार्थों को जान लेना अपने आप न्याय से प्राप्त हो जाता है। ऐसा कहने वाला मीमांसक भी न्यायमार्ग का उल्लंघन कर रहा है। तथा धर्म के अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण अतीन्द्रिय पदार्थों को विशेषरूप से जानते हुए भी वह सर्वज्ञ धर्म को साक्षात्रूप से नहीं जान पाता है। ऐसा कहने वाले के भी उन सम्पूर्ण अतीन्द्रिय पदार्थों के प्रत्यक्ष कर लेने पर धर्म का प्रत्यक्ष कर लेना तो स्वतः

पदार्थाः प्रत्यक्षास्तस्यासत्यावरणेऽपि प्रत्यक्षा यथा घटसमानजातीयभूतलप्रत्यक्षत्वे घटः। प्रत्यक्षाश्च कस्यचिद्विवादापन्नस्य धर्मसजातीयाः परमाण्वादयो देशकालस्वभावविप्रकृष्टा इति न्यायस्य सुव्यवस्थितत्वात्। ततो नेदं सूक्तं मीमांसकस्य। "धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते" इति। नत्ववधीरणानादरः। तत्सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यत इति। तत्र नो नातितरामादरः। परमार्थतस्तु न कथमपि पुरुषस्यातीन्द्रियार्थदर्शनातिशयः सम्भाव्यते सातिशयानामपि प्रज्ञामेधादिभिः स्तोकस्तोकान्तरत्वेनैव दर्शनात्। तदुक्तं "येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः। स्तोकस्तोकान्तरत्वेनातीन्द्रियज्ञानदर्शनात्॥" इति कश्चित्तं प्रति विज्ञानस्य परमप्रकर्षगमनसाधनमाह–

सिद्ध हो जाता है। बहिरंग इन्द्रियों के विषय नहीं हो सकने की अपेक्षा से धर्म और अन्य अतीन्द्रिय पदार्थों में कोई भिन्न जातीयपना नहीं है। जिस ज्ञानी जीव को जिस जाति वाले पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, उस ज्ञानी को प्रतिबंध आवरणों के दूर हो जाने पर उस जातिवाले अन्य पदार्थ भी प्रत्यक्ष हो जाते हैं जैसे कि पौद्गलिक घट के समान जातिवाले भूतल के चक्षुइन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष हो जाने पर वहाँ विद्यमान घट भी चक्षुइन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी प्रकार विवाद में पड़े हुए किसी सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा धर्म के सजातीय परमाणु, सुमेरु, रावण आदि स्वभावविप्रकृष्ट, देशविप्रकृष्ट, कालविप्रकृष्ट पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञानग्राह्य अन्य पदार्थों का प्रत्यक्ष तो अभीष्ट ही है। इस प्रकार प्रतिज्ञा, हेतु, आदि पाँच अवयव वाले अनुमान स्वरूप न्याय की भले प्रकार व्यवस्था होती है।

अतः मीमांसकों का यह कथन समीचीन नहीं है कि सर्वज्ञ का निषेध करते समय केवल धर्म के ज्ञातापन का निषेध करना ही उपयुक्त है। अन्य सभी पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ का किस विद्वान् के द्वारा निवारण किया जा सकता है? अर्थात् मीमांसकों का कहना है कि अतीन्द्रिय धर्म का ज्ञान तो वेदवाक्यों द्वारा ही होता है। धर्म से अतिरिक्त अतींद्रिय पदार्थों को ही सर्वज्ञ जान सकता है। इसमें हमारी कोई क्षति नहीं है। इस प्रकार मीमांसकों ने सर्वज्ञ के निषेध के लिए वक्र उक्ति द्वारा निंद्य प्रयत्न किया है।

मीमांसकों के उक्त कथन से यह भी प्रतीत होता है कि सर्वज्ञ को न मानने में वे निन्दा या तिरस्कार नहीं समझते हैं और सर्वज्ञ का अनादर भी नहीं करते हैं, क्योंकि वे स्वयं कहते हैं कि अन्य सभी पदार्थों को विशेषरूप से जानने वाले पुरुष विशेष सर्वज्ञ का कोई भी निषेध नहीं कर सकता है अतः जैन सिद्धान्तियों का उन मीमांसकों के प्रति अति-अधिक आदर नहीं है।

"परमार्थ से अल्पज्ञ पुरुष के अतीन्द्रिय अर्थों के विशद प्रत्यक्ष कर लेने का अतिशय कैसे भी संभव नहीं है। जो भी पुरुष विचारशालिनी बुद्धि या धारणायुक्त बुद्धि अथवा नवनव उन्मेषशालिनी प्रतिभा बुद्धि के अतिशय सहित हैं, उनके भी छोटे या उससे भी छोटे पदार्थों का ज्ञान कर लेने से ही विशेष चमत्कार दीखता है। परन्तु वे भी इन्द्रियों के अविषय को नहीं जान सकते हैं।" सो ही कहा है - "**मीमांसाश्लोकवार्तिक**" में, जो भी कोई विद्वान् प्रज्ञा, मेधा, प्रेक्षा आदि विशेष ज्ञानों के द्वारा चमत्कार सहित देखे गये छोटे से छोटे आदि इन्द्रियगोचर पदार्थों को जानते हैं, किन्तु अतीन्द्रिय पदार्थों के दर्शन से वे चमत्कारयुक्त नहीं हैं। इसी प्रकार सर्वज्ञ भी इन्द्रियों के अगोचर पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है परन्तु अपौरुषेय आगम से अतीन्द्रिय पदार्थों को जान सकता है। इस प्रकार कोई मीमांसक कहता है। उसके प्रति **श्री विद्यानन्द स्वामी** विज्ञान के परम प्रकर्षपर्यन्तगमन के साधन को स्पष्ट करते हैं –

ज्ञानं प्रकर्षमायाति परमं क्वचिदात्मनि। तारतम्याधिरूढत्वादाकाशे परिमाणवत् ॥२३॥

तारतम्याधिरूढत्वमसंशयप्राप्तत्वं तद्विज्ञानस्य सिद्ध्यत् क्वचिदात्मनि परमप्रकर्षप्राप्तिं साधयति, तया तस्य व्याप्तत्वात्परिमाणवदाकाशे ॥

अत्र यद्यक्षविज्ञानं तस्य साध्यं प्रभाष्यते। सिद्धसाधनमेतत्स्यात्परस्याप्येवमिष्टितः ॥२४॥
लिङ्गागमादिविज्ञानं ज्ञानसामान्यमेव वा। तथा साध्यं वदंस्तेन दोषं परिहरेत्कथम् ॥२५॥
अक्रमं करणातीतं यदि ज्ञानं परिस्फुटम्। धर्मीष्येत तदा पक्षस्याप्रसिद्धविशेष्यता ॥२६॥

तरतमता से अधिरूढ़ होने से किसी एक आत्मा में निर्दोष उत्पन्न हुआ ज्ञान सबसे बड़े उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है, जैसे कि आकाश में परिमाण। अर्थात् घट, पट, गृह, ग्राम, नगर, पर्वत, समुद्र आदि में परिमाण की तारतम्य से वृद्धि होते-होते अनन्त आकाश में परम महा परिमाण परमप्रकर्ष को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार विद्वानों में ज्ञानवृद्धि का तारतम्य देखा जाता है। अन्त में लोक-अलोक को जानने वाले सर्वज्ञदेव में सबसे बड़ा ज्ञान परिपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार सर्वज्ञ को ज्ञान की सिद्धि हो जाती है॥२३॥ अर्थात् जिसमें हानि और वृद्धि देखी जाती है उसमें परम उत्कृष्ट हानि और परमोत्कृष्ट वृद्धि भी होती है।

किसी विवक्षित आत्मा में विज्ञान का तरतमरूप से आरूढ़ संशयरहित ज्ञान सिद्ध होता है। वह पक्ष में रहने वाला सिद्ध हेतु किसी आत्मारूप पक्ष में परम प्रकर्ष को प्राप्त हो जाने रूप साध्य को सिद्ध करता है, क्योंकि उस वृद्धि के तरतमपने को प्राप्त हेतु की उस परमप्रकर्ष प्राप्ति के साथ व्याप्ति है, जैसे कि आकाश में परमप्रकर्ष को प्राप्त हुआ परिमाण। यह दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

मीमांसक कहते हैं कि पूर्वोक्त अनुमान में जो ज्ञान पक्ष है, उस ज्ञानपद से यदि इन्द्रियों से जन्य विज्ञान लिया जाता है और उस इन्द्रियजन्य ज्ञान की परमप्रकर्ष प्राप्ति को साध्य बनाकर कथन किया जाता है तो सिद्धसाधन दोष आता है, क्योंकि मीमांसकों के यहाँ भी इस प्रकार इष्ट किया गया है कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन इन्द्रियों की विषय ग्रहण करने में यथायोग्य उत्कर्षता बढ़ते-बढ़ते परम अवस्था को पहुँच जाती है अर्थात् अभ्यासानुसार मानसज्ञान भी बढ़ता जाता है॥२४॥

मीमांसक कहते हैं कि यदि ज्ञान पद से ज्ञापक लिंगजन्य अनुमानज्ञान, या आगमज्ञान, अर्थापत्ति आदि विज्ञान लिये जाते हैं अथवा जैनों द्वारा सामान्य रूप से कोई भी विज्ञान लिया जाता है तो इन अनुमान आदि ज्ञानरूप पक्ष में परमप्रकर्ष प्राप्तिरूप साध्य को कहने वाले जैन विद्वानों के द्वारा सिद्धसाधन दोष का निवारण कैसे किया जायेगा? अर्थात् अनुमान ज्ञान, आगमज्ञान आदि की परमप्रकर्षता सब ही वादी मानते हैं। अतः सिद्ध साधन दोष है॥२५॥

(कोई) प्रवादी मीमांसक कहते हैं कि ज्ञानपद से यदि इन्द्रियातीत क्रमरहित यानी युगपत् ही सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला और ऐसा परिपूर्ण विशदज्ञान धर्म इष्ट किया जायेगा, तब तो पक्ष को अप्रसिद्ध विशेष्यता नामक दोष होगा।

स्वरूपासिद्धता हेतोराश्रयासिद्धतापि च। तन्नैतत्साधनं सम्यगिति केचित्प्रवादिनः ॥२७॥
अत्र प्रचक्ष्महे ज्ञानसामान्यं धर्मि नापरम्। सर्वार्थगोचरत्वेन प्रकर्षं परमं व्रजेत् ॥२८॥
इति साध्यमनिच्छन्तं भूतादिविषयं परं। चोदनाज्ञानमन्यद्वा वादिनं प्रति नास्तिकम् ॥२९॥
न सिद्धसाध्यतैवं स्यान्नाप्रसिद्धविशेष्यता। पक्षस्य नापि दोषोऽय क्वचित् सत्यं प्रसिद्धता ॥३०॥

स हेतोः क्वचित्प्रदर्शितः। नह्यत्राक्षविज्ञानं परमं प्रकर्षं यातीति साध्यते नापि लिङ्गागमादिविज्ञानं येन सिद्धसाध्यतानाम पक्षस्य दोषो दुःपरिहारः स्यात्। परस्यापीन्द्रियज्ञाने लिङ्गादिज्ञाने च परमप्रकर्षगमनस्येष्टत्वात्।

भावार्थ - अक्रम और करणातीत परिपूर्ण विशद, इन तीन विशेषणों से सहित कोई विशेष्यभूतज्ञान आज तक भी प्रसिद्ध नहीं है। अतः हेतु विशेष्यासिद्ध है।

और उक्त प्रकार मानने पर जैनों द्वारा कहा गया तरतम भाव से आक्रान्तपना हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि वह हेतु वैसे पक्ष में रहता हुआ नहीं देखा जा रहा है। तथा तारतम्य से आरूढ़पना हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास भी है, क्योंकि इन्द्रियों की सहायता बिना ही उत्पन्न और युगपत् सबको परिस्फुट जानने वाला कोई ज्ञान जगत् में प्रसिद्ध ही नहीं है। अतः स्याद्वादियों का यह अधिरूढ़पना ज्ञापक हेतु समीचीन नहीं है। ऐसा कोई प्रवादी कहता है॥२६-२७॥

उक्त चार वार्तिकों द्वारा दिये गये दोषों के निराकरणार्थ **श्री विद्यानन्दस्वामी** उत्तर देते हैं कि अब इस प्रकरण में हम जैन सामान्यज्ञान को पक्ष कहते हैं, कोई दूसरा इन्द्रियज्ञान, अनुमानज्ञान, आगम या परिपूर्णज्ञान, पूर्वोक्त अनुमान पक्ष नहीं कहा गया है। वृद्धि को प्राप्त हुआ वह सामान्य ज्ञान सम्पूर्ण अर्थों को विषय कर लेने पर परम प्रकर्ष को प्राप्त हो जाता है॥२८॥

इस प्रकार के साध्य को नास्तिकवादी वेद वाक्यों से उत्पन्न हुए ज्ञान को भूत, भविष्यत् कालवर्ती, दूरवर्ती या स्वभावविप्रकृष्ट पदार्थों को विषय करने वाला नहीं मानते हैं। तथा अन्य भी दूसरे ज्ञानों को भूत आदि पदार्थों को विषय करने वाला नहीं चाहता है। उस नास्तिकवादी के प्रति पूर्ण ज्ञान को सिद्ध करने वाला अनुमान प्रमाण कहा था। अतः हमारा हेतु पूर्णतः निर्दोष है॥२९॥

इस प्रकार ज्ञान सामान्य को पक्ष और सम्पूर्ण अर्थों को विषय कर लेने रूप परम प्रकर्ष प्राप्त ज्ञान को साध्य बनाकर अनुमान कर लेने पर सिद्धसाध्यता दोष नहीं आता है क्योंकि मीमांसकों के यहाँ हमारा कहा गया साध्य प्रसिद्ध नहीं है। हम इन्द्रियजन्यज्ञान को पक्ष नहीं बनाते हैं एवं पक्ष का अप्रसिद्ध विशेष्यता नामका यह दोष भी यहाँ नहीं आता है क्योंकि परिमाण के समान ज्ञान भी उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ दीख रहा है। जीवों में अनेक भावनाज्ञान, प्रतिभाज्ञान दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अतः जैनाचार्यों का हेतु स्वरूपासिद्ध और आश्रयासिद्ध भी नहीं है क्योंकि आत्मा में सत्यार्थरूप से इस प्रकार का ज्ञान प्रसिद्ध है॥३०॥

प्रतिवादी मीमांसक के यहाँ वह हेतु पक्ष में भी कहीं दिखला दिया गया है। अर्थात् - वेदशास्त्र द्वारा या व्याप्तिज्ञान से सम्पूर्ण पदार्थों को विषय कर लेना मीमांसकों ने भी माना है। केवल विशद का विवाद रह गया है। इस प्रकरण में जैनाचार्यों द्वारा इन्द्रियजन्य ज्ञान परमप्रकर्ष को प्राप्त हो जाता है, ऐसी प्रतिज्ञा

नाप्यक्रमं करणातीतं परिस्फुटं ज्ञानं तथा साध्यते यतस्तस्यैव धर्मिणोरप्रसिद्धविशेष्यता स्वरूपादेः सिद्धिश्च हेतुर्धर्मिणोसिद्धौ तद्धर्मस्य साधनस्यासम्भवादाश्रयासिद्धश्च भवेत्। किं तर्हि ज्ञानसामान्यं धर्मि? न च तस्य सर्वार्थगोचरत्वेन परमप्रकर्षमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यता भूतादिविषयं चोदनाज्ञानमनुमानादिज्ञानं वा प्रकृष्टमनिच्छन्तं वादिनं नास्तिकं प्रति प्रयोगात्। मीमांसकं प्रति तत्प्रयोगे सिद्धसाधनमेव भूताद्यशेषार्थगोचरस्य चोदनाज्ञानस्य परमप्रकर्षप्राप्तस्य तेनाभ्युपगतत्वादिति चेन्न, तं प्रति प्रत्यक्षसामान्यस्य धर्मित्वात्तस्य तेन

सिद्ध नहीं की जा रही है और हेतुजन्य ज्ञान या आगम, व्याप्तिज्ञान आदि विज्ञानों की परम प्रकर्षता भी नहीं साधी जा रही है जिससे कि सिद्धसाधन नामक दोष कठिनता से दूर किया जा सके।

भावार्थ - अक्षविज्ञान को पक्ष बना लेने पर सिद्धसाधन दोष अवश्य आता है क्योंकि दूसरे मीमांसक या नास्तिक विद्वानों के यहाँ भी इन्द्रियज्ञान में और अनुमान आदि ज्ञानों में परम प्रकर्ष तक प्राप्त हो जाना इष्ट किया गया है।

इस प्रकार क्रमरहित, अतीन्द्रिय, परिपूर्ण, विशदज्ञान के भी परमप्रकर्ष को नहीं साध रहे हैं जिससे कि उस धर्मी की ही असिद्धि हो जाने से पक्ष का अप्रसिद्ध विशेष्यपना दोष लगता है। अर्थात् - उक्त तीन (अक्रम, विशद, अतीन्द्रिय) उपाधियों से युक्त ज्ञानस्वरूप विशेष्य अभी तक प्रसिद्ध नहीं हुआ है। ऐसी दशा में ज्ञान सामान्य को पक्ष कर लेने पर मीमांसकजन अप्रसिद्धविशेष्यता दोष को हमारे ऊपर नहीं उठा सकते हैं। तथा परिपूर्ण ज्ञान की पुनः परमप्रकर्षपने की प्राप्ति तो फिर होती नहीं है जिससे कि पक्ष में हेतु के न रहने पर हमारा तारतम्य से अधिरूढ़पना हेतु स्वरूपासिद्ध हो सके। परिपूर्ण ज्ञान पक्ष कोटि में नहीं है तो फिर हेतु स्वरूपासिद्ध कैसे हो सकता है? और धर्मीज्ञान की सिद्धि नहीं हो चुकने पर उस असम्भूत पक्ष में रहना हेतुस्वरूप धर्म का असम्भव हो जाने से हमारा हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास हो जाता ? अर्थात्- अतीन्द्रिय पूर्ण ज्ञान को हम पक्ष नहीं बना रहे हैं। अतः हमारा हेतु आश्रयासिद्ध नहीं है। ज्ञान सामान्य तो सिद्ध ही है।

तुमने पक्ष कोटि में कौन सा ज्ञान ग्रहण किया है? इस प्रकार जिज्ञासा करने पर जैन कहते हैं कि यहाँ ज्ञान सामान्य पक्ष है। उस सामान्यज्ञान को सम्पूर्ण अर्थों के विषयीपने से परमप्रकर्ष की प्राप्ति को सामान्य रूप से साध्य करने पर सिद्ध साध्यता दोष नहीं आता है। क्योंकि विधि लिङन्त वेदवाक्यों द्वारा उत्पन्न आगम ज्ञान अथवा अनुमान, तर्क आदि ज्ञानों के प्रकर्षता को प्राप्त हो जाने पर भूत, भविष्यत् आदि पदार्थों को विषय कर लेना नहीं चाहने वाले नास्तिकवादी के प्रति पूर्वोक्त अनुमान का प्रयोग किया है। अर्थात् नास्तिकों के यहाँ सम्पूर्ण अर्थों को विषय करने वाला ज्ञान सिद्ध नहीं है। अतः अनुमान द्वारा असिद्ध साध्य को सिद्ध किया है।

मीमांसकों के प्रति उस अनुमान का प्रयोग करने पर तो सिद्धसाधन दोष है ही क्योंकि "चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलं पुरुषविशेषान्" वेदवाक्यों से उत्पन्न हुआ ज्ञान अभ्यास बढ़ने से परमप्रकर्ष को प्राप्त होकर भूत, भविष्यत् आदि सम्पूर्ण पदार्थों को विषय कर

सर्वार्थविषयत्वेनात्यन्तप्रकृष्टस्यानभ्युपगमात्। न चैवमप्रसिद्धविशेष्यादिदोषः पक्षादेः सम्भवति केवलं मीमांसकान्प्रति यदैतत्साधनं तदा प्रत्यक्षं विशदं सूक्ष्माद्यर्थविषयं साधयत्येवानवद्यत्वात्। यदा तु नास्तिकं प्रति सर्वार्थगोचरं ज्ञानसामान्यं साध्यते तदा तस्य करणक्रमव्यवधानातिवर्तित्वं स्पष्टत्वं च कथं सिद्ध्यति इत्याह;–

तच्च सर्वार्थविज्ञानं पुनः सावरणं मतं। अदृष्टत्वाद्यथा चक्षुस्तिमिरादिभिरावृतं ॥३१॥
ज्ञानस्यावरणं याति प्रक्षयं परमं क्वचित्। प्रकृष्यमाणहानित्वाद्धेमादौ श्यामिकादिवत्॥३२॥
ततोऽनावरणं स्पष्टं विप्रकृष्टार्थगोचरं। सिद्धमक्रमविज्ञानं सकलंकमहीयसाम् ॥३३॥

लेता है। इस प्रकार मीमांसकों ने स्वीकार किया है। उनके प्रति जैनाचार्य कहते हैं कि मीमांसकों का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञानपद से प्रत्यक्ष सामान्य को हमने पक्ष कोटि में ग्रहण किया है। मीमांसकों ने प्रत्यक्षज्ञान द्वारा सभी पदार्थों को विषय कर लेना नहीं माना है। अतः हेतु असिद्ध को सिद्ध करने वाला होने से हमारे प्रति सिद्ध साधन दोष मीमांसक नहीं उठा सकते।

इस प्रकार सामान्यज्ञान या सामान्यप्रत्यक्ष को पक्ष करने पर पक्ष, साध्य, प्रतिज्ञा आदि के अप्रसिद्ध-विशेष्यता, अप्रसिद्ध विशेषणता,स्वरूपासिद्धि, आश्रयासिद्धि आदिक दोष संभव नहीं हैं।

केवल मीमांसकों के प्रति यह हेत्वाभास दोष आता है जैनों के प्रति नहीं। अतः कोई प्रत्यक्षज्ञान अतीव विशद होता है, यह सिद्ध हो ही जाता है। क्योंकि हेतु दोषों से रहित होने के कारण हमारा हेतु निर्दोष है।

नास्तिकवादियों के प्रति ज्ञान सामान्य को सम्पूर्ण अर्थों का विषय करने वाला सिद्ध करते हैं तब उस सम्पूर्ण अर्थों के ज्ञान को इन्द्रियों के क्रम पूर्वक होना, व्यवधान का उल्लंघन करना और स्पष्टपना कैसे सिद्ध हो जाता है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द आचाय** कहते हैं-

दृष्टव्य सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष कर लेने वाला नहीं होने से स्वभाव से ही सम्पूर्ण अर्थों को जानने वाले उस विज्ञान को फिर आवरणों से सहित माना है। जैसे तमारा, कामल आदि दोषों से ढका हुआ नेत्र। आवृतं सहितं अर्थात् - संसारी जीवों की चेतना शक्ति के ऊपर आवरण और दोष आ गए हैं। अतः वह ज्ञान इन्द्रियों के क्रम से होता है और व्यवधान युक्त होता है। आवरणों के सर्वथा दूर हो जाने पर वह अतीन्द्रिय सर्वज्ञज्ञान युगपत् सम्पूर्ण अर्थों को स्पष्ट जान लेता है॥३१॥

किसी न किसी आत्मा में ज्ञान का आवरण उत्कृष्ट रूप से प्रकृष्ट क्षय को प्राप्त हो जाता है। जैसे स्वर्ण आदि में कालिमा किट्ट आदि की वृद्धि हानि किसी सोने में प्रकष्टपने को प्राप्त हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि स्वभाव विप्रकृष्ट परमाणु, कार्मणवर्गणाएँ आदि तथा देश विप्रकृष्ट, काल विप्रकृष्ट सुमेरु राम आदि और भी सम्पूर्ण पदार्थों को विषय करने वाला महान् पुरुषों का ज्ञान, ज्ञानावरणकर्म के पटलों से रहित है, अतीव विशद है, क्रम से नहीं होता हुआ सबको युगपत् जानता है तथा अज्ञान, राग, द्वेष आदि कलंकों से रहित है॥३१-३२-३३॥

यत एवमतीन्द्रियार्थपरिच्छेदनसमर्थं प्रत्यक्षमसर्वज्ञवादिनं प्रति सिद्धम्॥

ततः सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः। भूताद्यशेषविज्ञानभाजश्चोच्चोदनाबलात्॥३४॥
किन्न क्षीणावृतिः सूक्ष्मानर्थान्द्रष्टुं क्षमः स्फुटं। मंदज्ञाननतिक्रामन्नातिशेते परान्नरान्॥३५॥

यदि परैरभ्यधायि। "दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो न नामात्र गच्छति। न योजनमसौ गंतुं शक्तोभ्यासशतैरपि" इत्यादि। तदपि न युक्तमित्याह–

जिस प्रकार सर्वज्ञ को नहीं मानने वाले मीमांसक, नास्तिक आदि वादियों के प्रति अतीन्द्रिय अर्थों को साक्षात् युगपत् जानने की सामर्थ्य से युक्त प्रत्यक्षज्ञान सिद्ध कर दिया गया है, इस पंक्ति के **'यतः'** का अन्वय अग्रिम वार्तिक में पड़े हुए **'ततः'** शब्द के साथ लगा लेना चाहिए; उसी प्रकार आगामी काल के परिणाम को विचारने वाली बुद्धि प्रज्ञा और धारणा नामक संस्कार को धारने वाली बुद्धि मेधा आदि के द्वारा मानव अतिशय सहित देखे जाते हैं। वे मनुष्य इस ज्ञान का प्रकर्ष बढ़ाते हुए भूत, भविष्यत्, विप्रकृष्ट आदि सम्पूर्ण पदार्थों के विज्ञान को धारने वाले बन सकते हैं, इसमें कोई बाधक नहीं है।

जैसे मीमांसक मत में वेदवाक्यों की सामर्थ्य से मानव भूत आदि पदार्थों का ज्ञाता हो सकता है, वैसे जिस मनुष्य के ज्ञानावरण कर्मों का पूर्ण क्षय हो चुका है, वह पुरुष सूक्ष्म व्यवहित आदि अर्थों को विशदरूप से देखने के लिए क्यों नहीं समर्थ होगा? और मन्दज्ञान वाले दूसरे मनुष्यों का अतिक्रमण करता हुआ उन मनुष्यों से अधिक चमत्कार को धारण करने वाला क्यों नहीं हो जाएगा? अर्थात् ज्ञानावरणों का क्षय करने वाला मनुष्य सूक्ष्म आदि अर्थों को अवश्य विशद जान लेता है और अन्य अल्पज्ञानियों से अधिक चमत्कारी हो जाता है॥३४-३५॥

मीमांसकों ने अपने आगम में कहा है कि जो जीव आकाश में उछल कर दस हाथ का अन्तर लेकर चल सकता है, वह सैकड़ों अभ्यास करके भी एक योजन तक जाने के लिए समर्थ नहीं है यह कथन भी युक्तिपूर्ण नहीं। इसी बात को **श्री विद्यानन्द आचार्य** स्पष्ट कर कहते हैं-

उछलना, कूदना, उल्लंघना आदि दृष्टान्त तो स्वभाव से ही बहुत दूर तक उल्लंघन करने वाले पदार्थ में उपयोगी नहीं है। दूर तक ऊपर चले जाना आदि स्वभाव के प्रकट हो जाने पर किसी भी प्रकार से असंख्य योजन तक उछल जाने रूप स्वभाव का निषेध नहीं होता है। जीव या पुद्गल का ऊर्ध्वगति स्वभाव प्रकट हो जाने पर एक योजन तो क्या असंख्य योजन तक उछलना प्रतीत हो जाता है।

यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो बड़े भारी लोकाकाश में ऊपर जगत् के चूड़ामणि स्वरूप तनुवातवलय में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर चुके सिद्ध भगवान् की एक समय में स्वभाव से होने वाली गति नहीं हो सकती।

भावार्थ - सम्पूर्ण आठ कर्मों का क्षय कर मुक्तात्मा यहाँ कर्मभूमि से सात राजू ऊपर सिद्ध लोक में एक ही समय में जा पहुँचती है। एक राजू में असंख्यात योजन होते हैं।

लङ्घनादिकदृष्टान्तः स्वभावान्न विलंघने। नाविर्भावे स्वभावस्य प्रतिषेधः कुतश्चन ॥३६॥
स्वाभाविकी गतिर्न स्यात्प्रक्षीणाशेषकर्मणः। क्षणादूर्ध्वं जगच्चूड़ामणौ व्योम्नि महीयसि।३७॥
वीर्यान्तरायविच्छेदविशेषवशतोपरा। बहुधा केन वार्येत नियतं व्योमलङ्घनात् ॥३८॥

ततो यदुपहसनमकारि भट्टेन। "यैरुक्तं केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषयं सूक्तं जीवस्य तैरदः" इति, तदपि परिहृतमित्याह–

ततः समन्ततश्चक्षुरिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। निःशेषद्रव्यपर्यायविषयं केवलं स्थितं ॥३९॥

तदेवं प्रमाणतः सिद्धे केवलज्ञाने सकलकुवाद्यविषये युक्तं तस्य विषयप्ररूपणं मतिज्ञानादिवत्॥

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

आत्मा के वीर्यगुण का प्रतिबंध करने वाले वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशमविशेष या क्षय के वश से और भी बहुत प्रकार की गतियों का होना किसके द्वारा निषेध किया जा सकता है? अर्थात् - नहीं। एक कोस, सौ कोस, कोटि योजन, एक राजू, सात राजू, इस प्रकार की नियतरूप से आकाश को उल्लंघने वाली गतियाँ प्रमाण सिद्ध हैं। अतः मीमांसकों का दृष्टांत विषम है और स्वपक्ष का घातक है॥३६-३७-३८॥

अतः मीमांसक कुमारिल भट्ट ने जो जैनों का उपहास किया था कि जिन जैनों ने इन्द्रिय, मन, हेतु, सादृश्य, पद आदि की अपेक्षा नहीं रखने वाले जीव के सूक्ष्म, भूत, भविष्यत् आदि पदार्थों को विषय करने वाला केवलज्ञान कहा है, उन जैनों ने यह तत्त्व बहुत अच्छा कहा है।

इस प्रकार भट्ट के उपहास वचन का भी खण्डन कर दिया है। इसी बात को **श्री विद्यानन्द आचार्य** वार्तिक द्वारा कहते हैं -

अतः यह व्यवस्थित हो गया कि चारों ओर से चक्षु इन्द्रिय, मन, ज्ञापक हेतु, अर्थापत्ति, उत्थापक अर्थ, वेदवाक्य आदि की अपेक्षा नहीं करने वाले आवरण रहित जीव के (केवलज्ञानी के) सम्पूर्ण द्रव्य और सम्पूर्ण पर्यायों को विषय करने वाला केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। केवलज्ञान के सद्भाव में बाधा देने वाले प्रमाणों की असंभवता है॥३९॥

इस प्रकार सम्पूर्ण कुचोद्य (कुशंका) करने वाले वादियों की समझ में नहीं आने वाले केवलज्ञान की प्रमाणों से सिद्धि हो चुकनेपर क्रमप्राप्त उस केवलज्ञान में मतिज्ञान आदि के समान विषय का निरूपण करना युक्त है।

अब **सूत्रकार** एक जीव के एक साथ होने वाले ज्ञानों का कथन करते हैं -

एक आत्मा में एक ही समय में एक को आदि लेकर भाज्यस्वरूप चार ज्ञान तक हो सकते हैं॥३०॥

कान्प्रतीदं सूत्रमित्यावेदयति;–

एकत्रात्मनि विज्ञानमेकमेवैकदेति ये। मन्यन्ते तान्प्रति प्राह युगपज्ज्ञानसम्भवम् ॥१॥

अत्रैकशब्दस्य प्राथम्यवचनत्वात्प्राधान्यवचनत्वाद्वा क्वचिदात्मनि ज्ञानं एकं प्रथमं प्रधानं वा संख्यावचनत्वादेकसंख्यं वा वक्तव्यं। तच्च किं द्वे च ज्ञाने किं युगपदेकत्र त्रीणि चत्वारि वा ज्ञानानि कानीत्याह;–

प्राच्यमेकं मतिज्ञानं श्रुतिभेदानपेक्षया। प्रधानं केवलं वा स्यादेकत्र युगपन्नरि ॥२॥

अर्थात् - चाहे विग्रहगति में आत्मा हो अथवा सूक्ष्म निगोदिया के शरीर में हो, उसके कोई न कोई ज्ञान तो अवश्य होगा। ज्ञानरहित आत्मा नहीं रह सकती तथा एक समय में चार ज्ञानों से अधिक लब्धिस्वरूप ज्ञान नहीं हो सकते हैं ॥३०॥

श्री उमास्वामी आचार्य ने किन प्रवादियों के प्रति इस "**एकादीनि**" आदि सूत्र को कहा है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द आचार्य** उत्तर स्वरूप कहते हैं –

जो नैयायिक आदि वादी एक समय में एक आत्मा में एक ही विज्ञान होता है, ऐसा मानते हैं, उन विद्वानों के प्रति एक समय में होने वाले ज्ञानों को समझाने के लिए यह सूत्र कहा है। अर्थात् - एक समय में एक आत्मा को एक ही ज्ञान नहीं होता है किन्तु योग्यता स्वरूप चार ज्ञान तक हो सकते हैं। जैन दर्शन के अतिरिक्त लब्धिस्वरूप ज्ञानों की अन्य मतों में चर्चा नहीं है। वे तो उपयोगात्मक एक ही ज्ञान मानते हैं ॥१॥

'एक' इस शब्द के संख्या, असहाय, प्रधान, प्रथम, भिन्न आदि अनेक अर्थ होते हैं। किन्तु इस सूत्र में एक शब्द का अर्थ प्रथम अथवा प्रधान विवक्षित है। संख्येयं में प्रवर्त रहे एक शब्द के द्वारा प्रथम का कथन करना अर्थ होने से अथवा प्रधान अर्थ का कथन करना हो तो किसी एक आत्मा में एक अर्थात् प्रथम ज्ञान मतिज्ञान अथवा एक यानी प्रधान ज्ञान केवलज्ञान हो सकता है? अथवा एक शब्द द्वारा संख्या का कथन करने पर एक संख्या वाला ज्ञान कहना चाहिए।

एक से लेकर चार ज्ञान तक होते हैं। उनमें एक ज्ञान कौनसा है? और युगपत् होने वाले दो ज्ञान कौनसे हैं? तथा एक ही समय में एक आत्मा में होने वाले तीन ज्ञान कौन से हैं? अथवा एक ही समय में एक आत्मा में होने वाले चार ज्ञान कौनसे हैं? इस प्रकार प्रश्न होने पर **श्री विद्यानन्द आचार्य** उत्तर कहते हैं-

'प्रथम' इस अर्थ को कहने वाले एक शब्द की विवक्षा करने पर एक आत्मा में युगपत् पहिला मतिज्ञान एक होगा। यहाँ श्रुतज्ञान के भेदों की अपेक्षा नहीं की गई है।

यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों अविनाभावी हैं; एक इन्द्रिय वाले जीव के भी दोनों ज्ञान विद्यमान हैं किन्तु एक शब्द का प्रथम अर्थ विवक्षित होने पर विद्यमान श्रुतविशेषों की अपेक्षा नहीं करके एक ही मतिज्ञान का सद्भाव कह दिया गया है। श्रुतज्ञान का विशेष संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के शब्दजन्य वाच्य अर्थ का ज्ञान होने पर माना गया है। अत: खाते, पीते, छूते, सूंघते, देखते हुए जीव के एक मतिज्ञान ही विवक्षित किया है। अथवा एक शब्द का अर्थ 'प्रधान' ऐसा किया जाता है, तब एक जीव में प्रधान ज्ञान केवलज्ञान हो सकेगा अन्य नहीं ॥२॥

द्वेधा मतिश्रुते स्यातां ते चावधियुते क्वचित्। मनःपर्ययज्ञाने वा त्रीणि येन युते तथा ॥३॥

प्रथमं मतिज्ञानं क्वचिदात्मनि श्रुतभेदस्य तत्र सतोऽप्यपरिपूर्णत्वेनानपेक्षणात् प्रधानं केवलमेतेनैकसंख्यावाच्यप्येकशब्दो व्याख्यातः स्वयमिष्टस्यैकस्य परिग्रहात्। पंचानामन्यतमस्यानिष्टस्यासम्भवात्। क्वचित्पुनर्द्वे मतिश्रुते क्वचित्ते वावधियुते मनःपर्याययुते चेति त्रीणि ज्ञानानि संभवन्ति क्वचित्ते एवावधिमनःपर्ययद्वयेन युते चत्वारि ज्ञानानि भवन्ति। पंचैकस्मिन्न भवन्तीत्याह–

एक आत्मा में एक समय में दो प्रकार के ज्ञान मति और श्रुत हो सकते हैं और अवधि से युक्त वे दोनों ज्ञान किसी आत्मा में युगपत् तीन ज्ञान हो जाते हैं तथा किसी आत्मा में मनःपर्ययज्ञान के हो जाने पर उन दोनों को मिला कर तीन ज्ञान युगपत् हो जाते हैं अर्थात् - मति, श्रुत, अवधि या मति, श्रुत, मनःपर्यय, ये तीन ज्ञान युगपत् हो सकते हैं अथवा वे तीन ज्ञान यदि मनःपर्ययज्ञान से युक्त हो जायें तो मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय इस प्रकार चार ज्ञान भी एक समय में किसी एक जीव के हो सकते हैं। एक जीव के पाँचों ज्ञानों का युगपत् होना असम्भव है॥३॥

किसी एक आत्मा में पहला एक मतिज्ञान होता है। यद्यपि उस मतिज्ञानी आत्मा में श्रुतज्ञान का भेद भी विद्यमान है फिर भी श्रुतज्ञान के परिपूर्ण नहीं होने के कारण उस श्रुतज्ञान की अपेक्षा नहीं की गयी है। अर्थात् - जिस एक इन्द्रिय वाले या विकलत्रय जीवों के अकेले मतिज्ञान की सम्भावना है, उन जीवों के थोड़ा मन्द श्रुतज्ञान भी है। किन्तु अनिन्द्रिय (मन) की सहायता से होनेवाले विशिष्ट श्रुतज्ञान की सम्भावना नहीं होने से वह श्रुतज्ञान विद्यमान होकर भी अविद्यमान सदृश है। एक आत्मा में एक प्रधान ज्ञान केवलज्ञान हो सकता है। इस उक्त कथन से एकत्व संख्या को कहने वाले भी 'एक' इस शब्द का व्याख्यान कर दिया गया है ऐसा समझ लेना चाहिए। क्योंकि **श्री उमास्वामी महाराज** को स्वयं इष्ट एक ज्ञान का भी संख्यावाची एक शब्द से पूरा ग्रहण हो जाता है और पाँच ज्ञानों में से चाहे कोई भी एक ज्ञान के सद्भाव का हो जाना इस अनिष्ट अर्थ की सम्भावना नहीं है। अर्थात् व्यापक अर्थ होने पर व्याप्य अर्थ आ ही जाता है अतः संख्यावाची एक शब्द का अभिप्राय करने पर एक मतिज्ञान का ही सद्भाव रखना चाहिए। अकेले श्रुतज्ञान या अकेले अवधिज्ञान अथवा अकेले मनःपर्ययज्ञान का सद्भाव असम्भव होने के कारण इष्ट नहीं किया गया है।

यदि किसी एक आत्मा में दो ज्ञान हों तो फिर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो हो सकते हैं। किसी एक विवक्षित आत्मा में अवधि सहित मति, श्रुत या मनःपर्यय से सहित मतिश्रुत एक आत्मा में तीन ज्ञान हो सकते हैं। तथा किसी एक आत्मा में वे मति और श्रुत दोनों ही ज्ञान यदि अवधि और मनःपर्यय इन दोनों से युक्त हो जाते हैं तो युगपत् चारों ज्ञान हो सकते हैं। एक आत्मा में युगपत् पाँचों ज्ञान नहीं हो सकते है। इसे कहते हैं -

आचतुर्भ्य इति व्याप्तवादो वचनतः पुनः। पंचैकत्र न विद्यन्ते ज्ञानान्येतानि जातुचित् ॥४॥

क्षायोपशमिकज्ञानैः सहभावविरोधात्क्षायिकस्येत्युक्तं पंचानामेकत्रासहभवनमन्यत्र ॥

भाज्यानि प्रविभागेन स्थाप्यानीति निबुद्ध्यतां। एकादीन्येकदैकत्रानुपयोगानि नान्यथा ॥५॥

सोपयोगस्यानेकस्य ज्ञानस्यैकत्र यौगपद्यवचने हि सिद्धान्तविरोधः सूत्रकारस्य न पुनरनुपयोगस्य सह द्वावुपयोगौ न स्त इति वचनात्। सोपयोगयोर्ज्ञानयोः सह प्रतिषेधादिति निवेदयन्ति–

'आङ्' इस निपात के मर्यादा, अभिविधि आदि बहुत अर्थ हैं। आचतुर्भ्यः यहाँ आङ् का अर्थ अभिविधि है। मर्यादा में कण्ठोक्त को छोड़ दिया जाता है और अभिविधि में उस कथित पदार्थ को भी ग्रहण कर लिया जाता है। आचतुर्भ्यः यहाँ व्याप्त अर्थ को कहने वाले आङ् शब्द का कथन कर देने से यह सिद्धान्त प्राप्त हो जाता है कि एक आत्मा में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान ये पाँचों ज्ञान युगपत् कभी भी नहीं हो सकते अर्थात् ज्ञानावरण का क्षय हो जाने पर आत्मा में सर्वदा केवलज्ञान ही रहता है क्योंकि देशघाती प्रकृतियों के उदय होने पर होने वाले चार ज्ञानों का क्षायिक ज्ञान के समय में सद्भाव नहीं है ॥४॥

क्षायोपशमिक ज्ञान के साथ क्षायिकज्ञान का विरोध होने से पाँच ज्ञान एक साथ नहीं होते हैं, ऐसा कहा है।

इस सूत्र में कहे गये 'भाज्यानि' शब्द का अर्थ विभाग करके स्थापन करने योग्य है। 'ऐसा' समझ लेना चाहिए। एक समय में एक आत्मा में एक को आदि लेकर के चार ज्ञान तक हो सकते हैं। वे अनुपयोगात्मक हैं, उपयोग स्वरूप नहीं हैं अर्थात् लब्धिस्वरूप ज्ञान तो एक समय में एक आत्मा में दो, तीन, चार तक हो सकते हैं। किन्तु उपयोग स्वरूप ज्ञान तो एक समय में एक ही होता है क्योंकि उपयोग पर्याय है। चेतनागुण की एक समय में एक ही पर्याय हो सकती है। एक समय में एक आत्मा में दो उपयोग नहीं हो सकते हैं ॥५॥

एक आत्मा में उपयोग सहित अनेक ज्ञानों का युगपत् हो जाना यदि कथन करते तो सूत्रकार श्री **उमास्वामी महाराज** को स्याद्वादसिद्धान्त से विरोध होता। किन्तु अनुपयोगस्वरूप अनेक ज्ञानों का एक ही काल में एक आत्मा में कथन करने पर सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं आता है क्योंकि एक साथ उपयोगात्मक दो ज्ञान नहीं हो सकते। ऐसा कहा गया है क्योंकि छद्मस्थ जीवों के बारह उपयोगों में से एक समय में एक ही उपयोग हो सकता है। एक गुण की एक समय में दो पर्यायें नहीं हो सकतीं अतः क्षयोपशमजन्य लब्धिस्वरूप ज्ञान एक से लेकर चार तक हो सकते हैं किन्तु उपयोग स्वरूप पर्याय से परिणत ज्ञान एक समय में एक ही होता है, न्यून अधिक नहीं।

उपयोगसहित दो ज्ञानों के साथ-साथ हो जाने का निषेध है। इस रहस्य के सम्बन्ध में **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं–

क्षायोपशमिकं ज्ञानं सोपयोगं क्रमादिति। नार्थस्य व्याहतिः काचित्क्रमज्ञानाभिधायिनः।६॥

निरुपयोगस्यानेकस्य ज्ञानस्य सहभाववचनसामर्थ्यात् सोपयोगस्य क्रमभावः क्षायोपशमिकस्येत्युक्तं भवति। तथा च नार्थस्य हानिः क्रमभाविज्ञानावबोधकस्य सम्भाव्यते। अत्रापराकूतमनूद्य निराकुर्वन्नाह–

नोपयोगौ सह स्यातामित्यार्याः ख्यापयन्ति ये। दर्शनज्ञानरूपौ तौ न तु ज्ञानात्मकाविति॥७॥
ज्ञानानां सहभावाय तेषामेतद्विरुद्ध्यते। क्रमभावि च यज्ज्ञानमिति युक्तं ततो न तत्॥८॥

यदापि क्रमभावि च यज्ज्ञानमिति समन्तभद्रस्वामिवचनमन्यथा व्याचक्षते विरोधपरिहारार्थं तदापि दोषमुद्भावयति–

ज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए ज्ञान यदि उपयोगसहित होंगे तो क्रम से ही होंगे। इस प्रकार क्रम से ज्ञानों की उत्पत्ति का कथन करने वाले स्याद्वादी विद्वान् के यहाँ अर्थ का व्याघात नहीं होता है। अर्थात् - बद्ध आत्मा में देशघाती प्रकृतियों के उदय की अवस्था में उपयोग स्वरूप ज्ञान या दर्शन की एक समय में एक ही पर्याय हो सकती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण के क्षय हो जाने पर अबद्ध आत्मा में दो पर्याय हो जाने का व्यपदेश हो तो कोई क्षति नहीं है। संसारी जीव क्रम से द्रष्टा ज्ञाता है और केवली भगवान युगपत् द्रष्टा ज्ञाता हैं॥६॥

निरुपयोग लब्धि आत्मक अनेक ज्ञानों के एक साथ हो जाने के कथन की सामर्थ्य से यह बात अर्थापत्ति द्वारा कह दी जाती है कि उपयोग सहित क्षायोपशमिक ज्ञानों का क्रम-क्रम से ही उत्पाद होता है। और इसलिए क्रम से होने वाले ज्ञानों को समझाने वाले स्याद्वादी के किसी प्रयोजन की हानि संभव नहीं है।

पूर्व में अन्य मतावलम्बियों का वर्णन करके पुनः उनका खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं- कोई कहते हैं कि ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं। किन्तु ज्ञानस्वरूप दो उपयोगों के साथ हो जाने का निषेध नहीं है। अर्थात् - एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग ये दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते हैं किन्तु मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अथवा चाक्षुष प्रत्यक्ष और रसना इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ऐसे दो ज्ञान तो एक काल में हो सकते हैं। इसका खण्डन करते हुए **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं कि उन महापुरुषों के उपयोग आत्मक ज्ञानों का सहभाव कथन करना इस सिद्धान्त वाक्य से विरोध पड़ता है कि **"क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्"**। **श्री समन्तभद्र स्वामी** ने **आप्तमीमांसा** में कहा है कि क्षयोपशम से जन्य जो ज्ञान स्याद्वादन्याय से संस्कार युक्त होकर क्रम-क्रम से होते हैं, वे भी प्रमाण हैं अतः इस प्रकार ज्ञानों का सहभाव कथन करना युक्तिपूर्ण नहीं है। अर्थात्-उपयोगात्मक दो ज्ञान एक साथ नहीं होते हैं॥७-८॥

विरोध दोष का परिहार करने के लिए जब कभी वे विद्वान् क्रम से होने वाले जो ज्ञान हैं वे प्रमाण हैं इस प्रकार श्री समन्तभद्र स्वामी के वचनों का दूसरे प्रकारों से व्याख्यान करते हैं तब भी उन पर **श्री विद्यानन्द आचार्य** दोषों को प्रकट करते हैं -

शब्दसंसृष्टविज्ञानापेक्षया वचनं तथा। यस्मादुक्तं तदेवार्यैः स्याद्वादनयसंस्थितम् ॥९॥
इति व्याचक्षते ये तु तेषां मत्यादिवेदनं। प्रमाणं तत्र नेष्टं स्यात्ततः सूत्रस्य बाधनम् ॥१०॥

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनमित्यनेन केवलस्य क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतमित्यनेन च श्रुतस्यागमस्य प्रमाणान्तरवचनमिति व्याख्याने मतिज्ञानस्यावधिमनःपर्ययोश्च नात्र प्रमाणत्वमुक्तं स्यात्।

"श्री समन्तभद्राचार्य ने शब्द के साथ संसर्ग को प्राप्त विज्ञान की अपेक्षा से वचन कहा है, तभी तो उन आचार्यों को ज्ञान का स्याद्वाद नीति से स्थित हो जाना कहा जाता है।" अर्थात् - जिन ज्ञानों में शब्द की योजना हो जाती है जैसे कि किसी मानव के कहने से किसी देश में धान्य की उत्पत्ति का ज्ञान किया तथा उसके शब्दों द्वारा वहाँ के पुरुषों में सदाचार में प्रवृत्ति ज्ञात कर ली इत्यादि ऐसे **शब्दसंसर्गीज्ञान** तो श्रोता को क्रम से ही होते हैं और ऐसा अर्थ करने पर ही **"स्याद्वादनयसंस्कृतम्"** यह पद भी ठीक संगत हो जाता है। किन्तु शब्द की योजना से रहित बहुभाग श्रुतज्ञान और सभी मति, अवधि और मनःपर्यय ये ज्ञान तो एक साथ हो सकते हैं, क्योंकि उनमें शब्दों का संसर्ग नहीं है। इस प्रकार **आप्तमीमांसा** के वाक्य का जो विद्वान् व्याख्यान करते हैं, उनके यहाँ मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और शब्द का संसर्ग नहीं रखने वाला बहुभाग श्रुतज्ञान तो प्रमाण अभीष्ट नहीं हो सकेंगे और ऐसा हो जाने से सूत्रकार के पाँचों ज्ञानों को प्रमाण कहने वाले सूत्र को बाधा उपस्थित हो जाएगी।

अर्थात् - यदि शब्दसंसर्गी श्रुतज्ञान का ही प्रमाणपना कह दिया जायेगा तो शेष मति आदि ज्ञानों का प्रमाणपना व्यवस्थित नहीं हो सकेगा और ऐसी दशा में "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं" श्री उमास्वामी महाराज के इस प्रमाण प्रतिपादक सूत्र से श्री समन्तभद्र स्वामी की कारिका का विरोध हो जायेगा॥९-१०॥

"तत्त्वज्ञानं प्रमाणंते युगपत् सर्वभासनं" यह देवागमस्तोत्र की कारिका है। इसका अर्थ है कि हे जिनेन्द्र! आपके यहाँ तत्त्वों का यथार्थज्ञान ही प्रमाण माना गया है। इन प्रमाण ज्ञानों में प्रधान ज्ञान केवलज्ञान है जो सम्पूर्ण पदार्थों का युगपत् साक्षात् प्रतिभास करता है और जो ज्ञान क्रम से होने वाले हैं, वे भी तत्त्वज्ञानस्वरूप होने से प्रमाण हैं। स्याद्वादनीति से संस्कृत श्रुतज्ञान भी प्रमाण है। अथवा "स्याद्वादनयसंस्कृतं" यह विशेषण सभी तत्त्वज्ञानों में लगा लेना चाहिए। सप्तभंगी प्रक्रिया सर्वत्र सुलभ है। यहाँ उक्त कारिका के पूर्वार्ध से केवलज्ञान का प्रमाणपना कहते हुए वे विद्वान् "क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतं" कारिका के इस उत्तरार्द्ध के द्वारा केवल आगम स्वरूप श्रुतज्ञान को प्रमाण कहते हैं। किन्तु ऐसा व्याख्यान करने पर इस कारिका में मतिज्ञान और देशप्रत्यक्षस्वरूप अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञानों का प्रमाणपना नहीं समझा जायेगा और इस प्रकार केवलज्ञान और श्रुतज्ञान इन दो ज्ञानों का ही प्रमाणपना श्री समन्तभद्रस्वामी की कारिका द्वारा व्यवस्थित हो जाने पर तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा कहे गये मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान प्रमाण हैं तथा वे ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणस्वरूप हैं। इस प्रकार पाँचों ज्ञानों को दो प्रमाणस्वरूपपना प्रतिपादन करने वाले सूत्रों के द्वारा बाधा हो जाने का प्रसंग आयेगा।

तथा च 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं' 'तत्प्रमाणे' इति ज्ञानपंचकस्य प्रमाणद्वयरूपत्वप्रतिपादकसूत्रेण बाधनं प्रसज्येत। यदा तु मत्यादिज्ञानचतुष्टयं क्रमभावि केवलं च युगपत्सर्वभावि प्रमाणं स्याद्वादेन प्रमाणेन सकलादेशिना तयोश्च विकलादेशिभिः संस्कृतं सकलविप्रतिपत्तिनिराकरणद्वारेणागतमिति व्याख्यायते तदा सूत्रबाधा परिहृता भवत्येव। ननु परव्याख्यानेऽपि न सूत्रबाधा क्रमभावि चेति चशब्दान्मतिज्ञानस्यावधिमनः पर्ययोश्च संग्रहादित्यत्र दोषमाह–

चशब्दासंग्रहात्तस्य तद्विरोधो न चेत्कथम्। तस्य क्रमेण जन्मेति लभ्यते वचनाद्विना ॥११॥

क्रमभावि स्याद्वादनयसंस्कृतं चशब्दान्मत्यादिज्ञानं क्रमभावीति न व्याख्यायते यतस्तस्य क्रमभावित्वं वचनाद्विना न लभ्येत। किं तर्हि स्याद्वादनयसंस्कृतं। यत्तु श्रुतज्ञानं क्रमभावि चशब्दादक्रमभावि च

किन्तु जब श्री समन्तभद्रस्वामी की कारिका का अर्थ इस प्रकार किया जायेगा कि 'क्रम-क्रम' से होने वाले मति, श्रुत आदि चारों ज्ञान और एक ही समय में सब पदार्थों को प्रकाशने वाला केवलज्ञान प्रमाण है। वस्तु के सकल अंशों का कथन करने वाले स्याद्वाद प्रमाण के द्वारा और वस्तु के विकल अंशों का कथन करने वाले नयों के द्वारा वह तत्त्वज्ञान संस्कृत होता है। अथवा प्रमाण तो सकलादेशी वाक्य से संस्कृत है और द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक दो नय विकलादेशी वाक्यों के द्वारा संस्कार प्राप्त हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण विवादों के निराकरण से यह सिद्धान्त प्राप्त हो जाता है कि पाँचों ज्ञान और नय दोनों ही प्रमाण हैं। इस प्रकार कारिका का व्याख्यान किया जायेगा, तब तो सूत्र से आयी हुई बाधा का परिहार हो ही जाता है।

शंका - दूसरे विद्वान् के द्वारा व्याख्यान करने पर भी कारिका की सूत्र से बाधा नहीं आती है क्योंकि ''क्रमभावि च'' कारिका में पड़े हुए च शब्द के द्वारा मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का संग्रह हो जाता है। ऐसी दशा में **श्री समन्तभद्रस्वामी** की कारिका द्वारा भी पाँचों ज्ञानों को प्रमाणता प्राप्त हो जाती है।

समाधान - इस शंका का निराकरण कर इसमें होने वाले दोष कहते हैं–

'च' शब्द के द्वारा मति आदि ज्ञानों का संग्रह हो जाने से इस कारिका के वाक्य का उस सूत्र से विरोध क्यों नहीं होता है? उन मति आदि ज्ञानों की अक्रम से उत्पत्ति हो जाती है, यह तुम्हारा सिद्धान्त वचन के उच्चारण बिना कैसे प्राप्त हो सकता है? अर्थात् - 'च' शब्द से मति आदि का संग्रह तो हो जायेगा किन्तु ज्ञानों का एक साथ होना बिना कहे ही कारिका से कैसे निकल सकता है? श्री समन्तभद्र आचार्य ने 'क्रमभावि' शब्द तो कहा है किन्तु अक्रमभावि शब्द नहीं कहा है अतः तुम्हारा व्याख्यान ठीक नहीं है॥११॥

वादी कहता है कि हम क्रम से होने वाले तथा स्याद्वाद नय से संस्कृत श्रुतज्ञान और 'च' शब्द से संगृहीत क्रमपूर्वक होने वाले मति आदि ज्ञान प्रमाण हैं, ऐसा व्याख्यान नहीं करते हैं जिससे कि जैनों का क्षायोपशमिक ज्ञानों के क्रमभावीपन का मन्तव्य तो सिद्ध हो जाय और हम पर-वादियों द्वारा माना गया उन मति आदि ज्ञानों का अक्रम से होजानापन वचन के बिना प्राप्त नहीं हो सके।

मत्यादिज्ञानमिति व्याख्यानं क्रियते सूत्रबाधापरिहारस्यैवं प्रसिद्धेरिति चेत्, नैवमितिवचनात् सूत्रान्मत्यादिज्ञानमक्रमभाविप्रकाशनाद्विना लब्धुमशक्तेः।

ननु बह्वादिसूत्रं मतिज्ञानयौगपद्यप्रतिपादकं तावदस्तीति शंकामुपदर्श्य प्रत्याचष्टे–

बह्वाद्यवग्रहादीनामुपदेशात्सहोद्भवः। ज्ञानानामिति चेन्नैवं सूत्रार्थानवबोधतः ॥१२॥
बहुष्वर्थेषु तत्रैकोवग्रहादिरितीष्यते। तथा च न बहूनि स्युः सहज्ञानानि जातुचित् ॥१३॥

कथमेवमिदं सूत्रमेकस्य ज्ञानस्यैकत्र सहभावं प्रकाशयन्न विरुद्ध्यते इति चेदुच्यते–

शंका – तुम कारिका का कैसा व्याख्यान करते हो? इसका **उत्तर** यह है कि स्याद्वादवाक्य और नय वाक्यों से संस्कार प्राप्त जो ज्ञान है वह श्रुतज्ञान तो क्रमभावी है क्योंकि शब्दों की योजना क्रम से ही होती है अतः शब्दसंयुक्त श्रुतज्ञान तो क्रमभावी है और 'च' शब्द से गृहीत अक्रम से होने वाले मति आदि ज्ञान भी प्रमाण हैं। इस प्रकार कारिका का व्याख्यान किया जाता है ऐसा अर्थ करने पर उमास्वामी महाराज के सूत्र से आने वाली बाधा के परिहार की प्रसिद्धि हो जाती है। इस प्रकार परवादियों के कहने पर आचार्य कहते हैं कि यह कथन युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि मति आदि ज्ञान अक्रम से (एक साथ भी) हो जाते हैं। इस तत्त्व को कहने वाले सूत्रवचन या कारिका वचन के बिना ही अर्थ प्राप्त नहीं हो सकता है।

मति ज्ञानों के युगपत् होने का प्रतिपादन करने वाला **"बहुबहुविधक्षिप्रा"** इत्यादि सूत्र तो विद्यमान है ही। इस प्रकार की आशंका को दिखलाकर **श्री विद्यानन्द आचार्य** इस शंका का खण्डन करते हैं- बहु, बहुविध आदि पदार्थों के अवग्रह, ईहा आदि ज्ञानों के उपदेश से कई ज्ञानों का एक साथ उत्पन्न होना सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार नहीं कहना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार कहने वाले को सूत्र के वास्तविक अर्थ का ज्ञान नहीं है। बहुत से अर्थों में या बहुत जाति के अनेक अर्थों में एक अवग्रह, एक ईहा ज्ञान, आदि होते हैं। इस प्रकार उस सूत्र का अर्थ अभीष्ट है। उस प्रकार ऐसा होने पर कदाचित् भी एक साथ बहुत ज्ञान नहीं हो सकते ॥१२-१३॥

एक समय में एक ही ज्ञान का सद्भाव मानने पर एक आत्मा में एक समय में अनेक ज्ञानों के साथ-साथ होने का कथन करने वाला **"एकादीनि भाज्यानि"** इत्यादि सूत्र विरुद्ध क्यों नहीं होगा? अर्थात् एक समय में एक ही ज्ञान होता है, ऐसा मानने पर एक साथ चार ज्ञान हो सकते हैं यह सूत्र विरुद्ध पड़ेगा। इस प्रकार शंका करने पर आचार्य समाधान करते हैं –

ज्ञान की लब्धिस्वरूप शक्तियों की विवक्षा करने से इस सूत्र द्वारा दो, तीन, चार ज्ञानों का सहभाव कथन कर देना विरुद्ध नहीं पड़ता है क्योंकि स्याद्वादसिद्धान्त की नीति को जानने वाले विद्वानों के यहाँ कथंचित् यानी किसी क्षयोपशम की अपेक्षा से कितने ही ज्ञानों का अक्रम से उत्पन्न होना विरुद्ध नहीं है।

भावार्थ – जैसे सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, साहित्य को जानने वाला विद्वान् सोते समय, खाते, पीते, खेलते समय भी उक्त विषयों की व्युत्पत्ति सहित है, किन्तु पढ़ाते समय या व्याख्यान करते समय एक ही विषय के ज्ञान से उपयुक्त होते हैं।

शक्त्यर्पणात्तु तद्भावः सहेति न विरुध्यते। कथंचिदक्रमोद्भूतिः स्याद्वादन्यायवेदिनाम् ॥१४॥

क्षायोपशमिकज्ञानानां हि स्वावरणक्षयोपशमयौगपद्यशक्तेः सहभावोऽस्त्येकत्रात्मनि योग इति कथञ्चिदक्रमोत्पत्तिर्न विरुध्यते सूत्रोक्ता स्याद्वादन्यायविदां। सर्वथा सहभावयोरनभ्युपगमाच्च न प्रतीतिविरोधः शक्त्यात्मनैव हि सहभावो नोपयुक्तात्मनानुपयुक्तात्मना वा सहभावो न शक्त्यात्मनापीति प्रतीतिसिद्धं। सहोपयुक्तात्मनापि रूपादिज्ञानपंचकप्रादुर्भावमुपयन्तं प्रत्याह–

शष्कुलीभक्षणादौ तु रसादिज्ञानपंचकम्। सकृदेव तथा तत्र प्रतीतेरिति यो वदेत् ॥१५॥

अतः मति आदि ज्ञानों में स्यात् क्रमः, स्यात् अक्रमः, स्यात् उभयं, स्यात् अवक्तव्यं, स्यात्क्रम-अवक्तव्यं, स्यात् अक्रम-अवक्तव्यं, स्यात् क्रम अक्रम-अवक्तव्यं यह सप्तभंगी प्रक्रिया लगा लेनी चाहिए ॥१४॥

क्षायोपशमिक चार ज्ञानों की अपने-अपने आवरण करने वाले ज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम का युगपत् होने से शक्ति का सहभाव एक आत्मा में विद्यमान है। किन्तु उपयोगात्मक ज्ञानों का सहभाव नहीं है। इस प्रकार उन ज्ञानों की इस सूत्र में कही गयी अक्रम से उत्पत्ति तो स्याद्वाद न्याय को जानने वाले विद्वानों के यहाँ विरुद्ध नहीं होती है। शक्ति और उपयोग की अपेक्षा इस सूत्र का और **"एकदा न द्वावुपयोगौ"** इस वाक्य का कोई विरोध नहीं है। जैनों ने सर्वथा ज्ञानों के सहभाव और सर्वथा ज्ञानों के असहभाव को स्वीकार नहीं किया है। शक्ति रूप से ज्ञानों का सहभाव मानना प्रमाण प्रसिद्ध प्रतीतियों से विरुद्ध नहीं है। उपयुक्तस्वरूप ज्ञानों का सहभाव एक समय में नहीं है अथवा उपयुक्तस्वरूप ज्ञानों का असहभाव है। शक्तिस्वरूप भी असहभाव हो भी सकता है और नहीं भी। यह सिद्धान्त प्रतीतियों से सिद्ध है।

जो वादी उपयोगरूप से भी रूप, रस आदि पाँच ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं, उनके प्रति आचार्य कहते हैं -

पूड़ी आदि के भक्षण, सूंघने, छूने आदि में गन्ध आदि पाँचों ज्ञानों का एक ही समय में ज्ञान होना प्रतीत हो रहा है। अतः उपयोग स्वरूप भी अनेक ज्ञान एक समय में हो सकते हैं। ऐसा कहनेवालों को आचार्य कहते हैं कि उस विद्वान् के यहाँ उन पाँचों ज्ञानों की स्मृतियाँ विशेषता रहित होने से एक साथ क्यों नहीं हो जाती हैं? अर्थात् अनुभव एक साथ पाँच होते हैं, तो स्मृतियाँ भी एक साथ पाँच होनी चाहिए। अनुभव के अनुसार स्मृतियाँ हुआ करती हैं। किसी काल में किसी एक व्यक्ति को कहीं भी इस प्रकार एक समय में अनेक ज्ञानों की संवित्ति से वहाँ पूड़ी भक्षण आदि में उन रसादि के पाँच ज्ञानों के एक साथ उत्पन्न होने की व्यवस्था करते हो? अथवा सदा सम्पूर्ण व्यक्तियों के सभी ऐसे स्थलों पर इस प्रकार संवित्तियों से पाँचों ज्ञानों का साथ हो जाना स्वीकार करते हो? प्रथमपक्षानुसार किसी को कहीं कभी वैसा ज्ञान होने से तो यथार्थ व्यवस्था नहीं हो सकती। सभी व्यक्तियों को सदा ऐसे सभी स्थलों पर रस आदि के वे पाँच ज्ञान एक साथ उत्पन्न नहीं होते हैं। जैसे कचौड़ी भक्षण कर चुकने पर रूप, रस आदि की स्मृतियाँ क्रम से ही होती हैं। इस प्रकार रूपादि के पाँच ज्ञानों का भी क्रम से उत्पन्न होना देखा जाता है। पूड़ी सम्बन्धी

तस्य तत्स्मृतयः किन्न सह स्युरविशेषतः। तत्र तादृक्षसंवित्तेः कदाचित्कस्यचित्क्वचित्।।१६।।
सर्वस्य सर्वदात्वे तद्रसादिज्ञानपंचकम्। सहोपजायते नैव स्मृतिवत्तत्क्रमेक्षणात्।।१७।।
क्रमजन्म क्वचिद् दृष्ट्वा स्मृतीनामनुमीयते। सर्वत्र क्रमभावित्वं यद्यन्यत्रापि तत्समं।।१८।।
पंचभिर्व्यवधानं तु शष्कुलीभक्षणादिषु। रसादिवेदनेषु स्याद्यथा तद्वत्स्मृतिष्वपि।।१९।।
लघुवृत्तेर्न विच्छेदः स्मृतीनामुपलक्ष्यते। यथा तथैव रूपादिज्ञानानामिति मन्यताम्।।२०।।
असंख्यातैः क्षणैः पद्मपत्रद्वितयभेदनम्। विच्छिन्नं सकृदाभाति येषां भ्रान्तैः कुतश्चन।।२१।।

रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, रस ये पाँच ज्ञान क्रम से होते हैं। शीघ्र - शीघ्र प्रवृत्ति हो जाने से संस्कारवश आतुर प्राणी युगपत् कह देता है।।१५-१६-१७।।

रूप आदि के ज्ञानों की उत्पत्ति को मान लेते हैं, किन्तु उनकी स्मृतियाँ क्रम से ही मानी जाती हैं। स्मृतियों को क्रम से उत्पन्न हुई देखकर सभी स्थलों पर स्मृतियों के क्रम से होने का अनुमान कर लिया जाता है। आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार स्मृतियों का होना क्रमभावी माना जायेगा तब तो सभी रूप आदिक पाँच अन्य ज्ञानों में भी वह क्रम से उत्पन्न होना समान है। स्मृति और अनुभवों के क्रम से उत्पाद होने में कोई अन्तर नहीं है। अतः ज्ञानों को भी क्रम मानना चाहिए।।१८।।

जिस प्रकार पूड़ीभक्षण आदि के काल में हुई उनकी स्मृतियों में पाँच के द्वारा व्यवधान पड़ जाता है, उन्हीं के समान कचौड़ी भक्षण आदि में हुए रस, गन्ध आदि के ज्ञानों में भी पाँचों के द्वारा व्यवधान पड़ जाएगा। अतः ज्ञानों में काल कृत पाँच व्यवधान पड़ जाने से ही पाँच ज्ञानपना व्यवस्थित है।।१९।।

शीघ्र-शीघ्र लाघव से प्रवृत्ति हो जाने के कारण स्मृतियों का मध्यवर्ती अन्तराल जिस प्रकार नहीं दीख पड़ता है, उसी प्रकार कचौड़ी भक्षण आदि में रूप, रस आदि के पाँच ज्ञानों का व्यवधान नहीं दीख रहा है अर्थात् - स्मृतियों के समान ज्ञानों में भी मध्यवर्ती अन्तराल पड़ रहा है। पाँचों ज्ञान एक साथ नहीं होते हैं, क्रम से ही उत्पन्न होते हैं।।२०।।

कमल के पत्तों की गड्डी को सूचि द्वारा भेद करना असंख्यात समयों से व्यवहित होने पर भी किसी कारण से भ्रान्तिवश यहाँ पद्म पत्रों का भिदना एक समय में दीख रहा है, उन विद्वानों के यहाँ रूप, रस आदि का ज्ञान पाँच समयों से व्यवहित होने पर भी विशेष भ्रम से अव्यवहित सरीखा दीख रहा है, ऐसा क्यों नहीं माना जाता है?

भावार्थ - कमल के दश पत्रों को छेदने में तो जो विद्वान् नौ समयों का व्यवधान मानते हैं उनको *रूप आदि के ज्ञानों में व्यवधान मानना अनिवार्य होगा। वस्तुतः जैनसिद्धान्तानुसार दश पत्र क्या करोड़ों* तर ऊपर रखे हुए पत्रों को एक ही समय में सुई आदि से छेदा जा सकता है। एक समय में सैकड़ों योजन तक पदार्थों की गति मानी गई है। एक ही समय में पहले ऊपर के पत्ते का भेदना और पश्चात् नीचे के पत्ते का छिदना हो जाता है। किन्तु रूप आदि का ज्ञान तो पूरा एक-एक समय में ही होगा। पाँच ज्ञान न्यून से

पंचषैः समयैस्तेषां किन्न रूपादिवेदनम्। विच्छिन्नमपि भातीहाविच्छिन्नमिव विभ्रमात् ॥२२॥
व्यवसायात्मकं चक्षुर्ज्ञानं गवि यदा तदा। मतङ्गजविकल्पोऽपीत्यनयोः सकृदुद्भवः ॥२३॥
ज्ञानोदयसकृज्जन्मनिषेधे हन्ति चेन्न वै। तयोरपि सहैवोपयुक्तयोरस्ति वेदनम् ॥२४॥
यदोपयुज्यते ह्यात्मा मतङ्गजविकल्पने। तदा लोचनविज्ञानं गवि मन्दोपयोगहृत् ॥२५॥
तथा तत्रोपयुक्तस्य मतङ्गजविकल्पने। प्रतीयन्ति स्वयं सन्तो भावयन्तो विशेषतः ॥२६॥
समोपयुक्तता तत्र कस्यचित्प्रतिभाति या। साशु संचरणाद्भ्रान्तेर्गोकुञ्जरविकल्पवत् ॥२७॥

न्यून पाँच समयों में होंगे। स्थूल दृष्टि वाले जीवों के पूरी खाते समय भी हुआ एक-एक ज्ञान असंख्यात समयों को घेर लेता है।

अतः प्रतिवादियों द्वारा स्वीकार किए गये **"कमलपत्रशतछेद"** दृष्टान्त की सामर्थ्य से रूप आदि ज्ञानों का विच्छेद सिद्ध किया गया है ॥२१-२२॥

जिस समय गौ में चक्षु इन्द्रियजन्य निर्विकल्पक (निश्चयात्मक) स्वरूप प्रत्यक्षज्ञान होता है, उसी समय हाथी का विकल्पज्ञान भी होता है। अतः इन दो ज्ञानों के एक साथ उत्पन्न हो जाने से जैनों द्वारा माने गये दो ज्ञानों की एक समय में उत्पत्ति के निषेध को खण्डन हो जाता है। अर्थात् दो ज्ञान एक साथ हो जाते हैं। ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि उपयोग को प्राप्त उन गोदर्शन और गजविकल्प दोनों ज्ञानों का एक साथ अनुभव नहीं हो सकता है। जिस समय आत्मा हाथी का विकल्पज्ञान करने में उपयुक्त होता है, उस समय गौ में हुआ नेत्रजन्यज्ञान मन्द उपयोगी होता हुआ नष्ट हो जाता है। अतः निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों ज्ञान क्रम से ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥२३-२४-२५॥

तथा जिस समय आत्मा गौ के चाक्षुषप्रत्यक्ष करने में उपयोगी है, उस समय हाथी का विकल्पज्ञान करने में मन्द होकर अपने उपयोग का उपसंहार कर रहा है। विशेष रूपों से भावना करने वाले सज्जन इस तत्त्व की स्वयं प्रतीति करते हैं। किसी पुरुष को उन दोनों ज्ञानों में जो समानकाल उपयुक्तपना प्रतिभासित है, वह शीघ्र-शीघ्र ज्ञानों का संचार हो जाने के वश हुई भ्रान्ति से देखा गया है। जैसे गौ का विकल्पज्ञान और हाथी का विकल्प ज्ञान। यद्यपि ये दो विकल्पज्ञान क्रम से होते हैं, फिर भी शीघ्र-शीघ्र आगे-पीछे हो जाने से भ्रमवश एक काल में हुए समझ लिये जाते हैं ॥२६-२७॥

शंका - उक्त प्रकार से एक समय में एक ही ज्ञान मान लेने पर घोड़े का विकल्पज्ञान करते समय गौ के दर्शन की सविकल्पता को स्याद्वादसिद्धान्त के जानने वाले विद्वानों के द्वारा कहीं कैसे सिद्ध किया जाएगा? अन्यथा, यानी, गौ दर्शन को उसी समय यदि सविकल्पक नहीं माना जायेगा तो क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापणशक्ति, आदि के दर्शनों के समान वह गौदर्शन भी सविकल्प हो जायेगा तथा संस्कारों द्वारा स्मृति का कारण नहीं हो सकेगा। अर्थात् - वस्तुभूत क्षणिकत्व का ज्ञान तो निर्विकल्पक दर्शन से ही हो चुका था, फिर भी नित्यत्व के समारोह को दूर करने के लिए सत्त्वहेतु द्वारा पदार्थों के क्षणिकपने को अनुमान से सिद्ध किया जाता है। क्षणिकत्व आदि के दर्शनों का सविकल्पकपना नहीं होने के कारण पीछे उनकी

नन्वश्वकल्पनाकाले गोदृष्टेः सविकल्पताम्। कथमेवं प्रसाध्येत क्वचित्स्याद्वाद्वेदिभिः ॥२८॥
संस्कारस्मृतिहेतुर्या गोदृष्टिः सविकल्पिका। सान्यथा क्षणभंगादि दृष्टिवन्न तथा भवेत् ॥२९॥
इत्याश्रयोपयोगायाः सविकल्पत्वसाधनं। नेत्रालोचनमात्रस्य नाप्रमाणात्मनः सदा ॥३०॥
गोदर्शनोपयोगेन सहभावः कथं न तु। तद्विज्ञानेऽस्य योगस्य नार्थव्याघातकृत्तदा ॥३१॥
इत्यचोद्यं दृशस्तत्रानुपयुक्तत्वसिद्धितः। पुंसो विकल्पविज्ञानं प्रत्येवं प्रणिधानतः ॥३२॥
सोपयोगं पुनश्चक्षुर्दर्शनं प्रथमं ततः। चक्षुर्ज्ञानं श्रुतं तस्मात्तत्रार्थेऽन्यत्र च क्रमात् ॥३३॥

स्मृतियाँ नहीं हो पाती हैं। यदि जैन जन गौदर्शन के समय अश्व का सविकल्पज्ञान नहीं मानेंगे तो पश्चात् गौ का स्मरण नहीं हो सकता है। दोनों के एक साथ मान लेने पर तो गौ दर्शन में अश्वविकल्प से सविकल्पपना आ जाता है और वह संस्कार जमाता हुआ पीछे काल में होने वाली स्मृति का कारण हो जाता है। अतः बौद्धों के मन्तव्यानुसार दर्शनज्ञान और विकल्प ज्ञान दोनों का यौगपद्य बन सकता है॥२८-२९॥

इस प्रकार अश्वविकल्प के आश्रय से होने वाले उपयोगस्वरूप गोदृष्टि (निर्विकल्पज्ञान) को सविकल्पकपना साधना ठीक है। अप्रमाणस्वरूप हो रहे नेत्रजन्य केवल आलोचन (मात्र दर्शन) को सर्वदा सविकल्पकपना नहीं साधा जाता है। अतः उस उपयोगात्मक सविकल्पक विज्ञान का गोदर्शन स्वरूप उपयोग के साथ तो एक काल में सद्भाव क्यों नहीं होगा? यानी दोनों ज्ञान एक साथ रह सकते हैं। उस समय अर्थ का व्याघात करने वाला कोई दोष नहीं आता है॥३०-३१॥

समाधान - इस प्रकार बौद्धों की शंका समीचीन नहीं है। क्योंकि अश्व का विकल्पज्ञान करते समय गौदर्शन के अनुपयुक्तपने की सिद्धि हो जाती है। ज्ञाता पुरुष का विकल्पज्ञान के प्रति ही एकाग्र मनोव्यापार लगा रहता है। आत्मा के उपयोग क्रम से ही होते हैं। पहिले उपयोग सहित चक्षु इन्द्रियजन्य दर्शन होता है, वह पदार्थों की सत्ता का सामान्य आलोकन कर लेता है। उसके पीछे चक्षुइन्द्रियजन्य मतिज्ञान होता है जो कि रूप, आकृति और घट आदि की विकल्पना करता हुआ उनको विशेषरूप से जान लेता है। उसके भी पीछे उस अर्थ में या उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य पदार्थों में क्रम से श्रुतज्ञान होता है।

क्वचित् चक्षुदर्शन, चाक्षुष अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान से उपयोग क्रम से अनेक क्षणों में उत्पन्न हैं। आत्मा का एक समय में एक ही उपयोग हो सकता है॥३२-३३॥

जीवों के जिस प्रकार निराकार दर्शन और साकारज्ञान उपयोग की शीघ्र वृत्ति हो जाने से स्थूलबुद्धि पुरुषों के यहाँ एक साथ उत्पन्न हो जाने की बुद्धि उत्पन्न कर देते हैं, उसी प्रकार गौदर्शन और अश्वविकल्प या चाक्षुष मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये भी उपयोग क्रम से होते हुए भी शीघ्र हो जाने से एक साथ दोनों की उत्पत्ति हो जाने में बुद्धि को प्रकट कर देते हैं। यह निर्णीत सिद्धान्त है।

प्रादुर्भवत्करोत्याशु वृत्या सह जनौ धियं। यथा दृग्ज्ञानयोर्नृणामिति सिद्धान्तनिश्चयः ॥३४॥

जननं जनिरिति नायमिगन्तोऽयं यतो जिरिति प्रसज्यते किं तर्हि, औणादिकइकारोऽत्र क्रियते बहुलवचनात्। उणादयो बहुलं च सन्तीति वचनात् इकारादयोऽप्यनुक्ताः कर्तव्या एवेति सिद्धं जनिरिति। तत्र जनौ सहधियं करोत्याशुवृत्त्या चक्षुर्ज्ञानं तच्छ्रुतज्ञानं च क्रमादभवदपि कथंचिदिति हि सिद्धान्तविनिश्चयो न पुनः सह क्षायोपशमिकदर्शनज्ञाने सोपयोगे मतिश्रुतज्ञाने वा येन सूत्राविरोधो न भवेत्। न चैतावता परमतसिद्धिस्तत्र सर्वथा क्रमभाविज्ञानव्यवस्थितेरिह कथंचित्तथाभिधानात्॥

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

भावार्थ - छद्मस्थ जीवों के लब्धिस्वरूप एक साथ ४ ज्ञान, ३ दर्शन हो सकते हैं, परन्तु उपयोगात्मक एक समय में एक ही रहता है॥३४॥

उक्त कारिका में कहा गया जनि शब्द 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से भाव में 'इ' प्रत्यय कर बनाया गया है। उपज जाना जनि कहलाता है। यह जनि शब्द इक् प्रत्यय अन्त में करके नहीं बनाया गया है। जिससे कि इन् भाग 'टि' का लोप होकर 'जि' इस प्रकार रूप बन जाने का प्रसंग प्राप्त होता।

शंका - 'जनि' यहाँ कौनसा प्रत्यय किया गया है?

समाधान - यहाँ उणादि प्रत्ययों में कहा गया इकार प्रत्यय किया गया है। "उणादयो बहुलं" यहाँ बहुल शब्द के कथन से शब्दसिद्धि के उपयोगी अनेक प्रत्यय कर लिये जाते हैं। उण्, किरच्, उ, ई, रु, इत्यादि बहुत से प्रत्यय हैं, ऐसा वैयाकरण ने कहा है। अतः सूत्रों में कण्ठोक्त नहीं कहे गये भी इकार आदिक प्रत्यय धातुओं से कर लेने ही चाहिए। इस प्रकार 'जनि' यह शब्द सिद्ध होता है।

इस उत्पत्ति में कथंचित् क्रम से प्रकट भी चक्षुइन्द्रियजन्य और श्रुत ये दोनों ज्ञान चक्रभ्रमण समान शीघ्रवृत्ति हो जाने से साथ उत्पन्न हुए की बुद्धि कर देते हैं। इस प्रकार जैन सिद्धांत का विशेषरूप से निश्चय है। किन्तु फिर आवरणों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए उपयोगात्मक दर्शन और ज्ञान अथवा उपयोग सहित मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक साथ नहीं होते हैं जिससे श्री समन्तभद्र स्वामी की कारिका का श्री उमास्वामी के द्वारा कहे गये सूत्र के साथ विरोध नहीं होता है। अर्थात् - दोनों आचार्यों के वाक्य अविरुद्ध हैं। इतना कह देने से बौद्ध, नैयायिक आदि दूसरे मतों की सिद्धि नहीं हो जाती है, क्योंकि उन्होंने सभी प्रकार क्रम से होने वाले ज्ञानों की व्यवस्था की है और यहाँ स्याद्वाद सिद्धान्त में किसी अपेक्षा से क्रम से और अक्रम से उपयोगों का उत्पन्न होना कहा है। अतः अनुपयोगात्मकज्ञान एक आत्मा में एक को आदि लेकर चार ज्ञान तक हो जाते हैं।

यह सिद्धान्त निश्चित है। परन्तु उपयोगात्मक एक ही ज्ञान रहता है, पूर्वोक्त मति आदि ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही हैं कि अन्यथा भी हैं? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं -

मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यादर्शन के संसर्ग से विपरीत भी होते हैं॥३१॥

कस्याः पुनराशंकाया निवृत्त्यर्थं कस्यचिद्वा सिद्ध्यर्थमिदं सूत्रमित्याह–

अथ ज्ञानापि पंचानि व्याख्यातानि प्रपंचतः। किं सम्यगेव मिथ्या वा सर्वाण्यपि कदाचन ॥१॥
कानिचिद्वा तथा पुंसो मिथ्याशंकानिवृत्तये। स्वेष्टपक्षपक्षसिद्ध्यर्थं मतीत्याद्याह संप्रति ॥२॥

पूर्वपदावधारणेन सूत्रं व्याचष्टे–

मत्यादयः समाख्यातास्त एवेत्यवधारणात्। संगृह्येते कदाचिन्न मनःपर्यायकेवले ॥३॥
नियमेन तयोः सम्यग्भावनिर्णयतः सदा। मिथ्यात्वकारणाभावाद्विशुद्धात्मनि सम्भवात् ॥४॥
दृष्टिचारित्रमोहस्य क्षये वोपशमेऽपि वा। मनःपर्ययविज्ञानं भवन्मिथ्या न युज्यते ॥५॥
सर्वघातिक्षयेऽत्यन्तं केवलं प्रभवत्कथम्। मिथ्या संभाव्यते जातु विशुद्धिं परमं दधत् ॥६॥

कौन सी आशंका की निवृत्ति के लिए अथवा किस नव्य, भव्य अर्थ की सिद्धि के लिए यह **"मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च"** सूत्र की रचना की गई है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं -

विस्तार से पाँचों ही ज्ञानों का व्याख्यान किया जा चुका है। उसमें किसी का इस प्रकार शंकारूप विचार है कि क्या सभी ज्ञान समीचीन ही हैं अथवा कभी वे ज्ञान मिथ्या होते हैं? इस प्रकार मिथ्या आशंकाओं की निवृत्ति के लिए और अपने इष्ट सिद्धान्त की सिद्धि के लिए **श्री उमास्वामी आचार्य देव** ने इस समय **"मतिश्रुतावधयो"** इस सूत्र की रचना की है॥१-२॥

मति, श्रुत, अवधिज्ञान ही विपरीत हो जाते हैं, इस प्रकार पहले वाक्य के साथ "एवकार" लगाकर अवधारण कर सूत्र कहा गया है। अर्थात् मति, श्रुत और अवधिज्ञान ही मिथ्याज्ञान होते हैं। अन्य मनःपर्यय, केवलज्ञान मिथ्या नहीं होते हैं। मति आदि ज्ञान मिथ्या ही होते हैं। ऐसा नहीं कहना क्योंकि सम्यग्दृष्टि के ये ज्ञान समीचीन होते हैं। यही कहते हैं। वे मति आदि ज्ञान ही मिथ्याज्ञानरूप कहे गये हैं।

इस प्रकार पूर्व अवधारण करने से मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान कभी भी विपर्ययज्ञान से संगृहीत नहीं होते हैं क्योंकि उन मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान में सदा ही नियम से समीचीन भाव का निर्णय है। ये दो ज्ञान मिथ्यात्व कारण का अभाव होने से विशेषरूप से शुद्ध आत्मा में उत्पन्न होते हैं। अतः इनके मिथ्यापन के सम्पादन का कोई कारण नहीं है॥३-४॥

दर्शनमोहनीय कर्म और चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय या उपशम अथवा क्षयोपशम के होने पर होने वाला मनःपर्यय ज्ञान कभी भी मिथ्या नहीं हो सकता है।

भावार्थ - सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के सहभावी मनःपर्ययज्ञान का होना सम्भव है। अतः ज्ञानों को मिथ्या करने वाले कारणों का सहवास नहीं होने से मनःपर्ययज्ञान समीचीन ही है, मिथ्या नहीं॥५॥

सर्वघाति प्रकृतियों के अत्यन्त क्षय हो जाने पर उत्पन्न होने वाला और परम विशुद्धि का धारक केवलज्ञान भी मिथ्यारूप कैसे हो सकता है? ॥६॥

मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयं तु स्यात्कदाचन। मिथ्येति ते च निर्दिष्टा विपर्यय इहाङ्गिनाम् ॥७॥
स च सामान्यतो मिथ्याज्ञानमत्रोपवर्ण्यते। संशयादिविकल्पानां त्रयाणां संगृहीयते ॥८॥
समुच्चिनोति चस्तेषां सम्यक्त्वं व्यावहारिकम्। मुख्यं च तदनुक्तौ तु तेषां मिथ्यात्वमेव हि॥९॥
ते विपर्यय एवेति सूत्रे चेन्नावधार्यते। चशब्दमन्तरेणापि सदा सम्यक्त्वमत्वतः ॥१०॥
मिथ्याज्ञानविशेषः स्यादस्मिन्पक्षे विपर्ययम्। संशयाज्ञानभेदस्य चशब्देन समुच्चयः ॥११॥

अत्र मतिश्रुतावधीनामविशेषेण संशयविपर्यासानध्यवसायरूपत्वसक्तौ यथाप्रतीति तद्दर्शनार्थमाह–

प्राणियों के मति, श्रुत, अवधि ये तीन ज्ञान तो कभी-कभी मिथ्या हो जाते हैं। अतः मति, श्रुत, अवधि ज्ञान इस प्रकरण में विपर्यय (इस प्रकार) कह दिये हैं॥७॥

इस सूत्र में सामान्यरूप से संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीनों का संग्रह करने के लिए मिथ्याज्ञान मात्र का वर्णन किया गया है।

अर्थात् - 'विपर्ययः' यह जाति में एक वचन है। अतः मिथ्याज्ञानों के तीनों विशेषों का संग्रह हो जाता है॥८॥

'च' अव्यय के समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग, समाहार आदि कितने ही अर्थ हैं। वहाँ 'च' शब्द उन मति, श्रुत, अवधिज्ञानों के व्यवहार में प्रतीत हो रहे सम्यक्पने का और मुख्य समीचीनपने का समुच्चय करने वाला है। परस्पर में नहीं अपेक्षा रखने वाले अनेक का एक में अन्वय कर देना समुच्चय है। किन्तु सूत्र में 'च' शब्द के नहीं कहने पर तो उन तीनों ज्ञानों का नियम से मिथ्यापन ही कहा जाता है॥९॥

'वे तीनों ज्ञान विपर्यय ही हैं।' इस प्रकार विधेयदल में एवकार लगाकर अवधारण नहीं करना चाहिए। क्योंकि सूत्र में कहे हुए 'च' शब्द के बिना भी सर्वदा उन तीनों ज्ञानों का सम्यक्त्व सहितपना ज्ञात हो जाता है। **भावार्थ** - उत्तरदल में यदि एवकार नहीं लगाया जाए तब तो 'च' के बिना भी तीनों ज्ञानों का समीचीनपना ज्ञात हो जाता है, क्योंकि पूर्व अवधारणा से तो मनःपर्यय और केवलज्ञान के मिथ्यापन का निषेध किया गया था। मति, श्रुत, अवधि ज्ञानों का समीचीनपना निषिद्ध नहीं किया गया है॥१०॥

इस पक्ष में सूत्रोक्त विपर्यय शब्द का अर्थ सामान्य मिथ्याज्ञान नहीं अपितु मिथ्याज्ञानों के विशेष भेद भ्रान्ति रूप विपर्यय ज्ञान को ग्रहण करना चाहिए जिसका कि लक्षण **"विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः"** पदार्थ से सर्वथा विपरीत पदार्थ की एक कोटि का निश्चय करना है। 'च' शब्द से मिथ्याज्ञान के अन्य शेष बचे हुए संशय और अज्ञान इन दो भेदों का समुच्चय कर लेना चाहिए॥११॥

इस प्रकरण में सूत्र के सामान्य अर्थ अनुसार मति, श्रुत, अवधि इन तीनों ज्ञानों को विशेषता रहित संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप विपर्ययपने का प्रसंग आता है। प्रतीति अनुसार जिस-जिस ज्ञान में विपर्ययज्ञान के जो दो, तीन आदि भेद सम्भव हैं उनको दिखलाने के लिए **श्री विद्यानन्द आचार्य** वार्तिक द्वारा कथन करते हैं -

तत्र त्रिधापिं मिथ्यात्वं मतिज्ञाने प्रतीयते। श्रुते च द्विविधं बोध्यमवधौ संशयाद्विना ॥१२॥
तस्येन्द्रियमनोहेतुसमुद्भूतिनियामतः। इन्द्रियानिन्द्रियाजन्यस्वभावश्चावधिः स्मृतः ॥१३॥

मतौ श्रुते च त्रिविधं मिथ्यात्वं बोद्धव्यं मतेरिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तकत्वनियमात्। श्रुतस्यानिन्द्रिय-निमित्तकत्वनियमात् द्विविधमवधौ संशयाद्विना विपर्ययानध्यवसायावित्यर्थः। कुतः संशयादिन्द्रियानिन्द्रियाजन्य-स्वभावः प्रोक्तः। संशयो हि चलिताप्रतिपत्तिः, किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इति। स च सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षादुभयविशेषस्मरणात् प्रजायते। दूरस्थे च वस्तुनि इन्द्रियेण सामान्यतश्च सन्निकृष्टे सामान्यप्रत्यक्षत्वं विशेषाप्रत्यक्षत्वं च दृष्टं मनसा च पूर्वानुभूततदुभयविशेषस्मरणेन, न चावध्युत्पत्तौ क्वचिदिन्द्रियव्यापारोऽस्ति मनोव्यापारो वा स्वावरणक्षयोपशमविशेषात्मना सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनः

इन तीनों ज्ञानों में से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में तो तीनों प्रकार का मिथ्यापना प्रतीत होता है तथा अवधिज्ञान में संशय के बिना विपर्यय और अनध्यवसायस्वरूप दो प्रकार का मिथ्यापन जानना चाहिए। क्योंकि वह मतिज्ञान तो नियम से इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है और श्रुतज्ञान मन को निमित्त मानकर उत्पन्न होता है। अतः परतंत्रता से उत्पन्न हुए दोनों ज्ञानों में तीनों प्रकार के मिथ्यापन हो जाते हैं। संशयपना तो इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से उत्पन्न होने पर ही घटित होता है।

किन्तु अवधिज्ञान तो इन्द्रियों और अनिन्द्रिय से उत्पन्न न होकर केवल क्षयोपशम की अपेक्षा रखनेवाले आत्मा से ही उत्पन्न होता है अतः इसके विषय में संशय नहीं हो सकता है॥१२-१३॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में तीनों प्रकार का मिथ्यात्व समझ लेना चाहिए, क्योंकि मतिज्ञान के निमित्त कारण इन्द्रिय और अनिन्द्रिय हैं, ऐसा नियम है। तथा श्रुतज्ञान का निमित्तकारण नियम से मन माना गया है। किन्तु अवधिज्ञान में संशय के बिना दो प्रकार का मिथ्यात्व जानना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि अवधिज्ञान में विपर्यय और अनध्यवसाय ये दो मिथ्यात्व हो सकते हैं, संशय नहीं।

शंका - अवधिज्ञान में संशय के बिना दो ही मिथ्यात्व क्यों होते हैं?

समाधान - इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से नहीं उत्पन्न होना है स्वभाव जिसका, ऐसा अवधिज्ञान कहा गया है। चलायमान प्रतिपत्ति का होना संशय है, जैसे कि कुछ अंधेरा होने पर दूरवर्त्ती ऊँचे कुछ मोटे पदार्थ में क्या यह ठूंठ है? अथवा क्या यह मनुष्य है? इस प्रकार एक वस्तु में विरुद्ध अनेक कोटियों को स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय कहा जाता है। तथा वह संशय ज्ञान सामान्य धर्मों का प्रत्यक्ष हो जाने से और विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष नहीं होने से, तथा उन दोनों विशेष धर्मों का स्मरण हो जाने से उत्पन्न होता है। दूर देश में स्थित वस्तु के इन्द्रियों के द्वारा सामान्यरूप से यथायोग्य संनिकर्षयुक्त हो जाने पर सामान्य धर्मों का प्रत्यक्ष होना और विशेष धर्म का प्रत्यक्ष नहीं होना देखा गया है। पूर्व में अनुभूत उन दोनों वस्तुओं के विशेष धर्मों का मन इन्द्रिय द्वारा स्मरण करके स्मरणज्ञान उत्पन्न होता है, तब संशय होता है। अतः संशय के कारण मिल जाने पर मति और श्रुत में तो संशय नाम के मिथ्याज्ञान का भेद सम्भव है किन्तु अवधिज्ञान की उत्पत्ति होने में इन्द्रियों का अथवा मन का व्यापार नहीं होता है। सामान्य का प्रत्यक्ष होने पर और विशेष का प्रत्यक्ष

स्वविषयस्य तेन ग्रहणात्। ततो न संशयात्मावधिः। विपर्ययात्मा तु मिथ्यात्वोदयाद्विपरीतवस्तुस्वभाव-श्रद्धानसहभावात्सम्बोध्यते। तथानध्यवसायात्मापि शु उपयोगसंहरणाद्विज्ञानान्तरोपयोगाद्गच्छत्तृण-स्पर्शवदुत्पाद्यते। दृढोपयोगावस्थायां तु नावधिरनध्यवसायात्मापि कथमेवावस्थितोऽवधिरिति चेत्, कदाचिदनुगमनात्कदाचिदननुगमनात्कदाचिद्वर्धमानत्वात्कदाचिद्धीयमानत्वात्तथा विशुद्धिविपरिवर्त्तमानादव-स्थितावधिरेकेन रूपेणावस्थानान्न पुनरदृष्टोपयोगत्वात्स्वभावपरावर्त्तनेऽपि, तस्य तथा तथा दृढ़ोपयोगत्वा-विरोधात्। कुतः पुनस्त्रिष्वेव बोधेषु मिथ्यात्वमित्याह;–

मिथ्यात्वं त्रिषु बोधेषु दृष्टिमोहोदयाद्भवेद्। तेषां सामान्यतस्तेन सहभावाविरोधतः ॥१४॥

नहीं होने पर तथा विशेष का स्मरण करके संशयज्ञान होता है, वह संशय अवधिज्ञान के विषय में होना संभव नहीं है। वस्तुतः अपने को ढकने वाले अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमविशेष स्वरूप उस अवधिज्ञान के द्वारा अपने विषयभूत सामान्य विशेष धर्मात्मक वस्तु का ग्रहण होता है अर्थात् अवधिज्ञान अपने विषय के विशेष अंशों को भी साथ-साथ अवश्य जान लेता है। अतः अवधिज्ञान संशयस्वरूप नहीं होता है।

मिथ्यात्व कर्म के उदय से वस्तुस्वभाव के विपरीत श्रद्धान में कारणभूत मिथ्यादर्शन के साथ रहने से अवधिज्ञान विपर्ययस्वरूप कहा जाता है अर्थात् जिस आत्मा में मिथ्यादर्शन का उदय है उसका अवधिज्ञान भी विपरीत ज्ञान कहा जाता है।

तथा शीघ्र अपने उपयोग का संकोच करने से या दूसरे विज्ञान में उपयोग के चले जाने से चलते हुए पुरुष के तृण छू जाने पर हुए अनध्यवसाय ज्ञान के समान अवधिज्ञान भी अनध्यवसायस्वरूप उत्पन्न होता है। ज्ञेय विषय में दृढ़ रूप से लगे हुए उपयोग की अवस्था में अवधिज्ञान अनध्यवसायस्वरूप नहीं होता है। उस दशा में केवल एक विपर्यय भेद ही घटित होता है।

इस प्रकार अनध्यवसाय दशा में दृढ़ उपयोग नहीं होने के कारण अवधिज्ञान अवस्थित कैसे समझा जाता है? यानी अवधिज्ञान के छह भेदों में से पाँचवाँ भेद अवस्थित तो अवस्थित नहीं हो पाता है। इस प्रकार प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि कभी-कभी दूसरे देश या दूसरे भव में अनुगमन करने से और कभी नहीं करने से और अवधिज्ञान अनवस्थित है तो भी एकरूप से अवस्थान हो जाने से अवस्थित माना जाता है। फिर दृढ़ उपयोगपना न होने के कारण स्वभाव का परिवर्तन होने से अवस्थितपना नहीं है, जैसे अवधिज्ञान के अनुगामी होना, अननुगामी होना, बढ़ना, घटना होने पर भी दृढ़ उपयोगपने का कोई विरोध नहीं है। अतः विपर्यय या अनध्यवसाय की अवस्था में भी अवस्थित नाम का पाँचवाँ भेद अवधिज्ञान में घटित हो जाता है।

तीनों ही ज्ञानों में मिथ्यापना किस कारण से हो जाता है? ऐसी जानने की इच्छा होने पर आचार्य कहते हैं -

मति, श्रुत, अवधि इन तीनों ज्ञानों में मिथ्यापन दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से होता है, क्योंकि सामान्यरूप से उन तीनों ज्ञानों का उस मिथ्यात्व के साथ सद्भाव पाये जाने का कोई विरोध नहीं है॥१४॥

यदा मत्यादयः पुंसस्तदा न स्याद्विपर्ययः। स यदा ते तदा न स्युरित्येतेन निराकृतम् ॥१५॥
विशेषापेक्षया ह्येषां न विपर्ययरूपता। मत्यज्ञानादिसंज्ञेषु तेषु तस्याः प्रसिद्धितः ॥१६॥

सम्यक्त्वावस्थायामेव मतिश्रुतावधयो व्यपदिश्यन्ते मिथ्यात्वावस्थायां तेषां मत्यज्ञानव्यपदेशात्। ततो न विशेषरूपतया ते विपर्यय इति व्याख्यायते येन सहानवस्थालक्षणो विरोधः स्यात्। किं तर्हि सम्यग् मिथ्यामत्यादिव्यक्तिगतमत्यादिसामान्यापेक्षया ते विपर्यय इति निश्चीयते मिथ्यात्वेन सहभावाविरोधात्तथा मत्यादीनां॥ ननु च तेषां तेन सहभावेऽपि कथं मिथ्यात्वमित्याशंक्योत्तरमाह–

जिस समय आत्माओं के मति, श्रुत, अवधि ज्ञान है (जो समीचीन सम्यक्दृष्टियों के ही पाये जाते हैं), उस समय कोई भी विपर्ययज्ञान नहीं होगा, और जिस समय आत्मा में वह विपर्ययज्ञान है, उस समय उन मति, श्रुत, अवधि ज्ञान में से कोई भी ज्ञान नहीं होंगे। इस प्रकार एकान्तवादियों के कथन का भी इस उक्त कथन से खण्डन कर दिया गया है, ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् मिथ्या और समीचीन सभी भेदों में सामान्यरूप से रहने वाले मति, श्रुत और अवधि ज्ञान पाये जा सकते हैं॥१५॥

विशेष की उपेक्षा करके विचारा जाये तब मति, श्रुत, अवधिज्ञानों का विपर्ययस्वरूप नहीं है, क्योंकि मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंगज्ञान इस प्रकार की विशेष संज्ञा वाले उन ज्ञानों में उस विपर्यय स्वरूपता की प्रसिद्धि है। अर्थात् - जैसे एवंभूतनय से विचारने पर रोगी ही रोगी हुआ है। नीरोग पुरुष रोगी नहीं है। उसी के समान कुमतिज्ञान ही विपर्ययस्वरूप है। सम्यग्दृष्टि के मतिज्ञान विपरीत नहीं है।

इस प्रकार सूत्र के अर्थ का सामान्य और विशेष रूप से व्याख्यान कर लेना चाहिए॥१६॥

सम्यग्दर्शन गुण के प्रकट हो जाने पर सम्यक्त्व अवस्था में ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान कहे जाते हैं। मिथ्यात्व कर्म के उदय होने पर मिथ्यात्व अवस्था में उन ज्ञानों का कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञानरूप से व्यवहार किया जाता है। अतः विशेष रूप से वे मति आदि ज्ञान विपर्ययस्वरूप हैं। इस प्रकार का व्याख्यान नहीं किया जाता है, जिससे कि शीत, उष्ण के समान ''साथ नहीं ठहरना'' इस लक्षणवाला विरोध हो जाता है। अर्थात् - **''मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च''** - इस सूत्र में पड़े हुए मति, श्रुत, अवधि ये शब्द सम्यग्ज्ञानों में ही व्यवहृत होते हैं। उन सम्यग्ज्ञानों का उद्देश्य कर विपर्ययपने का विधान करना विरुद्ध पड़ता है। अतः विशेषरूप से उन मति आदि ज्ञानों को नहीं लेना चाहिए।

शंका - तो फिर किस प्रकार व्याख्यान करना?

समाधान - समीचीन मतिज्ञान और मिथ्या मतिज्ञान, या समीचीन श्रुतज्ञान और मिथ्या श्रुतज्ञान आदि अनेक व्यक्तियों में प्राप्त मतिपन, श्रुतपन, आदि सामान्य की अपेक्षा करके ग्रहण किये गये वे ज्ञान विपर्यय स्वरूप हैं। इस प्रकार निश्चय किया जाता है। क्योंकि मति आदि का मिथ्यात्व के साथ सद्भाव पाये जाने पर कोई विरोध नहीं है।

उन मति आदि ज्ञानों को उस मिथ्यात्व के साथ सहभाव होने पर भी मिथ्यापन कैसे प्राप्त हो जाता है? इस प्रकार किसी की आशंका के उत्तर में आचार्य कहते हैं -

मिथ्यात्वोदयसद्भावे तद्विपर्ययरूपता। न युक्ताग्न्यादिसंपाते जात्यहेम्नो यथेति चेत् ॥१७॥
नाश्रयस्यान्यथाभावसम्यक्परिदृढे सति। परिणामे तदाधेयस्यान्यथा भावदर्शनात् ॥१८॥
यथा सरजसालाम्बूफलस्य कटु किन्न तत्। क्षिप्तस्य पयसो दृष्टः कटुभावस्तथाविधः ॥१९॥
तथात्मनोऽपि मिथ्यात्वपरिणामे सतीष्यते। मत्यादिसंविदां तादृङ्मिथ्यात्वं कस्यचित्सदा ॥२०॥

जात्यहेम्नो माणिक्यस्य चाग्न्यादिर्वा गृहादिर्वा नाहेमत्वममाणिक्यत्वं वा कर्तुं समर्थस्तस्यापरिणामकत्वात्। मिथ्यात्वपरिणतस्तु आत्मा साश्रयीणि मत्यादिज्ञानानि विपर्ययरूपतामापादयति। तस्य तथा परिणामकत्वात्सरजसकटुकालाम्बूवत्स्वाश्रयि पय इति न मिथ्यात्वसहभावेऽपि मत्यादीनां सम्यक्त्वपरित्यागः शङ्कनीयः। परिणामित्वमात्मनोसिद्धमिति चेदत्रोच्यते–

शंका - आत्मा में मिथ्याकर्म के उदय का सद्भाव होने पर ज्ञानों को विपर्ययस्वरूप कहना उचित नहीं है क्योंकि जिस प्रकार अग्नि, कीच, धूलि आदि का सन्निकर्ष होने पर या अग्नि, पानी आदि में गिर जाने पर शुद्ध सोने का विपरीतपना नहीं होता है अर्थात् - अच्छे सोने को आग, पानी या कहीं भी डाल दिया जाए वह लोहा या मिट्टी, कीचड़ नहीं बन जाता है।

समाधान - इस प्रकार शंका नहीं करना चाहिए क्योंकि आश्रय के अन्य प्रकार से परिवर्तनरूप परिणाम के भली प्रकार परिपुष्ट हो जाने पर उस आश्रय के आधेयभूत पदार्थ का अन्य प्रकार से परिणाम होना देखा जाता है ॥१७-१८॥

जैसे रजसहित कटु तुम्बी में रखा हुआ दूध क्या तुम्बी के कटु होने से कटु भाव को प्राप्त नहीं होता है? अपितु अवश्य ही कटु भाव को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार किसी आत्मा के भी मिथ्यात्व परिणाम हो जाने पर मति आदि ज्ञान मिथ्या हो जाते हैं ऐसा सदा इष्ट किया गया है ॥१९-२०॥

किट्ट, कालिमा आदि से रहित स्वच्छ सोने का अग्नि, कीचड़, वायु अथवा पानी आदि पदार्थ अस्वर्णपना करने के लिए समर्थ नहीं हैं।

अथवा माणिक रत्न के अमाणिक्यपने को करने के लिए शूद्रगृह, वस्त्र आदि पदार्थ समर्थ नहीं हैं, क्योंकि उन अग्नि आदि या गृह आदि को स्वर्ण या माणिक्य के विपरिणाम कराने के निमित्त शक्तिप्राप्त नहीं है। किन्तु मिथ्यादर्शन परिणाम से युक्त आत्मा अपने आश्रय में स्थित मति, श्रुत आदि ज्ञानों को विपर्यय स्वरूपपने को प्राप्त करा देती है, क्योंकि उस मिथ्यादृष्टि आत्मा को तीन ज्ञानों की कुज्ञानरूप परिणति कराने में प्रेरक निमित्तपना प्राप्त है। जैसे सत्त्व कड़वी तुम्बी अपने आश्रयप्राप्त दूध को कड़वे रस सहित परिणति करा देती है। अतः मिथ्यादर्शन का सहभाव हो जाने पर मति आदि ज्ञानों के समीचीनपने का परित्याग हो जाना शंका करने योग्य नहीं है। अर्थात् मिथ्यादर्शन के कारण ज्ञान मिथ्या हो जाते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

परिवर्तन करने वाले परिणामों से सहितपना आत्मा के असिद्ध है। इस प्रकार किसी प्रतिवादी के कहने पर **विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं -

न चेदं परिणामित्वमात्मनो न प्रसाधितम्। सर्वस्यापरिणामित्वे सत्त्वस्यैव विरोधतः ॥२१॥
यतो विपर्ययो न स्यात्परिणामः कदाचन। मत्यादिवेदनाकारपरिणामनिवृत्तितः ॥२२॥

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

किंकुर्वन्निदं सूत्रं ब्रवीतीति शंकायामाह–

समानोर्थपरिच्छेदः सद्दृष्ट्यर्थपरिच्छिदा। कुतो विज्ञायते त्रेधा मिथ्यादृष्टेर्विपर्ययः ॥१॥
इत्यत्र ज्ञापकं हेतुं सदृष्टान्तं प्रदर्शयत्। सदित्याद्याह संक्षेपाद्विशेषप्रतिपत्तये ॥२॥

आत्मा का यह परिणामीपना पूर्व प्रकरणों में भले प्रकार सिद्ध नहीं किया है, यह नहीं समझना। अर्थात् आत्मा परिणामी है, इसको अच्छी युक्तियों से सिद्ध कर चुके हैं। जैन सिद्धान्तानुसार सभी पदार्थ परिणामी हैं। सम्पूर्ण पदार्थों को या सब में एक भी वस्तु को यदि अपरिणामीपना माना जायेगा, तो उसकी जगत् में सत्ता रहने का ही विरोध हो जायेगा। अर्थात् परिणामीपन से सत्त्व व्याप्त है। व्यापक परिणामीपन के रहने पर ही व्याप्य सत्त्व ठहर सकता है। सम्पूर्ण पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से शोभित है। पूर्व आकारों का त्याग, उत्तर आकारों का ग्रहण और ध्रुवस्थितिरूप परिणाम सर्वत्र सर्वदा देखे जाते हैं। अतः आत्मा कूटस्थ नहीं है। जिससे कि कदाचित् भी मति आदि ज्ञानों के आकार वाले परिणामों की निवृत्ति हो जाने से आत्मा के विपर्ययरूप पर्यायें नहीं हो पातीं। अर्थात् परिणामी आत्मा के मिथ्यात्व का उदय हो जाने पर मति, श्रुत आदि ज्ञानों के आकारस्वरूप परिणामों की निवृत्ति हो जाने से कुमति आदि विपर्यय ज्ञान हो जाते हैं॥२१-२२॥

आचार्य विपर्यय ज्ञान के लक्षण को दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं -

विद्यमान और अविद्यमान अथवा प्रशंसनीय और अप्रशंसनीय अर्थों की विशेषता न करके यदृच्छापूर्वक उपलब्धि हो जाने से उन्मत्त पुरुष के समान जानने वाले मिथ्यादृष्टि के विपर्ययज्ञान हो जाते हैं। अर्थात् उन्मत्त पुरुष जैसे गौ में गाय है, ऐसा निर्णय कर लेता है और कदाचित् गौ को घोड़ा भी जान लेता है, माता को कभी स्त्री और कदाचित् माता भी कह देता है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव सत् और असत् पदार्थ में कोई विशेषता नहीं रखता हुआ चाहे जैसी मनमानी कल्पना करता है। अतः उसका घट में घट को जानने वाला भी ज्ञान विपर्यय ज्ञान ही है॥३२॥

किस नवीन अर्थ का विधान करते हुए **श्री उमास्वामी महाराज 'सदसतो'** इत्यादि सूत्र को प्रस्पष्ट कर रहे हैं? ऐसी शंका का **श्री विद्यानन्द आचार्य** समाधान करते हैं -

जबकि सम्यग्दृष्टि आत्मा के अर्थों की परिच्छित्ति के समान ही मिथ्यादृष्टि आत्मा के भी अर्थों का परिच्छेद होता है, तो फिर कैसे विशेषरूप से जाना जाए कि मिथ्यादृष्टि के तीन प्रकार का विपर्ययज्ञान है। इस प्रकार यहाँ प्रकरण में जिज्ञासा होने पर दृष्टान्त सहित ज्ञापक हेतु को दिखलाते हुए **श्री उमास्वामी महाराज** ने संक्षेप में मिथ्याज्ञानों की विशेषता को समझाने के लिए **'सतसतोरविशेषाद्'** इत्यादि सूत्र को कहा है॥१-२॥

मिथ्यादृष्टेरप्यर्थपरिच्छेदः सद्दृष्ट्यर्थपरिच्छेदेन समानो भूयते तत्कुतोऽसौ त्रेधा विपर्यय इत्यारेकायां सत्यां दर्शनं ज्ञापकं हेतुमनेनोपदर्शयति॥

के पुनरत्र सदसती कश्च तयोरविशेषः का च यदृच्छोपलब्धिरित्याह–

अत्रोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति वक्ष्यति। ततोऽन्यदसदित्येतत्सामर्थ्यादवसीयते॥३॥
अविशेषस्तयोः सद्भिरविवेको विधीयते। सांकर्यतो हि तद्वित्तिस्तथा वैयतिकर्य्यतः॥४॥
प्रतिपत्तिरभिप्रायमात्रं यदनिबन्धनं। सा यदृक्षा तया वित्तिरुपलब्धिः कथंचन॥५॥

किमत्र साधयमित्याह–

मिथ्यादृष्टि का भी अर्थपरिज्ञान करना जब सम्यग्दृष्टि के अर्थ परिच्छित्ति के समान होता हुआ अनुभव में आ रहा है, तो फिर कैसे निर्णीत किया जाए कि वह विपर्ययस्वरूप मिथ्याज्ञान तीन प्रकार का होता है? इस प्रकार किसी पुरुष की आशंका होने पर उदाहरण सहित ज्ञापक हेतु को **श्री उमास्वामी महाराज** ने सूत्र में दिखलाया है। व्याप्य हेतु से साध्य की सिद्धि सुलभता से हो जाती है।

यहाँ सूत्र में कहे गये फिर सत् और असत् क्या पदार्थ हैं? और उन दोनों का विशेषतारहितपना क्या है? तथा यदृच्छा उपलब्धि क्या है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द स्वामी** कहते हैं-

इस सूत्र में कहे गये 'सत्' शब्द का अर्थ तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त द्रव्य है। इस बात को स्वयं मूल ग्रन्थकार पाँचवें अध्याय में स्पष्टरूप से कहेंगे। उस सत् से अन्य पदार्थ यहाँ 'असत्' कहा जाता है। बिना कहे ही यह तत्त्व इस व्याख्यात सत् की सामर्थ्य से निर्णीत कर लिया जाता है। उन सत्, असत् दोनों का पृथक् भाव नहीं करना है। वह सज्जन पुरुषों के द्वारा अविशेष किया गया कहा जाता है। अथवा विद्यमान पदार्थों के साथ सत् और असत् का पृथग्भाव नहीं करना अविशेष कहा जाता है। इस प्रकार उस पदार्थ की सत्, असत्रूप की संकरपने से अथवा व्यतिकरपने से ज्ञप्ति कर लेना मिथ्या ज्ञानों से साध्य कार्य है। सत् में सत् और असत् दोनों के धर्मों का एक साथ आरोप कर देना **संकरदोष** है। परस्पर में एक दूसरे के अत्यन्ताभाव का समानाधिकरण धारने वाले पदार्थों का एक अर्थ में समावेश हो जाना **सांकर्य** है। तथा सत् के धर्मों का असत् में चले जाना और असत् के धर्मों का सत् में चले जाना, परस्पर में विषयों का गमन हो जाना **व्यतिकर** है।

विपर्ययज्ञानी जीव संकर और व्यतिकर दोषों से युक्त सत् असत् पदार्थों को जानता है। उनका वास्तविक विवेक नहीं कर पाता है॥३-४॥

तीसरा प्रश्न 'यदृच्छा उपलब्धि' के विषय में है। इसका उत्तर यह है कि सामान्यरूप से अभीष्ट अभिप्राय को कारण मानकर जो ज्ञान होता है, वह प्रतिपत्ति है, और उस अभिप्राय को कारण नहीं मानकर मनमानी परिणति यदृच्छा है। उस यदृच्छा के द्वारा किसी भी प्रकार ज्ञप्ति हो जाना उपलब्धि कही गयी है॥५॥

कोई जिज्ञासु पूछता है कि इस सूत्र में श्री उमास्वामी महाराज ने "**सदसतोः अविशेषात् यदृच्छोपलब्धेः**" ऐसा हेतु बनाकर और उन्मत्त को दृष्टान्त बनाकर अनुमान प्रयोग बनाया है, किन्तु इस प्रयोग में साध्य या प्रतिज्ञावाक्य क्या है? इस प्रकार आशंका होने पर **श्री विद्यानन्द स्वामी** कहते हैं -

मत्यादयोऽत्र वर्त्तन्ते ते विपर्यय इत्यपि। हेतोर्यथोदितादत्र साध्यते सदसत्त्वयोः ॥६॥

तेनैतदुक्तं भवति मिथ्यादृष्टेर्मतिश्रुतावधयो विपर्ययः सदसतोरविशेषेण यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तस्यैवेति। समानेऽप्यर्थपरिच्छेदे कस्यचिद्विपर्ययसिद्धिं दृष्टान्ते साध्यसाधनयोर्व्याप्तिं प्रदर्शयन्नाह–

स्वर्णे स्वर्णमिति ज्ञानमस्वर्णे स्वर्णमित्यपि। स्वर्णे वास्वर्णमित्येवमुन्मत्तस्य कदाचन ॥७॥
विपर्ययो यथा लोके तद्यदृच्छोपलब्धितः। विशेषाभावतस्तद्वन्मिथ्यादृष्टेर्घटादिषु ॥८॥

सर्वत्राहार्य एव विपर्ययः सहज एवेत्येकान्तव्यवच्छेदेन तदुभयं स्वीकुर्वन्नाह–

यहाँ सूत्र का अर्थ करने पर पूर्वसूत्र में कहे गये वे मति आदि तीन ज्ञान अनुवर्तन कर लिये जाते हैं, और 'वे विपर्यय हैं' - यह भी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। अतः यथायोग्य कहे गये 'सत् और असत् की अविशेषता से यदृच्छा उपलब्धि' - इस हेतु द्वारा यहाँ मति आदि में सत् और असत्रूप विपर्यय सिद्ध किया जाता है। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण ठीक बन जाने से पूर्वसूत्र में कहे गये साध्य की सिद्धि हो जाती है॥६॥

इस संदर्भ में कथित वाक्यों द्वारा सिद्ध होता है कि मद से उन्मत्त पुरुष के समान सत् और असत् की विशेषता रहित चाहे जैसी उपलब्धि हो जाने से मिथ्यादृष्टि के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान विपर्यय हैं। इस प्रकार अनुमान वाक्य बना लिया गया है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवों के उत्पन्न हुई अर्थ परिच्छित्ति के समान होने पर भी दोनों में से किसी एक मिथ्यादृष्टि के ही विपर्यय ज्ञान की सिद्धि है। किन्तु सम्यग्दृष्टि का ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं है। इस तत्त्व की सिद्धि को दृष्टांत में साध्य और साधन की व्याप्ति का प्रदर्शन कराते हुए **श्री विद्यानन्द आचार्य** विशदरूप से कहते हैं –

उन्मत्त पुरुष को कभी-कभी स्वर्ण पदार्थ में 'स्वर्ण है' - इस प्रकार ज्ञान हो जाता है और कभी स्वर्ण रहित मिट्टी, पीतल आदि में यह सोना है, ऐसा भी ज्ञान हो जाता है अथवा कभी स्वर्ण में लोहा आदि स्वर्णरूप ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार लोक में यदृच्छा उपलब्धि हो जाने से विपर्ययज्ञान होना प्रसिद्ध है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के घट, पट आदि पदार्थों में विशेषता रहित करके यदृच्छा उपलब्धि से मिथ्याज्ञान हो जाना प्रसिद्ध है॥७-८॥

सभी स्थलों पर आहार्य्य ही विपर्ययज्ञान होता है, ऐसा कोई एकान्तवादी कहता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधा उपस्थित हो जाने पर भी भक्तिवश या आग्रहवश विपरीत समझते रहना आहार्य्य मिथ्याज्ञान है, जैसे कि गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव असत्य उपदेशों द्वारा विपरीत अभिनिवेश कर लेता है। तथा कोई एकान्तवादी कहता है कि सभी स्थलों पर सहज ही विपर्ययज्ञान होता है। उपदेश के बिना ही अंतरंग कारणों से मिथ्यावासनावश जो विपर्ययज्ञान अज्ञानी जीवों के होता है, वह सहज है। इस प्रकार एकान्तों का व्यवच्छेद करके उन दोनों प्रकार के विपर्यय ज्ञानों को स्वीकार करते हुए **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं-

स चाहार्यो विनिर्दिष्टः सहजश्च विपर्ययः। प्राच्यस्तत्र श्रुताज्ञानं मिथ्यासमयसाधितम् ॥९॥
मत्यज्ञानं विभङ्गश्च सहजः संप्रतीयते। परोपदेशनिर्मुक्तेः श्रुताज्ञानं च किंचन ॥१०॥

चक्षुरादिमतिपूर्वकं श्रुताज्ञानमपरोपदेशत्वात्सहजं मत्यज्ञानविभङ्गज्ञानवत्। श्रोत्रमतिपूर्वकं तु परोपदेशापेक्षत्वादाहार्यं प्रत्येयं। तत्र सति विषये श्रुताज्ञानमाहार्यविपर्ययमादर्शयति–

सति स्वरूपतोऽशेषे शून्यवादो विपर्ययः। ग्राह्यग्राहकभावादौ संविदद्वैतवर्णनम् ॥११॥
चित्राद्वैतप्रवादश्च पुंशब्दाद्वैतवर्णनम्। बाह्यार्थेषु च भिन्नेषु विज्ञानांडप्रकल्पनं ॥१२॥

वह विपर्यय ज्ञान आहार्य्य और सहज दोनों प्रकार का विशेष रूप से कथन किया गया है। उन दोनों में पहिला **आहार्य विपर्ययज्ञान** मिथ्याशास्त्रों द्वारा साध्य होता है; कुश्रुतज्ञान स्वरूप है। तथा कुमतिज्ञान और विभंगज्ञान तो **सहज विपर्यय** है, ऐसी प्रतीति होती है। हाँ, परोपदेशक अभाव कुश्रुतज्ञान भी सहज विपर्यय हो जाता है।

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम से जन्य दो प्रकार का माना है, उसी प्रकार विपर्यय ज्ञान भी दो प्रकार का है। आहार्य्य नाम का भेद तो परोपदेशजन्य कुश्रुतज्ञान में ही घटित होता है, और सहजविपर्यय नाम का भेद मति, श्रुत, अवधि इन तीनों ज्ञानों में सम्भव होता है ॥९-१०॥

चक्षु आदि, यानी नेत्र, स्पर्शन, रसना, घ्राण इन चार इन्द्रियों से जन्य मतिज्ञान को पूर्ववर्तीकारण मानकर उत्पन्न कुश्रुतज्ञान तो परोपदेशपूर्वक नहीं होने के कारण सहजविपर्यय है, जैसे कि कुमतिज्ञान और विभंग ज्ञान सहज मिथ्याज्ञान हैं। किन्तु श्रोत्र इन्द्रियजन्य मति - ज्ञान को पूर्ववर्त्तीकारण मानकर उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान को परोपदेश की अपेक्षा हो जाने से आहार्य्य विपर्ययज्ञान समझ लेना चाहिए।

विपर्ययज्ञानों में विषय के विद्यमान होने पर उत्पन्न कुश्रुतज्ञानस्वरूप आहार्य्य विपर्यय को ग्रन्थकार दिखलाते हैं -

अपने-अपने स्वरूप से सद्भूत पदार्थों के विद्यमान रहने पर अथवा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से पदार्थों के विद्यमान होने पर शून्यवादी विद्वान् द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का निषेध कर देना, **शून्यवाद** नाम का विपर्यय है। क्योंकि पदार्थों के विद्यमान होने पर भी उनका निषेध कर रहा है। तथा ज्ञेय पदार्थ और ज्ञापक ज्ञान पदार्थ, इनमें ग्राह्यग्राहकभाव होते हुए या आश्रय-आश्रयीभूत पदार्थों में आधार आधेय भाव होते हुए अथवा अनेक पदार्थों में कार्यकारणभाव आदि सम्बन्ध होने पर भी ज्ञान को अद्वैत ही कहते जाना यह **विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों का विपर्यय** है। क्योंकि ग्राह्यग्राहकभाव आदि द्वैत पदार्थों के होते हुए भी उनका निषेध कर दिया गया है।

तथा, नाना प्रकार बहिरंग पदार्थों के विद्यमान होने पर भी चित्र आकार वाले ज्ञान के अद्वैत मानना **चित्राद्वैत प्रवाद** नाम का विपर्यय है। इसी प्रकार द्वैत के होने पर भी ब्रह्मवादियों द्वारा **ब्रह्माद्वैत** का वर्णन करना अथवा वैयाकरणों द्वारा शब्दाद्वैत स्वीकार करना भी आहार्य (गृहीत) कुश्रुतज्ञान है। तथा भिन्न-भिन्न स्थूल, कालान्तर स्थायी, बहिरंग अवयवी पदार्थों के होते हुए भी क्षणिक, अवयव, अणुस्वरूप, विज्ञान के अंशों की कल्पना करना **विज्ञानाद्वैतवादी** बौद्धों का विपर्यय है।

ये सब सत् पदार्थ में असत् की कल्पना से होते हैं। सम्पूर्ण चराचर जगत् को ब्रह्माण्ड या विज्ञानाण्ड में तदात्मक रखना उचित नहीं है ॥११-१२॥

बहिरन्तश्च वस्तूनां सादृश्ये वैसदृश्यवाक्। वैसदृश्ये च सादृश्यैकान्तवादावलम्बनम् ॥१३॥
द्रव्ये पर्यायमात्रस्य पर्याये द्रव्यकल्पना। तद्द्वयात्मनि तद्भेदवादो वाच्यत्ववागपि ॥१४॥
उत्पादव्ययवादश्च ध्रौव्ये तदवलम्बनम्। जन्मप्रध्वंसयोरेवं प्रतिवस्तु प्रबुद्ध्यताम् ॥१५॥

सति तावत्कात्स्न्र्येनैकदेशेन च विपर्ययोऽस्ति तत्र कात्स्न्र्येन शून्यवादः स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालतः। सर्वस्य सत्त्वेन प्रमाणसिद्धत्वात्। विशेषतस्तु सति ग्राह्यग्राहकभावे कार्यकारणभावे च वाच्यवाचकभावादौ च तदसत्त्ववचनम्। तत्र संविदद्वैतस्य वावलम्बनेन सौगतस्य, पुरुषाद्वैतस्यालम्बनेन ब्रह्मवादिनः, शब्दाद्वैतस्याश्रयेण वैयाकरणस्येति प्रत्येयं। विपर्ययत्वं तु तस्य ग्राह्यग्राहकभावादीनां प्रतीतिसिद्धं। तद्वचनात्तथा बहिरर्थे भिन्ने

घट, पट, वस्त्र आदि बहिरंग पदार्थ और आत्मा, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि अंतरंग वस्तुओं के कथंचित् सादृश्य होने पर भी सर्वथा विलक्षणपने का कथन करना यह विशेष के ही एकान्त को कहने वाले बौद्धों का विपर्ययज्ञान है। एवं दूसरा बहिरंग और अंतरंग पदार्थों का कथंचित् वैलक्षण्य होने पर भी "वे सर्वथा सदृश ही हैं" इस प्रकार सामान्य एकान्तवाद का अवलम्ब लेकर कथन करना **सदृश एकान्तवादी** विद्वान् का विपरीत ज्ञान है ॥१३॥

अतीत, अनागत, वर्तमान पर्यायों में अन्वयरूप से व्यापक नित्यद्रव्यों के होते हुए भी केवल पर्यायों की ही कल्पना करना अथवा पर्यायों के होते हुए भी केवल द्रव्यों की ही कल्पना करना बौद्ध और सांख्यों की विपर्यय कल्पना है तथा द्रव्य और पर्याय दोनों से तदात्मक वस्तु के होने पर फिर आग्रहवश उन द्रव्यपर्यायों के भेद को ही कहना वैशेषिकों का विपर्यय ज्ञान है। पदार्थों का शब्दों द्वारा निरूपण नहीं हो पाता है। अतः सम्पूर्ण तत्त्व अवाच्य है। यह अवक्तव्य एकान्त का विपर्यय भी किन्हीं बौद्धों में स्थित है। ये सब **आहार्य्य कुश्रुतज्ञान** हैं ॥१४॥

द्रव्य की अपेक्षा या कालान्तरस्थायी स्थूल पर्याय की अपेक्षा पदार्थों का ध्रुवपना होते हुए भी केवल उत्पाद और व्यय के एकान्त का ही पक्ष ग्रहण करना **क्षणिक एकान्तरूप विपर्यय** है। तथा इसके विपरीत दूसरा एकान्त यह है कि पदार्थों के उत्पाद और व्यय की प्रत्यक्ष द्वारा सिद्धि होते हुए भी उस ध्रौव्य का सहारा लेकर सर्वथा पदार्थों को नित्य ही समझते रहना विपर्यय ज्ञान है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में विपर्यय ज्ञान की व्यवस्था समझ लेनी चाहिए ॥१५॥

विद्यमान पदार्थों में कोई तो परिपूर्णरूप से विपर्ययज्ञान मानते हैं और कोई एकदेश करके विपर्यय ज्ञान मानते हैं। उनमें परिपूर्णरूप से विपर्यय मानना **शून्यवाद** है, क्योंकि अपने स्वरूप से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से, अस्तित्व से सम्पूर्ण पदार्थों की प्रमाणों से सिद्धि हो रही है। फिर भी पदार्थों को स्वीकार नहीं करना, यह तत्त्व उपप्लववादी या शून्यवादी प्राज्ञों का पूर्णरूप से होने वाला विपर्यय है। एकदेश से या विशेषरूप से विपर्यय इस प्रकार है कि पदार्थों में ग्राह्यग्राहक भाव, कार्यकारण भाव, वाच्यवाचकभाव, आधार आधेयभाव, वध्यघातकभाव आदि सम्बन्धों के होने पर भी उन ग्राह्यग्राहकभाव आदि का असत्त्व कहना विपर्यय है। उनमें संवेदनाद्वैत का आलम्बन करने से बौद्ध को विपर्ययज्ञान हो रहा है और पुरुषाद्वैत

सति तद्वदसत्त्ववचनं विज्ञानांशप्रकल्पनाद्विपर्ययः। परमार्थतो बहिरन्तश्च वस्तूनां सादृश्ये सति तदसत्त्ववचनं सर्ववैसदृश्यावलम्बनेन तथागतस्यैव विपर्ययः। सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्याबाधितस्य प्रमाणत्वसाधनेन सादृश्यस्य साधनात् सत्यपि च कथंचिद्विशिष्टसादृश्ये तदसत्त्ववचनं। सर्वथा सादृश्यावलम्बनात् सादृश्यैकान्तवादिनो विपर्ययः। एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्याबाधितस्य प्रमाणत्वसाधनात्तत्सत्त्वसिद्धेः पर्याये च सति तदसत्त्ववचनं द्रव्यमात्रास्थानादपरस्य विपर्ययः। भेदज्ञानाद्यबाधितात्तत्सत्त्वसाधनात्। द्रव्यपर्यायात्मनि वस्तुनि सति तदसत्त्वाभिधानं परस्परभिन्नद्रव्यपर्यायवादाश्रयणादन्येषां तस्य प्रमाणतो व्यवस्थापनात्।

का सहारा लेने से ब्रह्मवादी के विपर्यय होता है। तथा शब्दाद्वैत का आश्रय लेने से वैयाकरण के विपर्यय हो जाता है जिससे कि वे विद्यमान ग्राह्यग्राहकभाव आदि का निषेध कर रहे हैं, यहसमझ लेना चाहिए। उनके उस ज्ञान को विपर्ययपना तो ग्राह्यग्राहकभाव आदि की प्रतीतियों से सिद्धि हो जाने के कारण निर्णीत है।

भिन्न-भिन्न बहिरंग अर्थों के विद्यमान होने पर भी उन एकान्तवादियों के समान बौद्धों के यहाँ भी विज्ञान के परमाणुस्वरूप क्षणिक अंशों की ही कल्पना कर लेने से उन बहिरंग अर्थों के असत्त्व का कथन करना और परमार्थरूप से बहिरंग अन्तरंग वस्तुओं का सादृश्य होते हुए भी सबके विसदृशपने का सहारा लेकर उस सादृश्य को असत्त्व कहना विपर्यय प्रसिद्ध है, क्योंकि बाधारहित सादृश्य प्रत्यभिज्ञान को प्रमाणपने से वस्तुभूत सादृश्य की सिद्धि हो चुकी है। इस एकान्त के विपरीत दूसरा एकान्त है कि सम्पूर्ण वस्तुओं में कथंचित् विशिष्ट पदार्थों की ही अपेक्षा के सादृश्य के होने पर अथवा पदार्थों में कथंचित् वैसादृश्य होने पर सर्वथा सादृश्य पक्ष का सहारा लेकर उस वैसादृश्य का असत्त्व कहना यह सादृश्य को ही एकान्त से कहना विपर्यय है। तथा द्रव्य की पहिले पीछे समयों में होने वाली क्रमभावी पर्याय अथवा द्रव्य के सहभावी गुणों में द्रव्य की अपेक्षा एकपना होते हुए भी सदृशपने का अभिमान करना विपर्यय है। क्योंकि बाधाओं से रहित एकत्व प्रत्यभिज्ञान कर उनका एकपना सिद्ध होता है। अतः एक द्रव्य में या उसकी गुण और पर्यायों में उस एकपने की सत्ता प्रमाण सिद्ध है।

अनादि से अनन्तकाल तक स्थित रहने वाले नित्यद्रव्य के सद्भूत होने पर भी केवल पर्याय के अवस्थान से उस द्रव्य का असत्त्व कहना किसी बौद्ध का विपर्ययज्ञान है। क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अबाधित एकत्व प्रत्यभिज्ञान का प्रमाणपना सिद्ध हो जाने से उस अन्वयी द्रव्य की सत्ता सिद्ध हो जाती है। तथा इसके प्रतिपक्ष में दूसरा विपर्यय यह है कि पर्यायों के वास्तविक होने पर भी द्रव्यमात्र की स्थिति कहने से उन पर्यायों का असत्त्व कहना किसी दूसरे एकान्तवादी का विपर्ययज्ञान है। क्योंकि स्थास से कोश भिन्न है, कोश से कुशूल भिन्न है। पहिले ज्ञान से दूसरा ज्ञान पृथक् है, इत्यादि अबाधित भेद ज्ञान से उन पर्यायों का सद्भाव सिद्ध किया गया है।

द्रव्य और पर्यायों से तदात्मक हो रही वस्तु के सद्भाव होने पर भी परस्पर में भिन्न हो रहे द्रव्य और पर्याय वाद का आश्रय लेकर द्रव्यपर्यायों के साथ वस्तु के तदात्मकत्व का असत्त्व कहना अन्य नैयायिक या वैशेषिकों का विपर्यय ज्ञान है। क्योंकि उस द्रव्य और पर्यायों के साथ तदात्मक हो रही वस्तु की प्रमाणों से व्यवस्था कराई जा चुकी है।

तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यत्ववादालम्बनाद्वा तत्र विपर्ययः। सति ध्रौव्ये तदसत्त्वकथनमुत्पादव्ययमात्रांगीकरणात्केषांचिद्विपर्ययः कथंचित्सर्वस्य नित्यत्वसाधनात्। उत्पादव्ययययोश्च सतोस्तदसत्त्वाभिनिवेशः शाश्वतैकान्ताश्रयणादन्येषां विपर्ययः। सर्वस्य कथंचिदुत्पादव्ययात्मनः साधनादेवं प्रतिवस्तुसत्त्वेऽसत्त्ववचनं विपर्ययः प्रपंचतो बुध्यतां। जीवे सति तदसत्त्ववचनं चार्वाकस्य विपर्ययस्तत्सत्त्वस्य प्रमाणतः साधनात्। अजीवे तदसत्त्ववचनं ब्रह्मवादिनो विपर्ययः। आस्रवे तदसत्त्ववचनं च बौद्धचार्वाकस्यैव। संवरे निर्जरायां मोक्षे च तदसत्त्ववचनं याज्ञिकस्य विपर्ययः। पूर्वमेव जीववदजीवादीनां प्रमाणतः प्ररूपणात्। विशेषतः संसारिणि

सन्तान और सन्तानियों का तत्पना और अन्यपना धर्म अवाच्य है। वस्तु का कथंचित् शब्द द्वारा वाच्यपना सिद्ध हो जाने पर भी वहाँ तत्त्व अन्यत्व द्वारा अवाच्यपने के सिद्धांतवाद का आलम्बन करके अवक्तव्य का कथन करना विपर्ययज्ञान है। तथा संपूर्ण पदार्थों का कथंचित् ध्रुवपना होने पर भी केवल उत्पाद और व्यय को स्वीकार कर उस ध्रुवपने का असत्त्व कहना किन्हीं का मिथ्याज्ञान है, क्योंकि कथंचित् (द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से) सम्पूर्ण पदार्थों का नित्यपना सिद्ध किया गया है। पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश के होने पर भी जो सर्वथा नित्य एकान्त का आश्रय कर लेने से उन उत्पाद और व्यय के असद्भाव का आग्रह करते हैं - यह सांख्यों का मिथ्याज्ञान है।

क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों के पर्यायों की अपेक्षा से कथंचित् उत्पाद, व्ययात्मक स्वभाव की सिद्धि कर दी गयी है। इसी प्रकार अन्य भी प्रत्येक वस्तु के या उनके प्रतीत सिद्ध धर्मों के सद्भाव होने पर भी असत्त्व कह देना मिथ्याज्ञान है। इस प्रकार कुश्रुतज्ञानरूप विपर्यय को विस्तार से समझ लेना चाहिए।

ज्ञान, सुख आदि गुणों के साथ तन्मय जीव पदार्थ के सत्त्व होने पर फिर उस जीव का असद्भाव कहना चार्वाक के यहाँ विपर्ययज्ञान है। क्योंकि उस जीव की सत्ता प्रमाणों से सिद्ध हो गयी है तथा घट आदि अजीव पदार्थों का सद्भाव होने पर भी उन अजीव पदार्थों का असत्त्व कहना ब्रह्मवादियों की बुद्धि में विपर्यय है। आस्रव तत्त्व के होने पर भी उसका अस्तित्व नहीं मानना बौद्ध और चार्वाक का विपरीत ज्ञान है। इसी प्रकार संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व के होने पर भी उनका असत्त्व निरूपण करना, यज्ञ को चाहने वाले मीमांसकों का विपर्यय ज्ञान है। क्योंकि पूर्व प्रकरणों में ही जीवतत्त्व के समान अजीव, आस्रव, आदिकों का प्रमाणों से निरूपण किया जा चुका है।

सामान्य रूप से जीव तत्त्व को नहीं मानने पर चार्वाक का विपर्यय ज्ञान है। किन्तु जीव के भेद, प्रभेदरूप से संसारी जीवों या मुक्त जीवों के विद्यमान होने पर भी उन संसारी जीवों का या मुक्त जीवों का असत्त्व कहना एकान्तवादियों का विपर्यय है। अर्थात् मस्करी मुक्त जीव का मोक्ष से संसार में पुनः आगमन मानते हैं। कोई वादी मुक्त जीवों को संसारी जीवों से पृथक् नहीं मानते हैं।

अद्वैतवादी तो नाना संसारी जीवों को ही स्वीकार नहीं करते हैं। **"ब्रह्मैव सत्यमखिलं नहि किंचिदस्ति"**। इसी प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन विशेष द्रव्यों के होने पर पुनः उनका असत्त्व कहना विपर्यय ज्ञान है।

मुक्ते च जीवे सति तदसत्त्ववचनं विपर्ययः। जीवे पुद्गले धर्मेऽधर्मे नभसि काले च सति तदसत्त्ववचनं। तत्र पुण्यास्रवे पापास्रवे च पुण्यबन्धे पापबन्धे च देशसंवरे सर्वसंवरे च यथाकालं निर्जरायामौपक्रमिकनिर्जरायां च आर्हन्त्यमोक्षे सिद्धत्वमोक्षे च सति तदसत्त्ववचनं कस्यचिद्विपर्ययस्तत्सत्त्वस्य पुरस्तात् प्रमाणतः साधनात्। एवं तदा भेदेषु प्रमाणसिद्धेषु तदसत्सु तदसत्त्ववचनं विपर्ययो बहुधावबोद्धव्यः परीक्षाक्षमधिषणैरित्यलं विचारेण॥

पररूपादितोशेषे वस्तुन्यसति सर्वथा। सत्त्ववादः समाम्नातः पराहार्यो विपर्ययः॥१६॥

पररूपद्रव्यक्षेत्रकालतः सर्ववस्त्वसत्तत्र कात्स्न्यतः सत्त्ववचनमाहार्यो विपर्ययः। सत्त्वैकान्तावलम्बनात्कस्यचित्प्रत्येतव्यः। प्रमाणतस्तथा सर्वस्यासत्त्वसिद्धेः देशतोऽसतोऽसति सत्त्वविपर्ययमुपदर्शयति–

उन अजीव आदि पदार्थों म विशेषरूप से पुण्यास्रव, पापास्रव, पुण्यबंध, पापबंध एवं एकदेशसंवर और सर्वदेशसंवर तथा यथायोग्य अपने नियतकाल में होने वाली निर्जरा और भविष्य में उदय आने वाले कर्मों को बलात्कार से वर्तमान उपक्रम में लाकर की गयी निर्जरा आदि तत्त्वों के होने पर भी एवं तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में तीर्थंकरप्रकृति की उदय अवस्था में जीवनमुक्त नामक अर्हन्तपनास्वरूप मोक्षतत्त्व और अष्ट कर्मों से सर्वथा रहित सिद्धपनास्वरूप परममोक्ष तत्त्व के प्रमाणों से सिद्ध होने पर भी उन पुण्यास्रव आदिकों का असत्त्व कथन करते रहना किसी एक चार्वाकवादी का विपर्यय ज्ञान है। मिथ्याज्ञान के अनुसार ही ऐसे तत्त्व विपरीत रूप से कथन किये जा सकते हैं। इन तत्त्वों की सत्ता का कथन पूर्व में कर दिया है।

इसी प्रकार उन जीव आदि के भेद-प्रभेदरूप अनेक तत्त्वों के प्रमाणों से सिद्ध हो जाने पर भी तथा उनका सद्भाव हो जाने पर पुनः मिथ्यात्व वश उनका असत्त्वकथन करना आदि बहुत प्रकार के विपर्ययज्ञान समझ लेने चाहिए। जिनकी बुद्धि तत्त्व और तत्त्वाभासों की परीक्षा करने में समर्थ है वे संक्षेप में समझ जाते हैं, विस्तार कथन से बस करो। इस प्रकरण में मिथ्याज्ञान के अवान्तर असंख्यभेदों को कहाँ तक गिनाया जाय? अतः विपर्ययपन के विचार से इतने कथन पर्याप्त हैं। इस प्रकार स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा पदार्थों का सत्त्व होने पर भी सत्त्व ना होना मानना विपर्ययज्ञान है।

पररूप यानी परकीय भाव, द्रव्य, क्षेत्र आदि से सम्पूर्ण पदार्थों के असद्भाव होने पर उनका सर्वथा सद्भाव मानना भी दूसरा आहार्य्य विपर्यय ऋषिआम्नाय से माना हुआ चला आ रहा है॥१६॥

पररूप द्रव्य, क्षेत्र, काल भावों की अपेक्षा से सम्पूर्ण वस्तुएँ असत् है। घट के देश, देशांशगुण और गुणांशों की अपेक्षा पट विद्यमान नहीं है। आत्मा के स्वचतुष्टय की अपेक्षा से घट पदार्थ असत् है। फिर भी वहाँ परिपूर्णरूप से सत्त्व का कथन करना दूसरा आहार्य विपर्ययज्ञान है **'सर्वं सत्'** सम्पूर्ण पदार्थों की सर्वत्र सत्ता के एकान्त पक्ष का अवलम्बन लेने से किसी एक ब्रह्माद्वैतवादी या सदेकान्तवादी के विपर्ययज्ञान समझ लेना चाहिए क्योंकि प्रमाण ज्ञानों से उस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों का सर्वत्र नहीं विद्यमानपना सिद्ध है।

परकीय चतुष्टय से सम्पूर्ण वस्तुओं के असत् होने पर भी परिपूर्ण रूप से सत्त्व कथन करने वाले आहार्य ज्ञान को कह चुके हैं।

अब देश से असत् पदार्थ का अविद्यमान पदार्थ में विद्यमानपन का कथन करने वाले विपर्यय ज्ञान को दिखलाते हैं -

सत्यसत्त्वविपर्यासाद् वैपरीत्येन कीर्तितात्। प्रतीयमानकः सर्वोऽसति सत्त्वविपर्ययः ॥१७॥

सति ग्राह्यग्राहकभावादौ संविदद्वैताद्यालम्बनेन तदसत्त्ववचनलक्षणाद्विपर्ययात्पूर्वोक्ताद्विपरीतत्वेनासति प्रतीत्यारूढे ग्राह्यग्राहकभावादौ सौत्रान्तिकाद्युपवर्णिते सत्त्ववचनं विपर्ययः प्रपंचतोऽवबोद्धव्यः। एवमाहार्यं श्रुतविपर्ययमुपदर्श्य श्रुतानध्यवसायं चाहार्यं दर्शयति–

सति त्रिविप्रकृष्टार्थे संशयः श्रुतिगोचरे। केषांचिद्दृश्यमानेऽपि तत्त्वोपप्लववादिनाम् ॥१८॥

सत् पदार्थ में असत्पने का विपर्यय ज्ञान बताया जा चुका है। उस कहे गये विपर्यय ज्ञान से विपरीत प्रतीत किये गये इस असत् पदार्थ में सत्पने को कहने वाले सभी विपर्ययज्ञान हैं ॥१७॥

ग्यारहवीं वार्त्तिक से पन्द्रहवीं वार्त्तिक तक पहिले सत् में असत् को कहने वाला विपर्यय ज्ञान कहा जा चुका है। किन्तु असत् में पूर्ण रूप से या एकदेश से सत्पने को जानने वला यह विपर्ययज्ञान पूर्वोक्त से विपरीत है, सत् को असत् कहने वाली पहिली प्रक्रिया को विपरीत कर यहाँ असत् को सत् कहने वाली प्रक्रिया से सभी घटित कर सकते हो॥

ग्राह्यग्राहकभाव, कार्यकारणभाव, स्थाप्यस्थापक भाव, सूक्ष्मस्थूलभाव, सामान्य विशेषभाव, आदि धर्मों के होने पर भी संवेदन अद्वैत, ब्रह्मअद्वैत, आदि के पक्ष को ग्रहण करके उन ग्राह्यग्राहक भाव आदि की असत्ता को कथन करने वाले लक्षण से पूर्व में कथित विपर्ययत्व ज्ञान से यह निम्नलिखित आहार्य ज्ञान विपरीत रूप से प्रसिद्ध है। क्योंकि सौत्रान्तिक बौद्ध, नैयायिक, मीमांसक, जैव आदि विद्वानों के द्वारा कथित ग्राह्यग्राहकभाव, कार्यकारणभाव, वाच्यवाचक भाव आदि धर्मों की प्रतीति में आरूढ़ नहीं होने देने के कारण पुनः उनकी सत्ता का कथन करना विपर्यय ज्ञान है। यह परमत की अपेक्षा कथन है। अद्वैतवादियों के शास्त्रों में असत् को सत् कहने वाले ज्ञान विपर्यय रूप से माने गये हैं, अन्य भी दृष्टांत देकर विस्तार से असत् में सत् को जानने वाले ज्ञान विपर्यय समझ लेने चाहिए। सम्पूर्ण पदार्थ सर्वथा नित्य नहीं हैं, उनको अपने शास्त्रों द्वारा सर्वथा नित्य कहना तथा आत्मा का आकाश के समान परम महापरिणाम नहीं मानकर इनको सर्वत्र व्यापक कहना आदि विपर्यय ज्ञान हैं तथा कुदेव और कुगुरु में सुदेव, सुगुरुपने का निश्चय कर बैठना श्रुतविपर्यय है।

इस प्रकार उक्त ग्रन्थ द्वारा श्रुतज्ञान के आहार्य विपर्ययस्वरूप मिथ्याज्ञान को दिखलाकर अब श्रुतज्ञान के आहार्य संशय को और श्रुतज्ञान के आहार्य अनध्यवसाय को **श्री विद्यानन्द आचार्य** दिखलाते हैं।

देश, काल, स्वभाव इन तीनों से व्यवहित हो रहे अर्थ के शास्त्र द्वारा विषय किये जाने पर-अथवा किन्हीं अतीन्द्रियदर्शी विद्वानों की आत्मा में प्रत्यक्षज्ञान के विषय किये जाने पर त्रिविप्रकृष्ट पदार्थों का सद्भाव होते हुए भी बौद्धवादियों के यहाँ उन त्रिविप्रकृष्ट अर्थों में जो संशयज्ञान होता है, वह आहार्य संशयज्ञानरूप श्रुतज्ञान है। तथा किन्हीं तत्त्वोपप्लववादी विद्वानों के यहाँ प्रत्यक्षज्ञान द्वारा दृष्ट पृथ्वी, जल आदि पदार्थों में भी तत्त्वों के अव्यवस्थित वाद का आग्रह होने से शास्त्रों द्वारा संशयज्ञान करा दिया जाता है अर्थात् बौद्ध विद्वान् त्रिविप्रकृष्ट पदार्थों के सद्भाव का निर्णय नहीं करते हैं। तथा अपने शास्त्रों द्वारा देश विप्रकृष्ट सुमेरु, स्वयम्भूरमण, कालविप्रकृष्ट राम, रावण, स्वभावविप्रकृष्ट परमाणु, आकाश आदि पदार्थों का सर्वथा निषेध भी नहीं करते हैं। अदृष्ट पदार्थों में एकान्तरूप से संशयज्ञान को कराते हैं। **"एकांत निर्णयात् वरं संशयः"**। एकांत निर्णय से संशय बना रहना कहीं अच्छा है - इस नीति के अनुसार संशयवादी बौद्धों ने त्रिविप्रकृष्ट अर्थ में अपने शास्त्रों के अनुसार संशयज्ञान कर लिया है॥१८॥

तथानध्यवसायोऽपि केषांचित्सर्ववेदिनि तत्त्वे। सर्वत्र वाग्गोचराहार्योऽवगम्यताम् ॥१९॥

श्रुतविषये देशकालस्वभावविप्रकृष्टेऽर्थे संशयः। सौगतानामदृश्यसंशयैकान्तवादावलम्बनादाहार्योऽवसेयः। पृथिव्यादौ दृश्यमानेऽपि संशयः केषांचित्तत्त्वोपप्लववादावष्टंभात्। सर्ववेदिनि पुनः संशयोऽध्यवसायश्च केषांचिद्विपर्ययवदाहार्योऽवगम्यताम्। सर्वज्ञाभाववादावलेपात्सर्वत्र वा तत्त्वे केषांचिदन्योऽनध्यवसायः। संशयविपर्ययवत् ''तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नासौ मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां

और तत्त्वोपप्लववादियों ने स्वकीय शास्त्र जन्य मिथ्या वासना द्वारा प्रत्यक्षयोग्य पदार्थों में भी संशयज्ञान ठान लिया है। उसी प्रकार किन्हीं विद्वानों के यहाँ सर्वज्ञ तत्त्व के विषय में संशयज्ञान और अनध्यवसाय ज्ञान भी हो रहा है। **''सर्वज्ञ है या नहीं''** - इस विषय का अभी तक उनको शास्त्रों में संशय रखना ही उपदिष्ट किया है। किसी-किसी ने तो सर्वज्ञ का अज्ञान सरीखा अनध्यवसायज्ञान होना अपने शास्त्रों मे मान लिया है। नास्तिकवादी या विभ्रमैकान्तवादी तो सभी तत्त्वों में अनध्यवसाय नामक मिथ्याज्ञान से युक्त हो रहे हैं। उक्त कहे गये सभी श्रुतज्ञान के संशय, विपर्यय, अनध्यवसायों में वचन के द्वारा विषयकृत आहार्यज्ञान कहा गया है, यह समझ लेना चाहिए। अर्थात् वक्ता या शास्त्र ही शब्दों द्वारा कहे जाने योग्य श्रुतज्ञान को मिथ्याज्ञानियों के प्रति उपदिष्ट कर सकता है।

सर्वज्ञोक्त श्रुतद्वारा विषय किये गये देशव्यवहित, कालव्यवहित और स्वभावव्यवहित अर्थों में बौद्ध जनों को अदृश्य एकान्तवाद का पक्ष ग्रहण कर लेने से आहार्य (गृहीत) श्रुतसंशय समझ लेना चाहिए। तथा परिदृश्यमान भी पृथ्वी आदि तत्त्वों में किन्हीं-किन्हीं विद्वानों के यहाँ तत्त्वोपप्लववाद का कदाग्रह होजाने से संशयज्ञान हो जाता है ॥१९॥

फिर, प्रमाण सिद्ध सर्वज्ञ में किन्हीं मीमांसकों के यहाँ सर्वज्ञाभाव को कहने वाले पक्ष का ग्रहण करने से विपर्ययज्ञान के समान संशय और अनध्यवसाय अज्ञान भी आहार्य हो जाता है ऐसा जानना चाहिए। अथवा **''सर्ववेदितत्त्वे''** का अर्थ सर्वज्ञ नहीं कर **''ज्ञान के द्वारा ज्ञात सम्पूर्ण तत्त्व''** - इस प्रकार अर्थ करने पर यों व्याख्यान कर लेना कि सम्पूर्ण जीव, पुद्गल आदि तत्त्वों के प्रमाणसिद्ध होने पर किन्हीं लौकायतिक या तीव्र मिथ्यादृष्टि के यहाँ इस वक्ष्यमाण कोरे प्रलाप का मात्र सहारा ले लेने से संशय और विपर्यय के समान अन्य अनध्यवसाय ज्ञान भी सम्पूर्ण तत्त्वों के विषय में उत्पन्न होता है। वह मूर्ख अधार्मिक, नास्तिक जनों का निरर्थक वचन इस प्रकार है कि तर्कशास्त्र या अनुमान कोई सुव्यवस्थित नहीं है जिससे कि तत्त्वों का निर्णय किया जाय। नित्यपन अनित्यपन आदि के समर्थन करने के लिए दिये गये कापिल, बौद्ध आदि के अनुमानों का परस्पर में विरोध है। वेद की श्रुतियाँ भी परस्पर विरुद्ध हिंसा, अहिंसा, सर्वज्ञ, सर्वज्ञाभाव, विधि, नियोग, भावना आदि विभिन्न अर्थों को कह रही हैं। कोई बौद्ध, कणाद, कपिल अथवा जिनेन्द्र आदि ऐसा मुनि नहीं हुआ जिसके वचन प्रमाण मान लिये जाँए। धर्म तत्त्व अंधेरी गुफा में छिपा हुआ है। अतः बड़े महान् पुरुष जिस मार्ग से जा चुके हैं, वही मार्ग है। चार्वाकसिद्धान्तानुसार इस प्रकार प्रलाप करने वालों के यहाँ अपने द्वारा कहे गये तत्त्व की भी प्रतिष्ठा नहीं हो पाती है।

महाजनो येन गतः स पन्थाः'' इति प्रलापमात्राश्रयणात्। तथा प्रलापिनां स्वोक्ताप्रतिष्ठानात् तत्प्रतिष्ठाने वा तथा वचनविरोधादित्युक्तप्रायं ॥ सम्प्रति मतिज्ञानविपर्ययसहजमावेदयति–

बह्वाद्यवग्रहाद्यष्ट चत्वारिंशत्सु वित्तिषु। कुतश्चिन्मतिभेदेषु सहजः स्याद्विपर्ययः ॥२०॥
स्मृतावननुभूतार्थे स्मृतिसाधर्म्यसाधनः। संज्ञायामेकताज्ञानं सादृश्यः श्रोत्रदर्शितः ॥२१॥
तथैकत्वेऽपि सादृश्यविज्ञानं कस्यचिद्भवेत्। स विसंवादतः सिद्धश्चिंतायां लिङ्गलिङ्गिनोः २२।

क्योंकि, सबको अभीष्ट उन पृथ्वी आदि दृश्य तत्त्वों को ही मानना परलोक, आत्मा, पुण्य, पाप आदि को नहीं मानना, इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा तर्क, शास्त्र, बृहस्पति, लौकिक धर्म, लोक प्रसिद्ध व्याप्ति के मान लेने पर ही पुष्ट होती है। तथा तर्क निषेध, शास्त्रनिषेध, आप्तमुनिनिषेध और धर्म की प्रच्छन्नता करने पर अपने वचन का विरोध हो जायेगा, इस बात को हम प्रायः अनेक बार कह चुके हैं।

श्रुत अज्ञान के बल से इच्छापूर्वक होने वाले विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय को उदाहरणपूर्वक दिखाकर अब वर्तमान में मतिज्ञान के परोपदेश के बिना ही स्वतः होने वाले सहज विपर्यय का आचार्य महाराज कथन करते हैं।

बहु, अबहु आदि बारह विषयभेदों को जानने वाले अवग्रह, ईहा,आदि चार ज्ञानों की अपेक्षा हुई अड़तालीस मतिज्ञान की भेदस्वरूप बुद्धियों में किसी भी कारण से निसर्गजन्य विपर्ययज्ञान होता है। जो कुश्रुत कुमति ज्ञान परोपदेश बिना होता है वह निसर्गज कहलाता है॥२०॥

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता और स्वार्थानुमान भी मतिज्ञान के प्रकार बतलाये हैं। अतः, स्मृति आदि का भी सहज विपर्यय ज्ञान इस प्रकार समझ लेना कि पूर्वकाल में अनुभव किये जा चुके अर्थ में स्मरण किये गये पदार्थ के समानधर्मपने को कारण मानकर स्मृति हो जाना, स्मरण ज्ञान का सहज विपर्यय है, जैसे कि अनुभव किये गये देवदत्त के समान धर्म वाले होने के कारण जिनदत्त में देवदत्त की स्मृति कर बैठना सहज कुस्मृतिज्ञान है।

और संज्ञा स्वरूप प्रत्यभिज्ञान में स्थूल दृष्टि वाले पुरुषों को सदृशता होने पर एकता का ज्ञान हो जाना प्रत्यभिज्ञान का सहजविपर्यय है, जैसे कि समान आकृति वाले दो भाइयों में से इन्द्रदत्त के सदृश जिनचन्द्र में ''यह वही इन्द्रदत्त है'' - इस प्रकार एकत्वप्रत्यभिज्ञान हो जाता है, यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान का सहजविपर्यय है॥२१॥ अर्थात् ये स्मृतिज्ञानाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास कहलाते हैं।

किसी मिथ्याज्ञानी जीव के एकत्व में सदृशपने को जानने वाला प्रत्यभिज्ञान हो जाए तो वह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान का विपर्यय है। जैसे कि उसी इन्द्रदत्त को इन्द्रदत्त के सदृश जिनचन्द्र समझ लेना। इस प्रकार भ्रान्तिज्ञान हो जाने के अनेक कारण हैं। उनके द्वारा उक्त विपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है। तथा, साधन और साध्य के सम्बन्ध में बाधासहितपन या निष्फल प्रवृत्ति का जनकपनरूप विसंवाद हो जाने से तर्कज्ञान

हेत्वाभासबलाज्ज्ञानं लिङ्गिनि ज्ञानमुच्यते। स्वार्थानुमाविपर्यासो बहुधा तद्धियां मतः ॥२३॥

कः पुनरसौ हेत्वाभासो यतो जायमानं लिङ्गिनि ज्ञानं स्वार्थानुमानविपर्ययः। सहजो मतिः स्मृतिसंज्ञाचिन्तानामिव स्वविषये तिमिरादिकारणवशादुपगम्यते इति पर्यनुयोगे समासव्यासतो हेत्वाभासमुपदर्शयति–

हेत्वाभासस्तु सामान्यादेकः साध्याप्रसाधनः। यथा हेतुःस्वसाध्येनाविनाभावी निवेदितः ॥२४॥
त्रिविधोऽसावसिद्धादिभेदात्कश्चिद्विनिश्चितः। स्वरूपाश्रयसंदिग्धज्ञातासिद्धश्चतुर्विधः ॥२५॥
तत्र स्वरूपतोऽसिद्धो वादिनः शून्यसाधने। सर्वो हेतुर्यथा ब्रह्मतत्त्वोपप्लवसाधने ॥२६॥

में वह विपर्ययज्ञान हो जाना प्रसिद्ध है। जैसे कि गर्भ में स्थित पाँचवें पुत्र का गौरवर्ण होते हुए भी "जितने भी मित्रा स्त्री के पुत्र हैं वे सब श्याम हैं" - इस प्रकार दृश्यमान चार पुत्रों के अनुसार व्याप्ति बना लेना कुचिंताज्ञान है; जहाँ-जहाँ अग्नि होती है वहाँ-वहाँ धूम होता है, यह भी लोहे के गोले में अंगार का विसंवाद हो जाने से व्याप्तिज्ञान का विपर्यय है ॥२२॥

हेतु नहीं, किन्तु हेतुसमान दीखने वाले हेत्वाभासों की सामर्थ्य से जो साध्यविषयक ज्ञान हो रहा कहा जाता है, वह अनुमान को जानने वाले विद्वानों के यहाँ स्वार्थानुमान का विपर्यय माना गया है। जबकि भेद प्रभेदरूप से बहुत प्रकार के हेत्वाभास हैं। अतः तज्जन्य अनुमानाभास को भी बहुत प्रकार के मानना यह समुचित ही है ॥२३॥

यह हेत्वाभास फिर क्या पदार्थ है जिससे कि साध्य को जानने में उत्पन्न हो रहा ज्ञान स्वार्थानुमान का सहज विपर्यय कहा जाता है? और जो मतिज्ञान, स्मरण ज्ञान, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान इनके समान वह स्वार्थानुमान का विपर्यय भी अपने विषय में तमारा, कामल आदि कारणों के वश से हो रहा स्वीकार कर लिया जाय। इस प्रकार प्रतिपाद्य का समीचीन प्रश्न होने पर आचार्य संक्षेप और विस्तार से हेत्वाभास का प्रदर्शन करते हैं -

सामान्यरूप से "साध्य को नहीं साधने वाला हेतु" यह एक ही हेत्वाभास कहा गया है। जैसे कि अपने साध्य के साथ अविनाभाव रखने वाला सद्धेतु एक प्रकार का है, उसी प्रकार अपने साध्य को उत्तम रीति से नहीं साधने वाला हेत्वाभास भी एक प्रकार का है ॥२४॥

किन्हीं जैन विद्वानों के द्वारा विशेषरूप से असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक इन भेदों से तीन प्रकार का हेत्वाभास निश्चित किया गया है। उसमें असिद्ध नाम का हेत्वाभास तो स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध संदिग्धासिद्ध और अज्ञातसिद्ध इन भेदों से चार प्रकार का माना गया है ॥२५॥

उन असिद्धहेत्वाभास के भेदों में वादी के यहाँ स्वरूप से असिद्ध हेत्वाभास इस प्रकार है। जैसे शून्यवाद को साधने में सभी हेतु स्वरूपासिद्ध हो जाते हैं। अथवा अद्वैत ब्रह्म को साधने में दिया गया प्रतिभासमानत्वहेतु अपने स्वरूप से असिद्ध है।

सत्त्वादिः सर्वथा साध्ये शब्दभंगुरतादिके। स्याद्वादिनः कथंचिन्न सर्वथैकान्तवादिनः ॥२७॥
शब्दाद्विनश्वराद्धेतुसाध्ये चाऽकृतकादयः। हेतवोऽसिद्धतां यान्ति बौद्धादेः प्रतिवादिनः ॥२८॥
जैनस्य सर्वथैकान्तधूमवत्त्वादयोऽग्निषु। साध्येषु हेतवोऽसिद्धा पर्वतादौ तथाग्नितः ॥२९॥
शब्दादौ चाक्षुषत्वादिरुभयासिद्ध इष्यते। निःशेषोऽपि यथा शून्यब्रह्माद्वैतप्रवादिनोः ॥३०॥
वाद्यसिद्धौ प्रसिद्धौ च तत्र साध्यप्रसाधने॥ समर्थनविहीनः स्यादसिद्धः प्रतिवादिनः ॥३१॥

साध्य के साथ अविनाभाव रखते हुए हेतु का पक्ष में रहना ही स्वरूप है; जो कि अभावरूपत्व, अविचार्यमाणत्व, प्रतिभासमानत्व हेतुओं में नहीं घटित होता है। तत्त्वोपप्लववादियों द्वारा तत्त्वों के विचार के उत्तर काल में च्युत हो जाने को साधने के लिए प्रयुक्त किये गये सभी हेतु स्वरूपासिद्ध हैं। अर्थात् विचार करने पर निर्दोष कारकों के समुदाय करके उत्पत्ति हो जाने से, बाधारहितपने से, प्रवृत्ति सामर्थ्य से अथवा अन्य प्रकारों से, प्रमाण तत्त्व व्यवस्थित नहीं हो पाता है। प्रमाण के बिना प्रमेय तत्त्वों की व्यवस्था नहीं। अतः तत्त्वोपप्लव सिद्धांत व्यवस्थित है। यह उपप्लववादियों का अविचार्यमाणत्व हेतु प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्वों में विद्यमान नहीं है। या विचार्यमाणत्व हेतु तत्त्वोपप्लव में घटित नहीं होता है। अतः स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है॥२६॥

बौद्धों के द्वारा शब्द में सर्वथा क्षणभंगुरपना, अणुपना, असाधारणपना आदि के साध्य करने पर दिये गये सत्त्व, कृतकत्व आदि हेतु स्वरूपासिद्ध हैं। सर्वथा क्षणिकपन, अणुपन, आदि के एकान्त पक्ष का कथन करने वाले बौद्धों के वे हेतु असद्धेतु हैं। कथंचित् क्षणिकपन आदि को साध्य करने के लिये दिये गये स्याद्वादियों के यहाँ सत्त्व आदि हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं हैं, किन्तु समीचीन हेतु हैं॥२७॥

बौद्ध, नैयायिक आदि प्रतिवादियों के यहाँ हेतु द्वारा शब्द का क्षणभंगुरपना साध्य करने में बोले गये अकृतकपना, प्रत्यभिज्ञायमानपन आदि हेतु असिद्धपने को प्राप्त हो जाते हैं॥२८॥

पर्वत, महानस आदि पक्षों में अग्नि को साध्य करने के लिए सर्वथा एकान्त रूप से धूम सहितत्व आदिक हेतु जैनों के यहाँ असिद्ध हेत्वाभास हो जाते हैं। क्योंकि पर्वत सभी अवयवों में एकान्त रूप से धूम वाला नहीं है। अतः जैनों के प्रति कहा गया सर्वथा धूमवत्व हेतुस्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है तथा पर्वत में अग्निहेतु से ही अग्नि को साध्य करने पर स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। साध्यसम होने से हेतु का अविनाभावी स्वकीयरूप असिद्ध हो रहा है। जब अग्नि नामक साध्य असिद्ध है तो उसका पक्ष में रहना भी असिद्ध है॥२९॥

शब्द, रस आदि पक्ष में अनित्यपन को साध्य करने के लिए दिये गये चक्षुइन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होना या नासिका इन्द्रिय करके विषय हो जाना इत्यादि हेतु वादी, प्रतिवादी दोनों के यहाँ असिद्ध हेत्वाभास माने गये हैं। जैसे कि शून्यवादी और ब्रह्माद्वैतवादी दोनों वादी प्रतिवादियों के यहाँ सभी हेतु दोनों की अपेक्षा से असिद्ध हैं॥३०॥

साध्य को साधने में प्रसिद्ध हो जाने पर भी यदि हेतुप्रयोक्ता वादी के द्वारा जिस हेतु की सिद्धि नहीं हुई है तो समर्थन से विरहित वह हेतु प्रतिवादी विद्वान् के यहाँ असिद्ध हेत्वाभास समझा जायेगा। अतः वादियों को उचित है कि प्रतिवादी के सन्मुख अपने इष्ट हेतु का समर्थन करें॥३१॥

हेतोर्यस्याश्रयो न स्यात् आश्रयासिद्ध एव सः। स्वसाध्येनाविनाभावाभावादगमको मतः ॥३२॥
प्रत्यक्षादेः प्रमाणत्वे संवादित्वादयो यथा। शून्योपप्लवशब्दाद्यद्वैतवादावलम्बिनां ॥३३॥
सन्देहविषयः सर्वः संदिग्धासिद्ध उच्यते। यथागमप्रमाणत्वे रुद्रोक्तत्वादिरास्थितः ॥३४॥
सन्नप्यज्ञायमानोऽत्राज्ञातासिद्धो विभाव्यते। सौगतादेर्यथा सर्वः सत्त्वादिस्वेष्टसाधने ॥३५॥
न निर्विकल्पकाध्यक्षादस्तिहेतोर्विनिश्चयः। तत्पृष्ठजाद्विकल्पाच्चावस्तुगोचरतः क्व सः ॥३६॥
अनुमानान्तराद्धेतुनिश्चये चानवस्थितिः। परापरानुमानानां पूर्वपूर्वत्रवृत्तितः ॥३७॥
ज्ञानं ज्ञानान्तराध्यक्षं वदतोनेन दर्शितः। सर्वो हेतुरविज्ञातोऽनवस्थानाविशेषतः ॥३८॥

जिस अनुमान के हेतु का आधार ही सिद्ध नहीं है, वह हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है। अपने साध्य के साथ अविनाभाव का अभाव होने से यह हेतु अपने साध्य का अगमक माना गया है। अर्थात् वह हेतु साध्य का गमक नहीं है। जैसे कि शून्य, तत्त्वोपप्लव, शब्द अद्वैत, ब्रह्मअद्वैत आदि के पक्ष परिग्रह का अवलम्ब करने वाले विद्वानों के यहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान आदि को प्रमाणपना साधने पर संवादीपन, प्रवृत्ति-जनकपन, आदि हेतु आश्रयासिद्ध हो जाते हैं॥३२-३३॥

जो हेतु संदेह के विषय हैं वे सभी संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास कहे जाते हैं। जैसे कि आगम को प्रमाणपना साधने में दिये गये रुद्र के द्वारा व बुद्ध के द्वारा कथित हेतु संदिग्धासिद्धपन रूप व्यवस्थित हैं॥३४॥

विद्यमान हेतु भी प्रतिवादी के द्वारा यदि ज्ञात नहीं हो तो वह हेतु अज्ञानासिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे कि बौद्ध आदि विद्वानों के द्वारा अपने अभीष्ट क्षणिकत्व आदि साध्य को साधने में प्रयुक्त किये गये सत्त्व, परिच्छेद्यत्व, आदिक सभी हेतु अज्ञातासिद्ध हेत्वाभास हैं। क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से हेतु का विशेषरूप से निश्चय नहीं होता है। अर्थात् बौद्धों के यहाँ प्रत्यक्षज्ञान निश्चय ज्ञप्ति को नहीं करा सकने वाला माना गया है। तथा उस निर्विकल्पक ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न हुए विकल्प ज्ञान से भी हेतु का निश्चय नहीं हो सकता है; विकल्पकज्ञान वस्तुभूत अर्थ को विषय नहीं कर पाता है। ऐसी दशा में बौद्ध प्रतिवादियों को नैयायिकों के सत्त्व आदि हेतुओं का वह निश्चय कहाँ हुआ। यदि अन्य अनुमानों से हेतु का निश्चय होना माना जाएगा तो अनवस्था दोष आयेगा।

क्योंकि व्याप्तिग्रहण के लिए अथवा अनुमान में पड़े हुए हेतुओं का निश्चय करने के लिए उत्तरोत्तर होने वाले अनेक अनुमानों की पूर्व पूर्व के हेतुओं को जानने में धारावाहिनी प्रवृत्ति होने से अनवस्थादोष आता है। अतः जिस हेतु को प्रतिवादी नहीं जान सकता है, वह अज्ञातासिद्ध हेत्वाभास है॥३५-३६-३७॥

नैयायिक कहते हैं कि आत्मा में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न हुए अव्यवहित उत्तर कालवर्त्ती ज्ञान के द्वारा पूर्वक्षणवर्ती अर्थज्ञान को जान लिया जाता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार पूर्वज्ञान का अन्यज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष हो जाना कहने वाले नैयायिक का हेतु भी अज्ञातासिद्ध है। यह इस उक्त कथन से दिखला दिया गया है। अर्थात्-पक्ष में पड़े हुए ज्ञान को जानने के लिए और हेतु स्वरूप ज्ञान प्रमेय को जानने के

अर्थापत्तिपरिच्छेद्यं परोक्षं ज्ञानमादृताः। सर्वं ये तेऽप्यनेनोक्ता स्वाज्ञातासिद्धहेतवः ॥३९॥
प्रत्यक्षं तु फलज्ञानमात्मानं वा स्वसंविदम्। प्राङ्न्यायकरणज्ञानं व्यर्थं तेषां निवेदितं ॥४०॥
प्रधानपरिणामत्वादचेतनमितीरितम्। ज्ञानं यैस्ते कथं न स्युरज्ञातासिद्धहेतवः ॥४१॥
प्रतिज्ञार्थैकदेशस्तु स्वरूपासिद्ध एव नः। शब्दो नाशी विनाशित्वादित्यादि साध्यसन्निभः ॥४२॥

लिए स्वयं वही ज्ञान तो समर्थ नहीं है। अन्य ज्ञानों की कल्पना करने पर नैयायिकों के यहाँ अनवस्था दोष आता है। इसमें कोई अन्तर नहीं है॥३८॥

अर्थापत्ति द्वारा जानने योग्य परोक्ष ज्ञान का जो आदर स्वीकार करते हैं वे मीमांसक भी इस उक्त कथन से दोषयुक्तका प्रतिपादन करने वाले कह दिये गये हैं। उन नैयायिक और मीमांसकों के द्वारा ज्ञान को जानने के लिए दिये गये हेतु तो स्वयं उनके ही द्वारा ज्ञात नहीं हैं। किसी प्रतिवादी को कैसे ज्ञात होंगे? अतः परिच्छेद्यत्व या ज्ञातता आदिक हेतु अज्ञातासिद्ध हेत्वाभास हैं॥३९॥

जिन प्रभाकर मीमांसकों ने फलज्ञान तो प्रत्यक्ष माना है और प्रमिति के करण हो रहे प्रमाण ज्ञान को परोक्ष माना है, अथवा जिन भट्टमीमांसकों के यहाँ प्रमितिकर्त्ता आत्मा का तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो जाना इष्ट किया है और प्रमाण ज्ञान को परोक्ष माना है, उन मीमांसकों के यहाँ प्रमाके पूर्व में करणज्ञान का व्यर्थ ही निवेदन किया गया है। क्योंकि परोक्ष करणज्ञान के बिना भी अर्थ का प्रत्यक्ष हो जाना प्रत्यक्ष हो रहे आत्मा या फलज्ञान से बन जाता है। अतः परोक्ष भी करणज्ञान की मध्य में कल्पना करोगे तो आत्मा या फलज्ञान को प्रत्यक्ष करने में भी पृथक् करणज्ञान मानना पड़ेगा अतः परोक्ष ज्ञान की सिद्धि करने में दिये गये हेतु भी अज्ञातासिद्ध हेत्वाभास हैं॥४०॥

कपिलवादी आत्मा का स्वभाव चैतन्य मानते हैं और बुद्धि को जड़ प्रकृति की पर्याय होने से अचेतन मानते हैं। अर्थात् - ज्ञान अचेतन है, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्य अवस्थारूप प्रकृति का परिणाम होने से, जैसे कि घट। इस प्रकार जिन कपिलों ने प्रधान परिणामित्व, उत्पत्तिमत्व आदि हेतु दिये हैं वे हेतु अज्ञातासिद्ध हेत्वाभास क्यों नहीं होते हैं?

जो हेतु प्रतिज्ञार्थ एकदेश होता है वह स्वरूपासिद्ध है, अर्थात् पक्ष और साध्य के वचन को प्रतिज्ञा कहते हैं। निगमन से पूर्वकाल तक प्रतिज्ञा असिद्ध रहती है। यदि कोई असिद्ध प्रतिज्ञा के विषयभूत अर्थ के एकदेशपक्ष या साध्य को ही हेतु बना लेवे तो वह हेतु प्रतिज्ञार्थ एकदेश असिद्ध हो जाता है।

यह दोष तो हम स्याद्वादियों के यहाँ स्वरूपासिद्ध ही कहा जाता है। किन्तु यह कोई नियत हेत्वाभास नहीं है। शब्द (पक्ष) नाश होने वाला है (साध्य), क्योंकि विनाश शील है (हेतु)। ज्ञान (पक्ष) प्रमाण (साध्य) है प्रमाण होने से (हेतु) इत्यादि स्थलों पर साध्यों को हेतु बना लेने पर तो साध्यसम हेत्वाभास है जोकि स्वरूपासिद्ध में ही गर्भित हो जाते हैं। जबकि शब्द में नाशीपना सिद्ध नहीं है तो विनाशित्वपना हेतु शब्द में स्वयं नहीं रहा। अतः विनाशित्व हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। यों तो भागासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध, व्यर्थविशेषणासिद्ध आदि भेद इन्हीं भेदों में गर्भित हो जाते हैं। यहाँ तक असिद्ध हेत्वाभास का कथन किया है॥४२॥ अब विरुद्धहेत्वाभास का कथन करते हैं -

यस्साध्यविपरीतार्थो व्यभिचारी सुनिश्चितः। स विरुद्धोऽवबोद्धव्यस्तथैवेष्टविघातकृत् ॥४३॥
सत्त्वादिः क्षणिकत्वादौ यथा स्याद्वादविद्विषां। अनेकान्तात्मकत्वस्य नियमात्तेन साधनात् ॥४४॥
सामर्थ्यं चक्षुरादीनां संहतत्वं प्रसाधयेत्। परस्य परिणामित्वं तथेतीष्टविघातकृत् ॥४५॥
अनुस्यूतमनीषादिसामान्यादीनि साधयेत्। तेषां द्रव्यविवर्त्तत्वमेवमिष्टविघातकृत् ॥४६॥
विरुद्धान्न च भिन्नोऽसौ स्वयमिष्टाद्विपर्यये। सामर्थ्यस्याविशेषेण भेदवादिप्रसंगतः ॥४७॥
विवादाध्यासितं धीमद्धेतुकं कृतकत्वतः। यथा शकटमित्यादि विरुद्धो तेन दर्शितः ॥४८॥
यथा हि बुद्धिमत्पूर्वं जगदेतत्प्रसाधयेत्। तथा बुद्धिमतो हेतोरनेकत्वशरीरिताम् ॥४९॥
स्वशरीरस्य कर्त्तात्मा नाशरीरोऽस्ति सर्वथा। कार्मणेन शरीरेणानादिसम्बन्धसिद्धितः ॥५०॥

जो हेतु या साध्य से विपरीत अर्थ के साथ व्याप्ति को रखता है, उसको विरुद्धहेत्वाभास समझना चाहिए, और विरुद्ध के साथ व्याप्त होने के कारण वह हेतु इष्ट साध्य का विघात करने वाला है, जैसे कि स्याद्वाद का विशेष द्वेष करने वाले बौद्धों के द्वारा क्षणिकपन, असाधारणपन आदि को साधने में प्रयुक्त किये गये सत्त्व प्रमेयत्व आदिक हेतु विरुद्ध हैं। क्योंकि उन सत्त्व आदि हेतुओं के द्वारा नियम से नित्य अनित्यरूप या सामान्यविशेषरूप अनेक धर्मात्मकपने की सिद्धि होती है।

अतः अभीष्ट साध्य हो रहे सर्वथा क्षणिकपन के विपरीत कथंचित् क्षणिकपन के साथ व्याप्ति रखने वाला होने से सत्त्वहेतु विरुद्ध है॥४३-४४॥

चक्षु, रसना आदि इन्द्रियों का संहतपना हेतु उनकी सामर्थ्य को सिद्ध कर देता है। इस प्रकार कपिलादि के द्वारा मानी गयी ग्यारह इन्द्रियाँ जो कार्य कर रही हैं वह आत्मा की सामर्थ्य से कर रही हैं। किन्तु ऐसी दशा में दूसरे सांख्यों की आत्मा का परिणामीपन भी सिद्ध हो जायेगा। किन्तु सांख्यों ने आत्मा को कूटस्थ माना है। अतः अनुमान करने पर वह हेतु सांख्यों के इष्ट कूटस्थपन का विघात कर देता है। तथा अन्वयरूप से ओत प्रोत बुद्धि आदि के सामान्य चेतनपन आदि को भी वह संहतपना हेतु साध देता है। वे बुद्धि, सुख आदिक स्वभाव आत्मद्रव्य के ही पर्याय हैं। अतः सांख्यों के इष्ट सिद्धांत का विघात करने वाला स्वयं सांख्य के इष्ट साध्य से विपर्यय को साधने में अभिमुख हो रहा (वह) हेतु विरुद्धहेत्वाभास से भिन्न नहीं है। जिस पदार्थ की सामर्थ्य का परिवर्तन होता रहता है, वह पदार्थ परिणामी है। सामर्थ्य और सामर्थ्यवान में कोई विशेषता नहीं है। यदि शक्ति और शक्तिमान में भेद माना जायेगा तो आप सांख्यों को भेदवादी नैयायिक या वैशेषिक हो जाने का प्रसंग आयेगा अतः चक्षु आदि की नित्य सामर्थ्य को साधने वाला संहतपना हेतु विरुद्धहेत्वाभास है॥४५-४६-४७॥

विवाद में प्राप्त हो रहे पर्वत, शरीर आदि पदार्थ भी (पक्ष) बुद्धिमान चेतन को हेतु मानकर उत्पन्न होते हैं (साध्य), अपनी उत्पत्ति में दूसरों के व्यापार की अपेक्षा रखने वाले कृतक भाव होने से (हेतु), जैसे कि गाड़ी (अन्वय दृष्टांत) आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार के उस नैयायिक या वैशेषिक द्वारा दिये गये अन्य भी कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, आदि हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हैं, क्योंकि उक्त हेतु अपने अभीष्ट बुद्धिमान

यतः साध्ये शरीरे स्वे धीमतो व्यभिचारता। जगत्कर्तुः प्रपद्येत तेन हेतोः कुतार्किकः ॥५१॥
बोध्योऽनैकान्तिको हेतुःसम्भवान्नान्यथा तथा। संशीतिं विधिवत्सर्वः साधारणतया स्थितः ॥५२॥
शब्दत्वश्रावणत्वादि शब्दादौ परिणामिनि। साध्यहेतुस्ततो वृत्तेः पक्ष एव सुनिश्चितः ॥५३॥
संशीत्यालिङ्गिताङ्गस्तु यः सपक्षविपक्षयोः। पक्षे स वर्तमानः स्यादनैकान्तिकलक्षणः ॥५४॥
तेनासाधारणो नान्यो हेत्वाभासस्ततोऽस्ति नः। तस्यानैकान्तिके सम्यग्घेतौ वान्तर्गतिः स्थितिः ॥५५॥
प्रमेयत्वादिरेतेन सर्वस्मिन्परिणामिनि। साध्ये वस्तुनि निर्णीतो व्याख्यातः प्रतिपद्यतां ॥५६॥

कर्त्तापने से विपरीत कारणमात्र जन्यत्व के साथ व्याप्ति से युक्त हैं। जिस प्रकार वह हेतु इस जगत् को बुद्धिमान कारण से जन्यपना सिद्ध करेगा, उसी प्रकार घट आदि दृष्टान्तों की सामर्थ्य से उस बुद्धिमान् कारण के अनेकत्व और शरीर सहितत्व को भी सिद्ध करेगा। पहले अन्य शरीर से सहित होती हुई ही आत्मा अपने शरीर की कर्त्ता होती है। शरीर से रहित मुक्तात्मा सर्वथा अपने शरीर की कर्ता नहीं है। क्योंकि अनादिकाल से ज्ञानावरण आदि कर्मों के समुदायरूप कार्मण शरीर के साथ संसारी आत्मा का संबंध हो जाने की सिद्धि है। अतः जगत् को बनाने वाले बुद्धिमान् के अपने शरीर के साध्य करने पर उस शरीर से ही अनेकान्त दोष आ जाता है। अर्थात्-बुद्धिमान् ने जिस शरीर से जगत् बनाया है उसका वह शरीर बुद्धिमान् का बनाया हुआ नहीं है, किन्तु कृतक है। अतः हेतु का प्रयोक्ता नैयायिक न्याय या तर्क को जानने वाला नहीं है। वह कुतर्कता है। अथवा विपक्ष में हेतु के वर्तने की सम्भावना हो जाने से वह विरुद्ध हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास समझना चाहिए अन्यथा विपक्ष में वृत्ति नहीं होने पर अनैकान्तिक नहीं है। पक्ष में वृत्तित्व की विधि के समान विपक्ष में रहने के कारण संशययुक्त सभी हेतु साधारणपने से व्यवस्थित हैं॥४८-५२॥

शब्द आदि पक्ष में परिणामीपन साध्य करने के लिए दिये गये शब्दत्व, श्रवणइन्द्रिय द्वारा ग्राह्यत्व, भाषावर्गणा निष्पाद्यत्व आदि हेतु यदि पक्ष में ही साध्य के साथ अविनाभावी होकर वृत्तिरूप से सुनिश्चित हैं तब तो वे सब सद्धेतु ही हैं परन्तु जो सपक्ष और विपक्ष में रहने के कारण संशय से जिन हेतुओं के शरीर का आलिंगन कर लिया गया है वह हेतु यदि पक्ष में वर्तमान है तो भी अनैकान्तिक हेत्वाभास के लक्षण से युक्त समझा जावेगा है। अतः स्याद्वादियों के यहाँ अनैकांतिक से भिन्न कोई दूसरा असाधारण नाम का हेत्वाभास नहीं माना गया है। वैशेषिकों के द्वारा स्वीकृत उस असाधारण हेत्वाभास का अन्तर्भाव अनैकान्तिक में अथवा समीचीन हेतु में हो जाता है॥५३-५४॥

वैशेषिकों ने अनैकान्तिक हेत्वाभास के साधारण, असाधारण अनुपसंहारी ये तीन भेद किये हैं, जो हेतु सपक्ष और विपक्ष में वर्त जाता है, वह साधारण है तथा जो सपक्ष और विपक्ष दोनों से व्यावृत्त है, वह असाधारण हेत्वाभास है, जिसका अभाव नहीं हो सकता ऐसे केवलान्वयी पदार्थ को पक्ष बनाकर जो हेतु दिया जाता है, वह अनुपसंहारी है। प्रकरण में यह कहना है कि असाधारण नाम का हेत्वाभास नहीं है। विपक्ष में हेतु का नहीं रहना तो अच्छा ही है। सपक्ष में यदि हेतु नहीं रहता तो कोई क्षति नहीं है।

पक्षत्रितयहानिस्तु यस्यानैकान्तिको मतः। केवलव्यतिरेकादिस्तस्यानैकान्तिकः कथं ॥५७॥
व्यक्तात्मनां हि भेदानां परिमाणादिसाधनम्। एककारणपूर्वत्वे केवलव्यतिरेकिनः ॥५८॥
कारणत्रयपूर्वत्वात्कार्येणानन्वयागते। पुरुषैर्व्यभिचारीष्टं प्रधानपुरुषैरपि ॥५९॥
विना सपक्षसत्त्वेन गमकं यस्य साधनम्। अन्यथानुपपन्नत्वात्तस्य साधारणो मतः ॥६०॥
साध्ये च तदभावे च वर्त्तमानो विनिश्चितः। संशीत्याक्रान्तदेहो वा हेतुः कात्स्न्यैकदेशतः ॥६१॥
तत्र कात्स्न्यैन निर्णीतस्तावत्साध्यविपक्षयोः। यथा द्रव्यं नभः सत्त्वादित्यादिः कश्चिदीरितः ॥६२॥

अन्वयदृष्टान्त के बिना भी सद्धेतु हो सकते हैं। तभी तो नव्य नैयायिकों ने इसको हेत्वाभास नहीं माना है। सम्पूर्ण वस्तुओं में परिणामीपन को साध्य करने पर दिये गये प्रमयेत्व, सत्त्व आदि हेतु भी कोई अनुपसंहारी हेत्वाभास नहीं है। उनका भी समीचीन हेतु या अनैकान्तिक हेत्वाभास में अन्तर्भाव हो जाता है। यह निर्णीतरूप से व्याख्यान कर दिया गया है - ऐसा समझ लेना चाहिए। साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध हो जाना ही सद्धेतु का प्राण है॥५५-५६॥

जिस दार्शनिक के यहाँ पक्ष, सपक्ष, विपक्ष तीनों में ही हेतु की हानि (नहीं रहना) अनैकान्तिक का लक्षण माना गया है, उस दार्शनिक के केवलव्यतिरेक या केवलान्वय को धारने वाले हेतु अनैकान्तिक कैसे हो सकेंगे ? सांख्य में ग्यारह इन्द्रियों और पंचभूत इन व्यक्तस्वरूप पदार्थों का प्रकृतिस्वरूप एक कारण से अभिव्यज्यपना साधने के लिए दिया गया है। भेदानां परिमाण, भेदानां समन्वय आदि हेतु कहे हैं। उनका समवायी, असमवायी, निमित्त, इन तीन कारणों के द्वारा पूर्वकपना होने से कार्य के साथ अन्वयरहितपना प्राप्त हो जाता है। अतः वे हेतु तुम्हारे यहाँ केवलव्यतिरेकी माने गये हैं। किन्तु वे हेतु पुरुषद्वारा तथा प्रकृति और आत्मा के द्वारा भी व्यभिचारी इष्ट किये गये हैं। अतः अनैकान्तिक - का पूर्वोक्त लक्षण ठीक नहीं है॥५७-५८-५९॥

सपक्ष यानी अन्वयदृष्टान्त में विद्यमान रहने के बिना भी हेतु जिस स्याद्वादी के यहाँ मात्र अन्यथानुपपत्ति नामका गुण होने से साध्य का ज्ञापक मान लिया गया है, उसके यहाँ साध्य के होने पर और विपक्ष में उस साध्य का अभाव होने पर रहने वाला हेतु साधारण नामका हेत्वाभास विशेषरूप से निश्चित किया गया है। अथवा पक्ष में साध्य के रहने पर रहने वाला और साध्याभाव वाले विपक्ष में पूर्णरूप से या एक देश से रहने के संशय से आक्रान्त शरीर वाला हेतु साधारण हेत्वाभास कहा गया है॥६०-६१॥

उन साधारण हेत्वाभास के भेदों में से प्रथम साध्यवान पक्ष और साध्याभाववान् विपक्ष में पूर्णरूप से निर्णीत होकर रहने वाला कोई हेतु अनेकान्त है। जैसे - आकाश द्रव्य है, सत्त्व होने से इस अनुमान में दिया गया सत्त्व हेतु अपने पक्ष आकाश में रहता है और विपक्ष गुण या कर्म में भी वर्त रहा है अतः निश्चित व्यभिचारी है सो अनेकान्त हेत्वाभास है॥६२॥

विश्ववेदीश्वरः सर्वजगत्कर्तृत्वसिद्धितः। इति संश्रयतस्तत्राविनाभावस्य संशयात् ॥६३॥
सति ह्याशेषवेदित्वे संदिग्धा विश्वकर्तृता। तदभावे च तन्नायं गमको न्यायवेदिनाम् ॥६४॥
नित्योर्थो निर्मूर्त्तत्वादिति स्यादेकदेशतः। स्थितस्तथोर्विनिर्दिष्टपरोऽपीदृक्तदा तु कः ॥६५॥
यत्रार्थे साधयेदेकं धर्मं हेतुर्विवक्षितम्। तत्रान्यस्तद्विरुद्धं चेद्विरुद्ध्या व्यभिचार्यसौ ॥६६॥
इति केचित्तदप्राप्तमनेकान्तस्य युक्तितः। सम्यग्धेतुत्वनिर्णीतेर्नित्यानित्यत्वहेतुवत् ॥६७॥
सर्वथैकान्तवादे तु हेत्वाभासोऽयमिष्यते। सर्वगत्वे परस्मिंश्च जातेः ख्यापितहेतुवत् ॥६८॥

ईश्वर सर्वज्ञ है, सम्पूर्ण जगत् के कर्तापन की सिद्धि होने से। इस प्रकार अनुमान का आश्रय करने वाले हेतु में अविनाभाव का संशय हो जाने से यह हेतु संदिग्ध हेत्वाभास है। क्योंकि सर्वज्ञत्व विश्वकर्त्तापन ईश्वर में संदिग्ध है। अतः नैयायिकों का यह हेतु अपने साध्य का ज्ञापक नहीं है। विपक्ष में सम्पूर्ण रूप से हेतु का नहीं वर्तना संदिग्ध हैं॥६३-६४॥

शब्द नित्य है, अमूर्त्त होने से। यह हेतु एकदेश से विपक्ष में रहने के कारण निश्चित व्यभिचारी है। इसी प्रकार उन एकदेश निर्णीत और एकदेश संदिग्ध में से दूसरा एकदेश संदिग्ध कोई हेतु विशेषरूप से कह दिया गया है। जैसे कि गुण अनित्य है, अमूर्त्त होने से; यहाँ विपक्ष के एकदेश में हेतु की वृत्तिता संदिग्ध है॥६५॥

जिस अर्थ में एक हेतु तो विवक्षा से धर्म का साधक होता है और दूसरा हेतु वहाँ ही उस साध्य से विरुद्ध अर्थ को कहता है तो वह हेतु विरुद्धानैकान्त हेत्वाभास है। इस प्रकार कोई कह रहे हैं। उनका यह कहना अप्रसिद्ध (युक्ति रहित) है। क्योंकि समीचीन युक्तियों से नित्य और अनित्य को साधने वाले हेतुओं के समान उन अनेक धर्मों को साधने वाले हेतुओं का भी समीचीन हेतु के द्वारा निर्णय होता है। सभी प्रकारों से एक ही धर्म का आग्रह करके एकान्तवाद स्वीकार कर लेने पर तो यह अविद्यमान विरोधी धर्म को साधने वाला हेतु, हेत्वाभास माना गया है। जैसे मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानवान है, चेतनागुण के मिथ्या उपयोगरूप परिणाम सहित होने से तथा मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानरहित है, मोक्ष उपयोगी तत्त्वज्ञान नहीं होने से। यहाँ स्याद्वादसिद्धांत अनुसार दोनों हेतु समीचीन हैं। एकान्तवादियों के मत में दूसरा हेतु समीचीन नहीं है ॥६६॥

सत्तास्वरूप जाति अथवा द्रव्यत्व, गुणत्व, घटत्व आदि अपर जाति का सर्वव्यापकपना अथवा अपर यानी अव्यापकपना साध्य करने पर प्रसिद्ध करा दिये गये हेतुओं के समान उस हेतु को किन्हीं वैशेषिकों ने अपने यहाँ सत्प्रतिपक्ष कहा है।

सामान्य व्यापक है, सर्वत्र व्यक्तियों में अन्वित होने से, जैसे आकाश। इस अनुमान के द्वारा जाति को व्यापक सिद्ध किया जाता है। तथा सामान्य अव्यापक है, क्योंकि अन्तराल में दृष्टिगोचर नहीं होने वाला प्रति व्यक्ति में पृथक् -पृथक् है जैसे कि घट व्यक्ति। यहाँ वैशेषिकों ने दूसरा हेतु सत्प्रतिपक्ष माना है, फिर अन्य दार्शनिकों ने उसको अनैकान्तिक ही कहा है। अतः स्याद्वादियों के यहाँ भी वह अनैकान्तिक ही है।

स च सप्रतिपक्षोऽत्र कश्चिदुक्तः परैः पुनः। अनैकान्तिक एवेति ततो नास्य विभिन्नता ॥६९॥
स्वेष्टधर्मविहीनत्वे हेतुनान्येन साध्यते। साध्याभावे प्रयुक्तस्य हेतोर्नाभावनिश्चयः ॥७०॥
धर्मिणीति स्वयं साध्यासाध्ययोर्वृत्तिसंश्रयात्। नानैकान्तिकता बाध्या तस्य तल्लक्षणान्वयात् ॥७१॥
यः स्वपक्षविपक्षान्यतरवादः स्वनादिषु। नित्यत्वे भंगुरत्वे वा प्रोक्तः प्रकरणे समः ॥७२॥
सोऽप्यनैकान्तिकान्नान्य इत्यनेनैव कीर्तितम्। स्वसाध्येऽसति सम्भूतिः संशयांसविशेषतः ॥७३॥
कालात्ययापदिष्टोऽपि साध्यमानेन बाधिते। यः प्रयुज्येत हेतुः स्यात्स नो नैकान्तिकोऽपरः ॥७४॥
साध्याभावे प्रवृत्तो हि प्रमाणैः कुत्रचित्स्वयम्। साध्ये हेतुर्न निर्णीतो विपक्षविनिवर्त्तनः ॥७५॥

अनैकान्तिक हेत्वाभास से इस सत्प्रतिपक्ष का कोई विशेष भेद नहीं है। दूसरे हेतु के द्वारा अपने अभीष्ट साध्य धर्म से रहितपना साधा जाने पर साध्य वाले धर्मी में साध्य के अभाव को साधने में प्रयुक्त किये गये हेतु के अभाव का निश्चय नहीं है। क्योंकि स्वयं वादी ने साध्य और साध्याभाव के होने पर हेतु के रहने को समीचीन आश्रय कहा। अतः सत्प्रतिपक्ष कहलाने वाले हेतु को अनैकान्तिक हेत्वाभासपना बाधा करने योग्य नहीं है। क्योंकि उस अनैकान्तिक का लक्षण वहाँ अन्वय रूप से घटित हो जाता है॥६७-६८-६९-७०-७१॥

शब्द, घट, आदि में नित्यपना अथवा क्षणिकपना साधने पर जो स्वपक्ष और विपक्ष में से किसी भी एक में रहने वाला (हेतु) प्रकरणसम कहा गया है वह भी अनैकान्तिक से भिन्न नहीं है। इस प्रकार का सिद्धान्त भी उक्त हेतु से ही कह दिया गया है अर्थात् जिस हेतु से साध्यवान और साध्याभाववान के प्रकरण की जिज्ञासा होती है, उस जिज्ञासा का निर्णय करने के लिए प्रयुक्त किया गया हेतु प्रकरणसम कहा जाता है। शब्द को नित्यपना साधने में मीमांसकों के द्वारा दिया गया प्रत्यभिज्ञायमानपना हेतु नैयायिकों की ओर से प्रकरण सम हेत्वाभास है। और शब्द का अनित्यपना साधने में नैयायिकों के द्वारा दिया गया कृतकत्व हेतु तो मीमांसकों की ओर से प्रकरणसम कहा जाता है। किन्तु यह प्रकरणसम अनैकान्तिक हेत्वाभास से पृथक् नहीं है। अत्यल्प भेद होने से हेत्वाभास की कोई पृथक् जाति नहीं हो जाती है। अपने साध्य के नहीं होने पर विद्यमान रहना यह निश्चित व्यभिचार और संशयांश रूप है क्योंकि व्यभिचारका यहाँ भी सद्भाव है। किसी अंश में विशेषता नहीं है॥७२-७३॥

जो हेतु प्रमाणद्वारा साध्य के बाधित हो जाने पर प्रयुक्त किया जाता है, वह कालात्ययापदिष्ट हेतु भी स्याद्वाद में दूसरे प्रकार का अनैकान्तिक हेत्वाभास माना गया है। बाधित हेत्वाभास कोई पृथक् नहीं है। कहीं-कहीं तो स्वयं प्रमाणों के द्वारा साध्य का अभाव ज्ञात हो जाने पर पुनः वह हेतु प्रवृत्त होता है और कहीं साध्य के होने पर हेतु का निर्णय हो जाता है। किन्तु उस हेतु के विपक्ष से निवृत्त होने का निर्णय नहीं है। अतः बाधित और अनैकान्तिक में थोडा सा अन्तर है, विशेष नहीं है॥७४-७५॥

विपक्षे बाधके वृत्ति समीचीनो यथोच्यते। साधके सति किन्न स्यात्तदाभासस्तथैव सः ॥७६॥
साध्याभावे प्रवृत्तेन किं प्रमाणेन बाध्यते। हेतुः किं वा तदेतेनेत्यत्र संशीतिसम्भवः ॥७७॥
साध्यस्याभाव एवायं प्रवृत्त इति निश्चये। विरुद्धो हेतुरुद्भाव्योऽतीतकालो न चापरः ॥७८॥
प्रमाणबाधनं नाम दोषः पक्षस्य वस्तुतः। क्व तस्य हेतुभिस्त्राणोऽनुत्पन्नेन ततो हतः ॥७९॥
सिद्धे साध्ये प्रवृत्तोऽत्राकिंचित्कर इतीरितः। कैश्चिद्धेतुर्न संचिंत्यः स्याद्वादनयशालिभिः ॥८०॥
गृहीतग्रहणात्तस्याप्रमाणत्वं यदीष्यते। स्मृत्यादेरप्रमाणत्वप्रसंगः केन वार्यते ॥८१॥
संवादित्वात्प्रमाणत्वं स्मृत्यादेश्चेत्कथं तु तैः। सिद्धेर्थे वर्तमानस्य हेतोः संवादिता न ते ॥८२॥
प्रयोजनविशेषस्य सद्भावान्मानता यदि। तदाल्पज्ञानविज्ञानं हेतोः किं न प्रयोजनम् ॥८३॥

विपक्ष में बाधक प्रमाण के प्रवृत्त हो जाने पर जैसे कोई भी हेतु समीचीन हेतु कहा जाता है, उसी प्रकार विपक्ष में साधक प्रमाण के होने पर वह हेतु हेत्वाभास क्यों नहीं होगा? अवश्य हो जायेगा? ॥७६॥

साध्यका अभाव होने पर प्रवृत्त प्रमाण के द्वारा क्या यह हेतु बाधित होता है अथवा हेतु के द्वारा प्रमाण बाधित होता है। इस प्रकार यहाँ संशय होता है। तब तक वह संदिग्धव्यभिचारी हेतु होता है।

साध्य के नहीं होने पर (साध्य का अभाव होने पर) ही यह हेतु प्रवृत्त होता है। इस प्रकार निश्चय हो जाने पर विरुद्ध हेत्वाभास का उद्भावन करना चाहिए। अतः व्यभिचारी या विरुद्ध से भिन्न कोई कालातीत नाम का हेत्वाभास नहीं है जो कि "कालात्ययापदिष्ट कालातीत" कहा जाए ॥७७-७८॥

वस्तुतः विचारा जाए तो साध्य का लक्षण इष्ट, अबाधित और असिद्ध किया गया है। अतः साध्यवान् पक्ष का दोष प्रमाणबाधा नामका हो सकता है। उस कालात्ययापदिष्ट का हेतुओं के द्वारा रक्षण कैसे हो सकता है? अतः हेतुओं में उत्पन्न नहीं होने से वैशेषिकों का सिद्धांत नष्ट हो जाता है अर्थात् कालात्ययापदिष्ट कोई अन्य हेतु नहीं है ॥७९॥

साध्य के सिद्ध हो चुकने पर प्रवृत्त हुआ हेतु अकिंचित्कर है, इस प्रकार किन्हीं विद्वानों ने निरूपण किया है। स्याद्वाद नीति के धारक विद्वानों को अकिंचित्कर को हेतु का दोष नहीं विचारना चाहिए। यदि गृहीत का ही उस हेतु द्वारा ग्रहण हो जाने से उस हेतु या अनुमान को अप्रमाणपना इष्ट किया जायेगा। तब तो गृहीत का ग्राही होने से स्मृति, संज्ञा, तर्क, आदि को भी अप्रमाणपने का प्रसंग हो जाना किसके द्वारा रोका जा सकता है? यदि सफल क्रियाजनकत्व या बाधारहितत्व स्वरूप संवाद से युक्त होने के कारण स्मृति आदि को प्रमाणपना कहोगे तो उन प्रमाणों के द्वारा सिद्ध अर्थ में प्रवर्तरहे हेतु का तुम्हारे यहाँ संवादीपन क्यों नहीं माना जाता ॥८०-८१-८२॥

प्रयोजन विशेषका सद्भाव होने से यदि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि को प्रमाणपना कहोगे तब तो अल्पज्ञानवाले जीवों को शब्द में श्रावणपने आदि का विशेष ज्ञान हो जाना हेतु का प्रयोजन क्यों नहीं मानलिया जाता है? अकिंचित्कर को पृथक् हेत्वाभास मानने वाले विद्वानों ने एक अर्थ में विशेष, विशेषांश को जानने वाले अनेक प्रमाणों का रहनारूप प्रमाणसंप्लव स्वयं इष्ट किया है। इस प्रकार उनके यहाँ इष्ट

प्रमाणसंप्लवस्त्वेवं स्वयमिष्टो विरुध्यते। सिद्धे कृतश्चनार्थेन्यप्रमाणस्याफलत्वतः ॥८४॥
मानेनैकेन सिद्धेर्थे प्रमाणांतरवर्तने। यानवस्थोच्यते सापि नाकांक्षाक्षयतः स्थितेः ॥८५॥
सरागप्रतिपत्तृणां स्वादृष्टत्वमतः क्वचित्। स्यादाकांक्षाक्षयः कालदेशादेः स्वनिमित्ततः ॥८६॥
वीतरागाः पुनः स्वार्थान् वेदनैरपरापरैः। प्रतिक्षणं प्रवर्तंते सदोपेक्षापरायणाः ॥८७॥
प्रमाणसंप्लवे चैवमदोषे प्रत्युपस्थिते। गृहीतग्रहणात् क्व स्यात् केवलस्याप्रमाणता ॥८८॥

किये गये प्रमाण संप्लव का विरोध प्राप्त होता है। यानी वे प्रमाणसंप्लव नहीं मान सकेंगे। क्योंकि किसी भी एक प्रमाण से अर्थ के प्रसिद्ध हो चुकने पर अन्य प्रमाणों को व्यर्थपना प्राप्त होता है॥८३-८४॥

प्रमाण के द्वारा पदार्थ के सिद्ध हो जाने पर पुनरपि यदि अन्य प्रमाणों की प्रवृत्ति मानने पर अनवस्था दोष कहा जाता है। वह अनवस्था भी आकांक्षाओं के क्षय हो जाने से नहीं आती है। यह व्यवस्थित सिद्धान्त है। जब तक आकांक्षा बढ़ती जायेगी निराकांक्षा होने पर प्रमाता वहीं अवस्थित हो जाता है। रागसहित या इच्छासहित प्रतिपत्ताजनों को अपने अदृष्ट के वश से आकांक्षा का क्षय हो जाता है।

अर्थात् - जैसे अत्यन्त प्रिय पदार्थ का वियोग हो जाने पर उसकी स्मृतियाँ हमको सताती रहती हैं। पश्चात् हमारे सुख दुःखों के भोग अनुकूल पुण्यपापों के द्वारा वे स्मृतियाँ प्रायः नष्ट हो जाती हैं। यदि वे स्मृतियाँ या आकांक्षायें नष्ट नहीं हों तो जीवित रहना या अन्य कार्यों को करना ही अति कठिन हो जाता है। कहीं-कहीं अपनी आकांक्षाक्षय के निमित्त कारण काल, देश, विषयांतर संचार विस्मारक पदार्थ-सेवन आदि से भी आकांक्षा का क्षय हो जाता है॥८५-८६॥

आकांक्षा का क्षय हो जाने से रागी ज्ञाताओं को तो अनवस्था हो नहीं सकती है। फिर उत्तरोत्तर काल में होने वाले ज्ञानों के द्वारा स्व और अर्थों को जानने वाले वीतराग पुरुष सर्वदा उपेक्षा धारने में तत्पर होकर प्रतिक्षण प्रवृत्ति करते हैं। अर्थात् - वीतराग मुनि या सर्वज्ञ के कहीं किसी पदार्थ में आकांक्षा तो नहीं है। उनके ज्ञान का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति और परम्पराफल विषयों में रागद्वेष की परिणति नहीं होने रूप उपेक्षा भाव है। सर्वज्ञ का ज्ञान गृहीतग्राही नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ को सभी पदार्थ अपने-अपने धर्मों से सहित होकर प्रतिभासित होते हैं। तथा भूत भविष्यत् काल की अपेक्षा भिन्न-भिन्न रूप से ग्रहण होते हैं।

इस प्रकार प्रतिवादी जैनों के द्वारा एक भी अर्थ में धर्मों की अपेक्षा विशेष, विशेषांशों को जानने वाले बहुत प्रमाणों की प्रवृत्ति होने स्वरूप प्रमाण संप्लव को इस रीति से दोष रहित उपस्थित करने पर केवलज्ञान के गृहीत करने में अप्रमाणता कैसे हो सकती है?

इस प्रकार श्रेष्ठ नयों के द्वारा सम्पूर्ण प्रमाणों के अपूर्व अर्थ का ग्राहीपना सिद्ध हो जाने पर अकिंचित्कर नाम का कोई भी हेत्वाभास नहीं हो सकता है। अर्थात् - पूर्व में ज्ञात शब्दों का ही कर्णइन्द्रिय से ग्रहण होना अनुमान द्वारा जाना जा सकता है। ऐसी दशा में अनुमान या हेतु कुछ कार्य को करने वाला कहा जा सकता है। किसी भी पुरुष के प्रतिदिन होने वाले ज्ञानों में से बहुभाग ज्ञान तो जानी हुई वस्तु के विशेषांशों को ही अधिकतर जानते रहते हैं। अतः अकिंचित्कर नामका हेत्वाभास नहीं मानना चाहिए। एक

ततः सर्वप्रमाणानामपूर्वार्थत्वं सन्नये। स्यादकिंचित्करो हेत्वाभासो नैवान्यथार्पणात् ॥८९॥
तत्रापि केवलज्ञानं नाप्रमाणं प्रसज्यते। साद्यपर्यवसानस्य तस्यापूर्वार्थता स्थितेः ॥९०॥
प्रादुर्भूतिक्षणादूर्ध्वं परिणामित्वविच्युतिः। केवलस्यैकरूपित्वादिति चोद्यं न युक्तिमत् ॥९१॥
परापरेण कालेन संबंधात्परिणामि च। सम्बन्धि परिणामित्वे ज्ञातृत्वे नैकमेव हि ॥९२॥
एवं व्याख्यातनिःशेषहेत्वाभाससमुद्भवं। ज्ञानं स्वार्थानुमाभासं मिथ्यादृष्टेर्विपर्ययः ॥९३॥

सर्वमेव विजानीयात् सम्यग्दृष्टेः शुभावहं। यथा श्रुतज्ञाने विपर्यासस्तद्वत्संशयोऽनध्यवसायश्च क्वचिदाहार्यः प्रदर्शितस्तथावग्रहादिस्वार्थानुमानपर्यन्तमतिज्ञान भेदेषु प्रतिपादित विपर्यासवत्संशयोनध्यवसायश्च प्रतिपत्तव्यः। सामान्यतो विपर्ययशब्देन मिथ्याज्ञानसामान्यस्याभिधानात्।

विवक्षा से विचारा जाय तब तो वह प्रत्युत अन्यथा यानी असद्धेतुओं से भिन्न प्रकार का समीचीन हेतु है। उसमें हेतु का कोई भी दोष संभव नहीं है॥८८-८९॥

अपूर्व अर्थ को जानने वाले उन ज्ञानों मे केवलज्ञान के अप्रमाण होने का प्रसंग नहीं आता है। क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के क्षय से विवक्षितकाल में उत्पन्न सादि और अनन्तकाल तक रहने वाले उस केवलज्ञान को अपूर्व अर्थ का ग्राहकपना व्यवस्थित हो चुका है॥९०॥

अपनी उत्पत्ति होने के क्षण से ऊपर उत्तरकाल में केवलज्ञान का परिणामीपना विशेषरूपेण च्युत हो जाता है। क्योंकि केवलज्ञान तो सदा एकरूप ही बना रहता है। अर्थात् - जिन त्रिलोक, त्रिकालवर्ती पदार्थों को आज जान रहा है, उन ही को जानता रहेगा।

उत्पाद, विनाश और ध्रुवतारूप परिणाम से सहितपना केवलज्ञान में नहीं घटित होता है। इस प्रकार वितर्कणा करना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि, उत्तर उत्तरवर्ती काल के साथ सम्बन्ध हो जाने से उत्पाद और व्ययरूप परिणाम घटित होता है, केवलज्ञान की पूर्व समयवर्ती पर्याय का नाश हो जाता है और उत्तरकाल में नवीन पर्यायकी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार सम्बन्ध विशिष्ट और परिणामसहित पना होने के कारण केवलज्ञानी ज्ञातापन करके नियम से वह एक ही है - यह ध्रुवता है। अतः वह परिणामीपन से च्युत नहीं होता है, अपितु प्रतिष्ठित है॥९१-९२॥

इस प्रकार व्याख्यान किये गये सम्पूर्ण हेत्वाभासों से उत्पन्न हुआ ज्ञान स्वार्थानुमानरूप मतिज्ञान का आभास है। मिथ्यादृष्टि जीव को अनुमान का आभास नामक विपर्ययज्ञान हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव के समीचीन हेतुओं से उत्पन्न हुए सभी ज्ञान प्रमाणरूप होते हुए कल्याणकारी हैं - ऐसा समझ लेना चाहिए॥९३॥

जिस प्रकार श्रुतज्ञान में आहार्य विपर्यास है, उसी के समान श्रुतज्ञान में आहार्य संशय और आहार्य अनध्यवसाय, भी कहीं-कहीं होता है। यह दिखलाया है। उसी प्रकार अवग्रह को आदि लेकर स्वार्थानुमान पर्यंत मतिज्ञान के भेदों में भी विपर्यास के समान संशय और अनध्यवसाय भी क्वचित् होते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए।

क्योंकि सूत्र में सामान्यरूप से कहे गये विपर्यय शब्द के द्वारा सभी मिथ्याज्ञानों का सामान्यपने से कथन हो जाता है।

संप्रति वाक्यार्थज्ञानविपर्ययमाहार्यं दर्शयन्नाह–

नियोगो भावनैकांताद्धात्वर्थो विधिरेव च। यंत्रारूढादिचार्थोन्यापोहो वा वचसो यदा ॥९४॥
कैश्चिन्मन्येत तज्ज्ञानं श्रुताभं वेदनं तदा। तथा वाक्यार्थनिर्णीतेर्विधातुं दुःशकत्वतः ॥९५॥

कः पुनरयं नियोगो नाम नियुक्तोहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो योगो नियोगस्तत्र मनागप्ययोगाशंकायाः संभवाभावात्। स चानेकधा, केषांचिल्लिङादिप्रत्ययार्थः शुद्धोऽन्यनिरपेक्षः कार्यरूपो नियोग इति मतम्॥

भावार्थ - अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, स्वार्थानुमान इन मतिज्ञानों में सहज विपर्ययरूप संशय, भ्रान्ति, अनध्यवसाय होते हैं। क्योंकि गृहीत मिथ्यादर्शन के समान जानबूझकर विपरीत जान लेना ऐसे मिथ्यादृष्टियों के आहार्यविपर्यय तो कुश्रुतज्ञानों में ही सम्भव हैं। हिंसा, चोरी, व्यभिचार को बुरा जानते हुए भी कुगुरु या मिथ्याशास्त्रों के उपदेश द्वारा अच्छा समझने लग जाते हैं। मिथ्यात्व, कषाय, मिथ्यासंस्कार, इन्द्रियलोलुपता आदि कारणों से जीवों की प्रवृत्ति विपर्ययज्ञानों की ओर झुक जाती है। अतः श्रुतज्ञान के आहार्य और सहज दोनों विपर्यय होते हैं, तथा मतिज्ञान के सहज ही विपर्यय हो सकते हैं। तथा हेतु की साध्य के साथ अभेद विवक्षा करने पर हेतु से उत्पन्न हुआ साध्यज्ञान तो मतिज्ञानरूप अनुमान है और हेतु से साध्य का अर्थान्तरभाव होने पर हेतु से उत्पन्न साध्यज्ञान श्रुतज्ञानरूप अनुमान है। स्वार्थानुमान को मतिज्ञान और परार्थानुमान को श्रुतज्ञानस्वरूप भी कह सकते हैं।

अब इस समय श्रुतज्ञान के विशेष रूप वाक्यार्थज्ञान के आहार्य विपर्यय को दिखलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं -

किन्हीं प्रभाकर मीमांसकों के द्वारा विधिलिंग लकारान्त वाक्यों का अर्थनियोग माना जाता है। और किन्हीं भट्ट मीमांसकों के द्वारा वाक्य का अर्थ एकान्तरूप से भावना माना जा रहा है। तथा किन्हीं ब्रह्माद्वैतवादियों के द्वारा सत्तामात्र शुद्ध धात्वर्थ विधि को ही विधिलिङन्त वाक्य का अर्थ स्वीकार किया जाता है। अथवा बौद्धों के द्वारा वचन का अर्थ अन्यापोह इष्ट किया जाता है। प्रभाकरों ने नियोग के यंत्रारूढ़ पुरुष आदि ११ भेद माने हैं। परन्तु प्रभाकर, कुमारिल भट्ट, ब्रह्माद्वैतवादी, आदि को जिस समय स्वकीय-मतानुसार उन वाक्यों का ज्ञान हो रहा है, उस समय वह ज्ञान, कुश्रुतज्ञान या श्रुतज्ञानाभास है। क्योंकि जैसा वे वाक्य का अर्थ करते हैं, उस प्रकार वाक्य अर्थ के निर्णय का विधान करने के लिए उनकी अशक्यता है। अर्थात्-नियोग, भावना आदि को वाक्य का अर्थ कैसे भी निर्णय नहीं कर सकते हैं॥९४-९५॥

यह प्रभाकर मीमांसकों द्वारा माना गया नियोग नामका क्या पदार्थ है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर मीमांसक कहते हैं कि मैं इस वाक्य के द्वारा अमुक कर्म करने में नियुक्त हो गया हूँ। इस प्रकार 'नि' यानी निरवशेष तथा 'योग' यानी मन, वचन, काय और आत्मा की एकाग्रता होकर प्रवृत्ति हो जाना नियोग है। नियुक्त किये गये व्यक्ति का नियोज्यकर्म में परिपूर्ण योग लग रहा है। उसमें अत्यल्प भी योग नहीं लगने की आशंका की संभावना नहीं है।

प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते। कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्धं कार्यमसौ यतः ॥९६॥
विशेषणं तु यत्तस्य किंचिदन्यत्प्रतीयते। प्रत्ययार्थो न तद्युक्तः धात्वर्थः स्वर्गकामवत् ॥९७॥
प्रेरकत्वं तु यत्तस्य विशेषणमिहेष्यते। तस्याप्रत्ययवाच्यत्वात् शुद्धे कार्ये नियोगता ॥९८॥

परेषां शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्याशयः।

प्रेरणैव नियोगोत्र शुद्धा सर्वत्र गम्यते। नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वं प्रबुध्यते ॥९९॥

प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इति केचिन्मन्यंते।

ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत्। स्वसिद्ध्यै प्रेरकं तत्स्यादन्यथा तन्न सिद्ध्यति ॥१००॥

वह नियोग अनेक प्रकार का है। मीमांसकों के प्रभाकर, भट्ट, मुरारि ये तीन भेद हैं। प्राभाकरों की भी अनेक शाखाएँ हैं। अतः किन्हीं प्राभाकरों के यहाँ 'अजेत्' 'धिनुयात्' आदि में पड़े हुए लिङ् प्रत्यय और गच्छतु, यजताम् आदि में पड़े हुए लोट् प्रत्यय अथवा यष्टव्यं, श्रोतव्यं आदि में पड़े हुए तव्यप्रत्यय का अर्थ तो अन्य धात्वर्थ स्वर्गकाम, आत्मा आदि की नहीं अपेक्षा रखता हुआ शुद्ध कार्यस्वरूप ही नियोग है। ऐसा माना है।

क्योंकि प्रत्ययों का अर्थ शुद्ध कार्यस्वरूप नियोग प्रतीत होता है। अतः यह नियोग शुद्ध कार्यस्वरूप माना गया है। उस नियोग का जो कुछ भी अन्य विशेषण प्रतीत होता है, वह लिङ् आदि प्रत्ययोंका अर्थ माना जाय यह तो युक्तिपूर्ण नहीं है। जैसे कि यजि, पचि आदि धातुओं के अर्थ शुद्ध याग, पाक है। स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला या तृप्ति की कामना करने वाला तो धात्वर्थ नहीं है। उस नियोग का विशेषण जो प्रेरकपना यहाँ माना गया है, वह तो प्रत्ययों का वाच्य अर्थ नहीं है। इस कारण शुद्ध कार्य में नियोगपना अभीष्ट किया गया है। यह प्रथम नियोग का अर्थ है ॥९६-९७-९८॥

दूसरे मीमांसकों का यह कथन है कि शुद्ध प्रेरणा करना ही नियोग है। वह नियोग प्रत्यय का अर्थ है।

इस प्रकरण में सर्वत्र शुद्ध प्रेरणारूप नियोग ही वाक्य द्वारा जाना जाता है। क्योंकि प्रेरणारहित कोई भी प्राणी अपने को नियुक्त नहीं समझ सकता यद्यपि नियुक्त और प्रेरित समानार्थक है तथापि नियोग का अर्थ शुद्ध प्रेरणा अर्थापत्ति से ज्ञात कर लिया जाता है। यह दूसरा नियोग है ॥९९॥

कोई प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक प्रेरणा से सहित कार्य ही नियोग है, ऐसा मानते हैं -

यह मेरा कर्त्तव्य कार्य है इस प्रकार जब पहिले ज्ञात हो जाता है, तभी तो वह वाक्य अपने वाक्य अर्थ यज्ञकर्म की सिद्धि कराने के लिए श्रोता पुरुष का प्रेरक हो सकेगा। अन्यथा यानी मेरा यह कर्त्तव्य है, इस प्रकार ज्ञान नहीं होने पर वह वाक्य प्रेरक सिद्ध नहीं होता है। अतः अकेली प्रेरणा या शुद्ध कार्य नियोग नहीं है। किन्तु प्रेरणा से सहित हुआ कार्य नियोग है। यह तीसरा प्रकार हुआ ॥१००॥

अपर मीमांसक कहते हैं कि कार्य से सहित हो रही प्रेरणा नियोग है, अर्थात् पहिले तृतीय पक्ष में कार्य की प्रधानता थी, अब प्रेरणा की मुख्यता है, यहाँ पर भी विशेषण को गौण और उससे सहित विशेष्य को मुख्य जान लेना चाहिए।

कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यपरे॥

प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणेह विना क्वचित्। ततश्चेत्प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसंगता॥१०१॥

कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्तकत्वं नियोग इत्यन्ये।

प्रेरणाविषयः कार्यं न तु तत्प्रेरकं स्वतः। व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय उपचर्यते॥१०२॥

कार्यप्रेरणयोः संबंधो नियोग इत्यपरे।

प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित्। कार्यप्रेरणयोर्योगो नियोगस्तेन सम्मतः॥१०३॥

तत्समुदायो नियोग इति चापरे।

परस्पराविनाभूतं द्वयमेतत्प्रतीयते। नियोगः समुदायोस्मात्कार्यप्रेरणयोर्मतः॥१०४॥

तदुभयस्वभावनिर्मुक्तो नियोग इति चान्ये।

सिद्धमेकं यतो ब्रह्मगतमाम्नायतः सदा। सिद्धत्वेन च तत्कार्यं प्रेरकं कुत एव तत्॥१०५॥

इस जगत् में कोई भी पुरुष कर्त्तव्यपने को जाने बिना किसी भी कार्य को करने में प्रेरित हो रहा नहीं पाया जाता है अतः कार्य से सहित हो रही प्रेरणा ही यहाँ अच्छा नियोग कही गयी है, यह नियोग का चतुर्थ प्रकार है॥१०१॥

अब कोई अन्य मीमांसक कह रहे हैं कि उपचार से कार्य का ही प्रवर्तकपना नियोग है।

वेदवाक्यजन्य यागानुकूल व्यापारस्वरूप प्रेरणा है। यज्ञ करना, पूजन करना आदि कार्य उस प्रेरणा के कर्त्तव्य विषय हैं वह कार्य स्वयं अपने आप से यष्टा का प्रेरक नहीं है। किन्तु प्रमाण के व्यापार का उपचार प्रमेय में कर दिया जाता है॥१०२॥

योगरूपकार्य और प्रेरणा का सम्बन्ध हो जाना नियोग है। इस प्रकार इतर मीमांसक कहते हैं। क्योंकि प्रेरणा बेचारी कार्य के बिना किसी भी पुरुष को प्रेरणा कराने वाली नहीं होती है। अतः कार्य और प्रेरणा का सम्बन्ध हो जाना ही नियोग सम्मत किया गया है। यह छठा नियोग है॥१०३॥

उन कार्य और प्रेरणा का समुदाय हो जाना नियोग है। इस प्रकार कोई मीमांसक कहते हैं -

परस्पर में अविनाभाव को प्राप्त होकर मिले हुए कार्य और प्रेरणा दोनों ही एकमेक प्रतीत हो रहे हैं। इस कारण कार्य और प्रेरणा का समुदाय यहाँ नियोग माना गया है। यह सातवाँ प्रकार है॥१०४॥

उन कार्य और प्रेरणा दोनों स्वभावों से विनिर्मुक्त हो रहा नियोग है। इस प्रकार कोई अन्य विद्वान् कह रहे हैं।

वेदवाक्यों द्वारा सदा प्रसिद्ध, एक ब्रह्म तत्त्व है,जबकि परमात्मा अनादिकाल से सिद्ध है, अतः वह किसी का कार्य कैसे हो सकता है। प्रेरक तो वह कैसे भी नहीं हो सकता है, अतः कार्य और प्रेरणा इन दोनों स्वभावों से रहित नियोग है। नियोग का यह आठवाँ विधान है॥१०५॥

यंत्रारूढो नियोग इति कश्चित्।

कामी यत्रैव यः कश्चिन्नियोगे सति तत्र सः। विषयारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तते ॥१०६॥

भोग्यरूपो नियोग इत्यपरः॥

ममेदं भोग्यमित्येवं भोग्यरूपं प्रतीयते। ममत्वेन च विज्ञानं भोक्तर्येव व्यवस्थितम् ॥१०७॥
स्वामित्वेनाभिमानो हि भोक्तुर्यत्र भवेदयं। भोग्यं तदेव विज्ञेयं तदेवं स्वं निरुच्यते ॥१०८॥
साध्यरूपतया येन ममेदमिति गम्यते। तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्यं स्वं व्यपदिश्यते ॥१०९॥
सिद्धरूपं हि यद्भोग्यं न नियोगः स तावता। साध्यत्वेनेह भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता ॥११०॥

पुरुष एव नियोग इत्यन्यः।

ममेदं कार्यमित्येवं मन्यते पुरुषः सदा। पुंसः कार्यविशिष्टत्वं नियोगः स्यादबाधितः ॥१११॥
कार्यस्य सिद्धौ जातायां तद्युक्तः पुरुषस्तदा। भवेत्साधित इत्येवं पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ॥११२॥

यंत्र में आरूढ़ होने के समान याग आदि कार्य में आरूढ़ हो जाना नियोग है। इस प्रकार कोई मीमांसक कह रहा है।

जो भी कोई जीव जिस स्वर्ग आदि विषय में तीव्र अभिलाषा रखने वाला होता है, वह जीव उस कार्य के करने में नियोग हो जाने पर अपने को याग आदि विषयों में आरूढ़ मान कर प्रवृत्त हो जाता है यह नौवाँ विधान है।॥१०६॥

कार्य कर चुकने पर भविष्य में जो भोग्यस्वरूप हो जाता है, वही वाक्य का अर्थ नियोग है, ऐसा कोई अन्य कह रहा है -

किसी उपयोगी वाक्य को सुनकर मेरा यह भोग्य है, इस प्रकार भोग्यस्वरूप की प्रतीति हो जाती है। उस भोग्यस्वरूप में मेरेपन से जो विज्ञान होता है वह भोक्ता आत्मा में ही व्यवस्थित हो रहा है, भोक्ता आत्मा का जिस विषय में स्वामित्वका अभिप्राय होता है अर्थात् जिसका वह स्वामी है, वही पदार्थ भोग्य समझना चाहिए। वास्तव में तो वह आत्मा का स्वरूप ही स्व शब्द के द्वारा वाच्य किया जाता है। आत्मा अपने स्वभावों का भोक्ता है, मेरे द्वारा यह कार्य साध्य है। इस प्रकार साधने योग्य स्वरूप से जिस पुरुष के द्वारा यह जानलिया जाता है, वह साध्यरूप से निज स्वरूप भोग्य कह दिया जाता है, जो आत्मा का स्वरूप वह भोग्य है। उतने मात्र से वह नियोग नहीं है। क्योंकि भविष्य में साधने योग्यपने से यहाँ भोग्य की व्यवस्था है, जो स्वरूप भविष्य में भोगने योग्य होगा। अतः प्रेरकपने से भोग्य को नियोगपना इष्ट किया है, अर्थात् - भविष्य में करने योग्य ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों से विशिष्ट आत्मा का स्वरूप भोग्य है। अतः भोग्य स्वरूप नियोग है, यह दसवाँ प्रकार नियोग का है॥१०६-११०॥

आत्मा ही नियोग है, इस प्रकार कोई अन्य प्रभाकर कह रहा है- यह मेरा कार्य है, इस प्रकार आत्मा सर्वदा मानता रहता है अतः पुरुषका कार्य से विशिष्टपना ही अबाधित नियोग है। यह नियोग विधिलिङ् का वाच्य अर्थ है। अतः कार्यसे युक्त पुरुष ही वाक्य का अर्थ कहा गया है। यह नियोग का ग्यारहवाँ भेद है॥१११-११२॥

सोऽयमेकादशविकल्पो नियोग एव वाक्यार्थ इत्येकांतो विपर्यय: प्रभाकरस्य तस्य सर्वस्याप्येकादश-भेदस्य प्रत्येकं प्रमाणाद्यष्टविकल्पानतिक्रमात्। यदुक्तं–

प्रमाणं किं नियोग: स्यात्प्रमेयमथवा पुन:। उभयेन विहीनो वा द्वयरूपोथवा पुन: ॥११३॥
शब्दव्यापाररूपो वा व्यापार: पुरुषस्य वा। द्वयव्यापाररूपो वा द्वयाव्यापार एव वा ॥११४॥

तत्रैकादशभेदोपि नियोगो यदि प्रमाणं तदा विधिरेव वाक्यार्थ इति वेदांतवादप्रवेश: प्रभाकरस्य स्यात्

यह पूर्वोक्त प्रकार ग्यारह भेद वाला नियोग ही वाक्य का अर्थ है। इस प्रकार प्रभाकरों का एकान्तरूप से आग्रह करना निरा विपर्ययज्ञान है। क्योंकि उन ग्यारहों भेद वाले भी सभी नियोगों का प्रत्येक में प्रमाण, प्रमेय आदि आठ विकल्पों के द्वारा अतिक्रमण नहीं हो सकता है। अर्थात् ग्यारहों भी नियोगों में प्रत्येक का प्रमाण, प्रमेय आदि विकल्प उठाकर विचार किया जाएगा तो वे ठीक-ठीक रूप से व्यवस्थित नहीं हो सकते हैं, जो ही विद्वानों ने कहा है।

प्रभाकरों के प्रति भट्ट मतानुयायी पूछते हैं कि तुम्हारा माना हुआ वह नियोग क्या प्रमाण रूप है? या प्रमेयरूप है? अथवा क्या फिर प्रमाणप्रमेय दोनों से रहित है? अथवा क्या पुन: प्रमाणप्रमेय दोनों स्वरूप है? अथवा क्या शब्द के व्यापारस्वरूप है? तथा क्या पुरुष के व्यापारस्वरूप है? अथवा क्या शब्द और पुरुष दोनों का मिला हुआ व्यापार है? अथवा क्या शब्द और पुरुष के व्यापारों से रहित नियोग का स्वरूप है? ॥११३-११४॥

यहाँ **श्री विद्यानन्द आचार्य** नियोगवादी प्रभाकरों के मत का भट्ट मीमांसकों के द्वारा खंडन करा देते है। भाट्ट कहते हैं कि ग्यारह भेदवाला नियोग यदि उन आठ भेदों से पहिला भेद प्रमाण स्वरूप है, तब तो कर्त्तव्य अर्थ का उपदेश या शुद्ध सन्मात्रस्वरूप विधि ही वाक्य का अर्थ है। इस प्रकार प्रभाकर के यहाँ ब्रह्माद्वैत को कहने वाले वेदान्तवाद का प्रवेश होता है। क्योंकि प्रमाण तो चैतन्यात्मक है और चित्स्वरूप आत्मा केवल प्रतिभासमय है और वह शुद्ध प्रतिभास तो ब्रह्ममय है। केवल प्रतिभास से पृथक् कोई विधि घटादिक के समान कार्यरूप से प्रतीत नहीं होती है। घट, पट पुस्तक आदि जैसे कार्यरूप से प्रतीत होते हैं, वैसी विधि कार्यरूप नहीं दीख रही है। अथवा वचन, अंगुली द्वारा संकेत आदि के समान प्रेरक रूप से भी विधि नहीं जानी जाती है। ये व्यतिरेक दृष्टान्त हैं, अर्थात् - वचन चेष्टा आदि जैसे लोक में प्रेरक माने गये हैं, वैसी प्रतिभासरूप विधि प्रेरणा करने वाली नहीं है। कर्म को और करण को वाच्य अर्थ साधने वाले के द्वारा यदि विधि की प्रतीति होती है तब तो विधि में कार्यपन या प्रेरकपन के द्वारा ज्ञान होना उचित होता। अन्यथा (कर्म साधन या कारणसाधन रूप के बिना ही) शुद्ध सन्मात्र विधि की प्रतीति हो जाने पर तो कार्यपन या प्रेरकपन का ज्ञान करना उचित नहीं है। अर्थात् जो किया जाय वह कर्म है, जैसे घट-पट आदि और स्वकृत्य में पुरुष के द्वारा प्रेरा जाय वे वचन आदि प्रेरक करण हैं। किन्तु "विधीयते यत् या विधीयतेऽनेन" इस प्रकार निरुक्ति करके विधि शब्द नहीं सिद्ध होता है।

प्रमाणस्य चिदात्मकत्वात्, चिदात्मनः प्रतिभासमात्रत्वात्तस्य च परब्रह्मत्वात्। प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधिः कार्यतया न प्रतीयते घटादिवत् प्रेरकतया वचनादिवत्। कर्मकरणसाधनतया च हि तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकताप्रत्ययौ युक्तौ नान्यथा। किं तर्हि, द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमंतव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादि श्रवणादवस्थांतरविलक्षणेन प्रेरितोहमिति जाताकूतेनाकारणैव स्वयमात्मैव प्रतिभाति स एव विधिरिति वेदांतवादिभिरभिधानात्। प्रमेयत्वं तर्हि नियोगस्यास्तु प्रमाणत्वे दोषाभिधानात् इति कश्चित्। तदसत्, प्रमाणवचनाभावात्। प्रमेयत्वे हि तस्य प्रमाणमन्यद्वाच्यं, तदभावे क्वचित्प्रमेयत्वायोगात्। श्रुतिवाक्यं प्रमाणमिति चेन्न तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारात्। संविदात्मकत्वे श्रुतिवाक्यस्य पुरुष एव तदिति स एव प्रमाणं तत्संवेदनविवर्तश्च। नियुक्तोहमित्यभिधानरूपो नियोगः प्रमेय इति नायं पुरुषादन्यः प्रतीयते यतो वेदांतवादिमतानुप्रवेशोऽस्मिन्नपि पक्षे न संभवेत्। प्रमाणप्रमेयस्वभावो नियोग इतिचेत् सिद्धस्तर्हि चिद्विवर्तोसौ प्रमाणरूपतान्यथानुपपत्तेः। तथा च स एव चिदात्मोभयस्वभावतयात्मानमादर्शयन् नियोग इति

शंका - विधि क्या है?

समाधान - इसका उत्तर यह है कि अरे! यह आत्मा दर्शन करने योग्य है। पहिले आत्मा का वेदवाक्यों द्वारा श्रवण करना चाहिए। तभी ब्रह्म ज्ञान में तत्परता हो सकती है। पुनः श्रुत आत्मा का युक्तियों से विचार कर अनुमनन करना चाहिए। श्रवण और मनन से निश्चित किये गये अर्थ का मन से परिचिन्तन करना चाहिए।

अथवा "**तत्त्वमसि**" वह प्रसिद्ध परब्रह्म तू है इत्यादि वैदिक शब्दों के श्रवण से मैं पहली अदर्शन, अश्रवण आदि की अवस्थाओं की अपेक्षा विलक्षण हो रही दूसरी अवस्थाओं के द्वारा इस समय प्रेरित हो गया हूँ। इस प्रकार '**अहम्**' का दर्शन आदि द्वारा प्रत्यक्ष कराने वाली उत्पन्न हुई आकारवाली चेष्टा करके स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित है, वह आत्मा ही तो विधि है। इस प्रकार वेदान्तवादियों ने कथन किया है।

द्वितीयपक्षानुसार नियोग को प्रमाणपना मानने पर दोषों का कथन होने पर तो नियोग को प्रमेयत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार कोई कह रहा है। जैनाचार्य कहते हैं कि उसका यह कथन भी असत्य है क्योंकि प्रमाण के वचन का अभाव है। अर्थात् प्रमाण के अभाव से प्रमेयत्व नहीं सिद्ध हो सकता, उस नियोग को प्रमेयपना मानने पर तो उसका ग्राहक अन्य कहना ही चाहिए। क्योंकि उस प्रमाण के बिना किसी भी पदार्थ में प्रमेयपन का योग नहीं हो सकता है। तथा श्रुतिवाक्यों को प्रमाण कहना उचित नहीं है। क्योंकि वचन जड़ होते हैं, तथापि उपचार से वचनों को प्रमाण कह दियाजाता है। उपचार के सिवाय उन वेदवाक्यों को चैतन्यात्मकपना व मुख्यरूप से प्रमाणपना घटित नहीं हो सकता है। यदि वेदवाक्यों को चैतन्य आत्मक माना जायेगा, तब तो परब्रह्म ही श्रुतिवाक्य होगा, ब्रह्म ही प्रमाण होगा और उसकी चैतन्यस्वरूप पर्यायें तो "मैं स्व में नियुक्त हो गया हूँ" इस प्रकार कथन करना स्वरूप नियोग प्रमेय हो गया। इस प्रकार यह प्रमेय तो परब्रह्म से पृथक् प्रतीत नहीं हो रहा है। जिससे कि इस प्रमेयरूप दूसरे पक्ष में भी वेदान्तवादियों

स एव ब्रह्मवादः। अनुभयस्वभावो नियोग इति चेत् तर्हि संवेदनमात्रमेव पारमार्थिकं तस्य कदाचिदहेयत्वात् तथाविधत्वसंभवात् सन्मात्रदेहतया निरूपितत्वादिति वेदांतवाद एव। शब्दव्यापारो नियोग इति चेत् भट्टमतप्रवेशः, शब्दव्यापारस्य शब्दभावनारूपत्वात्। पुरुषव्यापारो नियोग इति चेत्, स एव दोषः तस्यापि भावनारूपत्वात्; शब्दात्मव्यापाररूपेण भावनाया द्वैविध्याभिधानात्। तदुभयरूपो नियोग इत्यनेनैव व्याख्यातं। तदनुभयव्यापाररूपत्वे तन्नियोगस्य विषयस्वभावता, फलस्वभावता, निःस्वभावता, वा स्यात्? प्रथमपक्षे यागादिविषयस्याग्निष्टोमादिवाक्यकाले विरहात् तद्रूपस्य नियोगस्यासंभव एव। संभवे वा न वाक्यार्थो

के मत का प्रवेश सम्भव ना हो? अपितु वेदान्तवाद के मत का प्रवेश सम्भव है। तृतीय पक्ष के अनुसार प्रमाण और प्रमेय दोनों स्वभाव वाला नियोग है। ऐसा कहने पर तो नियोग चैतन्य परब्रह्म का परिणाम सिद्ध हो जाता है। अन्यथा नियोग का प्रमाणपना नहीं बन सकता। अर्थात् जो वस्तु प्रमाण प्रमेय उभयरूप है, वह चैतन्यात्मक अवश्य है। और उस प्रकार होने पर वह सत् चिद् आनंद स्वरूप आत्मा ही प्रमाण प्रमेय इन उभय स्वभावों से अपने को दिखलाती हुई नियोगस्वरूप हो रही है। इस प्रकार वही ब्रह्म अद्वैतवाद का अनुसरण करना प्राभाकरों के लिए प्राप्त होता है।

चतुर्थपक्ष के अनुसार यदि प्रमाण प्रमेय दोनों स्वभावों से रहित नियोग माना जायेगा तब तो केवल शुद्ध संवेदन ही वास्तविक पदार्थ सिद्ध होता है। क्योंकि किसी भी काल में वह शुद्धसंवेदन त्यागने योग्य नहीं है। तथा सर्वदा प्रमाणपन, प्रमेयपन उपाधियों से रहित होता हुआ शुद्ध प्रतिभास ही सम्भव है। केवल सत् स्वरूप से शरीर को धारने वाले के द्वारा उस प्रतिभास का ही निरूपण किया गया है। इस प्रकार प्राभाकरों के यहाँ वेदान्तवाद ही घुस जाता है।

पाँचवें पक्ष के अनुसार "**अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्**" स्वर्गप्राप्ति की अभिलाषा रखने वाला जीव अग्निष्टोम करके यज्ञ करे, इत्यादि शब्दों के व्यापार स्वरूप नियोग है, तब तो कुमारिल भट्ट के मत का प्रवेश हो जाता है। क्योंकि भट्ट ने शब्द के व्यापार को ही शब्द की भावना स्वीकार की है।

छठे पक्ष के अनुसार यदि आत्मा के व्यापार को नियोग मानेंगे तब भी वही दोष होगा। यानी प्राभाकरों को भट्ट मत का अनुसरण करना होगा। क्योंकि पुरुष का व्यापार भी भावनास्वरूप है। भट्टों ने शब्द व्यापार और आत्मव्यापार स्वरूप से भावना का दो प्रकार से कथन किया है।

सातवें पक्ष के अनुसार -यदि शब्द और पुरुष मिले हुए दोनों के व्यापार स्वरूप नियोग को मानेंगे तो वह उनका वक्तव्य भी इस उक्त कथन से व्याख्यायित कर दिया गया है।

अष्टम पक्ष के अनुसार प्रभाकर द्वारा उस नियोग को शब्द व्यापार और पुरुषव्यापार दोनों से रहित मानने पर भाट्ट प्रश्न करेंगे कि क्या वहाँ उस नियोग में यज्ञ आदि कर्मरूप विषय स्वभाव है? या स्वर्ग आदि फलस्वभाव है? अथवा प्रसज्यपक्ष को अंगीकार करने पर वह नियोग सभी स्वभावों से रहित है? पहिला पक्ष लेने पर तो अग्निष्टोम करके याग करना चाहिए। इस वाक्य उच्चारण के समय में याग आदि विषयों का अभाव है। अतः यज्ञस्वरूप नियोग की भी सम्भावना नहीं है। और यदि भविष्य में होने वाले यज्ञ की

नियोगस्तस्य निष्पादनार्थत्वात् निष्पन्नस्य निष्पादनायोगात् पुरुषादिवत्। द्वितीये पक्षेपि नासौ नियोग: फलस्य भावत्वेन नियोगत्वाघटनात् तदा तस्यासंनिधानाच्च। तस्य वाक्यार्थत्वे निरालंबनशब्दवादाश्रयणात्कुत: प्रभाकरमतसिद्धि:? नि:स्वभावत्वे नियोगस्यायमेव दोष:। किं च, सन् वा नियोग: स्यादसन् वा? प्रथमपक्षे विधिवाद एव द्वितीये निरालंबनवाद इति न नियोगो वाक्यार्थ: संभवति; परस्य विचारासंभवात्। तथा भावना वाक्यार्थ इत्येकांतोपि विपर्ययस्तथा व्यवस्थापयितुमशक्ते:। भावना हि द्विविधा शब्दभावना अर्थभावना चेति "शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव लिङादय:। इयं त्वन्यैव सर्वार्था सर्वाख्यातेषु विद्यते" इति वचनात्। अत्र

वर्तमान में सम्भावना मानी जायेगी तो वाक्य का अर्थ नियोग नहीं हुआ, क्योंकि वह नियोग तो कर्त्तव्यकार्यों को भविष्य में बनाने के लिए हुआ करता है। जो किया जाकर बन चुका है, उसका पुन: बनाना नहीं होता है।

जैसे कि अनादिकाल के बने हुए नित्यद्रव्य, आत्मा, आकाश आदि नहीं बनाये जाते हैं। द्वितीय पक्ष के ग्रहण करने पर भी वह नियोग स्वर्ग आदि फलस्वरूप नहीं घटित हो सकता है। क्योंकि उस वाक्य उच्चारण के समय उस स्वर्गफल आदि का सन्निधान नहीं है। अत: उस अविद्यमान फल को यदि उस वाक्य का फल मानोगे तो निरालम्बन शब्द के पक्षपरिग्रह का आश्रय करलेने से बौद्ध मत का प्रसंग आयेगा तथा प्रभाकर के मत की सिद्धि कैसे हो सकेगी? तृतीय पक्ष के अनुसार नियोग को सभी स्वभावों से रहित माना जायेगा तो भी यही दोष लागू रहेगा। अर्थात् स्वभावों से रहित नियोग खर विषाण के समान असत् है। इस प्रकार आठों पक्षों में नियोग की व्यवस्था नहीं बन सकती।

वह नियोग सत् रूप है या असत् रूप है? प्रथमपक्ष लेने पर ब्रह्माद्वैतवादियों के विधिवाद का प्रसंग आता है, क्योंकि सत्, ब्रह्म, प्रतिभास, विधि इनका एक ही अर्थ माना गया है। यदि द्वितीय पक्ष लेते हैं तो नियोग असत् पदार्थ माना जायेगा और तब निरालम्बनवाद का आश्रय करना पड़ेगा अर्थात् असत् नियोग कभी वाक्य का अर्थ नहीं हो सकता है।

इस प्रकार परस्पर विचारों की असम्भवता होने से विधिलिङन्तवाक्यों का अर्थ नियोग करना सम्भव नहीं है। जो वाक्य का अर्थ नियोग कर रहा है, उसके आहार्य कुश्रुतज्ञान है।

"वाक्य का अर्थ भावना ही है" इस प्रकार का एकान्त भी विपर्ययज्ञान है क्योंकि इस प्रकार वाक्य के वाच्य अर्थ भावना की व्यवस्था कराने के लिए भाट्टों का सामर्थ्य नहीं है। भाट्टों के यहाँ शब्द भावना और अर्थभावना के भेद से भावना दो प्रकार की मानी गयी है। उनके ग्रन्थों में उक्ति है कि लिङ्, लोट्, तव्य, ये प्रत्यय के अर्थ हो रही भावना से भिन्न ही शब्द भावना और अर्थ भावना को कह रहे हैं। अर्थात् सम्पूर्ण अर्थों में स्थित करोत्यर्थ रूप अर्थभावना तो शब्दभावना से भिन्न ही है जो कि गच्छति, पचति, यजति इत्यादि सम्पूर्ण तिङन्त आख्यातों में विद्यमान है। ऐसी अर्थ भावना शब्दभावना से भिन्न होनी ही चाहिए। इन दो भावनाओं में शब्द भावना तो शब्द का व्यापार स्वरूप पड़ती है। क्योंकि शब्द के द्वारा पुरुष का व्यापार भावित किया जाता है और पुरुष व्यापार के द्वारा यज् पच् आदि धातुओं का अर्थ भावनाग्रस्त

शब्दभावना शब्दव्यापारस्तत्र शब्देन पुरुषव्यापारो भाव्यते, पुरुषव्यापारेण धात्वर्थो धात्वर्थेन च फलमिति शब्दभावनावादिनो मतं, तच्च न युज्यते शब्दव्यापारस्य शब्दार्थत्वायोगात्। न ह्यग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इति शब्दात्तद्व्यापार एव प्रतिभाति स्वयमेकस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वविरोधात्। प्रतिपादकस्य सिद्धरूपत्वात्प्रतिपाद्यस्य चासिद्धस्य तथात्वसिद्धेरेकस्य च सकृत्प्रसिद्धेतररूपत्वासंभवात्तद्विरोधः। शब्द-स्वरूपमपि श्रोत्रज्ञानेऽर्पयतीति तस्य प्रतिपादकत्वाविरोधे रूपादयोपि स्वस्य प्रतिपादकाः संतु चक्षुरादिज्ञाने स्वरूपादयोप्यऽर्पणाद्विशेषाभावात्। स्वाभिधेयप्रतिपादकत्वसमर्पणात्। प्रतिपादकः शब्दो न रूपादय इति चायुक्तिकं, शब्दस्य स्वाभिधेयप्रतिपादकत्वसमर्पणे स्वयं प्रसिद्धे परोपदेशानर्थक्यप्रसंगात्। स्वत एव शब्देन ममेदमभिधेयमिति प्रतिपादनात्। पुरुषसंकेतबलात्स्वाभिधेयप्रतिपादनव्यापारमात्मनः शब्दो निवेदयतीति चेत्,

---

किया जाता है। तथा धातु अर्थ के द्वारा फल भावित किया जाता है। यह शब्द भावनावादी भाट्टों का मत है, परन्तु यह युक्त नहीं क्योंकि शब्द के व्यापार को शब्द का अर्थपना घटित नहीं होता है। 'स्वर्ग' की अभिलाषा करने वाला अनुष्ठाता अग्निष्टोम करके यज्ञ करे।

इस प्रकार के शब्द से उस शब्द का व्यापार ही प्रतिभासित नहीं होता। वही शब्द अपने ही व्यापार का प्रतिभासक कैसे हो सकता है? एक ही शब्द को स्वयं प्रतिपाद्यपन और प्रतिपादकपन का विरोध है। अर्थात् शब्द का ही शरीर स्वयं प्रतिपाद्य और स्वयं उस अपने स्वरूप का प्रतिपादक नहीं होता है। जबकि प्रतिपादक शब्द का स्वरूप उच्चारण काल में प्रथम से ही बना बनाया सिद्ध है। और भविष्य में प्रवर्तने योग्य प्रतिपाद्य विषय का स्वरूप तो तब असिद्ध है। इस प्रकार प्रतिपादकपन प्रतिपाद्यपन की व्यवस्था हो जाने से एक ही पदार्थ के एक ही समय प्रसिद्धपन और उससे भिन्न असिद्धपन स्वरूप का असम्भव होजाने से शब्द में उस प्रतिपाद्य और प्रतिपादकपन का विरोध है।

शब्दभावनावादी भाट्ट का कथन है कि शब्द अपने स्वरूप को भी श्रोत्रज्ञान में अर्पण कर देता है। अतः वह शब्द अपने भावना स्वरूप का प्रतिपादक हो जाता है। इसमें कोई विरोध नहीं आता। इस पर आचार्य कहते हैं कि तब तो रूप, रस आदि भी अपने-अपने स्वरूपों के प्रतिपादक हो जायेंगे। क्योंकि, चक्षु, रसना आदि इन्द्रियजन्यज्ञान में विषयता के सम्बन्ध से रूप रस आदि ने भी अपना स्वरूप अर्पण कर दिया है। स्वकीय ज्ञानों में अपने स्वरूप का समर्पण कर देने की अपेक्षा शब्द और रूप, रस आदि में कोई विशेषता नहीं है। भाट्ट-शब्द अपने अभिधेय अर्थ के प्रतिपादकपन को समर्पण कर देता है। अतः शब्द तो अपने स्वरूप का प्रतिपादक है, किन्तु रूप आदि वैसे नहीं हैं। भाट्टों का ऐसा कहना भी युक्तिशून्य है। क्योंकि शब्द का यदि अभिधेय की प्रतिपादकता का समर्पण करना स्वयं प्रसिद्ध होता तो पर के द्वारा उपदेश देना, आदि के व्यर्थपन का प्रसंग आता है। क्योंकि श्रोताओं के प्रति "मेरा यह प्रतिपाद्य अर्थ है" इन शब्दों के द्वारा स्वतः ही कह दिया गया है।

"इस शब्द का यह अर्थ है" - इस प्रकार वृद्ध व्यवहार द्वारा शब्दों के वाच्यार्थों को समझाने वाले इशारों को संकेत कहते हैं। शब्द अपने वाच्यार्थ का प्रतिपादन करना रूप अपने व्यापार को पुरुष के द्वारा किये गये संकेत ग्रहण की शक्ति से निवेदन कर देता है। इस प्रकार भाट्टों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि जिस अर्थ में शब्द का संकेत ग्रहण हो चुका है, पुरुष के अभिप्राय में प्राप्त उस अर्थ का प्रतिपादकपना उस शब्द का व्यापार हुआ। इस तरह शब्द का व्यापार तो भावना सिद्ध नहीं हो सकता है। यदि कोई कहे

तर्हि यत्रार्थे संकेतितः शब्दस्तस्यार्थस्य पुरुषाभिप्रेतस्य प्रतिपादकत्वं तस्य व्यापार इति न शब्दव्यापारो भावना। वक्त्रभिप्रायरूढार्थः कथं? तस्य तथाभिधानात्। तथा च कथमग्निष्टोमादिवाक्येन भावकेन पुरुषस्य यागविषयप्रवृत्तिलक्षणो व्यापारो भाव्यते पुरुषव्यापारेण वा धात्वर्थो यजनक्रियालक्षणो धात्वर्थेन फलं स्वर्गाख्यं, यतो भाव्यभावककरणरूपतया त्र्यंशपरिपूर्णा भावना विभाव्यत इति पुरुषव्यापारो भावनेत्यत्रापि पुरुषो यागादिना स्वर्गं भावयतीति कथ्यते। न चैवं धात्वर्थभावना शब्दार्थः स्वर्गस्यासंनिहितत्वात्। प्रतिपादयितृविवक्षाबुद्धौ प्रतिभासमानस्य शब्दार्थत्वे बौद्ध एव शब्दार्थ इत्यभिमतं स्यात्। तदुक्तं। "वक्तृव्यापारविषयो योर्थो बुद्धौ प्रकाशते। प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबंधनम्॥" इति न भावनावादावतारो मीमांसकस्य, सौगतप्रवेशानुषंगादिति। तथा धात्वर्थो वाक्यार्थ इत्येकांतो विपर्ययः शुद्धस्य भावस्वभावतया

कि वक्ता के अभिप्राय में आरूढ़ अर्थ उस शब्द का कैसे माना जाय? तो इसका उत्तर यही है कि उस प्रकार शब्द के द्वारा वह अर्थ कहा जाता है। अतः शब्द भावना का निराकरण हो जाने से "अग्निष्टोम" आदि की भावना कराने वाले वाक्यों के द्वारा अनुष्ठाता पुरुष का याग विषय में प्रवृत्ति कराना स्वरूप व्यापार कैसे भावित हो सकेगा और पुरुष व्यापार के द्वारा याग क्रिया करना स्वरूप धातु अर्थ कैसे भावित किया जावेगा? तथा धातु अर्थ के द्वारा चिरकाल में होने वाला स्वर्ग नामका फल कैसे भावनायुक्त किया जा सकता है? जिससे कि भावना करने योग्य और भावना करने वाला तथा भावना का करण - इन रूपों द्वारा तीन अंशों से परिपूर्ण होती हुई भावना का विचार किया जाता। अथवा तीन अंशवाली भावना आत्मा में विशेषतया भायी जाती रहे ऐसा कहा जा सके।

पुरुष का व्यापार भावना है। इस प्रकार भी भट्ट मीमांसकों का कथन होने पर यष्टापुरुष याग आदि करके स्वर्ग की भावना करता है, यह कहा जाता है। किन्तु इस प्रकार धातु अर्थ याग के द्वारा भावना किया गया फल तो शब्द का अर्थ नहीं है। क्योंकि शब्द का अर्थ निकटवर्ती होना चाहिए, और शब्द बोलते समय स्वर्ग तो सन्निहित नहीं है। यदि मीमांसक यों कहें कि यद्यपि उस समय स्वर्ग वहाँ विद्यमान नहीं है, फिर भी वक्ता की विवक्षापूर्वक हुई बुद्धि में स्वर्ग प्रतिभासित है। अतः बुद्धि में सन्निहित हो जाने से शब्द का वाच्यार्थ स्वर्ग हो सकता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बुद्धि में स्थित अर्थ शब्द का वाच्यार्थ है। यह अभिमत होता है। अर्थात् - बौद्धों ने विवक्षा में आरूढ़ हो रहे अर्थ से शब्द का वाचकपन माना है। वह बौद्धों का मत ही भाट्टों को अभिमत हुआ। उनके ग्रन्थ में कहा भी है कि वक्ता के व्यापार का विषय हो रहा जो अर्थ श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित है, उस ही अर्थ को कहने में शब्द की प्रमाणता है। वहाँ विद्यमान वास्तविक अर्थ तत्त्व को कारण मानकर शब्द का प्रामाण्य व्यवस्थित नहीं है। वक्ता द्वारा जाना गया अर्थ यदि शिष्य की बुद्धि में प्रकाशित हो गया है, तो उस अंश में शब्द प्रमाण है। ब्राह्य अर्थ हो या नहीं, कोई आकांक्षा नहीं। अतः पुरुषभावना सिद्ध नहीं हुई। यह मीमांसकों के दोनों भावनावादों का अवतार होना प्रमाणों से सिद्ध नहीं है। क्योंकि बौद्धमत के प्रवेश का प्रसंग आता है। अतः भावना वाक्य का अर्थ है, यह मीमांसकों का विपर्ययज्ञान है, जो आहार्य कुश्रुतज्ञान स्वरूप है।

विधिरूपत्वप्रसंगात्। तदुक्तं। "सन्मात्रं भावलिंगं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः। धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते॥" इति विधिवाद एव, न च प्रत्ययार्थशून्योर्धात्वर्थः कुतश्चिद्विधिवाक्यात् प्रतीयते तदुपाधेरेव तस्य ततः प्रतीतेः। प्रत्ययार्थस्तत्र प्रतिभासमानोपि न प्रधानं कर्मादिवदन्यत्रापि भावनादितिचेत्, तर्हि धात्वर्थोपि प्रधानं मा भूत् प्रत्ययांतरेपि भावात् प्रकृतप्रत्ययापायेपीति समानं पश्यामः। नन्वेवं धात्वर्थस्य सर्वत्र प्रत्ययेष्वनुस्यूतत्वात् प्रधानत्वमिष्यत इति चेत्, प्रत्ययार्थस्य सर्वधात्वर्थेष्वनुगतत्वात् प्रधानत्वमस्तु। प्रत्ययार्थविशेषः

उसी प्रकार यज्, पच्, आदि धातुओं का पूजना, पकना आदि अर्थ ही वाक्य का अर्थ है, ऐसा एकान्त करना भी विपर्ययज्ञान है क्योंकि शुद्ध धातु का अर्थ तो भाव स्वरूप है जिसे ब्रह्माद्वैतवादियोंके द्वारा स्वीकृत विधिरूपपने का प्रसंग आता है। विधि को मानने वाले ब्रह्म अद्वैतवादियों ने अपने ग्रन्थों में कहा है कि शुद्ध सत्तामात्र ही भावों का ज्ञापक चिह्न है। वह कर्त्ता, कर्म,आदि कल्पित कारकों से मिला हुआ नहीं है, अन्य अर्थों से और अपने अवान्तर विषयों से रहित जो केवल शुद्ध धातु का अर्थ है; वह भाव कहा जाता है।" अर्थात् धातु और प्रत्ययों से रहित हो रहे अर्थवान शब्द स्वरूप की प्रातिपादिक संज्ञा है, विद्वानों ने उस सत्ता को ही प्रातिपादिक का अर्थ और धातु का अर्थ कहा है। वह प्रसिद्ध सत्ता महान् परब्रह्मस्वरूप है जिसको कि त्व, तल, अण् आदि भाव प्रत्यय कहते रहे हैं। इस प्रकार धातु अर्थ मानने पर तो विधिवाद ही प्राप्त होता है। तथा प्रत्यय के अर्थ संख्या, कारक, इनसे रहित हो रहा वह शुद्ध धातु अर्थ तो किसी भी विधि वाक्य से प्रतीत नहीं हो रहा है। किन्तु उस प्रत्ययार्थ रूप विशेषण से सहित हो रहे ही उस धातु अर्थ की उस विधि लिङन्त वाक्य से प्रतीति होती है।

यद्यपि विधि वाक्य के अर्थ में प्रत्यय का अर्थ प्रतिभासित है फिर भी वह प्रत्यय का अर्थ प्रधान नहीं है। क्योंकि कर्म, करण आदि के समान अन्य स्थानों में भी प्रत्ययार्थ विद्यमान है। इस प्रकार कहने पर आचार्य कहते हैं कि तब तो धातु का अर्थ भी वाक्य का प्रधान अर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि प्रकरण प्राप्त प्रत्ययों के नहीं होने पर भी वह धातु अर्थ अन्य लुट्, लृट्, क्त्वा तृच, आदि दूसरे प्रत्ययों में भी विद्यमान है। इस प्रकार हम जैन धातु अर्थ और प्रत्ययार्थ के विषय में शंका समाधानों को समान ही देखते हैं।

पुनः विधिवादी मानते हैं कि इस प्रकार धातु अर्थ तो सम्पूर्ण ही लिङ्, लिट्, लुट्, आदि के प्रत्ययों में ओत-प्रोत होने से उसके प्रधानपना माना जाता है। इस प्रकार कहने पर तो प्रत्यय का अर्थ भी सम्पूर्ण यजि, भू, पचि, कृ, आदि धातुओं के अर्थों में अनुगत होने से प्रधान हो जायेगा, इस पर अद्वैतवादी यदि कहें कि प्रत्ययार्थ विशेष सभी धातु अर्थों में अनुयायी नहीं है। अर्थात् - एक विवक्षित तिप् या तस् का अर्थ तो सभी मिष्, वस्, लुट्, क्ति, तल्, आदि प्रत्यय वाले धातु अर्थों में अन्वित नहीं हो रहा है। इस प्रकार कहने पर तो विशेष धातु अर्थ भी सम्पूर्ण प्रत्ययार्थों में अनुगामी नहीं ही है। अर्थात् यज् धातु का अर्थ पचि गमि धातुओं के साथ लगे हुए प्रत्ययों के अर्थ में ओत-प्रोत होकर अनुगामी नहीं हो रहा है? सामान्यरूप से धातु अर्थ को सम्पूर्ण प्रत्यय अर्थों में अनुयायीपन है। इस कारण धातु अर्थ और प्रत्यायार्थ में अन्यत्र अनुगम करना या नहीं अनुगम करना, इस अपेक्षा से कोई अन्तर सिद्ध नहीं है।

सर्वधात्वर्थाननुयायीतिचेत्, धात्वर्थविशेषोपि सर्वप्रत्ययार्थाननुगाम्येव धात्वर्थसामान्यस्य सर्वप्रत्ययार्थानुयायित्वमिति न विशेषसिद्धिः। तथा विधिर्वाक्यार्थ इत्येकांतोपि विपर्ययस्तस्य विचार्यमाणस्यायोगात्। तद्धि विधिविषयं वाक्यं गुणभावेन प्रधानभावेन वा विधौ प्रमाणं स्यात्? यदि गुणभावेन तदाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादेरपि तदस्तु, गुणभावेन विधिविषयत्वस्य भावात्। तत्र भट्टमतानुसारिभिर्भावनाप्राधान्योपगमात् प्राभाकरैश्च नियोगगोचरत्वप्रधानांगीकरणात्। तौ च भावनानियोगौ नासद्विषयौ प्रवर्तेते प्रतीयेते वा सर्वथाप्यसतोः प्रवृत्तौ प्रतीतौ वा शशविषाणादेरपि तदनुषक्तेः सद्रूपतया च तयोर्विधिनांतरीयकत्वसिद्धेः सिद्धं गुणभावेन विधिविषयत्वं वाक्यस्येति न प्रमाणतापत्तेर्विप्रतिपत्तिः येन कर्मकांडस्य पारमार्थिकता न भवेत्। प्रधानभावेन विधिविषयं वेदवाक्यं प्रमाणमिति चायुक्तं, विधेः सत्यत्वे द्वैतावतारात्। तदसत्यत्वे प्राधान्यायोगात्। तथाहि–यो योऽसत्यः स स न प्रधानभावमनुभवति, यथा

अतः वाक्य का अर्थ शुद्ध धातु अर्थ नहीं हो सकता है। तथा सत्तामात्र विधि हि विधिलिङ् वाक्य का अर्थ है। यह ब्रह्म अद्वैतवादियों का एकान्त भी विपर्ययज्ञान है। क्योंकि उस विधि का विचार करने पर उसकी सिद्धि होने का अयोग है। विधि को विषय करने वाला वाक्य क्या गौणरूप से विधि को जानता हुआ प्रमाण समझा जाता है? अथवा प्रधानरूप से विधि का प्रतिपादन करने वाला प्रमाण विधि में प्रमाण माना जाता है? प्रथमपक्ष के अनुसार यदि गौणरूप से विधि को कह रहा वाक्य प्रमाण बन जायेगा, तब तो ब्रह्मअद्वैतवादियों के यहाँ "स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला पुरुष अग्निहोत्र पूजन द्वारा हवन करे" इत्यादि कर्मकाण्ड के प्रतिपादक वाक्यों को भी प्रमाणता आ जायेगी। क्योंकि कर्मकाण्ड वाक्यों का अर्थ भी गौणरूप से विधि को विषय करता है। उन कर्मकाण्ड वाक्यों में भट्टमत का अनुसरण करने वाले मीमांसकों ने भावना अर्थ की प्रधानता स्वीकार की है। और प्रभाकर मत के अनुसार उन वाक्यों में प्रधानरूप से नियोग को विषय करना अंगीकृत किया है। वे भावना और नियोग दोनों असत् पदार्थ को विषय करते हुए प्रवृत्ति नहीं करते हैं। अथवा स्वकर्त्तव्य द्वारा असत् पदार्थ को प्रतीति कराते हुए नहीं जाने जाते हैं। सभी प्रकारों से असत् हो रहे पदार्थों की प्रवृत्ति अथवा प्रतीति होना माना जायेगा तब तो शशशृंग, गजविषाण, आदि की भी उन प्रवृत्तियों या प्रतीतियों के हो जाने का प्रसंग आयेगा, क्योंकि उन भावना और नियोग को सद्रूप से विधि के साथ अविनाभावीपना सिद्ध है।

अतः प्रसिद्ध हो जाता है कि कर्मकाण्ड प्रतिपादक वाक्य गौणरूप से सन्मात्र विधि को विषय करते हैं। तथा मीमांसकों के ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, अश्वमेध आदि वाक्यों की प्रमाणता के प्रसंग का विवाद नहीं होना चाहिए। जिससे कि कर्मकाण्ड वाक्यों को पारमार्थिकपना नहीं हो सके।

प्रधानरूप से विधि को विषय करने वाले उपनिषद् वाक्य प्रमाण हैं। ऐसा कहना भी युक्तियों से रहित है। क्योंकि वाक्य के अर्थ विधि को वास्तविक रूप से सत्य मानने पर तो द्वैतवाद का अवतार होता है। अर्थात् - इस कथन से एक विधि और दूसरा ब्रह्म ये दो पदार्थ मान लिये गये हैं। यदि उस श्रोतव्य, मन्तव्य आदि की विधि को अवस्तुभूत असत्य मानोगे तब तो विधि को प्रधानपना घटित नहीं हो सकता

तदविद्याविलासः तथा चासत्यो विधिरिति न प्रधानभावेन तद्विषयतोपपत्तिः। स्यान्मतं, न सम्यगवधारितं विधेः स्वरूपं भवता तस्यैवमव्यवस्थितत्वात्। प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधिः कार्यतया न प्रतीयते घटादिवत् प्रेरकतया वा वचनादिवत्। कर्मकरणसाधनतया हि तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो नान्यथा। किं तर्हि द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा श्रोतव्यो अनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादि शब्दश्रवणादवस्थांतरविलक्षणेन प्रेरितोहमिति जाताकूतेनाकारेण स्वयमात्मैव प्रतिभाति, स एव विधिरित्युच्यते। तस्य ज्ञानविषयतया संबंधमधितिष्ठतीति प्रधानभावविभावनाविधिर्न विहन्यते, तथाविधवेदवाक्यादात्मन एव विधायकतया बुद्धौ प्रतिभासनात्। तद्दर्शनश्रवणात्तु मननिदिध्यासनरूपस्य विधीयमानतयानुभवात्। तथा च स्वयमात्मानं द्रष्टुं श्रोतुमनुमंतुं निध्यातुं वा प्रवर्तते, अन्यथा प्रवृत्त्यसंभवेप्यात्मनः प्रेरितोहमित्यत्र गतिरप्रमाणिका स्यात्। ततो नासत्यो विधिर्येन

है। उसी को अनुमान वाक्य द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जो-जो असत्य होता है, वह-वह प्रधानपन का अनुभव नहीं करता है जैसे कि उन ब्रह्म अद्वैतवादियों के यहाँ अविद्या का विलास असत्य है। अतः उसको अप्रधान माना गया है और उसी प्रकार की यह असत्य विधि है। अतः उस विधि को प्रधानपन से वाक्य का विषय हो जाना सिद्ध नहीं है।

अपनी उपर्युक्त मान्यतानुसार अद्वैतवादी यों कहें कि आप जैन या मीमांसकों ने विधि का स्वरूप भले प्रकार नहीं समझा है। जैसा आप समझे हैं इस प्रकार तो उस विधि की व्यवस्था नहीं है। क्योंकि प्रतिभास सामान्य से पृथक् घटादि के समान कार्यरूप से विधि घटित नहीं होती है। और वचन, चेष्टा आदि के समान प्रेरकरूप से भी विधि घटित नहीं होती है। विधीयते यः स विधिः "विधीयतेऽनेन स विधिः" जो विधान किया जाय, या जिसके द्वारा विधान किया जाय। इस प्रकार कर्मसाधन या करण साधन से उस विधिकी प्रतीति हो गयी होती, तब तो कार्यपन और प्रेरकपन स्वरूप से विधि की प्रतीति करना युक्त होता। अन्यथा तो वैसा ज्ञान नहीं हो सकता है तब विधि का स्वरूप क्या है? इसके उत्तर में अद्वैतवादी कहते हैं कि अरे संसारी जीव यह आत्मा दर्शन करने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है, ध्यान करने योग्य है "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। इत्यादि शब्दों के सुनने से अन्य अवस्थाओं से विलक्षण होकर उत्पन्न हुई चेष्टा से मैं प्रेरा गया हूँ। इस प्रकार स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित होती है। और आत्मा ही विधि इस शब्द करके कही जाती है। उस विधि का ज्ञान विषयरूप से सम्बन्ध को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् - विधि का ज्ञान, विधि में ज्ञान, ये सब अभेद होने से विधिस्वरूप ब्रह्म ही है, अतः विधि को प्रधानरूप से वाक्य अर्थ के विचार का विघात नहीं हो पाता है। क्योंकि इस प्रकार विधि को कहने वाले वेद वाक्यों से आत्मा का ही विधान कर्त्तारूप से बुद्धि में प्रतिभासित होता है। तथा उस आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यानस्वरूपों का विधि के कर्मरूप अनुभव हो रहा है। तथा स्वयं आत्मा ही अपने को देखने के लिए, सुनने के लिए, अनुमनन करने के लिए और ध्यान के लिए प्रवृत्त होती है। अन्यथा (इस प्रकार अभेद से प्रवृत्ति होना असम्भव होता तो) मैं स्वयं आत्मा से प्रेरित हुआ हूँ - इस प्रकार प्रतीति होना अप्रामाणिक हो जाता। अतः सिद्ध होता है कि अद्वैतवादी द्वारा मानी हुई विधि

प्रधानता तस्य विरुध्येतं। नापि सत्यत्वे द्वैतसिद्धिः आत्मस्वरूपव्यतिरेकेण तदभावात्, तस्यैकस्यैव तथा प्रतिभासनात् इति। तदप्यसत्यं। नियोगादिवाक्यार्थस्य निश्चयात्मतया प्रतीयमानत्वात्। तथाहि– नियोगस्तावदग्निहोत्रादिवाक्यादिवत् द्रष्टव्यो रेऽयमात्मा इत्यादिवचनादपि प्रतीयते एव नियुक्तोहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो योगो नियोगः प्रतिभाति मनागप्ययोगाशंकानवतारादवश्यकर्तव्यतासंप्रत्ययात्। कथमन्यथा तद्वाक्यश्रवणादस्य प्रवृत्तिरुपपद्यते, मेघध्वन्यादेरपि प्रवृत्तिप्रसंगात्। स्यादेतत्। मिथ्येयं प्रतीतिर्नियोगस्य विचार्यमाणस्य प्रवृत्तिहेतुत्वायोगात्। स हि प्रवर्तकस्वभावो वा स्यादतत्स्वभावो वा? प्रथमकल्पनायां प्राभाकराणामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्तकः स्यात्। सर्वथा प्रवर्तकत्वात्। तेषां विपर्यासादप्रवर्तक इत्यपि न निश्चेतुं शक्यं परेषामपि विपर्यासात्प्रवर्तकत्वादनुषंगात्। प्राभाकरा हि विपर्यस्तमनसः शब्दनियोगात् प्रवर्तते

असत्य नहीं है। जिससे कि उस विधि को प्रधानरूप से वाक्य-अर्थपना विरुद्ध पड़ जाता। जैन या मीमांसकों ने विधि के सत्य (यथार्थपना) होने पर द्वैतसिद्धि हो जाने का प्रसंग दिया था, सो ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मस्वरूप के अतिरिक्त उस विधि का अभाव है। विधायकपन, विधीयमानपन और भावविधि द्वारा उस एक ही परमब्रह्म का प्रतिभास हो रहा है। विधि के असत्यपने का तो पक्ष ही नहीं है।

अद्वैतवादियों का यह कहना भी असत्य है, क्योंकि वाक्य के अर्थ नियोग, भावना आदि की भी निश्चय स्वरूप से प्रतीति हो रही है। उसी को प्रसिद्ध कर कहते हैं कि अग्निहोत्र ज्योतिष्टोम, आदि के प्रतिपादक वाक्यों आदि से जैसे नियोग प्रतीत होता है वैसे ही **"दृष्टव्योरेयमात्मा श्रोतव्यः"** इत्यादि वचन से भी नियोग प्रतीत होता है। **"दृष्टव्योरे"** मैं इस वाक्य के द्वारा नियुक्त हो गया हूँ। इस प्रकार शेष रहित परिपूर्णरूप से योग हो जाना रूप नियोग प्रतिभासित होता है।

यहाँ योग नहीं होने की आशंका का लव मात्र भी अवतार नहीं है। अतः अवश्य करने योग्य है। इस प्रकार का ज्ञान होता है। अन्यथा (अद्वैतप्रतिपादक वाक्यों द्वारा पूर्ण योग होना नहीं माना जायेगा तो) उस 'दृष्टव्यो' आदि वाक्यों के सुनने से इस श्रोता मनुष्य की श्रवण, मनन आदि करने में प्रवृत्ति होना कैसे सिद्ध हो सकता है? इतिकर्त्तव्यतारूप नियोग के ज्ञान बिना ही यदि चाहे जिस शब्द से प्रवृत्ति होना मान लिया जाएगा तो मेघगर्जन, समुद्रपूत्कार आदि शब्दों से भी श्रोताओं की प्रवृत्ति हो जाने का प्रसंग आयेगा।

अद्वैतवादियों का यदि यह मन्तव्य हो कि वाक्य का अर्थ तो नियोग नहीं हो सकता है। अतः अद्वैत प्रतिपादक वाक्यों से नियोग की यह उक्त प्रकार प्रतीति करना मिथ्या है। क्योंकि विचार्यमाण नियोग के प्रवृत्ति का हेतुपना घटित नहीं होता है। इनका प्रश्न है कि तुम्हारा माना गया नियोग क्या प्रवर्त्तक स्वभाव का धारक है? अथवा अप्रवर्तकी स्वभाव का धारक है। यदि प्रथमपक्ष की कल्पना करोगे तब तो प्रभाकरों के समान बौद्धों को भी वह नियोग अग्निष्टोम आदि कर्मों में प्रवर्त्तक हो जायेगा। क्योंकि उस नियोग का स्वभाव सभी प्रकार से प्रवृत्ति करा देना है। यदि नियोगवादी यों कहें कि उन बौद्धों को मिथ्याज्ञान हो रहा है। अतः नियोग उनको प्रवृत्त नहीं कराता है। परन्तु इस बात का भी निश्चय नहीं किया जा सकता है। तथा दूसरे प्रभाकरों के भी विपर्ययज्ञान हो जाने से नियोग को प्रवर्त्तकपने का प्रसंग होगा। क्योंकि प्रभाकरों का

नेतरे अविपर्यस्तत्वादिति वदतो निवारयितुमशक्तेः। सौगतादिमतस्य प्रमाणबाधितत्वात् त एव विपर्यस्ता न प्राभाकरा इत्यपि पक्षपातमात्रं तन्मतस्यापि प्रमाणबाधनविशेषात्। यथैव हि प्रतिक्षणविनश्वरसकलार्थवचनं प्रत्यक्षादिविरुद्धं तथा नियोगाद्विषयादिभेदकल्पनमपि सर्वप्रमाणानां विधिविषयतयावधारणात् सदेकत्वस्यैव परमार्थतोपपत्तेः। यदि पुनरप्रवर्तकस्वभावः शब्दनियोगस्तदा सिद्ध एव तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वायोगः। फलरहिताद्वा नियोगमात्रान्न प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरप्रेक्षावत्त्वप्रसंगात्, प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोपि प्रवर्तत इति प्रसिद्धेश्च। प्रचंडपरिदृढवचननियोगादफलादपि प्रवर्तनदर्शनाददोष इति चेन्न, तन्निमित्तापायपरिरक्षणस्य फलत्वात्। तन्नियोगादप्रवर्तने हि ममापायोवश्यंभावीति तन्निवारणाय प्रवर्तमानानां प्रेक्षावतामपि तत्त्वाविरोधात्। तर्हि

मन विपर्यय ज्ञान से आक्रान्त हो रहा है। अतः वे शब्द के अर्थ नियोग से कर्मकाण्डों में प्रवृत्ति करते हैं। किन्तु दूसरे बौद्ध तो विपर्यय ज्ञान से घिरे हुए मन को नहीं धारण करने से कर्मकाण्ड में प्रवृत्ति नहीं करते हैं। इस प्रकार कहने वाले अद्वैतवादियों को रोका नहीं जा सकता है।

बौद्ध, चार्वाक आदि दार्शनिकों का मत तो प्रमाणों से बाधित है। अत एव वे बौद्ध आदि ही विपर्यय ज्ञानी हैं। प्रभाकरमतानुयायी तो विपरीत ज्ञानी नहीं हैं। विधिवादी कहते हैं कि यह भी नियोगवादियों का केवल पक्षपात है। क्योंकि उन नियोगवादी प्रभाकरों का मत भी प्रमाणों से बाधित हो जाता है। बौद्धों की अपेक्षा प्रभाकरों में कोई विशेषता नहीं है। जिस प्रकार सम्पूर्ण अर्थों को प्रतिक्षण विनाशशील कहना यह बौद्धों का मत प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरुद्ध है, उसी प्रकार प्रभाकरों के यहाँ मानी गई नियोग उनके विषय, नियुज्यमान, नियोक्ता, आदि भेदों की कल्पना भी प्रमाणों से बाधित है, इस प्रकार बौद्ध भी कह सकते हैं। परमार्थरूप से विचार करने पर तो सम्पूर्ण प्रमाणों के द्वारा अद्वैत विधि का विषयपने से अवधारण किया जा रहा है। सत् चित् ब्रह्म के एकपने को ही यथार्थपना सिद्ध हो रहा है।

अद्वैतवादी ही कहे जा रहे हैं कि द्वितीय पक्ष के अनुसार फिर यदि प्रभाकर इस प्रकार कहे कि शब्द का अर्थ नियोग तो प्रवर्त्तक स्वभाव वाला नहीं है, तब तो हम विधिवादी कहते हैं कि उस नियोग को प्रवृत्ति के कारणपन का अयोग सिद्ध ही है अर्थात् नियोग कर्मकाण्ड का प्रवर्त्तक नहीं बन सकता है।

अद्वैतवादी कहते हैं कि नियोग फल रहित है? अथवा फल सहित है? प्रथमपक्ष अनुसार फल रहित सामान्य नियोग से हिताहित को विचारने वाले प्रामाणिक पुरुषों की किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति करने वाले को अविचारपूर्वक कार्य करने का प्रसंग आता है। एक बात यह भी है कि प्रयोजन का उद्देश्य नहीं लेकर मंदबुद्धि या आलसी जीव भी प्रवृति नहीं करता है। ऐसी लोक में प्रसिद्धि है। इस पर नियोगवादी कहते हैं कि प्रतापी महाक्रोधी प्रभु के निष्फल वचन नियोग से प्रजाजनों की प्रवृत्ति होना देखा जाता है। अत्यन्त क्रोधी राजा अन्यायपूर्वक क्रिया करने में यदि प्रजाजनों को नियुक्त कर देता है, उसके भय से निष्फल नियोग द्वारा भी प्रवृत्ति करनी पड़ती है। तब तो निष्फल नियोग से भी प्रवृत्ति होना कोई दोष नहीं है। ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि प्रचंड राजा के नियोग से यदि कथमपि प्रवृत्ति नहीं की जायेगी तो मेरा विनाश या मुझको दण्डप्राप्ति अवश्य होगी। इस कारण उस अपाय के निवारण करने के लिए प्रवृत्ति करने वाले विचारशील प्रामाणिक पुरुषों को भी उस प्रेक्षावानपने का कोई विरोध नहीं है। तब तो

वेदवचनादपि नियुक्तः प्रत्यवायपरिहाराय प्रवर्ततां ''नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया'' इति वचनात्। कथमिदानीं स्वर्गकाम इति वचनमवतिष्ठते, जुहुयात् जुहोतु होतव्यमिति लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययांतनिर्देशादेव नियोगमात्रप्रतिपत्तेः, तत एव च प्रवृत्तिसंभवात्। फलसहितान्नियोगात् प्रवृत्तिफलसिद्धौ च फलार्थितैव प्रवर्तिका न नियोगस्तमंतरेणापि फलार्थिनां प्रवृत्तिदर्शनात्। पुरुषवचनान्नियोगे अयमुपालंभो नापौरुषेयाग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे तस्यानुपालभ्यत्वात्। इति न युक्तं, ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' इत्यादि वचनस्याप्यनुपालभ्यत्वसिद्धेर्वेदांतवादपरिनिष्ठानात्। तस्मान्न नियोगो वाक्यार्थः कस्यचित्प्रवृत्तिहेतुरिति।

नियोगवादी कहेंगे कि इस प्रकार कहने पर तो नियुक्त पुरुषभाव आत्मक फल से रहित वैदिक वचन से भी पाप कर्म के परिहार के लिए प्रवृति होती है। धर्मशास्त्र का वचन है कि प्रत्यवायों के त्याग की अभिलाषा से नित्यकर्म और नैमित्तिककर्म अवश्य करने चाहिए।

इसी प्रकार फलरहित वेदवचन से भी पाप परिहार का उद्देश्य लेकर प्रवृत्ति हो जाएगी। इस प्रकार नियोगवादियों के कहने पर तो हम विधिवादी कह सकते हैं कि उपर्युक्त प्रकार से नियोग को फलरहित मानने पर प्रभाकरों के फल को दिखलाने वाला **''स्वर्गकामः''** यह वचन भला कैसे व्यवस्थित हो सकेगा? हवन करें, हवन करो, हवन करना चाहिए। इस प्रकार के लिङ्लकार लोट्लकार तव्य प्रत्ययको अन्त में रखने वाले पदों के निर्देश से ही सामान्य रूप से नियोग की प्रतिपत्ति होना और उससे ही प्रवृत्ति हो जाना सम्भव हो जाता है। स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाले इस पद को देने की आवश्यकता नहीं है। नियोगवादियों को पूर्वापर विरुद्ध वचन नहीं कहना चाहिए।

अभी विधिवादी ही कहता है। यदि द्वितीय पक्ष के अनुसार नियोगवादी फलसहित नियोग से प्रवृत्ति हो जाने की सिद्धि करेंगे तब तो फल की अभिलाषा ही श्रोताओं को कर्मों में प्रवृत्ति करादेने वाली हो जाएगी। नियोग तो प्रवर्तक नहीं हुआ। क्योंकि उस नियोग के बिना भी फल के अर्थी जीवों की प्रवृत्ति होना देखा जाता है अतः नियोग को सफल मानना भी व्यर्थ है। नियोगवादी फिर कहते हैं कि लौकिक पुरुषों के वचन से जहाँ नियोग प्राप्त किया जाता है वहाँ तो आप विधिवादी यह उपर्युक्त उलाहना दे सकते हैं। किन्तु पुरुष प्रयत्न द्वारा नहीं बनाये गये वैदिक अग्निहोत्र आदि वाक्यों से ज्ञात हुए नियोग में उक्त उपालम्भ नहीं आते हैं। निर्दोष वेदवाक्यजन्य वह नियोग तो उपालम्भ प्राप्त करने योग्य नहीं है। इसके उत्तर में विधिवादी कहते हैं कि इस प्रकार नियोगवादियों का कहना युक्तिपूर्ण नहीं है क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् निश्चय से परम ब्रह्म स्वरूप है। यहाँ कोई पदार्थ भेदरूप नहीं है, इत्यादि वाक्यों की सिद्धि हो जाने से अद्वैत प्रतिपादक वेदान्तवाद की पूर्ण रूप से निर्दोष प्रसिद्धि हो जाती है। अतः वाक्य का अर्थ नियोग नहीं है। जिससे कि किसी जीव की प्रवृत्ति का निमित्तकारण बन सके। ''स्यादेतत्'' से प्रारम्भ कर ''प्रवृत्तिहेतुः'' यहाँ तक नियोगवादियों का खण्डन करके विधिवादियों ने अपना मन्तव्य पुष्ट किया है। अब श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करते हैं।

तदेतद्विधिवादिनोपि समानं विधेरपि प्रवृत्तिहेतुत्वायोगस्याविशेषात्। प्रकृतविकल्पानतिवृत्तेः। तस्यापि हि प्रवर्तकस्वभावत्वे वेदांतवादिनामिव प्राभाकरतथागतादीनामपि प्रवर्तकत्वप्रसक्तेरप्रवर्तकस्वभावात्तेषामपि न प्रवर्तको विधिः स्यात्। स्वयमविपर्यस्तास्ततः प्रवर्तंते न विपर्यस्ता इति चेत्, कुतः संविभागो विभाव्यतां। प्रमाणाबाधितेतरमताश्रयणादिति चेत्, तर्हि वेदांतवादिनः कथं न विपर्यस्ताः सर्वथा सर्वैकत्वमतस्याध्यक्षविरुद्धत्वात् परस्परनिरपेक्षद्रव्यगुणादिभेदाभेदमननवत्। तद्विपरीतस्यानेकांतस्य जात्यंतरस्य प्रतीतेः। फलरहितश्च विधिर्न प्रवर्तको नियोगवत्। सफलः प्रवर्तक इतिचेत्, किंचिज्ज्ञानां फलार्थिनां फलाय

इस प्रकार विधिवादियों की ओर से विकल्प उठाकर नियोगवादियों के मत का, जैसे यह खण्डन किया गया है, वैसा (विचार) विधिवादियों पर भी वही आपादन समान रूप से लागू हो सकता है, क्योंकि वाक्य के अर्थ विधि को भी प्रवृत्ति का कारणपना नहीं घटित होता है। अप्रवर्तकपने की अपेक्षा विधि की नियोग से कोई विशेषता नहीं है। प्रकरण में प्राप्त हुए विकल्पों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। विधिवादी पर भी वे ही विकल्प उठाये जा सकते हैं। उस विधि का भी स्वभाव यदि नियम से प्रवर्तकपना माना जायेगा तो वेदान्तवादियों के समान प्रभाकर मतानुयायी, बुद्धमतानुयायी, चार्वाक आदि दार्शनिकों की भी अद्वैत में प्रवृत्ति करा देनेपन का प्रसंग विधि को प्राप्त होगा।

यदि विधि को अप्रवर्तक स्वभाव वाला माना जायेगा तो अप्रवर्तक स्वभाव वाली विधि से तो वेदान्तवादियों की भी प्रवृत्ति को कराने वाला विधि अर्थ नहीं हो सकेगा। यदि विधिवादी यों कहें कि स्वयं विपर्ययज्ञान को नहीं धारण करने वाले विधिवादी तो उस विधि से प्रवर्त जाते हैं। परन्तु जो मिथ्याज्ञानी हैं वे उस विधि के द्वारा प्रवृत्ति नहीं कर पाते है। इस प्रकार विधिवादियों के कहने पर आचार्य कहते हैं कि उस सम्यग्ज्ञानीपन और मिथ्याज्ञानीपन का विभाग होना किससे निर्णीत किया जायेगा? यदि प्रमाणों के द्वारा अबाधित किए गये मत का आश्रय करने वाले सम्यग्ज्ञानी हैं और इतर यानी प्रमाणों से बाधित मत का आश्रय कर लेने से पुरुष के मिथ्याज्ञान सिद्ध होता है। तब तो वेदान्तवादी ही विपर्ययज्ञान वाले क्यों नहीं विचार लिये जावेंगे ? क्योंकि उनका सर्वथा सबको एक परम ब्रह्मपने की विधि करने का मत तो प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अग्नि, जल, सर्प आदि भिन्न-भिन्न नाना पदार्थ प्रतीत होते है। अब "सर्वमेकं" यह विधिवादियों का मन्तव्य प्रमाणों से बाधित है। जैसे कि परस्पर में नही अपेक्षा रखने वाले द्रव्य और गुण या अवयव और अवयवी आदि का सर्वथा भेद तथा अभेद मानना प्रत्यक्षविरुद्ध है। क्योंकि उन सर्वथा भेद या अभेदों से विपरीत तीसरी जाति वाले कथंचित् भेद अभेदस्वरूप अनेकान्त की प्रतीति हो रही है। अर्थात् - द्रव्य, गुण आदि का सर्वथा भेद मानने वाले नैयायिक हैं। सांख्य उनका अभेद मानते हैं। ये दोनों मत प्रमाणों से विरुद्ध है। पर्याय और पर्यायी में कथंचित् भेद, अभेद प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार सर्वथा एकत्व को कहने वाले विधिवादी भी विपर्ययज्ञान वाले हो जाते हैं।

नियोग के समान विधि में भी फलरहित और फलसहितपने के विकल्प उठाये जा सकते हैं कि यदि विधि उत्तरकाल में होने वाले फल से रहित है तब तो किसी भी श्रोता को प्रवृत्ति कराने वाली नहीं हो सकती है, जैसे कि फलरहित नियोग प्रवर्त्तक नहीं माना गया है। यदि फल से सहित विधि प्रवर्त्तक है, तब तो कुछ

दर्शनादेव प्रवृत्त्युपपत्तेः। पुरुषाद्वैते न कश्चित् कुतश्चित् प्रवर्तत इतिचेत्, सिद्धस्तर्हि विधिरप्रवर्तको नियोगवदिति न वाक्यार्थः। पुरुषाद्वैतवादिनामुपनिषद्वाक्यादात्मनि दर्शनश्रवणानुमननिध्यानविधानेष्वप्रवर्तने कुतस्तेषां तदभ्यासः साफल्यमनुभवति मत्तोन्मत्तादिप्रलापवत्, कथं वा सर्वथाप्यप्रवर्तको विधिरेव वाक्यार्थो न पुनर्नियोगः। पटादिवत् पदार्थांतरत्वेनाप्रतिभासनात् नियुज्यमानविषयनियोक्तृधर्मत्वेन चानवस्थानान्न नियोगो वाक्यार्थ इति चेत् तदितरत्र समानं, विधेरपि घटादिवत्पदार्थांतरत्वेनाप्रतिभासनाद्विधाप्यमानविषयविधायकधर्मत्वेनाव्यवस्थितेश्च। यथैव हि नियोज्यस्य पुंसो धर्मे नियोगे अननुष्ठेयता नियोगस्य सिद्धत्वादन्यथानुष्ठानोपरमाभावा-

---

अल्प पदार्थों को जानने वाले अल्पज्ञ फल-अभिलाषी जीवों की फलप्राप्ति के लिए दर्शन से ही फल प्राप्ति की अभिलाषा से प्रवृत्ति होना सिद्ध हो जायेगा। विधि को प्रवर्तक कहना व्यर्थ है। फिर भी विधिवादी कहते हैं कि भेदवादियों के यहाँ कोई कहीं किसी से प्रवृत्ति करे, किन्तु अद्वैतवादियों के यहाँ ब्रह्माद्वैत में कोई भी किसी से भी प्रवृत्ति नहीं करता है, तब तो प्रवृत्ति नहीं कराने वाले नियोग के समान विधि भी वाक्य का अर्थ सिद्ध नहीं हुआ।

पुरुषाद्वैतवादियों के यहाँ "दृष्टव्यो" इत्यादि उपनिषद् के वाक्य से आत्मा में दर्शन करना, श्रवण करना, अनुमनन करना और ध्यान करना इन क्रियाओं में भी यदि प्रवृत्ति नहीं मानी जायेगी तो उन अद्वैतवादियों का उन दर्शन आदि में अभ्यास कैसे होगा? दर्शन आदि के बिना वह उनका अभ्यास और किसी फल की अपेक्षा से सफलता अनुभव कैसे कर सकता है? जैसे कि मदमत्त या उन्मत्त पुरुषों के व्यर्थ वचन सफल नहीं हैं।

उसी के समान उपनिषद् वाक्यों का अभ्यास भी अनर्थक है। तथा सभी प्रकारों से अप्रवर्तक हो रही विधि ही तो वाक्य का अर्थ होता है। किन्तु अप्रवर्त्तक नियोग वाक्य का अर्थ नहीं हो सकता, यह सर्वथा पक्षपात पूर्ण मन्तव्य कैसे माना जा सकता है अर्थात् नहीं।

जैसे आत्मा से भिन्न कल्पित किये गये पट आदि कार्य भिन्न पदार्थपने रूप प्रतिभास रहे हैं उसके समान नियोग भिन्न पदार्थ रूप से नहीं प्रतिभास रहा है। तथा नियुक्त पुरुष या यज्ञ आदि विषय में नियोग करने वाले वेद वाक्य का धर्मस्वरूप वह नियोग व्यवस्थित नहीं है। अर्थात् - जैसे नियुज्यमान पुरुष का धर्म होकर या नियोक्ता का धर्म होकर पट दिख रहा है, वैसा नियोग नहीं है। अतः दो हेतुओं से नियोग की व्यवस्था नहीं होने से नियोग वाक्य का अर्थ नहीं है, इस प्रकार विधिवादियों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि यह कटाक्ष तो दूसरे के यहाँ भी यानी तुम विधिवादियों के ऊपर भी समान रूप से लग जाता है। विधि का भी घट आदि के समान पुरुष से पृथक् पदार्थ रूप से प्रतिभास नहीं होता है। तथा विधान करने योग्य दर्शन आदि या दृष्टव्य विषय का धर्म अथवा विधि को कहने वाले वैदिक शब्द के धर्म के द्वारा विधि की व्यवस्था नहीं हो रही है। अतः विधि भी वाक्य का अर्थ नहीं सिद्ध हो सकता है।

"यथैव" का अन्वय छह, सात पंक्ति पीछे आने वाले तथा शब्द के साथ करना चाहिए। जिस

नुषंगात् कस्यचित्तद्रूपस्यासिद्धस्याभावाद्, असिद्धरूपतायां वा नियोज्यत्वं विरोधाद्वंध्यास्तनंधयादिवत्। सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे असिद्धरूपेण वानियोज्यतामेकस्य पुरुषस्यासिद्धसिद्धरूपसंकरान्नियोज्येतरत्वविभागासिद्धिस्तद्रूपासंकरे वा भेदप्रसंगादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोः संबंधाभावोऽनुपकारात्। उपकारकल्पनायामात्मनस्तदुपकार्यत्वे नित्यत्वहानिस्तयोरात्मोपकार्यत्वे सिद्धरूपस्य सर्वथोपकार्यत्वव्याघातोऽसिद्धरूपस्याप्युपकार्यत्वे गगनकुसुमादेरुपकार्यत्वानुषंगः। सिद्धासिद्धरूपयोरपि कथंचिदसिद्धरूपोपगमे प्रकृतपर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्थानुषंग इत्युपालंभः। तथा विधीयमानस्य पुरुषस्य धर्मे विधावपि सिद्धस्य पुंसो

प्रकार नियोजने योग्य पुरुष का धम यदि नियोग माना जावेगा तो अद्वैतवादियों की ओर से प्रभाकरों के प्रति अनुष्ठान नहीं करने योग्य आदि दोष दिये जाते हैं यानी नियोज्य पुरुष अनादिकाल से स्वतः सिद्ध नित्य है तो उस आत्मा का स्वभाव नियोग भी पूर्वकालों से सिद्ध है। अन्यथा, सिद्ध पदार्थ का भी अनुष्ठान किया जाएगा तो अनुष्ठान करने से विराम लेने के अभाव का प्रसंग आयेगा। नित्य पुरुष के धर्म उस नियोग का कोई भाग असिद्ध नहीं है। किसी असिद्धरूप को नियोज्य माना जायेगा तब तो वंध्यापुत्र, अश्वविषाण आदि के समान सर्वथा असिद्ध पदार्थ को नियोज्यपने का विरोध होगा। यदि आत्मा के धर्म नियोग को किसी एक सिद्ध स्वरूप के द्वारा नियोज्यपना और उस ही नियोग को असिद्ध स्वरूप की अपेक्षा अनियोज्यपना माना जाएगा तब तो एक आत्मा के सिद्ध स्वरूप और असिद्ध स्वरूपों का संकर होजाने से नियोज्यपन और अनियोज्यपन के विभाग की असिद्धि हो जाएगी। यदि उन सिद्ध असिद्ध रूपों का संकर होना नहीं मानोगे तो उन भिन्न दो रूपों से अभिन्न हो रहे आत्मा के भेद हो जाने का प्रसंग आ जाएगा। वे सिद्ध असिद्ध दो रूप आत्मा के हैं। इस व्यवहार का नियामक सम्बन्ध कोई नहीं है। क्योंकि उपकार करने से स्वस्वामिसंबंध, गुरु-शिष्य सम्बन्ध माने जाते हैं। किन्तु उपकार नहीं होने के कारण उन सिद्ध असिद्ध रूप और कूटस्थ नित्य आत्मा का कोई षष्ठी विधायक सम्बन्ध नहीं हो पाता है। यदि आत्मा और उन रूपों में उपकार करने की कल्पना की जायेगी तो उन दो रूपों करके आत्मा के ऊपर उपकार किया जायेगा? अथवा आत्मा द्वारा दो रूपों पर उपकार किया जाएगा? प्रथम विकल्पानुसार यदि उन दो रूपों द्वारा आत्मा को उपकार प्राप्त करने योग्य माना जायेगा, तब तो आत्मा के नित्यपने की हानि हो जायेगी। क्योंकि जो उपकृत होता है, वह कार्य होता है। द्वितीय विकल्प अनुसार उन दो रूपों को आत्मा के द्वारा उपकार प्राप्त करने योग्य मानोगे तो पहिला दोष टल गया किन्तु सिद्ध हो चुके रूप को तो सभी प्रकारों से उपकार्यपन का व्याघात होगा। क्योंकि जो सिद्ध हो चुका है, उसमें उपकार को धारने योग्य कोई उत्पाद्य अंश शेष नहीं है। और दूसरे असिद्ध रूप को भी यदि उपकार प्राप्त करने योग्य माना जायेगा,तब तो आकाश पुष्प, शशविषाण आदि असिद्ध पदार्थों को भी उपकार झेलने वाले पन का प्रसंग आवेगा। यदि नियोगवादी सिद्ध असिद्ध दोनों रूपों का भी कथंचित् कोई स्वरूप असिद्ध हो रहा स्वीकार करेंगे तो प्रकरण प्राप्त शंका की निवृत्ति नहीं हो सकेगी। अतः अनवस्था दोष का प्रसंग हो जायेगा। इस प्रकार विधिवादीका नियोगवादी के प्रति उलाहना है।

दर्शनश्रवणानुमननिध्यानविधानविरोधात्। तद्विधाने वा सर्वदा तदनुपरतिप्रसक्तिः। दर्शनादिरूपेण तस्यासिद्धौ विधानव्याघातः कूर्मरोमादिवत्। सिद्धरूपेण विधाप्यमानस्य विधानेऽसिद्धरूपेण चाऽविधाने सिद्धासिद्धरूपसंकरात् विधाप्येतरविभागासिद्धेस्तद्रूपासंकरे वा भेदप्रसंगादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोस्तत्संबंधाभावादिदोषासंजननस्याविशेषः। तथा विषयस्य यागलक्षणस्य धर्मे नियोगे तस्यापरिनिष्पन्नत्वात् स्वरूपाभावाद्वाक्येन प्रत्येतुमशक्यत्वस्य विधावपि विषयधर्मे समानत्वात् कुतो

उसी प्रकार नियोगवादी के द्वारा विधिवादी पर वैसा ही उलाहना दिया जा सकता है। जैसे विधान कराये जा रहे पुरुष के धर्म माने गये विधि में भी परिपूर्ण निष्पन्न होकर सिद्ध हो चुके श्रोता नित्य पुरुष के दर्शन, श्रवण, अनुमनन और ध्यान के विधान का विरोध है।

अर्थात् - जो पहिले दर्शन आदि से रहित हैं, वह परिणामी पदार्थ ही दर्शन आदि का विधान कर सकता है, नित्य कृतकृत्य नहीं। यदि सिद्ध हो चुका पुरुष भी उन दर्शन आदि का विधान करेगा तो सर्वदा ही उन दर्शन आदिकों से विराम नहीं ले सकने का प्रसंग आयेगा। यदि उस आत्मा के धर्मविधि की दर्शन श्रवण आदि स्वरूपों के द्वारा सिद्धि हो चुकी नहीं मानोगे तब तो कच्छपरोम, चन्द्र, आतप आदि के समान उस असिद्ध हो रही असद्रूप विधि के विधान का व्याघात होगा। जो असिद्ध है, उसका विधान नहीं और जिसका विधान है वह सर्वथा असिद्ध पदार्थ नहीं है। यदि विधान करने योग्य का सिद्धस्वरूप के द्वारा विधान मानोगे और असिद्ध से विधान नहीं होना मानोगे तो सिद्ध-असिद्ध स्वरूपों का संकर हो जाने से यह सिद्धरूप विधाप्य है और इससे पृथक् इतना असिद्ध रूप विधान करने योग्य नहीं है, इस प्रकार के विभाग की सिद्धि नहीं हो सकी। यदि उन विधाप्य और अविधाप्य रूपों का एकमेक हो जाना स्वरूपसांकर्य नहीं माना जायेगा तब तो उन दोनों रूपों का आत्मा से भेद हो जाने का प्रसंग आयेगा। सर्वथा भिन्न स्थित उन सिद्ध असिद्ध दो रूपों का आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

क्योंकि दोनों का परस्पर में कोई उपकार नहीं है। यदि सम्बन्ध जोड़ने के लिए उपकार की कल्पना की जायेगी तो पूर्व में नियोगवादी के लिए उठाये गये सम्बन्धों का अभाव, उपकार कल्पना का नहीं बन सकना आदि दोषों का प्रसंग वैसा का वैसा ही विधिवादियों के ऊपर लग जायेगा क्योंकि नियोग और विधि में कोई विशेषता नहीं है। आत्मा के उपकार्य मानने पर आत्मा का नित्यपना बिगड़ता है। यदि दो रूपों को उपकार्य माना जायेगा तो सिद्धरूप तो कुछ उपकार झेलता नहीं है और गजशृंग के समान असिद्ध पदार्थ भी किसी की ओर से आये हुए उपकारों को नहीं धार सकता है। (यहाँ नियोगवादी की ओर से आचार्यों ने विधिवादी पर आपादन किया है। उसी प्रकार विधिवादी यदि नियोगवादी पर नियोग का निषेध करने के लिए यों कटाक्ष करें कि) प्राभाकरों की ओर से याग स्वरूप विषय का धर्म यदि नियोग माना जायेगा तो वह याग अभी बनकर परिपूर्ण हुआ नहीं है। उपदेश सुनते समय तो उस याग का स्वरूप ही नहीं है। अतः असद्भूत याग के धर्म नियोग के द्वारा निर्णय करने के लिए अशक्यता दोष है।

विषयधर्मो विधिः? पुरुषस्यैव विषयतयावभासमानस्य विषयत्वात्तस्य च परिनिष्पन्नत्वान्न तद्धर्मस्य विधेरसंभव इति चेत्, तर्हि यजनाश्रयस्य द्रव्यादेः सिद्धत्वात्तस्य विषयत्वात्कथं तद्धर्मो नियोगोपि न सिध्येत्? येन रूपेण विषयो विद्यते तेन धर्मेण नियोगोपीति, तदनुष्ठानाभावे विधिविषयो येन रूपेणास्ति तेन तद्धर्मस्य विधेः कथमनुष्ठानं? येनात्मना नास्ति तेनानुष्ठानमितिचेत् तन्नियोगेन समानं। कथमसन्नियोगोऽनुष्ठीयते अप्रतीयमानत्वात् खरविषाणवत् इति चेत्, तत एव विधिरपि नानुष्ठेयः। प्रतीयमानतया सिद्धत्वादनुष्ठेयो विधिरिति चेत्, नियोगोपि तथास्तु। नन्वनुष्ठेयतयैव नियोगोवतिष्ठते न प्रतीयमानतया तस्याः

इसके उत्तर में आचार्य विधिवादी पर भी यह अशक्यता दोष लगाते हैं कि "दृष्टव्योरेयमात्मा" इत्यादि वाक्य सुनने के अवसर पर जब दर्शन, श्रवण आदि हैं ही नहीं तो उनका धर्म विधि भी विद्यमान नहीं है। असद्भूत पदार्थ की वाक्य द्वारा प्रतीति नहीं हो सकती है। अतः विषय के धर्म माने गये नियोग के समान विधि की भी सिद्धि कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं। यदि विधिवादी कहें कि हम दर्शन, श्रवण आदि को विधिका विषय नहीं मानते हैं। विषय रूप से प्रतिभासमान परम ब्रह्म को ही विधि का विषय मानते है। पुरुष के पहले से ही परिपूर्णता है। अतः उस पुरुषरूप विषय के धर्मस्वरूप विधि के असम्भवता नहीं है। तब तो नियोगवादी भी कह सकता है कि पूजन के अधिकरण हो रहे, द्रव्य आत्मा, पात्र, स्थान आदि पदार्थ भी पहले से सिद्ध हैं। अतः उन द्रव्यों आदि के विषय हो जाने से उनका धर्म नियोग भी क्यों नहीं सिद्ध होगा?

(विधिवादी) जिस रूप से द्रव्यादिक विषय पूर्व से विद्यमान है, उस स्वरूप करके उनका धर्म नियोग भी तो पहिले से ही विद्यमान है। अतः उस नियोग का अनुष्ठान नहीं हो सकेगा। तब तो ब्रह्म विधि का विषय जिस रूप से सदा विद्यमान है, उस स्वरूप के द्वारा उसका विधि विषय भी निष्पन्न हो चुका है। ऐसी दशा में दृष्टव्य आदि वाक्यों के द्वारा विधि का अनुष्ठान भी कैसे किया जा सकता है? जिस स्वरूप से विधि विषयी विद्यमान नहीं है, उस अंश से विधि का अनुष्ठान किया जा सकता है। इस प्रकार कहने पर तो वह अनुष्ठान नियोग में भी समान रूप से किया जा सकता है क्योंकि नियोग और विधि में कोई अन्तर नहीं है। विधिवादी कहते हैं कि अंशरूप से असत् हो रहे नियोग का अनुष्ठान कैसे किया जा सकता है? क्योंकि असत् पदार्थ प्रतीत नहीं होता है। जो प्रतीत नहीं है, उसमें क्रिया नहीं की जा सकती है। अतः खरविषाण के समान असत् नियोग का करना नहीं हो सकता। आचार्य कहते हैं कि तब तो विधि भी अनुष्ठान करने योग्य नहीं रहेगी। अर्थात् अद्वैतवादियों ने भी विषय के असद्भूत अंश कर के ही विधि का अनुष्ठान किया जाना माना है। किन्तु प्रतीत स्वरूप के द्वारा सिद्ध होने के कारण विधि का तो अनुष्ठान किया जा सकता है। इस प्रकार विधिवादियों के कहने पर तो हम जैन भी कह सकते हैं कि नियोग भी इसी प्रकार अनुष्ठान करने योग्य हो सकता है। वह भी प्रतीति करके सिद्ध है। अप्रतीयमानत्व हेतु वहाँ असिद्ध है। अतः विधि के समान नियोग भी प्रतीयमान होने से अनुष्ठेय है।

सकलवस्तुसाधारणत्वात्। अनुष्ठेयता चेत्प्रतिभाता कोन्यो नियोगो यस्यानुष्ठितिरितिचेत्, तर्हि विधिरपि न प्रतीयमानतया प्रतिष्ठामनुभवति किं तु विधीयमानतया सा चेदनुभूता कोन्यो विधिर्नाम? यस्य विधानमुपनिषद्वाक्यादुपवर्ण्यते। दृष्टव्यादिवाक्येनात्मदर्शनादिविहितं ममेति प्रतीतेरप्रतिक्षेपार्हो विधिः कथमपाक्रियते? किमिदानीमग्निहोत्रादिवाक्येन यागादिविषये नियुक्तोहमिति प्रतीतिर्न विद्यते, येन नियोगः प्रतिक्षिप्यते। सा प्रतीतिरप्रमाणमितिचेत्, विधिप्रतीतिः कथमप्रमाणं न स्यात्? पुरुषदोषरहितवेदवचनोपजनितत्वादितिचेत्, तत एव नियोगप्रतीतिरप्यप्रमाणं मा भूत् सर्वथाप्यविशेषात्। तथापि नियोगस्य विषयधर्मस्यासंभवे विधेरपि तद्धर्मस्य न संभवः। शब्दस्य विधायकस्य च धर्मो विधिरित्यपि न निश्चेतुं

शंका - अनुष्ठान करने योग्य के द्वारा ही नियोग अवतिष्ठ है। प्रतीत किये जाने वाले नियोग की अवस्थिति नहीं हो रही है। क्योंकि अनुष्ठेयता तो सम्पूर्ण वस्तुओं में सामान्यरूप से विद्यमान है। यदि वह अनुष्ठेयता प्रतिभास है तो दूसरा नियोग क्या पदार्थ है? जिसका अनुष्ठान करना कर्मकाण्ड वाक्यों से माना जा रहा है? और नहीं प्रतिभास रहे पदार्थ का तो सद्भाव ही नहीं माना जाता है।

इस प्रकार अद्वैतवादियों का पर्यनुयोग होने पर तो विधि भी वर्तमान काल में प्रतीयमानपने करके प्रतिष्ठा का अनुभव नहीं कर रही है। किन्तु वर्तमान में विधान स्वरूप से जानी जा रही है। क्योंकि वह विधीयमानता सभी पदार्थों में साधारण रूप से पायी जाती है। जबकि विधि की विधीयमानता का अनुभव हो चुका तो फिर उससे अन्य कौन सा अंश विधि नाम का शेष रह गया है जिसका कि विधान करना "दृष्टव्यो" इत्यादिक उपनिषदों के वाक्यों से कहा जा रहा है।

दृष्टव्य, मन्तव्य, सोहम् इत्यादि वाक्यों के द्वारा मुझको आत्मदर्शन आदि की विधि हो चुकी है। इस प्रकार प्रतीति हो रही है। अतः खण्डन करने योग्य नहीं हो रही विधि नियोगवादियों के द्वारा कैसे निराकृत की जा रही है? इस पर आचार्य कहते हैं कि क्या इस समय अग्निहोत्र, विश्वजित् आदि यागों को कहने वाले वाक्यों के द्वारा मैं याग आदि विषयों में नियुक्त हो गया हूँ? इस प्रकार की प्रतीति क्या मर गई है? अब विद्यमान नहीं है, जिससे कि विधिवादियों के द्वारा नियोग का खण्डन किया जा रहा है। यदि (विधिवादी) वह नियुक्तपने को कहने वाली प्रतीति प्रमाण नहीं है, ऐसा कहते हैं तो विधि को प्रतिपादन करने वाली विहितपने की प्रतीति भी अप्रमाण क्यों नहीं हो जाएगी। पुरुषों के राग, द्वेष, अज्ञान आदि दोषों से रहित अनादि, अकृत्रिम, वेदवाक्यों से उत्पन्न हुई होने के कारण विधि की प्रतीति तो प्रमाणभूत है। इस प्रकार विधिवादी के कहने पर नियोगवादी भी कह सकते हैं कि उसी प्रकार अपौरुषेय वैदिक वचनों से उत्पन्न नियोग की प्रतीति भी अप्रमाण नहीं हो सकती। सभी प्रकारों से नियोग की अपेक्षा विधि में कोई विशेषता नहीं है। तथापि नियोग को विषय का धर्म होना सम्भव नहीं है। ऐसा मानने पर अपने विषय के धर्म माने गये विधि की भी सम्भावना नहीं हो सकती है।

भावार्थ - नियोज्य पुरुष और यागस्वरूप विषय के धर्म नियोग का विधाप्यमान पुरुष के अथवा विधेय के धर्म स्वरूप विधि के साथ सम्पूर्ण अंशों में सादृश्य है। इन दोनों में कोई विशेषता संभव नहीं है।

शक्यं, नियोगस्यापि नियोक्तृशब्दधर्मार्थप्रतिघाताभावानुषक्तेः। शब्दस्य सिद्धरूपत्वात्तद्धर्मो नियोगः कथमसिद्धो येनासौ संपाद्यते कस्यचिदित्यपि न मंतव्यं, विधिसंपादनविरोधात् तस्यापि सिद्धोपनिषद्वाक्यधर्मत्वाविशेषात्। प्रसिद्धस्यापि संपादने पुनः पुनस्तत्संपादने प्रवृत्त्यनुपरमात्कथमुपनिषद्वचनस्य प्रमाणता अपूर्वार्थताविरहात् स्मृतिवत्। तस्य वा प्रमाणत्वे नियोगवाक्यं प्रमाणमस्तु विशेषाभावात्। स्यान्मतं, नियोगस्य सर्वपक्षेषु विचार्यमाणस्यायोगात्तद्वचनमप्रमाणं। तेषां हि न तावत्कार्यं शुद्धं नियोगः प्रेरणा नियोज्यवर्जितस्य नियोगस्यासंभवात्। तस्मिन् नियोगसंज्ञाकरणे स्वकंबलस्य कुर्दालिकेति नामांतरकरणमात्रं स्यात्। न च तावता स्वेष्टसिद्धिः। शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेनापास्तं, नियोज्यफलरहितायाः प्रेरणायाः

विधायक शब्द का धर्म विधि है इस प्रकार भी विधिवादियों द्वारा निश्चय करना शक्य नहीं है। फिर भी यदि विधायक शब्द के धर्म माने गये विधि का निश्चय कर लेंगे तो नियोग को भी "विश्वजिता यजेत" "ज्योतिष्टोमेन यजेत" इत्यादि नियोक्ता शब्दों के धर्मार्थ का प्रतिघात नहीं हो सकने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् - नियोक्ता शब्दों का धर्म नियोग जान लिया जायेगा। शब्द को कूटस्थ नित्य मानने वाले मीमांसकों के यहाँ शब्द का परिपूर्ण रूप सिद्ध है। अतः उस शब्द का धर्म नियोग असिद्ध कैसे होगा? जिससे कि वह नियोग कर्मकाण्ड वाक्यों द्वारा किसी भी श्रोता के यहाँ सम्पादित किया जाए। आचार्य कहते हैं कि यह भी विधिवादियों को नहीं मानना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार तो विधि के सम्पादन करने का भी विरोध आता है। आप विधिवादियों के यहाँ उस विधि को भी अनादिकाल से परिपूर्ण सिद्ध स्वरूप वैदिक उपनिषद् वाक्यों का धर्मपना माना गया है। विधि और नियोग में नित्य शब्दों का धर्मपना अन्तररहित है। यदि सर्व अंशों में परिपूर्ण रूप से अच्छा सिद्ध हो चुके पदार्थ का भी संपादन करना माना जाएगा तो पुनः सिद्ध पदार्थ का सम्पादन किया जाएगा और फिर उस सिद्ध हो चुके का भी अनुष्ठान किया जाएगा।

इस प्रकार प्रवृत्तियाँ करते-करते कभी विश्राम नहीं मिलेगा। इस कारण स्मृति के समान अपूर्व अर्थ का ग्राहीपना नहीं होने से आप्त प्रतिपादक वैदिक उपनिषद् वचनों को प्रमाणता कैसे आ सकती है?

भावार्थ - यहाँ स्मृति का दृष्टान्त नियोगवादी की अपेक्षा से दिया गया है। स्याद्वाद सिद्धान्त में अपूर्व अर्थ की ग्राहिका होने से स्मृति को प्रमाण माना है। यदि फिर भी विधिवादी गृहीत के ग्राहक उन उपनिषद् वचनों को प्रमाण मानेंगे तो नियोगवाक्य भी प्रमाण हो जाएगा, क्योंकि नियोग की अपेक्षा विधि में कोई विशेषता नहीं है अर्थात् - इन दोनों में विशेषता का अभाव है।

शंका - यदि नियोग का शुद्ध कार्य आदि (ग्यारह) पक्षों में विचार चलाया जाए तो उस नियोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः नियोग को कहने वाले उपनिषद् वाक्य प्रमाण नहीं हैं। क्योंकि सबसे पहिला उन नियोगवादियों का शुद्ध कार्य स्वरूप नियोग तो सिद्ध नहीं हो पाता है। "यजेत" यहाँ पड़ी हुई विधि लिङ् का अर्थ माने गये प्रवर्तकत्वरूप प्रेरणा और स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला नियोज्य श्रोता से वर्जित हो रहे नियोग की असम्भवता है। फिर भी ऐसे उस शुद्ध कार्य में "नियोग" ऐसी वाचक संज्ञा करली जाएगी तब तो यह अपने कंबल का "कुदाली" यह केवल दूसरा नामकरण मात्र होगा। किन्तु उतने मात्र से स्वइष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती है।

प्रलापमात्रत्वात्। प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इत्यप्यसंभवि, नियोज्याद्यसंभवे तद्विरोधात्। कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेन निरस्तं। कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्तकत्वं नियोग इत्यप्यसारं; नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य प्रवर्तकत्वोपचारायोगात्, कदाचित्क्वचित्परमार्थतस्तस्य तथानुपलंभात्। कार्यप्रेरणयोः संबंधो नियोग इति वचनमसंगतं, ततो भिन्नस्य संबंधस्य संबंधिनिरपेक्षस्य नियोगत्वेनाघटनात्। संबंध्यात्मनः संबंधस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयं, प्रेर्यमाणपुरुषनिरपेक्षयोः संबंधात्मनोरपि कार्यप्रेरणयोः नियोगत्वानुपपत्तेः। तत्समुदायनियोगवादोप्यनेन प्रत्याख्यातः। कार्यप्रेरणास्वभावनिर्मुक्तस्तु नियोगो न विधिवादमतिशेते। यत्पुनः

अर्थात् - प्रेरणा और नियोज्य पुरुष से रहित हो रहे केवल शुद्ध कार्य स्वरूप नियोग से स्वर्ग नहीं मिल सकता है। जैसे कि कंबल को कुदाली मानकर उस कंबल से सड़क का खोदना नहीं हो सकता है।

शुद्ध प्रेरणा कर देना नियोग है। यह द्वितीय पक्ष भी इस पूर्वोक्त कथन से निरस्त कर दिया गया है, क्योंकि नियोग को प्राप्त करने योग्य पुरुष और नियोग के फल स्वर्ग से रहित हो रही प्रेरणा को मानना केवल निरर्थक बकवास है। अर्थात् ऐसी प्रेरणा को नियोग स्वरूपपना सिद्ध नहीं हो सकता है। तीसरा पक्ष प्रेरणा से सहित कार्य नियोग है। इस प्रकार कहना भी सम्भावना करने योग्य नहीं है। क्योंकि नियोज्य पुरुष, नियोजक शब्द, आदि के बिना उस नियोग के हो जाने का विरोध है। अर्थात् कार्य और प्रेरणा से ही नियोग सिद्ध नहीं हो सकता है। चतुर्थ पक्ष कार्य से सहित प्रेरणा नियोग है, यह विशेष्य विशेषण की परावृत्ति कर मान लिया गया कथन भी इस उक्त कथन करके खण्डित कर दिया जाता है। क्योंकि नियोज्य और नियोजक के बिना कोई प्रेरणा नहीं बन सकती है।

भविष्य में किये जाने योग्य कार्य को ही उपचार से प्रवर्तकपना नियोग है। यह पाँचवाँ पक्ष भी निस्सार है। क्योंकि नियोज्य, नियोजक आदि की अपेक्षा नहीं रखने वाले कार्य को उपचार से प्रवर्तकपना उपलब्ध नहीं है। नियोगवादियों का कार्य और प्रेरणा के सम्बन्ध को नियोग कथन करना यह वचन भी पूर्वापरसंगति से रहित है। क्योंकि सम्बन्ध वाले कार्य और प्रेरणा स्वरूप सम्बन्धियों से निरपेक्ष तथा उनसे भिन्न पड़े हुए सम्बन्ध को नियोगपना घटित नहीं होता है। कार्य और प्रेरणा रूप सम्बन्धियों से अभिन्न तदात्मक सम्बन्ध को नियोग कहना भी पूर्वापर अन्वय संगति से शून्य है अर्थात् यह बात कठिनता से भी नहीं समझी जा सकती है। क्योंकि प्रेर्यमाण पुरुष की अपेक्षा नहीं रखने वाला सम्बन्ध स्वरूप कार्य और प्रेरणा के सम्बन्ध को नियोगपने की अनुत्पत्ति है। अर्थात् - कार्य और प्रेरणा से तदात्मक हो रहा भी सम्बन्ध जबतक सर्वाधिकारी पुरुष की अपेक्षा नहीं करेगा तब तक कथमपि नियोग नहीं हो सकता है। उन कार्य और प्रेरणा का परस्पर अविनाभावभूत तदात्मक समुदाय हो जाना नियोग है।

यह नियोगवादियों का सातवाँ पक्ष भी इस सम्बन्ध वाले कथन से ही निराकृत कर दिया गया है। अर्थात् - पुरुष के बिना उन दोनों के समुदाय को नियोग कहना उचित नहीं है। कार्य और प्रेरणा स्वभावों से सर्वथा विनिर्मुक्त हो रहा नियोग तो विधिवाद से अधिक अतिशय धारी नहीं है।

स्वर्गकामः पुरुषोग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तत इति यंत्रारूढनियोगवचनं तदपि न परमात्मवादे प्रतिकूलं, पुरुषाभिमानमात्रस्य नियोगत्ववचनात् तस्य चाविद्योदयनिबंधनत्वात्। भोग्यरूपो नियोग इति चायुक्तं, नियोक्तृप्रेरणाशून्यस्य भोग्यस्य तदभावानुपपत्तेः। पुरुषस्वभावोपि न नियोगो घटते, तस्य शाश्वतिकत्वेन नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसंगात्। पुरुषमात्रविधेरेव तथा विधाने वेदांतवादिपरिसमाप्तेः। कुतो नियोगवादो नामेति? तदेतदसारं, सर्वथा विधेरपि वाक्यार्थानुपपत्तेः। सोपि हि शब्दादेरदृष्टव्यतादिव्यवच्छेदेन रहितो यदीष्यते तदा न कदाचित्प्रवृत्तिहेतुः, प्रतिनियतविषयविधिनांतरीयकत्वात् प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः तस्य वा तद्विषयपरिहाराविनाभावित्वात् कटः कर्तव्य इति

फिर नौवें पक्ष के अनुसार नियोगवादियों ने यों कहा था कि स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला पुरुष अग्निहोत्र आदि वाक्य द्वारा नियोग प्राप्त होने पर यागस्वरूप विषय के ऊपर आरूढ़ मानता हुआ प्रवर्तक होता है। इस प्रकार यंत्रारूढ़स्वरूप नियोग है। सो यह उसका कथन भी परम ब्रह्मवाद के प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि पुरुष का केवल अभिमान करने को नियोगपना कहा गया है और वह अभिमान तो अविद्या के उदय को कारण मानकर होगया है - यही विधिवादियों का मन्तव्य है। दसवें पक्ष के अनुसार भविष्य में भोगने योग्य पदार्थस्वरूप नियोग है, यह कहना भी युक्ति रहित है, क्योंकि नियोक्ता पुरुष और प्रेरणा से शून्य हो रहे भोग्य को उस नियोगपन की उपपत्ति नहीं हो सकती है। ग्यारहवें पक्ष के अनुसार पुरुष स्वभाव रूप नियोग भी घटित नहीं होता है। क्योंकि वह पुरुष तो नित्य है। अतः ऐसा नियोग मानने पर तो नियोग को भी नित्यपना हो जाने का प्रसंग आता है जबकि नियोग नित्य ही है, तो वेदवाक्यों द्वारा उसका नवीन प्रतिपादन क्यों किया जा रहा है?

केवल पुरुष की विधि को ही नियोग वाक्यों द्वारा प्रतिपादन या अज्ञात ज्ञापन करना स्वीकार करने पर तो नियोगवादियों की वेदान्तवाद में परिपूर्ण रूप से प्राप्ति हो जाती है। तो फिर नाम मात्र का भी नियोगवाद किस प्रकार से सिद्ध हो सकता है? अर्थात् नहीं।

"स्यान्मतं" से प्रारम्भ कर "नामेति" तक विधिवादियों ने नियोग के ग्यारहों पक्षों का प्रत्याख्यान किया है। अब **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं कि यह विधिवादियों का कथन निस्सार है, क्योंकि सर्वथा विधि को भी वाक्य का अर्थपना घटित नहीं होता है। "दृष्टव्योरेयमात्मा" इन शब्द, चेष्टा, आदि से आत्मा के दृष्टव्यपन, मन्तव्यपन आदि की वह विधि भी अदृष्टव्य, अमन्तव्यपन आदि के व्यवच्छेद से रहित है? या उन दृष्टव्य आदि से भिन्न की व्यावृत्ति करने वाली है ? प्रथम पक्ष अनुसार यदि दृष्टव्य आदि की विधि को अदृष्टव्य आदि के अपोह करने से रहित मानोगे तब तो किसी भी पुरुष की प्रवृत्ति का कारण वह विधि नहीं हो सकेगी।

क्योंकि हित-अहित को विचारने वाले पुरुषों की प्रवृत्तियाँ प्रतिनियत हो रहे विषय की विधि के साथ अविनाभाव रखती हैं और उस विपरीत के परिहार के साथ अविनाभाव रखती हैं। जैसे कि चटाई को बुनना चाहिए ऐसा निर्देश देने पर नौकर की कट में कर्त्तव्यपन की विधि उस चटाई से भिन्न पट, घट, मुकुट

यथा। न हि कटकर्तव्यताविधिरतद्व्यवच्छेदमंतरेण व्यवहारमार्ग्यमवतारयितुं शक्यः। परपरिहारसहितो विधिः शब्दार्थ इति चेत्, तर्हि विधिप्रतिषेधात्मकः शब्दार्थ इति कुतो विध्येकांतवादप्रतिष्ठा प्रतिषेधैकांतवादवत्। स्यान्मतं, परपरिहारस्य गुणीभूतत्वाद्विधेरेव प्रवृत्त्यंगत्वे प्राधान्याद्विधिः शब्दार्थ इति। कथमिदानीं शुद्धकार्यादिरूपनियोगव्यवस्थितिर्न स्यात्? कार्यस्यैव शुद्धस्य प्रवृत्त्यंगतया प्रधानत्वोपपत्तेः, नियोज्यादेः सतोपि गुणीभावात्। तद्वत्प्रेरणादिस्वभावनियोगवादिनां प्रेरणादौ प्रधानताभिप्रायात्। तदितरस्य सतोपि गुणीभावाध्यवसायाद्युक्तो नियोगः शब्दार्थः। शुद्धकार्यप्रेरणादिषु स्वाभिप्रायात् कस्यचित्प्रधानभावेपि पराभिप्रायात्प्रधानत्वाभावादन्यतरस्यापि स्वभावस्याव्यवस्थितेर्नैकस्यापि शब्दार्थत्वमिति चेत्, तर्हि पुरुषाद्वैतवाद्याशयवशाद्विधेः प्रधानत्वेपि ताथागतमताश्रयणादप्रधानताघटनात् सोपि न प्रतिष्ठामटाट्येत

आदि अप्रकृतक अर्थों की व्यावृत्ति किये बिना योग्य व्यवहार मार्ग में प्रवृत्ति करना शक्य नहीं है। द्वितीय पक्ष अनुसार यदि विधिवादी अन्य का परिहार करने से सहित विधि को शब्द का अर्थ मानेंगे, तब तो शब्द का अर्थ विधि और निषेध उभयात्मक सिद्ध होगा। अतः विधिवादियों की केवल विधि एकान्त के पक्ष परिग्रह की प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है। जैसे कि बौद्धों के केवल प्रतिषेध करने को वाक्य का अर्थ मानने के पक्ष की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। अर्थात्-विधि और निषेध दोनों ही शब्द के अर्थ व्यवस्थित हैं। केवल विधि और केवल निषेध वाक्य के अर्थ नहीं हैं।

शंका - पर पदार्थों का परिहार करना शब्द का अर्थ है, किन्तु वह पर का परिहार गौण है। प्रधानपने से विधि को ही प्रवृत्ति का हेतुपना देखा जाता है। अर्थात् कर्तव्य कार्य की विधि कर देने से नियुक्त पुरुष की वहाँ तत्काल प्रवृत्ति हो जाती है। अतः शब्द का प्रधानता से अर्थ विधि है। अन्य का निषेध तो शब्द का गौण अर्थ है। **समाधान** - इस प्रकार अद्वैतवादियों द्वारा स्वपक्ष की पुष्टि किये जाने पर जैनाचार्य कहते हैं कि, इस प्रकार शुद्ध कार्य, शुद्ध प्रेरणा आदि स्वरूप नियोग की व्यवस्था कैसे नहीं होती है ? क्योंकि प्रवृत्ति कराने का मुख्य अंग होने से शुद्ध कार्य को ही प्रधानता प्राप्त हो सकती है। और नियोज्य पुरुष, या विषय, आदि के विद्यमान होने पर भी गौणपना मान लिया जाता है अर्थात् शुद्ध कार्य भी नियोग का अर्थ हो जाता है। पुरुष, शब्द, फल, वहाँ सभी विद्यमान हैं, फिर भी प्रधान होने से शुद्ध कार्य को नियोग कह दिया गया है। शेष सब अप्रधान रूप से शब्द के वाच्य हो जाते हैं। उसी के समान शुद्ध प्रेरणा, कार्य सहिता प्रेरणा आदि स्वरूप नियोग को मानने वाले प्राभाकरों के यहाँ प्रेरणा आदि में प्रधानपने का अभिप्राय है। और उनसे भिन्न पुरुष, फल आदि पदार्थों के विद्यमान होते हुए भी उनको गौण रूप से शब्द द्वारा जान लिया है। अतः नियोग को शब्द का अर्थ मानना समुचित है।

शुद्ध कार्य, शुद्ध प्रेरणा आदि में प्राभाकरों के अपने अभिप्राय से किसी एक को प्रधानपना होने पर भी दूसरे भट्ट, वेदान्ती, बौद्ध आदि के अभिप्राय से प्रधानपना स्वीकृत नहीं किया गया है। अतः शब्द के उन प्रधान अप्रधान दोनों अर्थों में से किसी एक भी स्वभाव रूप नियोग की व्यवस्था नहीं हो पाती है। अतः एक को भी शब्द का वाच्यार्थपना नहीं है। इस प्रकार विधिवादियों के कहने पर आचार्य कहते हैं कि तब तो पुरुषाद्वैतवादी के आशयवश विधि को प्रधानपना होने पर भी बौद्धमत के आश्रय से विधि को

विप्रतिपत्तिसद्भावाविशेषात्। प्रमाणरूपश्च यदि विधिः तदा प्रमेयमन्यद्वाच्यं। तत्स्वरूपमेव प्रमेयमितिचेत्, कथमस्यार्थद्वयरूपता न विरुध्यते? कल्पनयेतिचेत्, तर्ह्यन्यापोहः शब्दार्थः कथं प्रतिषिध्यते? अप्रमाणत्वव्यावृत्त्या विधेः प्रमाणत्ववचनादप्रमेयत्वव्यावृत्त्या च प्रमेयत्वपरिकल्पनात्। पदार्थस्वरूपविधायकत्वमंतरेणान्यापोहमात्र-विधायकस्य शब्दस्य क्वचित्प्रवर्तकत्वायोगादन्यापोहो न शब्दार्थ इतिचेत्, तर्हि पदार्थस्वरूपविधायकस्यापि शब्दस्यान्यापोहानभिधायिनः कथमन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवृत्तिनिमित्तत्वसिद्धिः येन विधिमात्रं शब्दार्थः स्यात्। परमपुरुष एव विधिः स एव च प्रमाणं प्रमेयं चाविद्यावशादाभासते प्रतिभासमात्रव्यतिरेकेण व्यावृत्त्यादेरप्यसंभवादित्यपि दत्तोत्तरं, प्रतिभासव्यतिरिक्तस्य

अप्रधानपना घटित हो जाता है। अतः वह विधि भी प्रतिष्ठा को अतिशय रूप से प्राप्त नहीं हो पाती है। क्योंकि कई दार्शनिकों की ओर से विवादों का सद्भाव विधि और नियोग दोनों में अन्तर रहित है अर्थात् समान है।

विधि को यदि प्रमाणस्वरूप माना जायेगा तो उस समय उस प्रमाण रूप विधि करके जानने योग्य प्रमेय पदार्थ को पृथक् मानना पड़ेगा। यदि उस विधिस्वरूप ही प्रमेय पदार्थ माना जायेगा, तब तो स्वभावों से रहित इस एक निरंश विधि को प्रमाण और प्रमेय दो पदार्थ स्वरूपपना विरुद्ध क्यों नहीं होगा?

यदि अद्वैतवादी कहे कि एक ही पदार्थ में कल्पना से दो पदार्थ (प्रमाण, प्रमेय) रूप बन जाता है इसमें कोई विरोध नहीं है इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो बौद्धों द्वारा स्वीकृत शब्द का अर्थ अन्यापोह अद्वैतवादियों द्वारा क्यों निषेध किया जाता है ? अप्रमाणपने की व्यावृत्ति से विधि को प्रमाणपना कह देना चाहिए और अप्रमेयपन की व्यावृत्ति से प्रमेयपना धर्म मान लेना चाहिए।

पदार्थ के स्वरूपों की विधि का कथन करा देने के बिना ही केवल अन्यों की व्यावृत्ति का ही कथन करने वाले शब्द का कहीं किसी एक विवक्षित पदार्थ में प्रवर्तकपना घटित नहीं हो सकता। अतः अन्यापोह यहाँ शब्द का अर्थ नहीं है। इस प्रकार अद्वैतवादियों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि वस्तु के विधिस्वरूप का कथन करने वाले ही शब्द के द्वारा यदि अन्यापोह का कथन करना नहीं माना जायेगा तो उस अन्यापोह को नहीं कहने वाले शब्द का अन्यों का परिहार करके किसी एक नियत विषय में ही प्रवृत्ति का निमित्त कारणपना कैसे सिद्ध होगा? जिससे कि केवल विधि ही शब्द का अर्थ हो सके। अर्थात् जब तक विवक्षित पदार्थों से अतिरिक्त पड़े हुए पदार्थों की व्यावृत्ति नहीं की जायेगी तब तक उसी नियत पदार्थ में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?

परमब्रह्म ही तो विधि पदार्थ है और संसारी जीवों को वही अविद्या के वश से प्रमाण स्वरूप और प्रमेय स्वरूप प्रतिभासित होता है। केवल शुद्ध प्रतिभास के अतिरिक्त व्यावृत्ति आदि की भी असम्भवता है। विधिवादियों के इस वक्तव्य का भी उत्तर दिया जा चुका है। क्योंकि प्रतिभास से अतिरिक्त प्रतिभासने योग्य घट, पट आदि अर्थों की व्यवस्था करा दी जा चुकी है। अतः नियोग के समान विधि को भी प्रमाणात्मक मानने पर अनेक दोष आते हैं।

प्रतिभास्यस्यार्थस्य व्यवस्थापितात्वात्। प्रमेयरूपो विधिरिति वचनमयुक्तं, प्रमाणाभावे प्रमेयरूपत्वायोगात्तस्यैव च द्वयरूपत्वविरोधात्। कल्पनावशाद्विधेर्द्वयरूपत्वे अन्यापोहवादानुषंगस्याविशेषात्। प्रमाणप्रमेयोभयरूपो विधिरित्यप्यनेन निरस्तं भवतु। अनुभयरूपोऽसाविति चेत्, खरशृंगादिवदवस्तुतापत्तिः कथमिव तस्य निवार्यतां? तथा यंत्रारूढो वाक्यार्थ इत्येकांतोपि विपर्यय एवान्यापोहमंतरेण तस्य प्रवर्तकत्वायोगाद्विधिवचनवत्। एतेन भोग्यमेव पुरुष एव वाक्यार्थ इत्यप्येकान्तो निरस्तः, नियोगविशेषतया च यंत्रारूढादेः प्रतिविहितत्वात्। न पुनस्तत्प्रतिविधानेतिरादरोस्माकमित्युपरम्यते। तथान्यापोह एव शब्दार्थ इत्येकांतो विपर्ययः स्वरूप-विधिमंतरेणान्यापोहस्यासंभवात्। वक्त्रभिप्रायारूढस्यार्थस्य विधिरेवान्यापोह इत्थं इति चेत्, तथैव बहिरर्थस्य

विधि प्रमेय स्वरूप है, इस प्रकार द्वितीय पक्ष अनुसार कहना भी युक्ति रहित है। क्योंकि प्रमाण को स्वीकार किये बिना विधि में प्रमेय स्वरूपपना नहीं घटता है। और उस एक ही विधि पदार्थ को एकान्त-वादियों के यहाँ प्रमाणपन, प्रमेयपन, इन दो स्वरूपपने का विरोध है। यदि कल्पनावश विधि को प्रमाण, प्रमेय दोनों रूप माना जाएगा तो बौद्धों के अन्यापोहवाद का प्रसंग आता है, क्योंकि इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है जिससे कि विधि में प्रमेयपन मानते हुए अन्य व्यावृत्तियाँ स्वीकार नहीं की जावें।

अब तृतीय विकल्प के अनुसार प्रमाण, प्रमेय उभय स्वरूप विधि है। यह कल्पना भी इस उक्त कथन से निराकृत कर दी गयी है क्योंकि दो रूपपने में जो दोष आते हैं वही दोष उभयरूप मानने में प्राप्त होते हैं।

यदि चतुर्थ कल्पना अनुसार वह विधि अनुभयस्वरूप मानी जायेगी अर्थात् प्रमाण प्रमेय दोनों के साथ अतदात्मक विधि को वाक्य का अर्थ माना जायेगा, तब तो खर विषाण, आकाश कुसुम आदि के समान उस विधि को अवस्तुपन की आपत्ति हो जाना किस प्रकार निवारण किया जा सकता है ? अतः वाक्य का अर्थ विधि नहीं हो सकता है।

यंत्र में आरूढ़ हो जाना वाक्य का अर्थ है। इस प्रकार एकान्त करना भी कुश्रुत ज्ञान रूप विपर्यय ज्ञान है। क्योंकि अन्य की व्यावृत्ति किये बिना उस यंत्रारूढ़ को किसी ही विवक्षित विषय में प्रवृत्ति करा देना पन घटित नहीं होता है। जैसे कि वाक्य के द्वारा विधि का ही कथन होना मानने पर किसी विशेष ही पदार्थ में विधि को प्रवर्तकपना नहीं बनता है। इस उक्त कथन के द्वारा भोग्यरूप ही वाक्य का अर्थ है अथवा आत्मा ही वाक्य का अर्थ है, ये एकान्त भी निराकृत कर दिये गये हैं। क्योंकि ग्यारह प्रकार के नियोगों का विशेष भेद हो जाने से यंत्रारूढ़ पुरूषस्वरूप आदि नियोगों का पूर्व प्रकरणों में खण्डन किया जा चुका है, पुनः उनके खण्डन करने में हमारा अत्यधिक आदर नहीं है। अतः विराम लिया जाता है। इस प्रकार मीमांसक और अद्वैतवादियों द्वारा नियोग भावना और विधि को वाक्य का अर्थ मानना विपर्यय ज्ञान है।

तथा, अन्यापोह ही शब्द का अर्थ है यह बौद्धों का एकान्त भी विपर्यय ज्ञान है। क्योंकि वस्तु के स्वरूप की विधि के बिना अन्यापोह की असंभवता है अर्थात् जब किसी की विधि करना ही नियत नहीं

विधिरस्तु विशेषाभावात्। तेन शब्दस्य संबंधाभावान्न शब्दात्तद्विधिरिति चेत्, तत एव वक्त्रभिप्रेतस्याप्यर्थस्य विधिर्माभूत्। तेन सह कार्यकारणभावस्य संबंधस्य सद्भावाच्छब्दस्य तद्विधायित्वमिति चेन्न, विवक्षामंतरेणापि सुप्ताद्यवस्थायां शब्दस्य प्रवृत्तिदर्शनात्कार्यत्वाद्व्यवस्थानात्। प्रतिक्षिप्तश्चान्यापोहैकांतः पुरस्तादिति तर्कितं। नियोगो भावना धात्वर्थो विधियंत्रारूढादिरन्यापोहो वा यदा कैश्चिदेकांतेन विषयो वाक्यस्यानुमन्यते तदा तज्जनितं वेदनं श्रुताभासं प्रतिपत्तव्यं, तथा वाक्यार्थनिर्णीतेर्विधातुं दुःशकत्वादिति॥

कः पुनरवधिविपर्यय इत्याह–

है, तो अन्यों की व्यावृत्ति कैसे की जा सकती है। वक्ता के अभिप्राय में आरूढ़ अर्थ की विधि ही अन्यापोह है अर्थात्-वस्तुभूत अर्थ को शब्द नहीं छूता है। विवक्षारूप कल्पना में अभिरूढ़ अर्थ की विधि को कर देता है। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर तो बहिर्भूत वास्तविक अर्थ की शब्द द्वारा विधि हो जाती हैं। विवक्षित अर्थ की विधि और बहिरंग वाच्य अर्थ की विधि करने में कोई अन्तर नहीं है। उस बहिरंग अर्थ के साथ शब्द का कोई वास्तविक वाच्य वाचक रूप सम्बन्ध नहीं है। अतः शब्द द्वारा उस बहिर्भूत अर्थ की विधि नहीं की जा सकती है। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर तो ऐसा सम्बन्ध नहीं होने से वक्ता को विवक्षित अर्थ की भी विधि नहीं हो सकेगी।

अतः उस विवक्षा में स्थित अर्थ के साथ कार्य-कारण भाव सम्बन्ध की सहायता से शब्द के विवक्षित अर्थ की विधि को करा देनापना है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि गाढ़रूप से हुई सुप्तावस्था या मूर्च्छित आदि अवस्थाओं में विवक्षा के बिना भी शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है।

अतः उस विवक्षा के कार्यपने के द्वारा शब्द की व्यवस्था नहीं है। इस प्रकार पूर्व के प्रकरणों द्वारा अन्यापोह के एकान्त का खण्डन किया जा चुका है। अतः अधिक तर्कणा करने से क्या प्रयोजन है?

नियोग, भावना, शुद्ध धात्वर्थ, विधि, यंत्रारूढ, पुरुष आदि अथवा अन्यापोह, ये एकान्त रूप से जब कभी वाक्य के द्वारा विषय किये गये अर्थ किन्हीं मतावलम्बियों के द्वारा स्वसिद्धान्त अनुसार माने जाते हैं, उस समय नियोग आदि को विषय करने वाले उन वाक्यों से उत्पन्न हुआ ज्ञान श्रुतज्ञानाभास समझना चाहिए। क्योंकि, उस प्रकार उनके मन्तव्य अनुसार वाक्य अर्थ का निर्णय करना दुःसाध्य है अर्थात् - उनके द्वारा माना गया वाक्य का अर्थ प्रमाणों से निर्णीत नहीं होता है। अतः वे उस समय कुश्रुत ज्ञानी हैं। इस प्रकार मतिज्ञान श्रुतज्ञानों के आभासों का वर्णन किया है। क्योंकि कारणविपर्यास, स्वरूपविपर्यास और भेदाभेद विपर्यास को अवलम्बन लेकर अनेक सम्प्रदायों के अनुसार जीवों के अनेक कुज्ञान उत्पन्न होते हैं। सम्यग्ज्ञान का अन्तरंग कारण सम्यग्दर्शन हो जाने पर चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ कर ऊपर के गुणस्थानों में विपर्यय ज्ञान नहीं होता है।

अवधिज्ञान का विपर्यय क्या है? ऐसी जानने की इच्छा होने पर **श्री विद्यानंन्द आचार्य** कहते हैं -

भवं प्रतीत्य यो जातो गुणं वा प्राणिनामिह। देशावधिः स विज्ञेयो दृष्टिमोहाद्विपर्ययः ॥११५॥
सत्संयमविशेषोत्थो न जातु परमावधिः। सर्वावधिरपि व्यस्तो मनःपर्ययबोधवत् ॥११६॥

परमावधिः सर्वावधिश्च न कदाचिद्विपर्ययः सत्संयमविशेषोत्थत्वात् मनःपर्ययवदिति। देशावधिरेव कस्यचिन्मिथ्यादर्शनाविर्भावे विपर्ययः प्रतिपाद्यते। किं पुनः कर्तुं प्रमाणात्मकसम्यग्ज्ञानविधौ प्रकृते विपर्ययं ज्ञानमनेकधा मत्यादि प्ररूपितं सूत्रकारैरित्याह–

इति प्रमाणात्मविबोधसंविधौ विपर्ययज्ञानमनेकधोदितम्।
विपक्षविक्षेपमुखेन निर्णयं सुबोधरूपेण विधातुमुद्यतैः ॥११७॥

भव को कारण मानकर अथवा क्षयोपशम रूप गुण को कारण मानकर प्राणियों के उत्पन्न हुई जो देशावधि है उसको दर्शन-मोहनीय कर्म का उदय हो जाने से विपर्यय ज्ञान समझना चाहिए। विशिष्ट प्रकार के श्रेष्ठ संयमी मुनि के उत्पन्न सर्वावधि और परमावधि कभी विपर्ययपने को प्राप्त नहीं होती है, जैसे कि मनःपर्यय ज्ञान का विपर्यय नहीं होता है।

चरमशरीरी संयमी मुनि के होने वाले परमावधि और सर्वावधि ज्ञान कदाचिद् भी विपरीत नहीं होते हैं और ऋद्धिधारी विशेष मुनि के होने वाला मनःपर्यय ज्ञान भी सम्यग्दर्शन का समानाधिकरण होने से विपर्यय नहीं होता है। अवधिज्ञान में केवल देशावधि ही मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धी कर्म के उदय का साहचर्य प्राप्त होने पर विपरीत ज्ञानरूप विभंग हो जाती है॥११५-११६॥

अतीव श्रेष्ठ संयम विशेष से उत्पन्न होने के कारण परमावधि और सर्वावधि तो कभी विपरीत ज्ञानस्वरूप नहीं होती है। जैसे कि मनःपर्यय ज्ञान विपरीत नहीं होता है परन्तु देशावधि ही किसी जीव के मिथ्यादर्शन के प्रकट हो जाने पर विपर्यय कही जाती है।

प्रमाणस्वरूप सम्यग्ज्ञान की विधि का प्रकरण चल रहा है। फिर सूत्रकार ने किस लिए मति आदि तीन ज्ञानों को अनेक प्रकारों से विपर्यय ज्ञान स्वरूप इस सूत्र द्वारा निरूपित किया है? ऐसी जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं -

इस पूर्वोक्त प्रकार प्रमाण स्वरूप सम्यग्ज्ञान की विधि हो जाने पर विपरीत पक्ष के खण्डन की मुख्यता से समीचीन बोधस्वरूप के द्वारा निर्णय का विधान करने के लिए उद्यत श्री उमास्वामी ने अनेक प्रकार के विपर्यय ज्ञान का इस सूत्र द्वारा कथन किया है।

पहिले प्रकरणों में कथित सम्यग्ज्ञान का निरूपण तभी निर्णीत हो सकता है, जबकि उनसे विपरीत मिथ्याज्ञानों का ज्ञान करा दिया जाए। अतः तीनों मिथ्याज्ञानों से व्यावृत्त सम्यग्ज्ञान उपादेय है॥११७॥

पूर्वं सम्यगवबोधस्वरूपविधिरूपमुखेन निर्णयं विधाय विपक्षविक्षेपमुखेनापि तं विधातुमुद्यतैरनेकधा विपर्ययज्ञानमुदितं वादिनोभयं कर्तव्यं स्वपरपक्षसाधनदूषणमिति न्यायानुसरणात्, स्वविधिसामर्थ्यात् प्रतिषेधस्य सिद्धेस्तत्सामर्थ्याद्वा स्वपक्षविधिसिद्धेर्नोभयवचनमर्थवदिति प्रवादस्यावस्थापितुमशक्तेः, सर्वत्र सामर्थ्यसिद्धस्यावचनप्रसंगात्। स्वेष्टव्याघातस्यानुषंगात्। क्वचित्सामर्थ्यसिद्धस्यापि वचने स्याद्वादन्यायस्यैव सिद्धेः सर्वं शुद्धम्॥

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे प्रथमस्याध्यायस्य **चतुर्थ**माह्निकम्॥

पहिले सम्यग्ज्ञान के स्वरूप का विधिस्वरूप की मुख्यता से निर्णय कर पुनः सम्यग्ज्ञान के विपक्षी मिथ्याज्ञानों के निराकरण की मुख्यता से भी उस निर्णय का विधान करने के लिये उद्यमी सूत्रकार ने अनेक प्रकार के विपर्यय ज्ञान का कथन किया है। यद्यपि सम्यग्ज्ञानों की विधि से ही मिथ्याज्ञानों का अनायास निवारण हो जाता है। अथवा मिथ्याज्ञानों का अकेले निवारण कर देने से ही सम्यग्ज्ञानों की विधि हो जाती है। फिर भी वादी को दोनों कार्य करने चाहिए। अपने पक्ष का साधन करना, दूसरों के प्रतिपक्ष में दूषण उठाना इस नीति का अनुसरण करके ग्रन्थकार ने दोनों कार्य किये हैं। अथवा श्री उमास्वामी महाराज ने विधिमुख और निषेधमुख दोनों से सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानों का प्रतिपादन किया है। अतः सिद्ध है कि समीचीनवादी विद्वान् को स्वपक्षसाधन और परपक्ष में दूषण इन दोनों का कथन करना चाहिए।

सौगत कहता है कि अपने पक्ष की विधि कर देने की सामर्थ्य से ही प्रतिपक्ष के निषेध की सिद्धि हो जाती है। अथवा उस परपक्ष के निषेध की सिद्धि हो जाने से ही अर्थापत्ति के बल से स्वपक्ष के सामर्थ्य की सिद्धि हो जाती है। अतः दोनों का कथन करना व्यर्थ है। जैनाचार्य कहते हैं कि उक्त प्रकार के प्रवाद की व्यवस्था करना शक्य नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने पर तो सभी स्थलों पर बिना कहे सामर्थ्य से सिद्ध पदार्थ के कथन नहीं करने का प्रसंग आएगा। ऐसी दशा में अपने इष्ट सिद्धान्त के व्याघात हो जाने का भी प्रसंग आएगा। अर्थात् बौद्धों ने "यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकं"- इस व्याप्ति अनुसार समर्थन उपनय आदि का पुनरपि निरूपण किया है। किसी व्यक्ति की विद्वत्ता का निषेध करने पर भी मूर्खता का विधान नहीं हो जाता है। अथवा हेतु की पक्ष में विधि कर देने से ही विपक्ष में निषेध नहीं हो जाता है। सामर्थ्य से सिद्ध पदार्थ का यदि शब्द द्वारा निरूपण करना कहीं-कहीं इष्ट कर लेने पर तो स्याद्वाद न्याय की ही सिद्धि होगी। अतः अनेकान्त मत अनुसार सम्पूर्ण व्यवस्था निर्दोष होकर शुद्ध बन जाती है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक अलंकार ग्रन्थ में प्रथम अध्याय का चतुर्थ आह्निक समाप्त हुआ।

सम्यग्दर्शन या जीव आदि पदार्थों का अधिगम कराने वाले प्रमाणों का वर्णन हो चुका है। उस प्रमाण के पश्चात् कहे गये नयों का निरूपण करना अब अवसर प्राप्त है। अतः आचार्य नयों की भेदगणना कहने वाले सूत्र को कहते हैं -

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥३३॥

किं कृत्वाधुना किं च कर्तुमिदं सूत्रं ब्रवीतीत्याह–

निर्देश्याधिगमोपायं प्रमाणमधुना नयान्। नयैरधिगमेत्यादि प्राह संक्षेपतोऽखिलान् ॥१॥

प्रमाणनयैरधिगम इत्यनेन प्रमाणं नयाश्चाधिगमोपाया इत्युद्दिष्टं। तत्र प्रमाणं तत्त्वार्थाधिगमोपायं प्रपंचतो निर्देश्याधुना नयांस्तदधिगमोपायानखिलान् संक्षेपतोन्यथा च व्याख्यातुमिदं प्राह भगवान्। कथं? नयसामान्यस्य तल्लक्षणस्यैव संक्षेपतो विभागस्य विशेषलक्षणस्य च विस्तरतो नयविभागस्य अतिविस्तरतो नयप्रपंचस्य चात्र प्रतिपादनात् सर्वथा नयप्ररूपणस्य सूत्रितत्वादिति ब्रूमहे॥

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय हैं। यद्यपि प्रमाणों से नय भिन्न हैं फिर भी शब्दों द्वारा जानने योग्य विषय को बताने वाले श्रुतज्ञान के एकदेश को नय माना है॥३३॥

अब आगे क्या करने के लिए इस सूत्र को श्री उमास्वामी व्यक्त कर रहे हैं? इस प्रकार तर्की शिष्य की जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं -

"प्रमाणनयैरधिगमः" **'मतिःस्मृतिः'**, **'श्रुतं मतिपूर्वं'** इत्यादि सूत्रों द्वारा तत्त्वों की अधिगति करने के प्रधान उपाय मूल प्रमाण का निर्देश (कथन) करके अब अधिगम के उपायभूत सम्पूर्ण नयों को संक्षेप में सूत्रकार कह रहे हैं। **'प्रमाणनयैरधिगमः'**- इस सूत्र में **'नयैः'** कहकर नयों को भी अधिगम का करण कहा जा चुका है॥१॥

"प्रमाणनयैरधिगमः" इस सूत्र के द्वारा प्रमाण और नय ये अधिगम करने के उपाय हैं, इस प्रकार कथन किया गया है।

उन अधिगति के उपायों में तत्त्वार्थों के अधिगम के उपायभूत प्रमाण को विस्तार से निरूपण कर अब उन तत्त्वार्थों या उनके अंशों की अधिगति के उपायभूत सम्पूर्ण नयों को संक्षेप से और विस्तार, अतिविस्तार से व्याख्यान करने के लिए इस सूत्र को ग्रन्थकार ने कहा है। किस प्रकार से इस सूत्र में नयों का प्रतिपादन किया है? इसके उत्तर में **विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं कि प्रथम ही नय सामान्य का एक ही भेद स्वरूप निरूपण और उस नय सामान्य के लक्षण का ही संक्षेपसे प्रतिपादन किया गया है तथा विभाग का अभिप्राय करते हुए नयों के विशेष दो भेद कर उनके लक्षण का और विस्तार के साथ नयों के विभाग का प्रतिपादन किया है। और भी नयों के विभाग का अत्यन्त विस्तार से नयों के भेद-प्रभेदों का इस सूत्र में विस्तृत कथन किया गया है।

यहाँ प्रथम विचार के अनुसार सामान्य रूप से नय की संख्या का और नय के लक्षण का निरूपण करते हुए श्री **विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं।

तत्र सामान्यतो नयसंख्यां लक्षणं च निरूपयन्नाह–

सामान्यादेशतस्तावदेक एव नयः स्थितः। स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजनात्मकः ॥२॥

सामान्यादेशात्तावदेक एव नयः स्थितः सामान्यस्यानेकत्वविरोधात्। स च स्याद्वादप्रविभक्तार्थ-विशेषव्यंजको नय इति वचनात्। ननु चेदं हेतोर्लक्षणवचनमिति केचित्। तदयुक्तं। हेतोः स्याद्वादेन प्रविभक्तस्यार्थस्य सकलस्य विशेषं व्यंजयितुमसमर्थत्वादन्यत्रोपचारात्। हेतुजनितस्य बोधस्य व्यंजकः प्रधानभावत एव युक्तः। स च नय एव स्वार्थैकदेशव्यवसायात्मकत्वादित्युक्तं। नन्वेवं दृष्टेष्टविरुद्धेनापि रूपेण

सामान्य की विवक्षा करने से तो नय एक ही व्यवस्थित है अर्थात् चाहे कितने भी पदार्थ क्यों नहीं हों, सामान्य रूप से उनका एक ही प्रकार हो सकता है; दो, चार आदि नहीं। सम्पूर्ण नयों में व्यापने वाला नय का सामान्य लक्षण तो **श्री समन्तभद्र आचार्य** ने **आप्तमीमांसा** में इस प्रकार कहा है कि **"स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः"** स्याद्वाद श्रुतज्ञान के द्वारा ग्रहण किये गये विशेष विशेषांशों के विभाग से युक्त अर्थों के विशेष को व्यक्त कर देना नय है। प्रमाण से ग्रहण किये गये अर्थ के एकदेश को ग्रहण करने वाला वक्ता का अभिप्राय विशेषनय है॥२॥

सर्वप्रथम सामान्य की विवक्षा से नय एक ही व्यवस्थित है। क्योंकि सामान्य का अनेकपने के साथ विरोध है। (समान पदार्थों का सामुदायिक परिणाम महासत्ता के समान एक हो सकता है।) स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा प्रकृष्ट रूप से जान लिये गये गुण, पर्याय आदि का विभाग करके युक्त अर्थ के विशेषों का व्यंजक नय है। अनेक स्वभावों के साथ तदात्मक हो रहे परिपूर्ण अर्थ को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है। और उस अर्थ के अन्य धर्मों की अपेक्षा रखता हुआ अंशों को जानने वाला ज्ञान नय है। तथा अन्य धर्मों का निराकरण करके अंशग्राही ज्ञान कुनय है।

आप्तमीमांसा में अहेतुवाद रूप स्याद्वाद आगम और हेतुवाद रूप नय इन दोनों से अलंकृत तत्त्वज्ञान को प्रमाण कहते हुए **श्री समन्तभद्र आचार्य** के समक्ष हेतु के लक्षण की जिज्ञासा प्रकट किये जाने पर शिष्य के प्रति स्वामी जी ने **"सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः स्याद्वादप्रविभक्तार्थ विशेषव्यञ्जको नयः"** - इस कारिका द्वारा हेतु का लक्षण कहा है। इसको नय का परिशुद्ध लक्षण तो नहीं मानना चाहिए। क्योंकि किसी प्रकरणवश कही गयी बात का अन्य प्रकरणों में भी वही अर्थ लगा लेना उचित नहीं है। इस प्रकार कोई कह रहा है। अब आचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना युक्ति रहित है। क्योंकि स्याद्वाद द्वारा प्रविभक्त किये गये सकल अर्थ के विशेष की व्यक्त ज्ञप्ति कराने के लिए हेतु का सामर्थ्य नहीं है। उपचार से हेतु को ज्ञापक कहा जा सकता है। उपचार के सिवाय वस्तुतः ज्ञापक चेतन ज्ञान ही होते हैं। हेतु से उत्पन्न हुए बोध की प्रधान रूप से व्यंजना (ज्ञप्ति) करने वाला वह नय ज्ञान ही युक्त हो सकता है। अथवा हेतु से उत्पन्न हुए ज्ञान का व्यंजक प्रधान रूप से ही कार्य को करने वाला कारण हो सकेगा और वह ज्ञानात्मक नय ही हो सकता है। क्योंकि करण आत्मक अपने और कर्मस्वरूप अर्थ के एकदेश का व्यवसाय करना स्वरूप नय होता है। इस प्रकार हम पूर्व में **"प्रमाणनयैरधिगमः"** सूत्र की चतुर्थ वार्त्तिक में कह चुके हैं।

तस्य व्यंजको नयः स्यादिति न शंकनीयं, "सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः" इति वचनात्। समानो हि धर्मो यस्य दृष्टांतस्य तेन साधर्म्यं साध्यस्य धर्मिणो मनागपि वैधर्म्याभावात्। ततोस्याविरोधेनैव व्यंजक इति निश्चीयते दृष्टांतसाधर्म्यादृष्टांतोत्सरणादित्यनेन दृष्टविरोधस्य निवर्तनात्। न तु कथंचिदपि दृष्टांतवैधर्म्याददृष्टवैपरीत्यादित्यनेनेष्टविरोधस्य परिहरणात् दृष्टविपरीतस्य सर्वथानिष्टत्वात्। स्वयमुदाहृतश्चैवं लक्षणो नयः स्वामिसमंतभद्राचार्यैः। "सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात्" इति सर्वस्य वस्तुनः स्याद्वादप्रविभक्तस्य

इस प्रकार तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा देखे गये और अनुमान आदि प्रमाणों से इष्ट किये गये स्वरूपों से विरुद्ध हो रहे स्वरूपों के द्वारा उस अर्थ की व्यञ्जनारूप ज्ञप्ति कराने वाला ज्ञान नय हो जायेगा?

ऐसी **शंका** नहीं करनी चाहिए। क्योंकि "दृष्टान्त धर्मी के साथ इष्ट, अबाधित, असिद्ध स्वरूप साध्य का साधर्म्य हो जाने से अविरोध रूप से पदार्थ विशेषों का ज्ञापक नयज्ञान है"- ऐसा श्री समन्त भद्र आचार्य का वचन है। जिस अन्वय दृष्टान्त का धर्म समान है, उसके साथ साध्यधर्मी का साधर्म्य होता है। जरा से भी वैधर्म्य का अभाव है। अर्थात् - निर्णीत किये गये दृष्टान्त के साथ प्रकरणप्राप्त साध्य का साधर्म्य हो जाने से ज्ञप्ति करने में कभी प्रत्यक्ष या अनुमान आदि से विरोध नहीं आता है। अतः इस अर्थ का अविरोध करके ही नय ज्ञान व्यंजक है, ऐसा निश्चय कर लिया जाता है। अन्वय दृष्टान्त का साधर्म्य मिला देने से अन्य दृष्टान्तों का निराकरण कर दिया जाता है। अतः इस दृष्टान्त साधर्म्य के वचन के द्वारा दृष्ट प्रत्यक्ष प्रमाण से आने वाले विरोध की निवृत्ति हो जाती है। अन्वय दृष्टान्तके विधर्मापने से यदि नय व्यंजक होता तो किसी भी प्रकार से प्रत्यक्ष द्वारा आये हुए विरोध की निवृत्ति नहीं हो सकती थी और अदृष्ट वैपरीत्य (दृष्ट से विपरीतपना नहीं इस) विशेषण द्वारा तो अनुमान आदि प्रमाणों से आने योग्य विरोधों का परिहार हो जाता है। क्योंकि दृष्ट से विपरीत हो रहे अनुमान आदि विरुद्ध पदार्थों का नयों द्वारा ज्ञान हो जाना सभी प्रकारों से अनिष्ट है।

"सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यात्" - इस वाक्य करके दृष्टान्त साधर्म्य और अदृष्टान्त वैधर्म्य ये दोनों अर्थ निकल आते हैं। अतः दृष्टान्त साधर्म्य से दृष्ट विरोध और अदृष्टान्त वैधर्म्य से इष्ट विरोध की निवृत्ति हो जाती है।

स्वामी श्री समन्तभद्र आचार्य महाराज ने स्वयं अपने **देवागम स्तोत्र** में इसी प्रकार लक्षण वाले नय को उदाहरण देकर समझाया है कि **"सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्। असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते।"** चेतन, अचेतन, द्रव्य पर्याय आदि सम्पूर्ण पदार्थों को स्वरूप (स्वद्रव्य) आदि यानी स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव-इस स्वकीय चतुष्टय से सत् स्वरूप ही कौन नहीं चाहता? अर्थात् स्वचतुष्टय से सम्पूर्ण पदार्थ अस्तिरूप हैं। यह एक नय का विषय है तथा परकीय चतुष्टय से सम्पूर्ण पदार्थ नास्तिस्वरूप ही हैं। यह दूसरा नय है। अन्यथा व्यवस्था नहीं हो सकती है। स्वकीय अंशों का उपादान और परकीय अंशों का त्याग करना ही वस्तु के वस्तुत्व को रक्षित रखता है। इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार पृथक्- पृथक् विशेष धर्मों से गृहीत सम्पूर्ण वस्तु का जो विशेष सत्त्व है उस अस्तित्व का स्वरूप

विशेषः सत्त्वं तस्य व्यंजको बोधः स्वरूपादिचतुष्टयाद् दृष्टसाधर्म्यस्य स्वरूपादिचतुष्टयात् सन्निश्चितं न पररूपादिचतुष्टयेन तद्वत्सर्वं विवादापन्नं सत् को नेच्छेत्? कस्यात्र विप्रतिपत्तिरिति व्याख्यानात्॥

संक्षेपतो नयविभागमामर्शयति–

संक्षेपाद्द्वौ विशेषेण द्रव्यपर्यायगोचरौ। द्रव्यार्थो व्यवहारांतः पर्यायार्थस्ततोऽपरः॥३॥

विशेषतः संक्षेपात् द्वौ नयौ द्रव्यार्थः पर्यायार्थश्च। द्रव्यविषयो द्रव्यार्थः पर्यायविषयः पर्यायार्थः प्रथमो नैगमसंग्रहव्यवहारविकल्पः। ततोपरश्चतुर्धा ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतविकल्पात्॥

विस्तरेणेति सप्तैते विज्ञेया नैगमादयः। तथातिविस्तरेणैतद्भेदाः संख्यातविग्रहाः॥४॥

आदि चतुष्टय व्यंजक ज्ञान नय है। इष्ट पदार्थ के साथ साधर्म्य का स्वरूप आदि चतुष्टय से वस्तु में अस्तित्व निश्चित किया गया है। परकीय रूप, क्षेत्र आदि के चतुष्टय के द्वारा वस्तु का अस्तित्व निर्णीत नहीं है। उसी के समान सभी विवाद में प्राप्त जीव, बन्ध, मोक्ष आदि पदार्थों के अस्तित्व को कौन इष्ट नहीं करेगा? अर्थात् इस प्रकार नय की विवक्षा से प्रमाण सिद्ध पदार्थों के इस अस्तित्व में भला किस विद्वान को विवाद रह सकता है? अर्थात् किसी को भी नहीं। इस प्रकार उस कारिका का व्याख्यान है।

सामान्य रूप से नय की संख्या और लक्षण को कहकर अब श्री विद्यानन्द आचार्य नय के संक्षेप से विभागों का परामर्श कराते हैं।

संक्षेप से नय दो प्रकार के हैं। प्रमाण की विषयभूत वस्तु अंशी है तथा द्रव्य और पर्याय उसके अंश हैं। वस्तु के विशेष धर्म के द्वारा द्रव्य और पर्याय को विषय करने वाले क्रमशः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय हैं। द्रव्यार्थनय के नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन विकल्प हैं और पर्यायार्थ नय ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत चार प्रकार का है॥३॥

इस प्रकार सामान्य रूप से नयों का कथन करके आचार्य अब विशेष रूप से नयों का कथन करते हैं। (संक्षेप से नय दो हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वस्तु के नित्य अंश द्रव्य को विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिक है और वस्तु के अनित्य अंश पर्यायों को विषय करने वाला नय पर्यायार्थिक है) प्रथम द्रव्यार्थिक नय के नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन विकल्प हैं। उससे भिन्न दूसरा पर्यायार्थिक नय ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इन भेदों से चार प्रकार का है।

विस्तार से विचार करने पर ये नैगम आदि एवंभूत पर्यन्त सात नय हैं। ऐसा समझ लेना चाहिए। तथा अत्यन्त विस्तार से नय विशेषों की जिज्ञासा होने पर संख्याते शरीर वाले इन नयों के भेद हो जाते हैं। अर्थात् - शब्द वस्तु के धर्म को कहते रहते हैं। अतः जितने शब्द हैं, उतने नय हैं, अकार, ककार आदि वर्णों द्वारा बनाये गये अभिधायक शब्द संख्यात प्रकार के हैं। शब्दों के भेद असंख्यात और अनन्त नहीं हो सकते हैं। शब्दों की अपेक्षा नयों के भेद अधिक से अधिक मध्यम संख्यात हैं। यह संख्या कोटि, अरब, खरब, नील, पद्म आदि संख्याओं से कहीं अत्यधिक है॥४॥

कुत एवमतः सूत्राल्लक्ष्यत इत्याह–

नयो नयौ नयाश्चेति वाक्यभेदेन योजिताः। नैगमादय इत्येवं सर्वसंख्याभिसूचनात्॥५॥

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः इत्यत्र नय इत्येकं वाक्यं, ते नयौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ इति द्वितीयमेते नयाः सप्तेति तृतीयं, पुनरपि ते नयाः संख्याता शब्दत इति चतुर्थं। संक्षेपपरायां वाक्प्रवृत्तौ यौगपद्याश्रयणात्। नयश्च नयौ च नयाश्च नया इत्येकशेषस्य स्वाभाविकस्याभिधाने दर्शनात्।

सूत्र के द्वारा इस प्रकार सामान्य संख्या, संक्षेप से भेद, विशेष स्वरूप से विकल्प और अत्यन्त विस्तार से नयों के विकल्प-इस प्रकार की सूचना किस प्रकार जानी जा सकती है? इस प्रकार शिष्य की जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं-

इस सूत्र में वाक्यों -- पदों के भेद करके एक नय, दो नय और बहुत से नय इस प्रकार एकशेष द्वारा योजना कर दी गयी है।

इस प्रकार नैगम आदि सात नयों के साथ 'नयः' इस एक वचन का सामानाधिकरण्य करने से सामान्य संख्या एक का बोध हो जाता है और 'नयों' के साथ अन्वय कर देने से संक्षेप से दो भेद वाले नय हो जाते हैं। तथा 'नयाः' के साथ एकार्थ कर देने से विस्तार और प्रति विस्तार से नयों के भेद जान लिये जाते हैं। इस प्रकार इस सूत्र द्वारा ही चारों ओर से सम्पूर्ण संख्याओं की सूचना कर दी गई है। सदृश अर्थ को रखते हुए समान रूप वाले पदों का एक विभक्ति में एक ही रूप अवशिष्ट रह जाता है। 'नयाः'- यह शब्द एक नय, दो नय, बहुत नय इन अर्थों का स्वभाव से ही प्रतिपादन करता है॥५॥

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत, ये सात नय हैं। इस प्रकार एक वचन लगाकर एक वाक्य तो यह है कि नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत ये सातों एक नय स्वरूप हैं और दूसरा वाक्य 'नयौ' लगाकर है कि नैगम आदि सातों नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद से दो प्रकार के हैं। तथा ये सातों बहुत नयों स्वरूप हैं। यह तीसरा वाक्य है। फिर भी शब्दों की अपेक्षा से वे नैगम आदि संख्याते नय हैं। यह चतुर्थ वाक्य भी सूत्र का है। सूत्रकार के वचनों की प्रवृत्ति संक्षेप से कथन करने में तत्पर रही है। अतः युगपत् चारों वाक्यों के कथन करने का आश्रय कर लेने से चार वाक्यों के स्थान पर एक ही सूत्रवाक्य रच दिया गया है। चार वाक्यों के बदले में एक वाक्य बनाना व्याकरण शास्त्र के प्रतिकूल नहीं है। किन्तु अनुकूल है। एक नय, दो नय और बहुत नय। इस प्रकार द्वन्द्व समास करने पर 'नयाः' - यह एक पद बन जाता है। अनेक समान अर्थक पदों के होने पर शब्द स्वभाव से ही प्राप्त हुए एकशेष का कथन करना शब्दों में देखा जाता है। तथा किन्हीं विद्वानों के मत अनुसार एक नय, बहुत नय, इस प्रकार अर्थ की विवक्षा होने पर 'नयाः' ऐसा पूर्व में ही कथन का उच्चारण दीख रहा है। अतः कोई विरोध नहीं आता है।

केषांचित्तथा वचनोपलंभाच्च न विरुध्यते। अत्र वाक्यभेदे नैगमादेरेकस्य द्वयोश्च सामानाधिकरण्यांविरोधाच्च गृहा ग्रामः देवमनुष्या उभौ राशी इति यथा। नन्वेवमेकत्वद्वित्वादिसंख्यागतावपि कथं नयस्य सामान्यलक्षणं द्विधा विभक्तस्य तद्विशेषणं विज्ञायत इत्याशंकायामाह;–

नयानां लक्षणं लक्ष्यं तत्सामान्यविशेषतः। नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः ॥६॥
तदंशौ द्रव्यपर्यायलक्षणौ साध्यपक्षिणौ। नीयेते तु यकाभ्यां तौ नयाविति विनिश्चितौ ॥७॥

नीयतेऽनेनेति नय इत्युक्ते तस्य विषयः सामर्थ्यादाक्षिप्यते। स च श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यांश इति तदपेक्षा निरुक्तिर्नयसामान्यलक्षणे लक्षयति, तथा नीयेते यकाभ्यां तौ नयावित्युक्ते तु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ नयौ द्वौ तौ च द्रव्यपर्यायाविति तदपेक्षं निर्वचनं नयविशेषद्वयलक्षणं प्रकाशयति।

इस सूत्र में वाक्यों का भेद करने पर नैगम आदि एक का ओर दो का नय शब्द के साथ समान अधिकरणपने का अविरोध होने से उस प्रकार के सूत्र वचन में कोई विरोध नहीं आता है। जैसे कि अनेक गृह ही तो एक ग्राम है। सम्पूर्ण देव और मनुष्य ये दोनों दो राशि हैं। यहाँ 'जस्' और 'सु' - ऐसे अलग वचन के होते हुए भी अनेक गृहों का एक ग्राम के साथ समान अधिकरणपना निर्दोष माना गया है। 'देवमनुष्याः' शब्द बहुवचनान्त है और राशी द्विवचनान्त है। दोनों का उद्देश्य विधेय भाव बन जाता है। उसी प्रकार 'नैगमादयो नयः' 'नैगमादयो नयौ' 'नैगमादयो नयाः' इस प्रकार भिन्न वाक्य बनाने पर उद्देश्य विधेय दल के शाब्द बोध करने में कोई हानि नहीं आती है।

शंका - इस प्रकार नयः, नयौ, नयाः, ऐसा वाक्य भेद करके एकपन, दोपन, आदि संख्या का ज्ञान हो चुकने पर भी द्रव्य और पर्याय इन दो प्रकारों से विभक्त किये गये नय का सामान्य लक्षण उनका विशेषण है। यह विशेषतया कैसे जाना जा सकता है? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं।

समाधान - सामान्य और विशेष रूप से नयों का लक्षण लक्ष्य योग्य है, अतः जिसके द्वारा श्रुत ज्ञान से ज्ञात अर्थ का अंश प्राप्त किया जाता है (जाना जाता है), वह ज्ञान नियम से नय कहा जाता है। प्रमाणात्मक श्रुतज्ञान से जाने गये उस वस्तु के दो अंश हैं। एक द्रव्य स्वरूप दूसरा पर्याय स्वरूप जो नयों के द्वारा साधने योग्य पक्ष में प्राप्त है। जिन दो नयों के द्वारा वस्तु के वे दो अंश प्राप्त कर लिये जाते हैं, वे दो नय हैं। इस प्रकार विशेषतया दो नय निर्णीत कर दिये गये हैं। नय का सामान्य लक्षण सभी विशेष नयों में घटित हो जाता है। सामान्य नय का विषय भी सभी नयविषयों में अन्वित है॥६-७॥

जिसके द्वारा एकवस्तु के एकदेश का ज्ञान कराया जाता है ऐसा ज्ञान नय है। इस प्रकार कहने पर उस नय का विषय तो बिना कहे ही शब्द की सामर्थ्य द्वारा उपलब्ध हो जाता है। और वह नय श्रुतज्ञान नामक प्रमाण द्वारा विषय किये जा चुके प्रमेय का अंश है। अतः उस विषय की अपेक्षा से हो रही निरुक्ति यहाँ नय के सामान्य लक्षण में दिखला दी जाती है (यहाँ एक विषय और एक ही विषयी है), तथा जिन दो ज्ञापकों के द्वारा वस्तु के दो अंश गृहीत किये जाते हैं, वे दो नय हैं। इस प्रकार कहने पर तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो नय ज्ञापक हुए और उनके विषय तो वस्तु के दो अंश द्रव्य और पर्याय हुए। इस प्रकार

ननु च गुणविषयो गुणार्थिकोपि तृतीयो वक्तव्य इत्यत्राह–

गुणः पर्याय एवात्र सहभावी विभावितः। इति तद्गोचरो नान्यस्तृतीयोस्ति गुणार्थिकः ॥८॥

पर्यायो हि द्विविधः, क्रमभावी सहभावी च। द्रव्यमपि द्विविधं शुद्धमशुद्धं च। तत्र संक्षेपशब्दवचने द्वित्वमेव युज्यते, पर्यायशब्देन पर्यायसामान्यस्य स्वव्यक्तिव्यापिनोभिधानात्। द्रव्यशब्देन च द्रव्यसामान्यस्य स्वशक्तिव्यापिनः कथनात्। ततो न गुणः सहभावी पर्यायस्तृतीयः शुद्धद्रव्यवत्। संक्षेपाविवक्षायां तु

उन द्रव्य और पर्यायों की अपेक्षा से किया गया नय शब्द का निर्वचन तो नय के दोनों विशेष लक्षणों को प्रकाशित कर रहा है अर्थात् दो विषयों की अपेक्षा दो ज्ञापक विषयी निर्णीत किये जाते हैं।

प्रश्न - वस्तु के अंश-द्रव्य, गुण और पर्याय, तीन सुने जाते हैं। अतः द्रव्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय अंश को जानने वाला पर्यायार्थिक नय है। उसी प्रकार नित्य गुणों को विषय करने वाला तीसरा नय गुणार्थिक भी यहाँ कहना चाहिए। इस प्रकार प्रश्न होने पर आचार्य **उत्तर** देते हैं -

गुणार्थिक नय पृथक् नहीं है। क्योंकि पर्यायार्थिक में उसका अन्तर्भाव हो जाता है। पर्याय का सिद्धान्त लक्षण 'अंशकल्पनं पर्यायः' है। वस्तु के सद्भूत अंशों की कल्पना करना पर्याय है।

द्रव्य के द्वारा हो रहे अनेक कार्यों को ज्ञापक हेतु मानकर कल्पित किये गये परिणामी नित्य गुण तो वस्तु के साथ रहने वाले सहभावी अंश हैं। अतः षट्स्थान पतित हानि वृद्धियों में से किसी भी एक को प्रतिक्षण प्राप्त हो रहे, अविभाग प्रतिच्छेदों को धारने वाली पर्यायों द्वारा परिणमन कर रहे रूप, रस, चेतना, सुख, अस्तित्व, वस्तुत्व, आदि गुण तो यहाँ सहभावी पर्याय स्वरूप ही हैं। इस कारण उन गुणों को विषय करने वाला भिन्न तीसरा कोई गुणार्थिक नय नहीं है ॥८॥

पर्यायार्थिक नय की विषयभूत पर्यायें दो प्रकार की हैं; एक क्रमशः होने वाली बाल्य, कुमार, युवा, वृद्ध अवस्था के समान क्रमभावी है; दूसरी, शरीर के हाथ, पाँव आदि अवयवों के समान सहभावी पर्याय है, जो कि अखण्ड द्रव्य की नित्य शक्तियाँ हैं। तथा द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य भी शुद्ध द्रव्य और अशुद्ध द्रव्य के भेद से दो प्रकार का है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, तो शुद्ध द्रव्य ही हैं। जीव द्रव्य में सिद्ध भगवान् और पुद्गल में परमाणु शुद्ध द्रव्य कहे जा सकते हैं। सजातीय दूसरे पुद्गल और विजातीय जीव द्रव्य के साथ बन्ध को प्राप्त घट, पट, जीवित शरीर आदि अशुद्ध पुद्गल द्रव्य हैं। तथा विजातीय पुद्गल द्रव्य के साथ बंध को प्राप्त संसारी जीव अशुद्ध जीव द्रव्य हैं।

अतः नय के संक्षेप से विशेष भेदों को कहने वाले तीसरे वार्तिक में 'संक्षेप से' ऐसा शब्द प्रयोग करने पर उस नय शब्द में द्विवचनपना ही उचित है। पर्याय शब्द से अपनी नित्य अंश गुण, क्रमभावी पर्याय, कल्पित गुण, स्वभाव, धर्म, अविभागप्रतिच्छेद इन अनेक व्यक्तियों में व्यापने वाले पर्यायसामान्य का कथन हो जाता है और द्रव्य शब्द के द्वारा अपनी नित्य, अनित्य शक्तियों के धारक शुद्ध, अशुद्ध द्रव्यों में व्यापने वाले द्रव्य सामान्य का निरूपण हो जाता है। अतः सहभावी पर्याय रूप नित्य गुण कोई तीसरा

विशेषवचनस्य चत्वारो नयाः स्युः, पर्यायविशेषगुणस्येव द्रव्यविशेषशुद्धद्रव्यस्य पृथगुपादानप्रसंगात्। ननु च द्रव्यपर्याययोस्तद्वांस्तृतीयोस्ति तद्विषयस्तृतीयो मूलनयोऽस्तीति चेत् न, तत्परिकल्पनेऽनवस्थाप्रसंगात् द्रव्यपर्यायस्तद्वतामपि तद्वदंतरपरिकल्पनानुषक्तेर्दुर्निवारत्वात्। यदि तु यथा तंतवोवयवास्तद्वानवयवी पटस्तयोरपि तंतुपटयोर्नान्योस्ति तद्वांस्तस्याप्रतीयमानत्वात्। तथा पर्यायाः स्वभावास्तद्वद् द्रव्यं तयोरपि नान्यस्तद्वानस्ति प्रतीतिविरोधादिति मतिस्तदा प्रधानभावेन द्रव्यपर्यायात्मकवस्तुप्रमाणविषयस्ततोपोद्धृतं। द्रव्यमात्रं द्रव्यार्थिकविषयः पर्यायमात्रं पर्यायार्थिकविषय इति न तृतीयो नयविशेषोस्ति यतो मूलनयस्तृतीयः स्यात्। तदेवम्–

नेय विषय नहीं है जैसे कि शुद्ध द्रव्य कोई अलग विषय नहीं है। द्रव्यार्थिक नय से ही शुद्ध, अशुद्ध सभी द्रव्यों का ज्ञापन हो जाता है। अतः विषयों को जानने वाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक - ये दो नय ही पर्याप्त हैं।

नयों के भेदों का संक्षेप से कथन नहीं करने की विवक्षा करने पर विशेषों को कहने वाले वचन बहुवचन 'नयाः' बनाकर चार नय हो सकेंगे। पर्याय के विशेष गुण को जानने के लिए गुणार्थिक नय पृथक् माना जायेगा तो द्रव्य के विशेषभूत शुद्ध द्रव्य को विषय करने वाले शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के पृथक् ग्रहण करने का प्रसंग आयेगा। इस प्रकार थोड़े से विषयों को लेकर नयों के चाहे कितने भी भेद किये जा सकते हैं।

शंका - द्रव्य और पर्यायों का मिलकर उन दोनों से सहित हो रहा पिंड एक तीसरा विषय बन जाता है। उसको विषय करने वाला तीसरा एक द्रव्यपर्यायार्थिक भी मूल नय होना चाहिए।

समाधान - ऐसा नहीं कहना क्योंकि यदि इस प्रकार उन नयों की कल्पना की जायेगी, तब तो अनवस्था दोष हो जाने का प्रसंग आयेगा। क्योंकि द्रव्य और पर्याय तथा उन दोनों को आश्रय - इन तीनों को मिलाकर एक नया विषय भी हो सकता है। अतः उन तीनों वाले अलग अन्य विषय को ग्रहण करने वाले अलग-अलग नयोंकी कल्पना करने के प्रसंग का निवारण कैसे भी नहीं किया जा सकता है अर्थात् जैन सिद्धान्त अनुसार द्रव्य अनेक हैं। एक-एक द्रव्य में अनन्त गुण हैं। एक गुण में त्रिकाल सम्बन्धी अनन्त पर्यायें हैं। अथवा वर्तमान काल में भी अनेक आपेक्षिक पर्यायें हैं। अनुजीवी गुण की एक-एक पर्याय में अनेक अविभाग प्रतिच्छेद हैं। न जाने किस-किस अनिर्वचनीय निमित्त से किस-किस गुण के कितने परिणाम हो रहे हैं। इस प्रकार सम्मेलन कर अनेक विषय बनाये जा सकते हैं। ऐसी दशा में नियत विषयों को जानने वाले नयों की कोई व्यवस्था नहीं हो सकती।

जिस प्रकार तन्तु तो अवयव हैं और उन तन्तुरूप अवयवों से सहित एक अलग अवयवी पट द्रव्य है। फिर उन दोनों तन्तु और पट का भी तद्वान् कोई तीसरा आश्रय नहीं है। क्योंकि तीसरे अधिकरण की प्रतीति नहीं हो रही है। उसी प्रकार पर्यायें तो स्वभाव हैं। और उन पर्यायों से सहित पर्यायवान् द्रव्य है। किन्तु फिर उन दोनों पर्याय और द्रव्यों का उनसे सहित होता हुआ कोई पृथक् अधिकरण नहीं है। क्योंकि प्रतीतियों से विरोध आता है। अतः तन्तुवान् पट का जैसे कोई पृथक् अधिकरण नहीं है, उसी प्रकार द्रव्य और पर्यायों का अधिकरण भी कोई अन्य नहीं है, ऐसी मति है तब तो जैनाचार्य कहते हैं कि प्रधान रूप

प्रमाणगोचरार्थांशा नीयंते यैरनेकधा। ते नया इति व्याख्याता जाता मूलनयद्वयात् ॥९॥
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषपरिबोधकाः। न मूलं नैगमादीनां नयाश्चत्वार एव तत् ॥१०॥
सामान्यस्य पृथक्त्वेन द्रव्यादनुपपत्तितः। सादृश्यपरिणामस्य तथा व्यंजनपर्ययात् ॥११॥
वैसादृश्यविवर्तस्य विशेषस्य च पर्यये। अंतर्भावाद्विभाव्येत द्वौ तन्मूलं नयाविति ॥१२॥

से द्रव्य और पर्याय के साथ तदात्मक हो रहे वस्तु को प्रमाण ज्ञान विषय करता है। उस अखंड पिंड रूप वस्तु से बुद्धि द्वारा पृथक् भाव को प्राप्त किया गया केवल नित्य अंश द्रव्य तो द्रव्यार्थिक नय का विषय है और प्रमाण के विषय हो रहे वस्तु से ज्ञान द्वारा अपोद्धार (पृथग् भाव) किया गया केवल पर्याय (मात्र) पर्यायार्थिक नय का विषय है। अब नयों के द्वारा जानने योग्य द्रव्य और पर्यायों से अन्य कोई तीसरा 'तद्वान्' पदार्थ शेष नहीं रह जाता है, जिसको कि विशेष रूप से जानने के लिए तीसरा मूल नय स्वीकार किया जावे अर्थात् जो वस्तु प्रमाण से जानी जा रही है, वह तो प्रमेय है। अंशों को जानने वाले नयों द्वारा 'नेय' नहीं है। जैन सिद्धान्त अनुसार द्रव्य और पर्यायों से कथंचित् भेद, अभेद, आत्मक वस्तु गुम्फित हो रही है। अतः ऐसा सिद्धान्त बन जाता है जो इस प्रकार है -

प्रमाण के विषयभूत अर्थ के अनेक अंश जिनके द्वारा जान लिये जाते हैं, वे ज्ञान नय हैं। वे नय मूलभूत द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो नयों से प्रतिपन्न अनेक प्रकार के कहे जाते हैं ॥९॥

नैगम आदि सात नयों के मूल कारण द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो नय हैं, किन्तु द्रव्य को, पर्याय को, सामान्य को और विशेष को चारों ओर से समझाने वाले चार नय ही नैगम आदि के मूल कारण नहीं हैं। अतः सामान्यार्थिक नय मानना आवश्यक नहीं है। द्रव्य से पृथक् सामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि जैन सिद्धान्त में अनेक समानजातीय पदार्थों के सदृश परिणाम को सामान्य पदार्थ माना जाता है और उस प्रकार का सदृश परिणाम द्रव्य की व्यंजन पर्याय है। अनेक सदृश परिणामों का पिंड सामान्य पदार्थ तो द्रव्यार्थिक नय द्वारा ही जान लिया जाता है। अतः सामान्यार्थिक कोई तीसरा नय नहीं है।

धेनु आदि अनेक गौओं में रहने वाले गोत्व के समान तिर्यक् सामान्य अनेक घट, कलश आदि में सदृश परिणामरूप से रहता है। यह द्रव्यस्वरूप ही है। तथा द्रव्य की पूर्वापर पर्यायों में व्यापने वाला ऊर्ध्वता सामान्य है। जैसे कि स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायों में मृत्तिका ऊर्ध्वता सामान्य है। अथवा बाल्य, कुमार, यौवन, नारकी, पशु, देव, आदि पर्यायों में आत्मा द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य है। ये दोनों सामान्य द्रव्य स्वरूप हैं। अतः द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं। तथैव विसदृश परिणाम विशेष का पर्याय में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः विशेष का पर्यायार्थिक नय द्वारा भान हो जाएगा। चौथे विशेषार्थिक नय के मानने की आवश्यकता नहीं है। ये सभी विशेष पर्यायों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस कारण उन द्रव्य और पर्यायों को मूल कारण मानकर उत्पन्न हुए द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो ही मूल नय हैं। चार मूल नय नहीं हैं ॥१०-११-१२॥

नामादयोपि चत्वारस्तन्मूलं नेत्यतो गतं। द्रव्यक्षेत्रादयश्चैषां द्रव्यपर्यायगत्वतः ॥१३॥
भवान्विता न पंचैते स्कंधा वा परिकीर्तिताः। रूपादयो त एवेह तेपि हि द्रव्यपर्ययौ ॥१४॥
तथा द्रव्यगुणादीनां षोढात्वं न व्यवस्थितं। षट् स्युर्मूलनया येन द्रव्यपर्यायग्राहिते ॥१५॥
ये प्रमाणादयो भावा प्रधानादय एव वा। ते नैगमादिभेदानामर्था नापरनीतयः ॥१६॥

इस उक्त कथन से यह भी ज्ञात हो चुका है कि नाम आदि भी चार उन नयों के मूल नहीं हैं। और द्रव्य क्षेत्र आदि विषय भी उन नयों के उत्पादक मूल कारण नहीं हैं। अर्थात् नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव इन चार विषयों को मूल कारण मानकर नामार्थिक, स्थापनार्थिक, द्रव्यार्थिक और भावार्थिक ये चार मूल नय नहीं हो सकते हैं। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन विषयों को मूल कारण मानकर द्रव्यार्थिक क्षेत्रार्थिक, कालार्थिक, भावार्थिक ये चार मूल नय नहीं हो सकते हैं। क्योंकि नाम आदि चारों और द्रव्य, क्षेत्र, आदि चारों द्रव्य और पर्यायों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः मूल नय का विषय द्रव्य और पर्याय दो ही हैं, अधिक नहीं ॥१३॥

द्रव्य, क्षेत्र आदि चार के साथ भव को जोड़ देने पर पाँच भी मूल नेय पदार्थ नहीं हैं। अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल भव, भाव इन पाँच को विषय करने वाले मूल नय पाँच नहीं हो सकते हैं। अथवा बौद्धों के द्वारा रूप आदि पाँच स्कन्धों का अपने ग्रन्थों में चारों ओर से निरूपण किया गया है। वे भी मूल नेय विषय नहीं हैं। अर्थात् रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, संज्ञास्कन्ध और संस्कारस्कन्ध इन पाँच विषयों को मानकर पाँच मूलनय नहीं हैं। क्योंकि वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव तथा रूपस्कन्ध आदि पाँच भी नियम से द्रव्य और पर्यायस्वरूप ही हैं, पाँचों का दो में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः दो ही पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक मूल नय हैं, अधिक नहीं ॥१४॥

उसी प्रकार वैशेषिकों के यहाँ माने गये द्रव्य, गुण आदिक भाव पदार्थों का छह प्रकारपना भी स्वतंत्र तत्त्वपने से व्यवस्थित नहीं हो सकता है; जिस कारण से कि उन छह मूल कारण नेय विषयों को जानने वाले मूल नय छह हो जावें। वे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छहों भाव नियम से द्रव्य और पर्यायों में ही अन्तर्गत हो जाते हैं। अर्थात् द्रव्य आदि छहों भाव द्रव्य, पर्याय - इन दो स्वरूप ही हैं। अतः दो ही मूल नय हैं, अतिरिक्त नहीं है ॥१५॥

जो नैयायिकों के द्वारा माने गये प्रमाण, प्रमेय, संशय आदि सोलह भाव पदार्थ तत्त्वभेद रूप से माने गये हैं, अथवा प्रधान आदि पच्चीस भाव तत्त्व हैं, इस प्रकार सांख्यों ने मूल पदार्थ स्वीकार किये हैं, वे भी नैगम आदि भेद रूप विशेष नयों के विषय हो सकते हैं। जैन सिद्धांत में निर्णय किये गये द्रव्य और पर्याय से अन्य तत्त्वों की व्यवस्था करने वाली कोई दूसरी नीति नहीं है।

अर्थात् - प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान, ये नैयायिकों के सोलह पदार्थ मूल पदार्थ नहीं बन पाते हैं, अपितु द्रव्य और पर्यायों के भेद-प्रभेद हैं। और प्रकृति, महान्, अहंकार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा,

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टांतसिद्धांतावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितंडाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानाख्याः षोडश पदार्थाः कैश्चिदुपदिष्टाः, तेपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायेभ्यो न जात्यंतरत्वं प्रतिपद्यंते, गुणादयश्च पर्यायान्नार्थांतरमित्युक्तप्रायं। ततो द्रव्यपर्यायावेव तैरिष्टौ स्यातां, तयोरेव तेषामंतर्भावान्नामादिवत्। येप्याहुः। ''मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥'' इति पंचविंशतिस्तत्त्वानीति। तैरपि द्रव्यपर्यायावेवांगीकरणीयौ मूलप्रकृतेः पुरुषस्य च द्रव्यत्वात्, महदादीनां परिणामत्वेन पर्यायत्वात् रूपादिस्कंधसंतानक्षणवत्। ततो नैगमादिभेदानामेवार्थास्ते न पुनरपरा नीतयः। अपरा नीतिर्येषु त एव ह्यपरा नीतयः इति गम्यते, न चैतेषु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यां नैगमादिभेदाभ्यां अपरा नीतिः प्रवर्तत इति तावेव मूलनयौ, नैगमादीनां तत एव जातत्वात्॥

रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा, स्पर्शनइन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, श्रोत्रइन्द्रिय, वचनशक्ति, हाथ, पाँव, जननेन्द्रिय, गुदेन्द्रिय, मन, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, और पुरुष ये सांख्यों के पच्चीस तत्त्व भी मूल पदार्थ रूप सिद्ध नहीं हो पाते हैं। द्रव्य और पर्याय के ही भेद-प्रभेद हैं।अतः नयों के विशेष प्रभेद पृथक् - पृथक् माने जाते हैं। किन्तु मूल पदार्थों को जानने की अपेक्षा दो ही मूल नय मानना यथेष्ट है॥१६॥

प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह, प्रमाण, प्रमेय, संशय स्थान ये १६ पदार्थ किन्हीं से उपदिष्ट हैं? प्रमा विशेषार्थ का कारण प्रमाण है, उसके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार भेद हैं। प्रमाण के विषय को प्रमेय कहते हैं। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग ये बारह प्रमेय हैं।

एक पदार्थ में अनेक कोटि का विमर्श करना **संशय** है। जिसका उद्देश्य लेकर प्रवृत्ति की जाती है, वह **प्रयोजन** पदार्थ है।

जिस अर्थ में लौकिक और परीक्षकों की बुद्धि समानरूप से ग्राहिका हो जाती है, उसे **दृष्टांत** कहते हैं। शास्त्र का आश्रय लेकर ज्ञापन रूप से जिस अर्थ को स्वीकार किया गया है, उसकी समीचीन रूप से व्यवस्था कर देना **'सिद्धांत'** है। वह सिद्धांत सर्वतंत्र, प्रतितंत्र, अधिकरण, अभ्युपगम भेदों से चार प्रकार का है।

परार्थानुमान के उपयोगी अंगों को **'अवयव'** कहते हैं जो कि अनुमानजन्य बोध के अनुकूल है। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन ये अवयव के पाँच भेद हैं।

विशेषरूप से नहीं जाने गये तत्त्व में कारणों की उपपत्ति से तत्त्वज्ञान के लिए किया गया विचार **'तर्क'** है।

विचार कर स्वपक्ष और प्रतिपक्ष से अर्थ का अवधारण करना **'निर्णय'** है।

अपने-अपने पक्ष का प्रमाण और तर्क से जहाँ साधन और उलाहना हो सके, जो सिद्धांत के अविरुद्ध हो, पाँच अवयवों से युक्त हो ऐसे पक्ष और प्रतिपक्ष के परिग्रह को **'वाद'** कहते हैं।

'वाद' में कहे गये विशेषणों से युक्त हुआ, जहाँ छल, जाति और निग्रह स्थानों से स्वपक्ष का साधन और परपक्ष में उलाहने दिये जाते हैं, वह **'जल्प'** है। वही जल्प जब प्रतिकूल पक्ष की स्थापना से रहित होजाता है तो वह **'वितंडा'** हो जाता है।

हेतु के लक्षणों से रहित किन्तु हेतु समान दीखने वाले असद्धेतुओं को **हेत्वाभास** कहते हैं। नैयायिकों ने व्यभिचार, विरुद्ध, असिद्ध, सत्प्रतिपक्ष और बाधित ये पाँच हेत्वाभास माने हैं।

वादी को इष्ट अर्थ से विरुद्ध अर्थ की कल्पना कर उसकी सिद्धि करके वादी के वचन का विघात करना प्रतिवादी का **'छल'** है। वह वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल की अपेक्षा तीन भेद वाला है।

साधर्म्य और वैधर्म्य आदि करके असमीचीन उत्तर उठाते रहना **'जाति'** *है। उसके* साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा, प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा, अहेतुसमा, अर्थापत्तिसमा, अविशेषसमा, उपपत्तिसमा, उपलब्धिसमा, अनुपलब्धिसमा, नित्यसमा, प्रसंगसमा, प्रतिदृष्टांतसमा, अनुत्पत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, अनित्यसमा, कार्यसमा - ये चौबीस भेद हैं। उद्देश्य सिद्धि के प्रतिकूल ज्ञान हो जाना अथवा उद्देश्य सिद्धि के अनुकूल सम्यग्ज्ञान का अभाव हो जाना **'निग्रहस्थान'** है। उसके भी प्रतिज्ञा हानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञा विरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धांत, हेत्वाभास इतने भेद हैं।

इस प्रकार प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का किन्हीं (नैयायिकों) ने उपदेश किया है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि वे सोलह भी पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इस प्रकार वैशेषिकों के द्वारा माने गये छह भाव तत्त्वों से भिन्न जाति वाले नहीं हैं। वैशेषिकों ने गुणवान या समवायिकारण हो रहे पदार्थ को द्रव्य माना है। पृथ्वी,जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन ये द्रव्यों के नौ भेद हैं। जैन सिद्धांतानुसार 'द्रव्याश्रया: निर्गुणा गुणा:' - यह गुण का लक्षण निर्दोष है। किन्तु वैशेषिकों ने संयोग और विभाग के समवायिकारणपन और असमवायिकारणपन से रहित हो रहे सामान्यवान् पदार्थ में जो कारणता है, उसका अवच्छेदक गुणत्व माना है। गुण के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार - ये चौबीस भेद हैं।

जो द्रव्य के आश्रय होकर रहे, गुणवाला नहीं हो, ऐसा संयोग और विभाग में किसी भाव पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखने वाला कारण **'कर्म'** कहलाता है।

उस कर्म के उत्क्षेपण, अधक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन-ये पाँच भेद हैं।

नित्य होता हुआ जो अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहता है, वह **'सामान्य पदार्थ'** माना गया है। उसके परसामान्य और अपर सामान्य दो भेद हैं। जो नित्य द्रव्यों में रहता है उसे 'विशेष' कहते हैं। नित्य द्रव्यों की परस्पर में व्यावृत्ति कराने वाले वे विशेष पदार्थ अनन्त हैं।

नित्य सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। वस्तुत: वह एक ही है।

वैशेषिक तुच्छाभाव पदार्थ के प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योऽन्याभाव - ये चार भेद स्वीकार करते हैं। परन्तु भावों का प्रकरण होने से तुच्छाभाव का यहाँ अधिकार नहीं है। नैयायिकों के सोलह पदार्थ तो धर्म आदि छह द्रव्यों में गर्भित हो जाते हैं। इस प्रकार न्यायवेत्ताओं ने स्वीकार किया है।

गुण, कर्म आदि पर्याय में गर्भित हो जाते हैं। द्रव्य तो द्रव्यार्थिक नय द्वारा जान लिया जाताहै। और पर्यायार्थिक नय के द्वारा गुण-पर्याय आदि जान लिये जाते हैं। इसलिए द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो नय ही अभीष्ट करने चाहिए।

उन प्रमाण, प्रमेय आदि या द्रव्य, गुण आदि विषयों का उन द्रव्य और पर्यायों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव आदि तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि सर्व द्रव्य और पर्यायों में ही गर्भित हो जाते हैं।

जो कपिलमत अनुयायी कहते हैं कि मूलभूत प्रकृति तो किसी का विकार नहीं है अर्थात् प्रकृति किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं होती है। और महत्तत्त्व आदि सात पदार्थ प्रकृति और विकृति दोनों हैं अर्थात् - महत्तत्त्व, अहंकार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा,गन्धतन्मात्रा ये सात विकार के कारणस्वरूप हैं और उत्तरवर्ती कार्यों की जननी प्रकृतियाँ हैं। तथा ग्यारह इन्द्रिय और पाँच पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये सोलह गण विकार ही हैं। क्योंकि इनसे उत्तरकाल में कोई सृष्टि उत्पन्न नहीं होती है।

पच्चीसवाँ तत्त्व कूटस्थ आत्मा किसी का कारण रूप प्रकृति नहीं है और किसी का कार्य भी नहीं है। अत: विकृति भी नहीं है। वह उदासीन, द्रष्टा, भोक्ता, चेतन पदार्थ है। इस प्रकार सांख्यों ने पच्चीस तत्त्व स्वीकार किये हैं, जिसमें प्रकृति आदि के लक्षण प्रसिद्ध हैं, परन्तु उनको भी द्रव्य, पर्याय दो ही पदार्थ स्वीकार कर लेना चाहिए। क्योंकि सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणों की साम्य अवस्थारूप प्रकृति तत्त्व और आत्मा तत्त्व तो द्रव्य हैं। अत: द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं और महत्, अहंकार आदि प्रकृति के परिणाम हैं। अत: पर्याय हैं। ये तेईस अकेले पर्यायार्थिक नय के विषय हैं। जबकि पच्चीस मूलतत्त्व ही नहीं हैं, तो पच्चीस पदार्थों को जानने के लिए पच्चीस मूलनयों की आवश्यकता नहीं है। जैसे कि बौद्धों के माने गये रूप आदि पाँच स्कन्धों की सन्तान या प्रतिक्षण परिणमने वाले परिणामों का क्षणिकपना इन द्रव्य या पर्यायों से भिन्न नहीं है। संतान तो द्रव्यस्वरूप है और पाँच जाति के स्कन्धों के क्षणिक परिणाम पर्यायस्वरूप हैं। अत: दो नयों से ही कार्य चल सकता है। सजातीय और विजातीय पदार्थों से व्यावृत्त तथा परस्पर में सम्बन्ध को प्राप्त नहीं हो रहे, किन्तु एकत्रित हो रहे रूप परमाणु, रस परमाणु, गन्ध परमाणु, स्पर्श परमाणु तो रूप स्कन्ध हैं। सुख, दु:ख आदि वेदना स्कन्ध है। सविकल्पक, निर्विकल्पक, ज्ञानों के भेद-प्रभेद तो विज्ञान स्कन्ध हैं। वृक्ष इत्यादि नाम तो संज्ञा स्कन्ध है। ज्ञानों की वासनायें या पुण्य, पापों की वासनायें संस्कार स्कन्ध हैं। ये सब मूल दो नयों के ही विषय हैं। अत: ऊपर कहे गये वे सम्पूर्ण अर्थ नैगम संग्रह आदि नय भेदों के ही विषय हैं। फिर कोई पृथक् नयों के गढ़ने के लिए दूसरा नया मार्ग निकालना आवश्यक नहीं। 'अपरनीतय:' - इस शब्द का अर्थ यह समझा जाता है कि जिन अर्थों में दूसरी नीति है वे ही अर्थ भिन्न नीतिवाले हैं। किन्तु इन चार, पाँच, छह, सोलह, पच्चीस पदार्थों में तो नैगम आदि भेदों को धारने वाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो मूल नयों से भिन्न कोई दूसरी नीति नहीं है। इस कारण वे दो ही मूलनय हैं। नैगम आदि भेद-प्रभेद तो उन दो से ही उत्पन्न होते हैं।

उन दो मूल नयों के नैगम आदि अनेक भेद हो जाते हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार तीन तो द्रव्यार्थिक नय के भेद कहे जाते हैं और ऋजुसूत्रनय, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत ये चार भेद पर्यायार्थिक नय के होते हैं। अर्थ की प्रधानता होने से पूर्व के चार नय अर्थ नय हैं। शेष तीन शब्दनय हैं। द्रव्यार्थिक की अपेक्षा अभेद और पर्यायार्थिक की अपेक्षा भेद हो जाने स बहुत विकल्प वाले नय हो जाते हैं।

तत्र नैगमं व्याचष्टे–

तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः। सोपाधिरित्यशुद्धस्य द्रव्यार्थस्याभिधानतः ॥१७॥
संकल्पो निगमस्तत्र भवोयं तत्प्रयोजनः। तथा प्रस्थादिसंकल्पः तदभिप्राय इष्यते ॥१८॥
नन्वयं भाविनीं संज्ञां समाश्रित्योपचर्यते। अप्रस्थादिषु तद्भावस्तंडुलेष्वोदनादिवत् ॥१९॥
इत्यसद्बहिरर्थेषु तथानध्यवसानतः। स्ववेद्यमानसंकल्पे सत्येवास्य प्रवृत्तितः ॥२०॥
यद्वा नैकं गमो योत्र स सतां नैगमो मतः। धर्मयोर्धर्मिणोर्वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः ॥२१॥
प्रमाणात्मक एवायमुभयग्राहकत्वतः। इत्ययुक्तं इह ज्ञप्तेः प्रधानगुणभावतः ॥२२॥
प्राधान्येनोभयात्मानमर्थं गृह्णद्धिवेदनम्। प्रमाणं नान्यदित्येतत्प्रपंचेन निवेदितम् ॥२३॥

उन सात नयों में से केवल संकल्प का ग्राहक नैगम नय माना गया है, जो कि अशुद्ध द्रव्यस्वरूप अर्थ का कथन कर देने से क्वचित् संकल्प किये गये पदार्थ की उपाधि से सहित है ॥१७॥

नैगम शब्द, भव अर्थ या प्रयोजन अर्थ में तद्धित का अण् प्रत्यय कर बनाया गया है। निगम का अर्थ संकल्प है, उस संकल्प में जो उत्पन्न होता है अथवा संकल्प जिसका प्रयोजन है वह नैगमनय है। अतः उसी प्रकार निरुक्ति करने से प्रस्थ, इन्द्र आदि का जो संकल्प है, वह नैगम नय स्वरूप अभिप्राय इष्ट किया गया है ॥१८॥

शंका - यह नैगम नय का विषय तो भविष्य में होने वाली संज्ञा का आश्रय कर वर्तमान में भविष्य का उपचार युक्त किया गया है, जैसे कि प्रस्थ आदि के अभाव में भी कोरी कल्पनाओं में उनका सद्भाव गढ़ लिया जाता है। अथवा चावलों में भात आदि का व्यवहार कर दिया जाता है। अर्थात् विषयों में केवल भविष्य पर्याय की अपेक्षा व्यवहार कर दिया जाता है ॥१९॥ अर्थात् यह नय वास्तविक नहीं है।

समाधान - अब आचार्य कहते हैं कि यह तुम्हारा कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि बहिरंग अर्थों में इस प्रकार भावी संज्ञा की अपेक्षा अध्यवसाय नहीं होता है। स्व संवेद्यमान संकल्प के होने पर ही इस नय की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् किसी का संकल्प होगा तभी तो उसके अनुसार सामग्री मिलायेगा, प्रयत्न करेगा। अन्यथा चाहे जिससे चाहे कुछ भी कार्य बन बैठेगा। यद्यपि संकल्पित पदार्थ वर्तमान में कोई अर्थ-क्रिया नहीं कर रहा है, फिर भी इस नैगमनय का विषय यहाँ दिखलाया गया है ॥२०॥

अथवा 'न एकं गमः नैगमः' जो धर्म और धर्मी में से एक ही अर्थ को नहीं जानता है, किन्तु गौण, प्रधानरूप से धर्म, धर्मी, दोनों को विषय करता है, वह सज्जन पुरुषों के यहाँ नैगमनय माना गया है। अन्य नय तो एक ही धर्म को जानते हैं। किन्तु नैगमनय द्वारा जानने में दो धर्मों की अथवा दो धर्मियों की या एक धर्म से दूसरे धर्मी की विवक्षा होती है।

अर्थात् जैसे कि जीव का गुण सुख है, या जीव सुखी है, इस प्रकार नैगमनय द्वारा दो पदार्थों की ज्ञप्ति हो जाती है ॥२१॥ जब नैगमनय धर्म, धर्मी दोनों का ग्राहक है, तब तो यह नय प्रमाणस्वरूप ही है, अर्थात् धर्म और धर्मी से अतिरिक्त कोई तीसरा पदार्थ प्रमाण द्वारा जानने के लिए शेष नहीं रहा है। इस प्रकार आक्षेप करना युक्त नहीं है। क्योंकि, यहाँ नैगम नय में धर्म धर्मी में से एक की प्रधान और दूसरे की गौणरूप से ज्ञप्ति की गयी है। परस्पर में गौण प्रधानरूप से भेद अभेदक को निरूपण करने वाला अभिप्राय

संग्रहे व्यवहारे वा नांतर्भावः समीक्ष्यते। नैगमस्य तयोरेकवस्त्वंशप्रवणत्वतः ॥२४॥
नर्जुसूत्रादिषु प्रोक्तहेतवो वेति षण्नयाः। संग्रहादय एवेह न वाच्याः प्रपरीक्षकैः ॥२५॥
सप्तैते नियतं युक्ता नैगमस्य नयत्वतः। तस्य त्रिभेदव्याख्यानात् कैश्चिदुक्ता नया नव ॥२६॥
तत्र पर्यायगस्त्रेधा नैगमो द्रव्यगो द्विधा। द्रव्यपर्यायगः प्रोक्तश्चतुर्भेदो ध्रुवं ध्रुवैः ॥२७॥

नैगम कहा जाता है, तथा धर्म धर्मी दोनों को प्रधानरूप से या उभयात्मक वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण कहा गया है। अन्य ज्ञान जो केवल धर्म को ही या धर्मी को ही अथवा गौण प्रधान रूप से धर्म धर्मी दोनों को ही विषय करते हैं, वे प्रमाण नहीं हैं, नय हैं। इस सिद्धांत का हम विस्तार से पूर्व प्रकरणों में निवेदन कर चुके हैं। अतः नैगम नय को प्रमाणपन का प्रसंग नहीं आता है॥२२-२३॥

प्रमाण से नैगम का विषय विशेष है, अतः नैगम का प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं होता, किन्तु नैगम का संग्रहनय अथवा व्यवहारनय में तो अन्तर्भाव हो सकता है। ऐसा कहना भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उन संग्रह और व्यवहार दोनों नयों की एक ही वस्तु अंश को जानने में तत्परता है, अर्थात् नैगम तो धर्म और धर्मी या दोनों धर्मी अथवा दोनों धर्मों को प्रधान और गौणरूप से जान लेता है। किन्तु संग्रह और व्यवहार नय तो वस्तु के एक ही अंश को विषय करते हैं। अतः इनसे नैगम का विषय अधिक है, फिर संग्रह तो सद्भूत पदार्थों का ही संग्रह करता है और नैगम सत्, असत्, सभी पदार्थों का संकल्प कर लेता है॥२४॥

विशेष - यहाँ असत् कहने से 'आकाशपुष्प' आदि असत् पदार्थों को नहीं पकड़ना, किन्तु सत् होने योग्य पदार्थ यदि संकल्पानुसार नहीं बने या नहीं बनेंगे, वे यहाँ असत् पदार्थ माने गये हैं। जैसे कि इन्द्र प्रतिमा को बनाने के लिए संकल्पित, विघ्नवश काठ नहीं लाया गया अथवा लकड़ी लाकर भी उस लकड़ी से इन्द्र प्रतिमा नहीं बना सके, ऐसी दशा में इन्द्र का वह अभिप्राय असत् पदार्थ का संकल्प कहा जाता है।

ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत इन नयों में भी नैगम का अन्तर्भाव नहीं हो पाता है, इसका कारण कहा जा चुका है। अर्थात् ये ऋजुसूत्र आदि भी वस्तु के एक अंश को ही जानने वाले हैं, नैगम के बिना संग्रह आदि छह ही नय हैं। यह परीक्षक विद्वानों को यहाँ नहीं कहना चाहिए अर्थात् सबसे पहिले नैगमनय का मानना अत्यावश्यक है॥२५॥

नैगम को भी नयपना होने से ये नय नियम से सात ही मानने योग्य हैं। उस नैगम के तीन भेद रूप व्याख्यान कर देने से किन्हीं विद्वानों ने नौ नय कहे हैं अर्थात् पर्याय नैगम, द्रव्य नैगम और द्रव्य पर्यायनैगम- इस प्रकार नैगम के तीन भेद तथा संग्रह आदि छह भेद-इस प्रकार नय नौ प्रकार का अन्य ग्रन्थों में कहा गया है॥२६॥

उन नैगम के भेदों में पर्यायों को प्राप्त नैगम तीन प्रकार का है, और दूसरा द्रव्य को प्राप्त नैगम दो भेद वाला है। तथा द्रव्य और पर्याय को विषय करने वाला तीसरा नैगम ध्रुवज्ञानी पुरुषों के द्वारा निश्चित रूप से चार भेद वाला कहा गया है। अर्थात् पर्यायनैगम के अर्थपर्यायनैगम, व्यंजनपर्यायनैगम,

अर्थपर्याययोस्तावद्गुणमुख्यस्वभावतः। क्वचिद्वस्तुन्यभिप्रायः प्रतिपत्तुः प्रजायते ॥२८॥
यथा प्रतिक्षणं ध्वंसि सुखसंविच्छरीरिणः। इति सत्तार्थपर्यायो विशेषणतया गुणः ॥२९॥
संवेदनार्थपर्यायो विशेष्यत्वेन मुख्यताम्। प्रतिगच्छन्नभिप्रेतो नान्यथैवं वचोगतिः ॥३०॥
सर्वथा सुखसंवित्त्योर्नानात्वेभिमतिः पुनः। स्वाश्रयाच्चार्थपर्यायनैगमाभोऽप्रतीतितः ॥३१॥
कश्चिद्व्यंजनपर्यायौ विषयीकुरुतेंजसा। गुणप्रधानभावेन धर्मिण्येकत्र नैगमः ॥३२॥
सच्चैतन्यं नरीत्येवं सत्त्वस्य गुणभावतः। प्रधानभावतश्चापि चैतन्यस्याभिसिद्धितः ॥३३॥
तयोरत्यंतभेदोक्तिरन्योन्यं स्वाश्रयादपि। ज्ञेयो व्यंजनपर्यायनैगमाभो विरोधतः ॥३४॥

अर्थव्यंजनपर्यायनैगम ये तीन प्रभेद हैं। और दूसरे द्रव्यनैगम के शुद्ध द्रव्यनैगम, अशुद्धद्रव्यनैगम ये दो प्रभेद हैं। तथा तीसरे द्रव्यपर्याय नैगम के शुद्ध द्रव्य पर्यायनैगम, शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगम, अशुद्धद्रव्यपर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्य व्यंजनपर्यायनैगम - ये ४ भेद हैं। इस प्रकार नैगम के नौ और संग्रह आदि छह इस प्रकार नयों के पन्द्रह भेद हो जाते हैं ॥२७॥

उनमें से नैगम के पहिले प्रभेद का उदाहरण इस प्रकार है कि किसी एक वस्तु में दो अर्थपर्यायों को गौण मुख्यस्वरूप से जानने के लिए नयज्ञानी प्रतिपत्ता का अभिप्राय उत्पन्न हो जाता है। जैसे कि शरीर-धारी आत्मा का सुखसंवेदन प्रतिक्षण नाश को प्राप्त हो रहा है। यहाँ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त सत्तारूप अर्थपर्याय तो विशेषण हो जाने से गौण है और संवेदनरूप अर्थपर्याय विशेष्यपना होने के कारण मुख्यता को प्राप्त है, यह यहाँ अभिप्रेत है, अन्यथा (भिन्न प्रकार कथन द्वारा) ज्ञप्ति नहीं हो सकेगी।

भावार्थ - 'आत्मनः सुखसंवेदनं क्षणिकं' - यहाँ आत्मा का सुख संवेदन क्षण क्षण में उत्पाद व्यय को प्राप्त हो रहा है यह नैगमनय ने जाना। यहाँ संवेदन नामक अर्थपर्याय को विशेष्य होने के कारण मुख्य रूप से जाना गया है और प्रतिक्षण उत्पाद व्ययरूप अर्थपर्याय को विशेषण होने के कारण नैगम नय द्वारा गौण रूप से जाना गया है। अन्यथा उक्त प्रयोग कैसे भी नहीं बन सकता था ॥२८-२९-३०॥

सर्वथा परस्पर में सुख और संवेदन के नानापन में अभिप्राय रखना, अथवा स्वाश्रित आत्मा से सुख और ज्ञान का भेद मानने का आग्रह रखना, अर्थपर्याय नैगम का आभास है। क्योंकि एक द्रव्य के गुणों का परस्पर में अथवा अपने आश्रयभूत द्रव्य के साथ सर्वथा भेद रहना प्रतीत नहीं होता है ॥३१॥

कोई नैगम नय का प्रभेद एक धर्मी में गौण, प्रधानपने से दो व्यंजन पर्यायों को निर्दोष विषय कर लेता है, जैसे कि 'आत्मनि सत् चैतन्यं' - आत्मा में सत्त्व है, और चैतन्य है। इस प्रकार यहाँ विशेषण हो रही सत्ता की गौण रूप से ज्ञप्ति है और विशेष्य हो रहे चैतन्य की भी प्रधानभाव से सर्वतः ज्ञप्ति सिद्ध हो रही है। अतः दोनों भी व्यंजन पर्यायों को यह नैगम नय विषय कर रहा है। (सूक्ष्म पर्यायों को अर्थपर्याय कहते हैं और व्यक्त पर्यायें व्यंजन पर्यायें हैं) ॥३२-३३॥

सत्ता और चैतन्य का परस्पर में अत्यन्त भेद कहना अथवा अपने अधिकरण स्वरूप आत्मा से भी सत्ता और चैतन्य का अत्यन्त भेद कहना व्यंजनपर्याय नैगमाभास है। क्योंकि, गुणों का परस्पर में और

अर्थव्यंजनपर्यायौ गोचरीकुरुते परः। धार्मिके सुखजीवित्वमित्येवमनुरोधतः ॥३५॥
भिन्ने तु सुखजीवित्वे योभिमन्येत सर्वथा। सोर्थव्यंजनपर्यायनैगमाभास एव नः॥३६॥
शुद्धद्रव्यमशुद्धं च तथाभिप्रैति यो नयः। स तु नैगम एवेह संग्रहव्यवहारजः ॥३७॥
सद्द्रव्यं सकलं वस्तु तथान्वयविनिश्चयात्। इत्येवमवगंतव्यस्तद्भेदोक्तिस्तु दुर्नयः ॥३८॥
यस्तु पर्यायवद्द्रव्यं गुणवद्वेति निर्णयः। व्यवहारनयाज्जातः सोऽशुद्धद्रव्यनैगमः ॥३९॥
तद्भेदैकान्तवादस्तु तदाभासोनुमन्यते। तथोक्तेर्बहिरन्तश्च प्रत्यक्षादिविरोधतः ॥४०॥

अपने आश्रय के साथ कथंचित् अभेद है। अतः ऐसी दशा में सर्वथा भेद कथन करते रहने से नैयायिक को विरोध दोष आता है॥३४॥

'धर्मात्मा पुरुष में सुखपूर्वक जीवन प्रवर्त रहा है' इत्यादि प्रयोगों के अनुरोध से तीसरा नैगम नय अर्थपर्याय और व्यंजन पर्याय दोनों को विषय करता है॥३५॥

जो प्रतिवादी सुख और जीवन को सर्वथा भिन्न मान रहा है, अथवा आत्मा से भिन्न दोनों की कल्पना कर रहा है, वह तो हमारे यहाँ अर्थव्यंजन पर्याय का आभास है अतः यह अर्थव्यंजनपर्याय नैगमाभास यानी यह झूठा नय, कुनय है॥३६॥

पर्यायनैगम के तीन भेदों का लक्षण और उदाहरण दिखलाकर अब द्रव्य नैगम के भेद और उदाहरणों को दिखाते हैं कि जो नय शुद्ध द्रव्य या अशुद्ध द्रव्य को जानने का अभिप्राय रखता है, वह नय तो संग्रह और व्यवहार से उत्पन्न हुआ नैगमनय ही कहा जाता है॥३७॥

उसी प्रकार अन्वय का विशेषरूप करके निश्चय हो जाने से सम्पूर्ण वस्तुओं को सत् द्रव्य (इस प्रकार) कहने वाला अभिप्राय शुद्ध द्रव्य नैगम है। क्योंकि सभी पदार्थों में किसी भी स्वकीय परकीय भावों की अपेक्षा नहीं करके सत्पने या द्रव्यपने का अन्वय जाना जा रहा है। संग्रह नय के अनुसार यह नैगम नय दो धर्मियों को प्रधान गौण रूप से विषय कर रहा है। अतः सत्स्वरूप और द्रव्यपने के सर्वथा भेद रूप को कहने वाला नय दुर्नय हो जाता है। अर्थात् - वैशेषिक सत्त्व और द्रव्यत्व को परस्पर में भिन्न मानते हैं और जातिमान् का जातियों से भेद स्वीकार करते हैं। यह उनका शुद्ध द्रव्य नैगमाभास है॥३८॥

जो नय 'पर्यायवान् द्रव्य है' अथवा 'गुणवान् द्रव्य है', इस प्रकार निर्णय करता है, वह नय तो व्यवहारनय से उत्पन्न हुआ अशुद्ध द्रव्य नैगम है। व्यवहार नय केवल एक ही धर्म या धर्मी को जानता है। किन्तु यह अशुद्ध द्रव्य नैगम नय तो धर्म,धर्मी दोनों को विषय करता है॥३९॥

पर्याय और पर्यायवान् का एकान्त रूप से भेद मानते रहना अथवा उन गुण और गुणी का सर्वथा भेद स्वीकार करने का पक्ष रखना उस अशुद्ध द्रव्य नैगम का आभास माना जाता है। क्योंकि बहिरंग घट, रूप, पट, पटत्व आदि तथा आत्मा ज्ञान, आदि अन्तरंग पदार्थों में इस प्रकार भेद कहते रहने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरोध आता है॥४०॥

शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमोस्ति परो यथा। सत्सुखं क्षणिकं शुद्धं संसारेस्मिन्नितीरणम् ॥४१॥
सत्त्वं सुखार्थपर्यायाद्भिन्नमेवेति संमतिः। दुर्नीतिः स्यात्सबाधत्वादिति नीतिविदो विदुः ।४२॥
क्षणमेकं सुखी जीवो विषयीति विनिश्चयः। विनिर्दिष्टोर्थपर्यायाशुद्धद्रव्यगनैगमः ॥४३॥
सुखजीवभिदोक्तिस्तु सर्वथा मानबाधिता। दुर्नीतिरेव बोद्धव्या शुद्धबोधैरसंशयात् ॥४४॥
गोचरीकुरुते शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्ययौ। नैगमोन्यो यथा सच्चित्सामान्यमिति निर्णयः ॥४५॥
विद्यते चापरोशुद्धद्रव्यव्यंजनपर्ययौ। अर्थीकरोति यः सोत्र ना गुणीति निगद्यते ॥४६॥

अब नैगम के द्रव्यपर्यायनैगम भेद के चार प्रभेदों का वर्णन करते हैं। इनमें प्रथम शुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगम तो इस प्रकार है कि इस संसार में सुख पदार्थ शुद्ध सत् स्वरूप होता हुआ क्षण मात्र में नष्ट हो जाता है, यों कहने वाला यह नय है। यहाँ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप सत्पना तो शुद्ध द्रव्य है और सुख अर्थपर्याय है। विशेषण रूप शुद्ध द्रव्य को गौण से और विशेष्य हो रहे अर्थपर्याय सुख को प्रधानरूप से यह नय विषय करता है ॥४१॥

'सुख स्वरूप अर्थपर्याय से सत्त्व सर्वथा भिन्न ही है।' इस प्रकार का अभिप्राय तो दुर्नीति है। क्योंकि सुख और सत्त्व के सर्वथा भेद मानने में अनेक प्रकार की बाधाओं से सहितपना है, इस प्रकार नयों के जानने वाले विद्वान् कहते हैं अर्थात् सुख और सत्त्व का सर्वथा भेद का अभिमान तो शुद्ध द्रव्य अर्थ पर्याय नैगम का आभास है ॥४२॥

दूसरा, यह संसारी जीव एक क्षण तक सुखी है। इस प्रकार निश्चय करने वाला विषयी नय तो अर्थपर्याय अशुद्ध द्रव्य को प्राप्त नैगम विशेषरूपेण कहा गया है। यहाँ सुख तो अर्थपर्याय है, और संसारी जीव अशुद्ध द्रव्य है अतः इस नय से अर्थपर्याय को गौण रूप से और अशुद्ध द्रव्य को प्रधान रूप से विषय किया गया है ॥४३॥

सुख और जीव को सर्वथा भेद रूप से कहना तो दुर्नय ही है। क्योंकि गुण और गुणी में सर्वथा भेद कहना प्रमाणों से बाधित है। जिन विद्वानों के प्रबोध परिशुद्ध हैं, उन्होंने संशयरहितपने से इस बात को कहा है कि सुख और जीव का सर्वथा भेद कहना अर्थपर्याय अशुद्ध द्रव्य नैगमाभास है, ऐसा जानना चाहिए ॥४४॥

तीसरा, शुद्ध द्रव्य व्यंजनपर्याय नैगम इन दोनों से भिन्न इस प्रकार है, जो कि शुद्ध द्रव्य और व्यंजनपर्याय को विषय करता है। जैसे कि यह सत् सामान्य चैतन्य स्वरूप है, इस प्रकार का निर्णय करना शुद्धद्रव्य व्यंजनपर्यायनैगम नय है। यहाँ सत् सामान्य तो शुद्ध द्रव्य है और उसका चैतन्यपना व्यंजन पर्याय है ॥४५॥

इनसे भिन्न चौथा, द्रव्यपर्याय नैगमनय विद्यमान है जो अशुद्ध द्रव्य और व्यंजन पर्याय को विषय करता है, जैसे कि मनुष्य गुणी है, इस प्रकार इस नय द्वारा कहा जाता है। यहाँ गुणवान् तो अशुद्ध द्रव्य है और मनुष्य व्यंजन पर्याय है। कथंचित् अभेद रूप से दोनों को यह नय जान लेता है। इन दो नयों के

भिदाभिदाभिरत्यंतं प्रतीतेरपलापतः। पूर्ववन्नैगमाभासौ प्रत्येतव्यौ तयोरपि ॥४७॥
नवधा नैगमस्यैवं ख्याते: पंचदशोदिताः। नयाः प्रतीतिमारूढाः संग्रहादिनयैः सह ॥४८॥

त्रिविधस्तावन्नैगमः। पर्यायनैगमः, द्रव्यनैगमः, द्रव्यपर्यायनैगमश्चेति। तत्र प्रथमस्त्रेधा। अर्थपर्यायनैगमो व्यंजनपर्यायनैगमोऽर्थव्यंजनपर्यायनैगमश्च इति। द्वितीयो द्विधा। शुद्धद्रव्यनैगमः, अशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति। तृतीयश्चतुर्धा। शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमः, शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगमः, अशुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमः, अशुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगमश्चेति नवधा नैगमः साभास उदाहृतः परीक्षणीयः। संग्रहादयस्तु वक्ष्यमाणा षडिति सर्वे पंचदश नयाः समासतः प्रतिपत्तव्याः॥

तत्र संग्रहनयं व्याचष्टे–

एकत्वेन विशेषाणां ग्रहणं संग्रहो नयः। स्वजातेरविरोधेन दृष्टेष्टाभ्यां कथंचन ॥४९॥
समेकीभावसम्यक्त्वे वर्तमानो हि गृह्यते। निरुक्त्या लक्षणं तस्य तथा सति विभाव्यते ॥५०॥

द्वारा विषय किये गये पदार्थों का परस्पर में सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अतीव अभेद करके कथन करना तो उन दोनों के भी पूर्व के समान दो नैगमाभास समझ लेने चाहिए। क्योंकि अत्यन्त भेद या अभेद पक्ष लेने से प्रतीतियों का अपलाप होता है। अतः सत् और चैतन्य के सर्वथा भेद या अभेद का अभिप्राय शुद्धद्रव्य व्यंजनपर्याय नैगम का आभास है तथा मनुष्य और गुणी का सर्वथा भेद या अभेद जान लेना अशुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगम का आभास है॥४६-४७॥

उक्त प्रकार से नैगमनय के नौ भेद-प्रभेदों का व्याख्यान करके संग्रह आदि छह नयों के साथ प्रतीति में आरूढ़ नयें पन्द्रह कह दी गयी हैं॥४८॥

नैगमनय तीन प्रकार का है। पर्याय नैगम, द्रव्य नैगम और द्रव्यपर्याय नैगम। ये नैगम के मूल भेद तीन हैं। उनमें पहला पर्यायनैगम तो अर्थपर्यायनैगम, व्यंजनपर्याय नैगम और अर्थव्यंजनपर्यायनैगम तीन प्रकार का है तथा दूसरा द्रव्यनैगम शुद्ध द्रव्यनैगम, अशुद्धद्रव्य नैगम के भेद से दो प्रकार का है।

तथा तीसरा द्रव्यपर्याय नैगम तो शुद्ध द्रव्यार्थपर्यायनैगम १ शुद्ध द्रव्यव्यंजनपर्यायनैगम २ अशुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगम ३ अशुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगम ४ इन स्वरूपों से चार प्रकार का है।

इस प्रकार नौ प्रकार के नैगमनय को उनके आभासों से सहित उदाहरणपूर्वक कहा गया है जो कि विद्वानों के द्वारा परीक्षा करने योग्य है। और संग्रह आदि छह नय तो भविष्य में कहे जाने वाले हैं। इस प्रकार नौ और छह को मिलाकर सर्व पन्द्रह नय संक्षेप में समझने चाहिए।

अब **संग्रह नय** का व्याख्यान करते हैं।

अपनी सत्तास्वरूप जाति के दृष्ट, इष्ट, प्रमाणों द्वारा अविरोध करके सभी विशेषों को कथंचित् एक रूप से ग्रहण करना **संग्रह नय** है। संग्रह में **'सं'** शब्द का अर्थ समस्त है वा एकीभाव है और ग्रह का अर्थ जान लेना है। अर्थात् अनेक गौओं को देखकर 'यह गौ है' और 'यह भी वही गौ है' इस प्रकार की बुद्धियाँ होने और शब्दों की प्रवृत्तियाँ होने के कारण सादृश्य स्वरूप को जाति कहते हैं। सम्पूर्ण पदार्थों का एकीकरण

शुद्धद्रव्यमभिप्रैति सन्मात्रं संग्रहः परः। स चाशेषविशेषेषु सदौदासीन्यभागिह ॥५१॥
निराकृतविशेषस्तु सत्ताद्वैतपरायणः। तदाभासः समाख्यातः सद्भिर्दृष्टेष्टबाधनात् ॥५२॥
अभिन्नं व्यक्तिभेदेभ्यः सर्वथा बहुधानकं। महासामान्यमित्युक्तिः केषांचिदुर्नयस्तथा ॥५३॥
शब्दब्रह्मेति चान्येषां पुरुषाद्वैतमित्यपि। संवेदनाद्वयं चेति प्रायशोन्यत्र दर्शितम् ॥५४॥
द्रव्यत्वं सकलद्रव्यव्याप्यभिप्रैति चापरः। पर्यायत्वं च निःशेषपर्यायव्यापिसंग्रहः ॥५५॥
तथैवावांतरान् भेदान् संगृह्यैकत्वतो बहुः। वर्ततेयं नयः सम्यक् प्रतिपक्षानिराकृतेः ॥५६॥

और समीचीनपना इन दो अर्थों में रहने वाला सम् शब्द यहाँ ग्रहण किया जाता है। अतः उस संग्रह नय का लक्षण संग्रह शब्द की निरुक्ति से ही विचारा जाता है। परसंग्रहनय तो सत्तामात्र शुद्ध द्रव्य को ग्रहण करता है और सत् है, इस प्रकार सबको एकपने से ग्रहण करने वाला यह संग्रह नय यहाँ सर्वदा सम्पूर्ण विशेष पदार्थों में उदासीनता को धारण करता है।

अर्थात् "सत्-सत्" इस प्रकार कहने पर तीनों काल के विवक्षित, अविवक्षित सभी जीव, अजीव के भेद प्रभेदों का एकत्व से संग्रह हो जाता है॥४९-५०-५१॥

जो नय सम्पूर्ण विशेषों का निराकरण कर केवल सत्ता के अद्वैत को कहने में तत्पर है, वह सज्जन विद्वानों के द्वारा **परसंग्रहाभास** कहा जाता है। कारण कि अकेले सत् या ब्रह्म को कहने पर प्रत्यक्षप्रमाण और अनुमानप्रमाण से बाधा उपस्थित होती है; जिसको कि हम पूर्व में कह चुके हैं॥५२॥

सांख्यों द्वारा माना गया प्रधान तत्त्व तो अहंकार, तन्मात्रा आदि तेईस प्रकार की विशेष व्यक्तियों से या विशेष व्यक्तों से सर्वथा अभिन्न होता हुआ महासामान्य स्वरूप है। 'त्रिगुणमविवेत्यादि' (सांख्यतत्त्व कौमुदी) इस प्रकार किन्हीं कापिलों का मानना दुर्नय है अर्थात् परसंग्रहाभास है। तथा अन्य शब्दाद्वैतवादियों का अकेले शब्द ब्रह्म को ही स्वीकार करना और ब्रह्माद्वैतवादियों का विशेषों से रहित केवल अद्वय पुरुष तत्त्व को स्वीकार करना तथा यौगाचार या वैभाषिक बौद्धों का शुद्ध संवेदनाद्वैत का पक्ष पकड़े रहना, ये सब कुनय व पर-संग्रहाभास हैं। इसको भी हम पूर्व में अन्य स्थानों में बहुत बार दिखला चुके हैं। विशेषों से रहित सामान्य कुछ भी पदार्थ नहीं है॥५३-५४॥

परसंग्रहनय को कहकर अब अपरसंग्रह नय का वर्णन करते हैं। परमसत्ता रूप से सम्पूर्ण भावों के एकपन का अभिप्राय रखने वाले परसंग्रह द्वारा गृहीत अंशों के विशेष अंशों को जानने वाला अपर-संग्रह नय है। सत् के व्याप्य द्रव्य और पर्याय हैं। सम्पूर्ण द्रव्यों में व्यापने वाले द्रव्यत्व को अपरसंग्रह स्वकीय अभिप्राय द्वारा जान लेता है, और दूसरा अपर संग्रह तो सम्पूर्ण पर्यायों में व्यापने वाले पर्यायत्व को जान लेता है। उसी प्रकार और इनके भी व्याप्य हो रहे बहुत से अवान्तर भेदों का एकपने से संग्रह कर यह नय जानता है। अपने प्रतिकूल पक्ष का निराकरण नहीं करने से यह समीचीन नय है और अपने अवान्तर सत्तावाले विषयों के प्रतिपक्षी महासत्ता वाले या तद्व्याप्य व्याप्य अन्य व्यक्तिविशेषों का निषेध कर देने वाला कुनय कहा जाता है अर्थात् जैसे सम्पूर्ण जीव द्रव्यों का एकपने से संग्रह करना अथवा कालत्रयवर्ती पर्यायों में द्रवण करने वाले अजीव के पुद्गल, धर्म आदि भेदों का संग्रह कर लेना तथा पर्यायों के विशेष भेद सम्पूर्ण घटों का या सम्पूर्ण पटों का एकपने से संग्रह करना अपर संग्रह नय है। इस प्रकार व्यवहार नय से पहले अनेक विषय व्यापि सामान्यों को जानता हुआ यह अपर संग्रहनय बहुत प्रकार का है॥५५-५६॥

स्वव्यक्त्यात्मकतैकांतस्तदाभासोप्यनेकधा। प्रतीतिबाधितो बोध्यो निःशेषोप्यनया दिशा॥५७

द्रव्यत्वं द्रव्यात्मकमेव ततोर्थांतरभूतानां द्रव्याणामभावादित्यपरसंग्रहाभासः, प्रतीतिविरोधात्। तथा पर्यायत्वं पर्यायात्मकमेव ततोर्थांतरभूतपर्यायासत्त्वादिति तत्त्वं तत एव। तथा जीवत्वं जीवात्मकमेव, पुद्गलत्वं पुद्गलात्मकमेव, धर्मत्वं धर्मात्मकमेव, अधर्मत्वं अधर्मात्मकमेव, आकाशत्वं आकाशात्मकमेव, कालत्वं कालात्मकमेवेति चापरसंग्रहाभासाः। जीवत्वादिसामान्यानां स्वव्यक्तिभ्यो भेदेन कथंचित्प्रतीतेरन्यथा तदन्यतरलोपे सर्वलोपानुषंगात्। तथा क्रमभाविपर्यायत्वं क्रमभाविपर्यायविशेषात्मकमेव, सहभाविगुणत्वं तद्विशेषात्मकमेवेति वापरसंग्रहाभासौ प्रतीतिप्रतिघातादेव। एवमपरापरद्रव्यपर्यायभेदसामान्यानि स्वव्यक्त्यात्मकान्येवेत्यभिप्रायाः सर्वेप्यपरसंग्रहाभासाः प्रमाणबाधितत्वादेव बोद्धव्याः, प्रतीत्यविरुद्धस्यैवापरसंग्रहप्रपंचस्यावस्थितत्वात्॥

उस अपर संग्रह का आभास भी अनेक प्रकार का है। अपनी व्यक्ति और जाति के सर्वथा एक आत्मकपने के एकान्त की प्रतीतियों से बाधित होने से अपर संग्रहाभास समझना चाहिए।

इस ही संकेत से सम्पूर्ण भी अपर संग्रहाभास समझ लेना। अर्थात् घट सामान्य और घट विशेषों का सर्वथा भेद या अभेद मानने का आग्रह करना अपर संग्रहाभास है॥५७॥

आचार्य कहते हैं कि जो कोई सांख्यमत अनुयायी द्रव्यत्व सामान्य को द्रव्य व्यक्तियों के साथ तदात्मक ही मानते हैं क्योंकि उस द्रव्यत्व से भिन्न द्रव्यों का अभाव है। यह उनका मानना प्रतीतियों से विरोध हो जाने के कारण अपरसंग्रहाभास है। उसी प्रकार पर्यायत्व सामान्य भी पर्याय आत्मक ही है। उस पर्याय सामान्य से सर्वथा अर्थान्तरभूत हो रहे पर्यायों का असद्भाव है। इस प्रकार का कथन भी प्रतीति विरोध हो जाने से अपर संग्रहाभास है। तथा जीवत्व अनेक जीवों का तदात्मक धर्म है। पुद्गलत्व सामान्य पुद्गल व्यक्ति स्वरूप ही है। धर्म द्रव्यपना धर्मद्रव्य स्वरूप ही है। अधर्मत्व अधर्मद्रव्य स्वरूप ही है। आकाशत्व धर्म आकाशस्वरूप ही है। कालत्व सामान्यकाल परमाणुओं स्वरूप ही है। इस प्रकार जाति और व्यक्तियों के सर्वथा अभेद एकान्त को कहने वाले सब अपरसंग्रहाभास हैं। क्योंकि जीवत्व, पुद्गलत्व आदि सामान्यों की अपने विशेष व्यक्तियों से कथंचित् भेद रूप से प्रतीति होती है।

अन्यथा यानी कथंचित् भेद नहीं मान कर दूसरे अशक्य विवेचनत्व आदि प्रकारों से उनका सर्वथा अभेद मानोगे तो उन दोनों में से एक का लोप हो जाने पर बचे हुए शेष का भी लोप होने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् - विशेष का सामान्य के साथ अभेद मानने पर सामान्य में विशेष लीन हो जायेगा। एवं विशेषों का प्रलय हो जाने पर सामान्य कुछ भी नहीं रह सकता है।

द्रव्य व्यक्तियों और द्रव्य जातियों का अभेद कह कर अब पर्यायों का अपनी जाति के साथ अभेद मानने को नयाभास कहते हैं। जो कोई प्रतिवादी क्रमभावी पर्यायत्व सामान्य को क्रम-क्रम से होने वाले विशेष पर्यायों स्वरूप ही कह रहा है, अथवा सहभावी पर्याय गुणत्व को उस गुणत्व सामान्य के विशेष हो रहे अनेक गुण आत्मक ही इष्ट करना है। इन दोनों का भी प्रतीतियों द्वारा प्रतिघात हो जाने से ही अपर संग्रहाभास समझ लेने चाहिए। इसी प्रकार और भी आगे के उत्तरोत्तर द्रव्य या पर्यायों के भेद-प्रभेद रूप सामान्य द्रव्यत्व, (पृथिवीत्व, घटत्व आदि) भी अपनी-अपनी व्यक्तियाँ द्रव्य और पर्यायस्वरूप ही हैं। इस अभिप्राय को सभी प्रमाणों से बाधित होने से अपर संग्रह के आभास समझ लेने चाहिए। क्योंकि प्रतीतियों से अविरुद्ध पदार्थों को विशेष करने वाले नयों को अपरसंग्रह नय के प्रपंच की व्यवस्था की जा चुकी ह।

व्यवहारनयं प्ररूपयति–

संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः। योवहारो विभागः स्याद्व्यवहारो नयः स्मृतः ॥५८॥
स चानेकप्रकारः स्यादुत्तरः परसंग्रहात्। यत्सत्तद्द्रव्यपर्यायाविति प्रागृजुसूत्रतः ॥५९॥
कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्। प्रमाणबाधितोन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम् ॥६०॥

परसंग्रहस्तावत्सर्वं सदिति संगृह्णाति, व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति यत्सत्तद्द्रव्यं पर्याय इति। यथैवापरसंग्रहः सर्वद्रव्याणि द्रव्यमिति संगृह्णाति सर्वपर्यायाः पर्याय इति। व्यवहारस्तद्विभजते यद्द्रव्यं तज्जीवादिषड्विधं, यः पर्यायः स द्विविधः क्रमभावी सहभावी चेति। पुनरपि संग्रहः सर्वान् जीवादीन् संगृह्णाति जीवः पुद्गलो धर्मोऽधर्मः आकाशं काल इति, क्रमभुवश्च पर्यायान् क्रमभाविपर्याय इति, सहभाविपर्यायांस्तु

संग्रह नय का वर्णन कर **श्री विद्यानन्द स्वामी** अब क्रमप्राप्त **व्यवहार नय** का प्ररूपण करते हैं। संग्रह नय के द्वारा गृहीत पदार्थों का विधिपूर्वक जो अवहार (विभाग) किया जाता है, वह व्यवहारनय माना गया है। अर्थात् विभाग करने वाला व्यवहार नय है। और वह व्यवहार नय परसंग्रह से उत्तरवर्ती होकर ऋजुसूत्र नय से पहिले रहता हुआ अनेक प्रकार का है। परसंग्रहनय ने सत् को विषय किया था। जो सत् है वह द्रव्य और पर्याय रूप है। इस प्रकार विभाग कर जानने वाला व्यवहार नय है। यद्यपि अपर संग्रह ने भी द्रव्य और पर्यायों को जान लिया है, किन्तु अपरसंग्रह ने सत् का भेद करते हुए उन द्रव्य पर्यायों को नहीं जाना है। पहिले से ही विभाग को नहीं करते हुए युगपत् सम्पूर्ण द्रव्यों को जान लिया है। अथवा दूसरे अपरसंग्रह ने शीघ्र ही सम्पूर्ण पर्यायों को विषय कर लिया है। किन्तु व्यवहार ने विभाग को करते हुए जाना है। व्यवहार के उपयोगी महासामान्य के भी भेदों को जानने वाला वह व्यवहार नय है॥५८-५९॥

द्रव्य और पर्यायों के आरोपित किये गये कल्पित विभागों को जो नय कदाग्रह पूर्वक ग्रहण करता है वह प्रमाणों से बाधित व्यवहार नय से पृथक् व्यवहार नयाभास है। ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि द्रव्य और पर्यायों का विभाग कल्पित नहीं है॥६०॥

सबसे पहिले परसंग्रह तो 'सम्पूर्ण पदार्थ सत् हैं' इस प्रकार संग्रह करता है और व्यवहार नय उन सत् पदार्थों के विभाग करने का अभिप्राय रखता है कि जो सत् है वह द्रव्य या पर्याय रूप है। तथा जिस प्रकार अपर संग्रह नय सम्पूर्ण द्रव्यों को एक द्रव्यपने से संग्रह करता है और सम्पूर्ण त्रिलोक त्रिकालवर्ती पर्यायों को एक पर्यायपने से संग्रह कर लेता है। किन्तु व्यवहार नय उनका द्रव्य और पर्याय से दो विभाग करता है, जो द्रव्य है वह जीव, पुद्गल, आदि छह प्रकार का है, और जो पर्याय है वह क्रमभावी और सहभावी इस भेद से दो प्रकार की है।

अपर संग्रह की एक बार प्रवृत्ति हो चुकने के बाद फिर भी उसका व्याप्य अपर संग्रह नय तो सम्पूर्ण जीवादि को जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इस प्रकार व्याप्य अनेक जीव आदि का संग्रह करता है तथा क्रम से होने वाली अनेक सजातीय पर्यायों को ये क्रमभावी पर्याय हैं इस प्रकार संग्रह करता है एवं सहभावी अनेक जातिवाली पर्यायों को ये सहभावी पर्याय हैं, इस प्रकार संग्रह करता है। किन्तु यह व्यवहार नय तो उन संग्रह नय द्वारा गृहीत विषयों के विभाग करने की इस प्रकार अभिलाषा करता है कि, जो जीव द्रव्य है वह मुक्त और संसारी ह, और जो पुद्गलद्रव्य है वह अणुस्वरूप और स्कन्धस्वरूप है।

सहभाविपर्याय इति। व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति यो जीवः स मुक्तः संसारी च, यः पुद्गलः सोणुः स्कंधश्च, यो धर्मास्तिकायः स जीवगतिहेतुः पुद्गलगतिहेतुश्च, यस्त्वधर्मास्तिकायः स जीवस्थितिहेतुरजीवस्थितिहेतुश्च पर्यायतो द्रव्यतस्तस्यैकत्वात्। तथा यदाकाशं तल्लोकाकाशमलोकाकाशं च, यः कालः स मुख्यो व्यावहारिकश्चेति, यः क्रमभावी पर्यायः स क्रियारूपोऽक्रियारूपश्च, विशेषः यः सहभावी पर्यायः स गुणः, सदृशपरिणामश्च सामान्यमिति अपरापरसंग्रहव्यवहारप्रपंचः प्रागृजुसूत्रात्परसंग्रहादुत्तरः प्रतिपत्तव्यः, सर्वस्य वस्तुनः कथंचित्सामान्यविशेषात्मकत्वात्। न चैवं व्यवहारस्य नैगमत्वप्रसक्तिः संग्रहविषयप्रविभागपरत्वात् सर्वत्र नैगमस्य तु गुणप्रधानोभयविषयत्वात्। यः पुनः कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स

जो धर्मास्तिकाय है वह जीव और पुद्गल की गति का कारण है तथा जो अधर्मास्तिकाय है वह जीव और अजीवों की स्थिति का कारण है। धर्म अधर्म द्रव्यों का द्वैविध्यपना या अनेकपना तो पर्यायों की अपेक्षा से ही है। द्रव्यरूप से वे दोनों एक-एक ही हैं तथा जो आकाश द्रव्य है वह लोकाकाश और अलोकाकाश रूप है, जो काल द्रव्य है, वह अणुस्वरूप मुख्यकाल और समय, आवलिका आदि व्यवहारस्वरूप है।

भावार्थ - इस प्रकार द्रव्य के भेद-प्रभेदों का संग्रह कर व्यवहार नय द्वारा उनका विभाग कर दिया जाता है तथा मुक्त जीवों का भी जघन्य अवगाहना वाले, मध्यम अवगाहनावाले, उत्कृष्ट अवगाहना वाले, या द्वीपसिद्ध, समुद्रसिद्ध, प्रत्येक बुद्ध, बोधितबुद्ध आदि धर्मों के द्वारा संग्रह कर पुनः व्यवहार नय से उनका भेद रूप से प्ररूपण किया जा सकता है। संसारी के त्रस, स्थावर, मनुष्य, स्त्री, देव, नारकी आदि स्वरूप संग्रह कर पुनः व्यवहार उपयोगी विभाग किया जा सकता है। इसी प्रकार पर्यायों में समझना चाहिए। जो क्रमभावी पर्यायें संगृहीत हुई हैं वे परिस्पंदात्मक क्रिया रूप और अपरिस्पंदात्मक अक्रिया रूप से विशेष स्वरूप हैं और जो सहभावी पर्याय है वह नित्यगुण स्वरूप है और सदृश परिणामात्मक सामान्य रूप है। यहाँ भी क्रिया रूप पर्यायों के भ्रमण, तिर्यग्गमन, ऊर्ध्वगमन, आदि भेद किये जा सकते हैं। अक्रिया रूप पर्यायों के ज्ञान, सुख, क्रोध, ध्यान, सामायिक, अध्ययन आदि भेद हो सकते हैं। गुणों के भी अनुजीवी, प्रतिजीवी, पर्याय शक्ति, सामान्य गुण, विशेष गुण, ये भेद किये जा सकते हैं। सामान्य का भी गोत्व, पशुत्व, जीवत्व आदि रूप करके विभाग किया जा सकता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर होने वाला संग्रह और व्यवहार नय का प्रपंच ऋजुसूत्र नय से पहले-पहले और पर संग्रह से उत्तरोत्तर अंशों की विवक्षा करने पर समझ लेना चाहिए। क्योंकि जगत् की सम्पूर्ण वस्तुएँ सामान्य और विशेष के साथ कथंचित् एकात्मक हैं। अतः नय को उपजाने वाले पुरुष का अभिप्राय सामान्य रूप से जानकर विशेषों को जानने के लिए प्रवृत्त हो जाता है। इस उक्त प्रकार कथन करने पर व्यवहार नय को नैगमपने का प्रसंग नहीं आता है। क्योंकि व्यवहार नय संग्रह द्वारा विषय किये गये पदार्थ का व्यवहारोपयोगी सर्वत्र विभाग करने में तत्पर है और नैगमनय अत्यधिक गौण और प्रधान दोनों प्रकार के धर्म-धर्मियों को विषय करता है। अर्थात् व्यवहार तो एक सद्भूत अंश के भी व्यवहार उपयोगी अंशों को जानता है। किन्तु नैगम नय प्रधानभूत या गौणभूत सत्, असत्, अंश, अंशियों को जान लेता है।

व्यवहाराभासः, प्रमाणबाधितत्वात्। तथाहि–न कल्पनारोपित एव द्रव्यपर्यायप्रविभागः स्वार्थक्रियाहेतुत्वादन्यथा तदनुपपत्तेः। वंध्यापुत्रादिवत्। व्यवहारस्य मिथ्यात्वे तदानुकूल्येन प्रमाणानां प्रमाणता च न स्यात्, स्वप्नादिविभ्रमानुकूल्येनापि तेषां प्रमाणत्वप्रसंगात्। तदुक्तं। "व्यवहारानुकूल्येन प्रमाणानां प्रमाणता। नान्यथा बाध्यमानानां तेषां च तत्प्रसंगतः॥" इति॥

सांप्रतमृजुसूत्रनयं सूत्रयति–

ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तु सत्सूत्रयेदृजु। प्राधान्येन गुणीभावाद्द्रव्यस्यानर्पणात्सतः॥६१॥
निराकरोति यद्द्रव्यं बहिरंतश्च सर्वथा। स तदाभोऽभिमंतव्यः प्रतीतेरपलापतः॥६२॥

जो नय पुनः कल्पना से आरोपित द्रव्य और पर्याय के विभाग का अभिप्राय करता है, वह कुनय होता हुआ व्यवहाराभास है। क्योंकि यदि द्रव्य और पर्याय के विभाग को वास्तविक नहीं माना जाएगा तो प्रमाणों से बाधा उपस्थित हो जावेगी। तथाहि द्रव्य और पर्याय का विभाग (पक्ष) कोरी कल्पनाओं से आरोपित किया गया नहीं है। अपने-अपने द्वारा की जाने योग्य अर्थक्रिया का हेतु होने से अन्यथा (द्रव्य और पर्याय के विभाग को कल्पित मानोगे तो) उन कल्पित द्रव्य और पर्यायों से उस अर्थक्रिया की सिद्धि नहीं हो सकेगी, जैसे कि वन्ध्या के पुत्र से कुटुम्ब संतान नहीं चल सकती है, आकाश के पुष्प से सुगन्ध प्राप्ति नहीं हो सकती है, इत्यादि व्यतिरेकदृष्टान्त यदि द्रव्य या पर्यायों की कोरी कल्पना करने वाले बौद्ध कहें कि ये सब अर्थक्रिया करने के लिए या 'यह अंश द्रव्य है' 'इतना अंश पर्याय है' ये सब व्यवहार तो मिथ्या हैं। इसके प्रत्युत्तर में आचार्य कहते हैं तब तो उस व्यवहार के अनुकूल रूप से मानी गयी प्रमाणों की प्रमाणता भी नहीं हो सकेगी। अन्यथा स्वप्न, मूर्च्छित आदि के भ्रान्त व्यवहारों की अनुकूलता से भी उन स्वप्न आदि के ज्ञानों को प्रमाणपने का प्रसंग आवेगा। वही तुम्हारे ग्रन्थों में कहा जा चुका है कि लौकिक व्यवहारों की अनुकूलता के द्वारा प्रमाणों का प्रमाणपना व्यवस्थित हो रहा है, दूसरे प्रकारों से ज्ञानों की प्रमाणता नहीं है।

अन्य प्रकारों से प्रमाणता मानने पर प्रमाण से उन स्वप्न ज्ञान या भ्रान्त ज्ञान अथवा संशय ज्ञानों को भी प्रमाणता का प्रसंग आवेगा। अर्थात् - दिन रात लोकव्यवहार में आने वाले कार्य तो द्रव्य और पर्यायों से ही किये जा रहे देखे जाते हैं। व्यवहारी मनुष्य लौकिक व्यवहारों से ज्ञान की प्रमाणता को जान लेता है। शीतल वायु से जल के ज्ञान में प्रामाण्य जान लिया जाता है। अनुकूल, प्रतिकूल, व्यवहारों से शत्रुता, मित्रता परीक्षित हो जाती है। पठन, पाठन, चर्चा, निर्णायक शक्ति से प्रकाण्ड विद्वत्ता का निर्णय कर लिया जाता है। यदि ये व्यवहार मिथ्या होते तो ज्ञानों की प्रमाणता के सम्पादक नहीं हो सकते थे। अतः वास्तविक द्रव्य और पर्यायों के विभाग व्यवहार को बताने वाले व्यवहार नय का वर्णन यहाँ तक समाप्त हो चुका है।

व्यवहार नय को कहकर अब वर्त्तमान काल में चौथे ऋजुसूत्र नय की **श्री विद्यानन्द स्वामी** सूचना देते हैं।

ऋजुसूत्र नय पर्याय को विषय करने वाला है। क्षण में ध्वंस होने वाली वस्तु के सद्भूत व्यक्त रूप की प्रधानता करके ऋजुसूत्र नय बोध करा देता है। यद्यपि यहाँ नित्य द्रव्य विद्यमान है, तथापि उस सत्

कार्यकारणता चेति ग्राह्यग्राहकतापि वा। वाच्यवाचकता चेति क्वार्थसाधनदूषणं ॥६३॥
लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः। क्वैवं सिद्ध्येद्यदाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ॥६४॥
सामानाधिकरण्यं क्व विशेषणविशेष्यता। साध्यसाधनभावो वा क्वाधाराधेयतापि च ॥६५॥
संयोगो विप्रयोगो वा क्रियाकारकसंस्थितिः। सादृश्यं वैसदृश्यं वा स्वसंतानेतरस्थितिः ॥६६॥
समुदायः क्व च प्रेत्यभावादि द्रव्यनिह्नवे। बंधमोक्षव्यवस्था वा सर्वथेष्टाऽप्रसिद्धितः ॥६७॥

द्रव्य की विवक्षा नहीं करने से उसका गौणपना है। अर्थात् द्रव्य की भूत पर्यायें तो नष्ट हो चुकी हैं, और भविष्य पर्यायें न जाने कब-कब उत्पन्न होंगी। अतः यह नय वर्तमान काल की पर्याय को ही विषय करता है। त्रिकालान्वयी द्रव्य की विवक्षा नहीं करता है।

यद्यपि एक क्षण के पर्याय से ही पढ़ना, पचना, आदि अनेक लौकिक कार्य सिद्ध नहीं हो सकते हैं, किन्तु यहाँ केवल इस नय का विषय निरूपण कर दिया है। लोक व्यवहार तो सम्पूर्ण नयों के समुदाय से साधने योग्य है॥६१॥

जो बौद्धों द्वारा माना गया ज्ञान वर्तमान पर्याय मात्र को ही ग्रहण करता है और बहिरंग अन्तरंग द्रव्यों का सभी प्रकार से खण्डन करता है वह उस ऋजुसूत्र नय का आभास (कुनय) मानना चाहिए। क्योंकि बौद्धों के अभिप्राय अनुसार मानने पर प्रमाण प्रसिद्ध प्रतीतियों का अपलाप हो जाता है। अर्थात् - सभी पर्यायें द्रव्य से अन्वित हो रही हैं। बिना द्रव्य के परिणाम होना असम्भव है। ऋजुसूत्र भले ही केवल पर्यायों को ही जानता है, किन्तु वह द्रव्य का खण्डन नहीं कर सकता है॥६२॥

अन्वित द्रव्यों को नहीं मानने पर बौद्धों के यहाँ कार्य - कारण भाव अथवा ग्राह्यग्राहक भाव और वाच्यवाचक भाव भी कहाँ बन सकते हैं। ऐसी दशा में स्वकीय इष्ट अर्थ का साधन और परपक्ष का दूषण ये विचार कैसे बन सकेंगे? पदार्थों को कालान्तर स्थायी मानने पर ही कार्य-कारण भाव बनता है॥६३॥

इस प्रकार द्रव्य का अपह्नव करने वाले क्षणिक पक्ष में लौकिक व्यवहारसत्य और परमार्थ रूप से सत्य ये कैसे सिद्ध हो सकेंगे? जिसका कि आश्रय करके बौद्धों के यहाँ बुद्धों का धर्म उपदेश देना बन सके। अर्थात् - वास्तविक कार्य-कारण भाव के बिना व्यवहारसत्य और परमार्थ सत्य का निर्णय नहीं हो सकता है। वाच्यवाचक भाव के बिना सुगत का धर्मोपदेश भी सिद्ध नहीं हो सकता है॥६४॥

त्रिकाल में अन्वित रहने वाले द्रव्य को माने बिना सामानाधिकरण्य, विशेषों में समानाधिकरणपना विशेषण-विशेष्यपना, साध्य-साधन भाव अथवा आधार-आधेय भाव कैसे घटित हो पाते हैं? साध्य-साधन भाव के लिए व्याप्तिग्रहण, पक्षवृत्तित्व ज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिस्मरण, इनकी आवश्यकता हैं, क्षणिक में ये कार्य घटित नहीं होते हैं। अवयवी, साधारण, कालान्तर स्थायी, पदार्थों में आधार-आधेय भाव सम्भवता है, क्षणिक, परमाणु, विशेषों में नहीं॥६५॥

नित्य परिणामी द्रव्य को स्वीकार नहीं करने पर बौद्धों के यहाँ संयोग अथवा विभाग तथा क्रिया-कारक की व्यवस्था और सादृश्य, वैसादृश्य अथवा स्वसंतान पर संतानों की प्रतिष्ठा एवं समुदाय और मरकर जन्म लेना स्वरूप प्रेत्यभाव या साधर्म्य आदि कहाँ बन सकेंगे? अथवा बन्ध, मोक्ष की व्यवस्था कैसे कहाँ होगी? क्योंकि सभी प्रकारों से इष्ट पदार्थों की तुम्हारे यहाँ प्रसिद्धि नहीं हो रही है॥६६-६७॥

क्षणध्वंसिन एव बहिरंतश्च भावाः, क्षणद्वयस्थाष्णुत्वेपि तेषां सर्वदा नाशानुपपत्तेः कौटस्थ्यप्रसंगात् क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधादवस्तुतापत्तेः। इति यो द्रव्यं निराकरोति सर्वथा सोत्रर्जुसूत्राभासो हि मंतव्यः प्रतीत्यतिक्रमात्। प्रत्यभिज्ञानप्रतीतिर्हि बहिरंतश्चैकं द्रव्यं पूर्वोत्तरपरिणामवर्ति साधयंती बाधविधुरा प्रसाधितैव पुरस्तात्। तस्मिन् सति प्रतिक्षणविनाशस्येष्टत्वान्न विनाशानुपपत्तिर्न भावानां कौटस्थ्यापत्तिः यतः सर्वथार्थक्रियाविरोधात् अवस्तुता स्यात्। योपि च मन्यते परमार्थतः कार्यकारणभावस्याभावान्न ग्राह्यग्राहकभावो

बौद्धों का मंतव्य है कि सम्पूर्ण बहिरंग अन्तरंग पदार्थ एक क्षण स्थित रहकर दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाते हैं। यदि पदार्थों को एक क्षण से अधिक दो क्षण भी स्थितिशील मान लिया जायेगा तो सदा उन पदार्थों का नाश होना संभव नहीं होगा (यानी कभी उनका नाश नहीं हो सकेगा)। अर्थात् जो पदार्थ दो क्षण ठहर जायेगा वह तीसरे आदि क्षणों में भी नष्ट नहीं होगा। ऐसी दशा हो जाने से पदार्थों के कूटस्थनित्यत्व का प्रसंग आयेगा। तथा कूटस्थ पक्ष अनुसार क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया होने का विरोध होने से अवस्तुपन का प्रसंग आ जायेगा। सभी सद्भूत पदार्थ एक क्षण तक ही जीवित हैं दूसरे क्षण में उनका समग्रता में नाश हो जाता है। कूटस्थ पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं होने से वस्तुत्व की व्यवस्था नहीं है। अतः पहिले पीछे कुछ भी अन्वय नहीं रखते हुए सभी पदार्थ क्षणिक हैं। इस प्रकार कहने वाला सौत्रान्तिक बौद्ध त्रिकालान्वयी द्रव्य का खण्डन कर रहा है। आचार्य कहते हैं कि उसका वह ज्ञान सभी प्रकारों से ऋजुसूत्र नयाभास मानना चाहिए, क्योंकि बौद्धों के मतानुसार पदार्थों को क्षणिक मानने पर प्रामाणिक प्रतीतियों का अतिक्रमण हो जाता है।

क्योंकि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण स्वरूप प्रतीति ही बाधक प्रमाणों से रहित होती हुई अपने पूर्वोत्तर काल की पर्यायों में स्थित बहिरंग अन्तरंग एक द्रव्य को सिद्ध करने वाले पूर्व के प्रकरणों में हमने सिद्ध कर दी है।

भावार्थ - स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायों में मिट्टी के समान अनेक बहिर्भूत पर्यायों में एक पुद्गल द्रव्यपना व्यवस्थित है, तथा आगे पीछे कालों में होने वाले अनेक ज्ञान सुख इच्छा आदि पर्यायों में एक अन्तरंग आत्मा द्रव्य स्थित है। इस नित्य द्रव्य को जानने वाला बाधारहित प्रत्यभिज्ञान प्रमाण कहा जा चुका है। द्रव्यार्थिकनय अनुसार उस अन्वित नित्य द्रव्य को स्वीकार करने पर पर्यायार्थिक नय से भावों का प्रतिक्षण विनाश होना अभीष्ट हो सकता है। अतः विनाश की असिद्धि नहीं है। विनाश के न मान लेने पर भी पदार्थों के सर्वथा कूटस्थपन का प्रसंग नहीं आता है, जिससे कि कूटस्थ पदार्थ में सभी प्रकारों से अर्थक्रिया हो जाने का विरोध हो जाने से अवस्तुपना आ सकता है (अतः द्रव्य का खण्डन नहीं करता हुआ क्षणिक पर्यायों को विषय करने वाला ऋजुसूत्रनय है, और सर्वथा निरन्वय क्षणिक परिणामों को जानने वाला ऋजुसूत्र नयाभास है)।

जो भी यौगाचार बौद्ध मानते हैं कि परमार्थ से कार्य-कारण भाव का अभाव होने से ग्राह्यग्राहक भाव भी नहीं बनता और न वाच्यवाचक भाव भी माना जा सकता है, जिससे कि बहिरंग अर्थों की सिद्धि हो सके।

वाच्यवाचकभावो वा यैतो बहिरर्थः सिद्ध्येत्। विज्ञानमात्रं तु सर्वमिदं त्रैधातुकमिति, सोपि चर्जुसूत्राभासः स्वपरपक्षसाधनदूषणाभावप्रसंगात्। लोकसंवृत्त्या स्वपक्षस्य साधनात् परपक्षस्य बाधनात् दूषणाददोष इति चेन्न, लोकसंवृत्तिसत्यस्य परमार्थसत्यस्य च प्रमाणतोसिद्धेः तदाश्रयणेनापि बुद्धानामधर्मदेशनादूषणद्वारेण धर्मदेशनानुपपत्तेः। एतेन चित्राद्वैतं, संवेदनाद्वैतं, क्षणिकमित्यपि मननमृजुसूत्राभासतामायातीत्युक्तं वेदितव्यं। किं च, सामानाधिकरण्याभावो द्रव्यस्योभयाधारभूतस्य निह्नवात्। तथा च कुतः शब्दादेर्विशेष्यता क्षणिकत्वकृतकत्वादेः साध्यसाधनधर्मकलापस्य च तद्विशेषणता सिद्ध्येत्? तदसिद्धौ च न साध्यसाधनभावः

यह सम्पूर्ण जगत् तो केवल विज्ञानस्वरूप है। कार्य-कारण भाव या ग्राह्य-ग्राहक भाव अथवा वाच्य-वाचकभाव इन तीनों धातुओं का समुदाय विज्ञानमय है। शुद्ध विज्ञान के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने वाले यौगाचार्य का वह विचार भी ऋजुसूत्र नयाभास है। क्योंकि कार्यकारणभाव आदि को वास्तविक माने बिना स्वपक्ष के साधन और परपक्ष के दूषण देने के अभाव का प्रसंग आता है। अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायक और वाच्य-वाचक मानने पर स्वपक्षसिद्धि और परपक्षदूषण को वचन द्वारा समझा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

कल्पित लोकव्यवहार से स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का बाधन हो जाने से दूषण दे दिया जाता है। अतः कोई दोष नहीं है। विज्ञानाद्वैतवादियों को ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि लौकिक व्यवहार से सत्य और परमार्थ रूप से सत्य पदार्थ की तुम्हारे यहाँ प्रमाणों से सिद्धि नहीं हो सकी है। अतः उस लोक व्यवहार का आश्रय करने से भी बौद्धों का अधर्म उपदेश के दूषण द्वारा धर्म उपदेश देना नहीं बन सकता है। अर्थात् - धर्म का उपदेश तभी सिद्ध हो पाता है,जबकि अधर्म के उपदेश में दूषण उठाये जा सकें। यह सब वाच्य वाचक भाव मानने पर और लोक व्यवहार को सत्य मानने पर सध सकता है, अन्यथा नहीं।

उक्त कथन से बौद्धों का चित्राद्वैत अथवा संवेदनाद्वैत को क्षणिक मानना यह भी ऋजुसूत्राभासपने को प्राप्त हो जाता है, यह कह दिया गया समझ लेना चाहिए। अर्थात् ज्ञान के नीलाकार, पीताकार आदि का पृथक् विवेचन नहीं किया जा सकता है। अतः स्वयं चित्रता को धारने वाला यह चित्राद्वैतज्ञान भी कुनय है। ग्राह्य, ग्राहक और संवित्ति इन तीनों विषयों से रहित शुद्ध सम्वेदन अद्वैत भी ऋजुसूत्राभास है।

किंच - क्षणिकवादी बौद्धों के यहाँ दूसरे ये दोष भी आते हैं कि दो परिणामों के आधारभूत समानद्रव्य का लोप होने से शब्द आदि का विशेष्यपना सिद्ध कैसे हो सकेगा? क्षणिक परमाणुरूप पक्ष में समान अधिकरणपना नहीं बनता है। तथा क्षणिकत्व आदि साध्य और कृतकत्व आदि साधनभूत धर्मों के समुदाय को उन शब्द आदि पक्ष का विशेषणपना सिद्ध नहीं हो सकेगा, और जब विशेष्य - विशेषण भाव सिद्ध नहीं हो सकता तो क्षणिकत्व और कृतकत्व में साध्य, हेतुपना नहीं बन सकेगा। अतः हेतु के धर्म माने गये पक्षवृत्तित्व और सपक्षसत्त्व नहीं सिद्ध हो पाते हैं। अर्थात् - शब्द (पक्ष) क्षणिक है (साध्य) कृतक होने से (हेतु) यहाँ अनुमान प्रयोग में पक्ष विशेष्य होता है। साध्य और हेतु उसमें विशेषण होकर रहते हैं। हेतु में पक्षवृत्तित्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व ये तीन धर्म रहते हैं। तथा पक्ष में रहने की अपेक्षा हेतु और साध्य का सामानाधिकरण्य है। अतः हेतु में ठहरने की अपेक्षा पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व विपक्षव्यावृत्ति इन तीनों धर्मों में समान अधिकरणपना है। कालान्तर स्थायी सामान्य पदार्थ या द्रव्य के मानने पर ही

साधनस्य पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वानुपपत्तेः। कल्पनारोपितस्य साध्यसाधनभावस्येष्टेरदोष इति चेन्न; बहिरर्थत्वकल्पनायाः साध्यसाधनधर्माधारानुपपत्तेः, क्वचिदप्याधाराधेयतायाः संभवाभावात्। किं च, संयोगविभागाभावो द्रव्याभावात् क्रियाविरहश्च ततो न कारकव्यवस्था यतः किंचित्परमार्थतोऽर्थक्रियाकारि वस्तु स्यात्। सदृशेतरपरिणामाभावश्च परिणामिनो द्रव्यस्यापह्नवात्। ततः स्वपरसंतानव्यवस्थितिविरोधः सदृशेतरकार्यकारणानामत्यंतमसंभवात्। समुदायायोगश्च, समुदायिनो द्रव्यस्यानेकस्यासमुदायावस्था-परित्यागपूर्वकसमुदायावस्थामुपाददानस्यापह्नवात्। तत एव न प्रेत्यभावः शुभाशुभानुष्ठानं तत्फलं च पुण्यं पापं बंधो वा व्यवतिष्ठते यतो संसारमोक्षव्यवस्था तत्र स्यात्, सर्वथापीष्टस्याप्रसिद्धेः। संवृत्या हि नेष्टस्य सिद्धिः संवृतेर्मृषात्वात्। नापि परमार्थतः पारमार्थिकैकद्रव्यसिद्धिप्रसंगात् तदभावे तदनुपपत्तेरिति परीक्षितमसकृद्विद्यानंदिमहोदये॥

समानाधिकरणपना बनता है, अन्यथा नहीं। तथा कल्पना से आरोपित साध्यसाधन भाव अभीष्ट है। अतः कोई दोष नहीं है। ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि बहिरंग अर्थपने की कल्पना को साध्यधर्म और साधनधर्म का आधार नहीं माना जा सकता है। तुम्हारे यहाँ कहीं भी वास्तविक रूप से आधार आधेय भाव की सम्भावना नहीं मानी गई है। अर्थात् क्वचित् मुख्य रूप से सिद्ध पदार्थ का अन्यत्र उपचार कर लिया जा सकता है। सर्वथा कल्पित पदार्थ किसी का आधार नहीं हो सकता है। अतः क्षणिक पक्ष में आधार-आधेय भाव नहीं बन सकता है।

किंच बौद्धों के यहाँ द्रव्य का अभाव होने से संयोग और विभाग का अभाव हो जाता है, तथा क्षणिक पक्ष में क्रिया का विरह है, इसलिए क्रिया की अपेक्षा होने वाले कारकों की व्यवस्था नहीं हो पाती है जिससे कि कोई वस्तु वास्तविक रूप से अर्थक्रिया को करने वाली हो सकती है। तथा, बौद्धों के यहाँ परिणामी द्रव्य का अपह्नव करने से सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम का अभाव हो जाता है और ऐसा हो जाने से अपने पूर्व अपर क्षणों के संतान की व्यवस्था का और दूसरों के चित्तों के सन्तान की व्यवस्था कर देने का विरोध आता है। क्योंकि द्रव्य के अभाव में सदृश कार्य कारणों और विसदृश कार्य कारणों का होना क्षणिक सिद्धान्त में अत्यंत असम्भव है, तथा क्षणिक पक्ष में समुदाय नहीं बन सकता है। क्योंकि अनेक में स्थिर और असमुदाय अवस्था के परित्यागपूर्वक समुदाय अवस्था को ग्रहण करने वाले एक समुदायीद्रव्य का अपह्नव किया गया है। अतः एक अन्वेता द्रव्य के नहीं स्वीकार करने से बौद्धों के यहाँ मरकर जन्म लेना या शुभ, अशुभ कर्मों का अनुष्ठान करना अथवा उन शुभाशुभ कर्मों का फल पुण्य, पाप प्राप्त होना, तथैव उन पुण्य, पाप का आत्मा के साथ बन्ध हो जाना आदि की व्यवस्था नहीं हो सकती है जिससे कि उस क्षणिक पक्ष में संसार और मोक्ष की व्यवस्था बन सके अर्थात् मोक्ष और संसार की व्यवस्था भी नहीं हो सकती, सभी प्रकारों से इष्ट पदार्थों की प्रसिद्धि नहीं हो सकती। अतः बौद्धों के विचार कुनय हैं।

व्यावहारिक कल्पना से तो बौद्धों के यहाँ इष्ट पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि संवृति को झूठा माना गया है। और वास्तविक रूप से भी इष्ट तत्त्वों की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि ऐसा मानने पर परमार्थभूत एक अन्वित त्रिकालवर्त्ती द्रव्य की सिद्धि हो जाने का प्रसंग आयेगा। उस परिणामी अन्वेता द्रव्य को नहीं मानने पर वास्तविक इष्ट धर्मोपदेश, साध्यसाधनभाव, प्रेत्यभाव, बन्ध, मोक्ष आदि इष्टपदार्थों की सिद्धि नहीं हो सकेगी की इस सिद्धांत की **'विद्यानन्दमहोदय'** ग्रन्थ में कई बार परीक्षा कर चुके हैं अर्थात् कितनी ही बार इनका कथन कर दिया है।

शब्दनयमुपवर्णयति –

कालादिभेदतोर्थस्य भेदं यः प्रतिपादयेत्। सोत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः ॥६८॥

कालकारकलिंगसंख्यासाधनोपग्रहभेदाद्भिन्नमर्थं शपतीति शब्दो नयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः। यस्तु व्यवहारनयः कालादिभेदेप्यभिन्नमर्थमभिप्रैति तमनूद्य दूषयन्नाह–

विश्वदृश्वास्य जनिता सूनुरित्येकमादृताः। पदार्थं कालभेदेपि व्यवहारानुरोधतः ॥६९॥
करोति क्रियते पुष्यस्तारकऽऽपोऽभ इत्यपि। कारकव्यक्तिसंख्यानां भेदेपि च परे जनाः ॥७०॥

चार अर्थनयों का वणन कर अब शब्दनय का वर्णन करते हैं –

जो नय काल, कारक, लिंग आदि के भेद से अर्थ के भेद को समझा देता है, वह नय यहाँ शब्द की प्रधानता से शब्दनय कह दिया गया है। (अर्थात् - शब्द के वाच्य अर्थपर दृष्टि कराने की अपेक्षा यह नय शब्दनय है। पहिले के चार नयों की दृष्टि शब्द के वाच्य अर्थ का लक्ष्य रखते हुए नहीं है, इसलिए वे अर्थ नय हैं।)॥६८॥

भूत, भविष्यत्, वर्तमान, काल या कर्म, कर्ता, कारण आदि कारक अथवा स्त्री, पुरुष, नपुंसकलिंग, तथा एक वचन, द्विवचन, बहुवचन संख्या और अस्मद्, युष्मद्, अन्य पुरुष के अनुसार उत्तम, मध्यम, प्रथमपुरुष संज्ञाओं का साधन एवं प्र, परा, उप, सम् आदि उपसर्ग इस प्रकार इन काल आदि के भेदों से जो नय भिन्न अर्थ को कहता है; इस प्रकार शब्द नय का निरुक्ति से अर्थ लब्ध हो जाता है। शब्द की प्रधानता से शब्दनय कहा गया है। और इसके पूर्व में जो व्यवहार नय कहा गया है, वह तो काल आदि के भेद होने पर भी अभिन्न अर्थ को समझाये रखता है। उस व्यवहार नय का अनुवाद कर **श्री विद्यानन्द स्वामी** उसको दूषित कराते हुए कथन करते हैं -

जो सम्पूर्ण जगत् को पहिले देख चुका है, वह विश्वदृश्वा कहा जाता है। जनिता यह 'जनी प्रादुर्भावे' धातु के लुट् लकार का भविष्यकाल का व्यंजक रूप है। भूतकाल सम्बन्धी विश्वदृश्वा और भविष्यत्काल सम्बन्धी जनिता का समानाधिकरण होकर अन्वय हो जाना विरुद्ध है। किन्तु व्यवहार के अनुसार कालभेद होने पर भी इस राजा के "विश्व को देख चुका पुत्र होगा" इस प्रकार एक ही पदार्थ का ग्रहण किया जाता है।

भावार्थ - व्यवहारनय विश्वदृश्वा और जनिता पदों का सामानाधिकरण्य कर एक अर्थ जोड़ देता है। इसमें विशिष्ट चमत्कार के अर्थ को निकालना व्यवहार नय को अभिप्रेत नहीं है, जो ही विश्वं दृक्ष्यति का अर्थ है, वही विश्वदृश्वा का अर्थ घटित हो जाता है।

पृथक् - पृथक् कालों का विशेषण लग जाने से अर्थ में भेद नहीं हो जाता है तथा 'देवदत्तः कटं करोति' देवदत्त चटाई को बुनता है और 'देवदत्तेन कटः क्रियते' देवदत्त करके चटाई बुनी जा रही है, यहाँ स्वतंत्रता और पराधीनता का भेद होते हुए भी व्यवहारनय उक्त दोनों वाक्यों का एक ही अर्थ मानता है। कर्त्ता कारक और कर्मकारक के भेद से अर्थ का भेद नहीं होता है। तथा एक व्यक्ति पुष्यनक्षत्र और तारका अनेक व्यक्ति, इस प्रकार एक अनेक या पुल्लिंग, स्त्रीलिंग का भेद होने पर भी दूसरे मनुष्य यहाँ अर्थभेद नहीं

एहि मन्ये रथेनेत्यादिकसाधनभिद्यपि। संतिष्ठेतावतिष्ठेतेत्याद्युपग्रहभेदने ॥७१॥
तत्र श्रेयः परीक्षायामिति शब्दः प्रकाशयेत्। कालादिभेदनेप्यर्थाभेदनेतिप्रसंगतः ॥७२॥

ये हि वैयाकरणव्यवहारनयानुरोधेन 'धातुसंबंधे प्रत्यया' इति सूत्रमारभ्य विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता भावि कृत्यमासीदित्यत्र कालभेदेप्येकपदार्थमादृता यो विश्वं दृक्ष्यति सोस्य पुत्रो जनितेति भविष्यत्कालेनातीत-कालस्याभेदोभिमतः तथा व्यवहारदर्शनादिति। तत्र श्रेयः परीक्षायां मूलक्षतेः कालभेदेप्यर्थस्याभेदेऽतिप्रसंगात् रावणशंखचक्रवर्तिनोरप्यतीतानागतकालयोरेकत्वापत्तेः। आसीद्रावणो राजा शंखचक्रवर्ती भविष्यतीति शब्दयोर्भिन्नविषयत्वान्नैकार्थतेति चेत्, विश्वदृश्वा जनितेत्यनयोरपि मा भूत् तत एव। न हि विश्वं दृष्टवानिति विश्वदृशि त्वेतिशब्दस्य योर्थोतीतकालस्य जनितेति शब्दस्यानागतकालः। पुत्रस्य भाविनोतीतत्वविरोधात्।

मानते हैं। ऐसे ही 'आप' यह शब्द बहुवचन है, स्त्रीलिंग है और 'अम्भः' शब्द एक वचन है, नपुंसकलिंग है। ये दोनों शब्द पानी को कहते हैं। यहाँ भी लिंग और संख्या के भेद होने पर भी अनेक मनुष्य व्यवहार नय के अनुसार अर्थभेद को नहीं मानते हैं। तथा "ए बालक! इधर आओ" "तुम यह समझते होंगे कि मैं रथ पर चढ़ कर जाऊँगा, किन्तु अब तुम समझो कि मैं नहीं जा सकूंगा, तुम्हारा पिता चला गया (तेरा बाप भी कभी गया था)।" ऐसे उपहास के प्रकरण पर मध्यम पुरुष के स्थान पर उत्तमपुरुष और उत्तम पुरुष के स्थान पर मध्यम पुरुष हो जाता है। मध्यम पुरुष 'मन्यसे' के स्थान पर उत्तम पुरुष 'मन्ये' हो गया है और यास्यामि के स्थान पर यास्यसि हो गया है। यहाँ साधन का भेद होने पर भी व्यवहार नय की अपेक्षा कोई अर्थभेद नहीं माना गया है। व्याकरण में युष्मत्, अस्मत् का ही बदलना कहा है, प्रथम पुरुष की भी सम्भवता है। तथा 'समवप्रविभ्यःस्थः' इस सूत्र से आत्मनेपद करने पर संतिष्ठेत, अवतिष्ठेत, प्रतिष्ठेत या संहरति, विहरति, परिहरति, आहरति यहाँ 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते' इस नियम को मानने के लिए व्यवहार नय बाध्य नहीं होना चाहता है। किन्तु ये उक्त प्रकार उनके मन्तव्य परीक्षा करने पर श्रेष्ठ नहीं ठहर सकेंगे। इस प्रकार शब्दनय प्रकाशित करता है। क्योंकि काल, कारक आदि के भेद होने पर भी यदि अर्थ का भेद नहीं माना जायेगा तो अतिप्रसंग दोष आयेगा ॥६९-७२॥

जो कोई भी पण्डित व्याकरण शास्त्र जानने वालों के व्यवहार की नीति के अनुरोध से यह अर्थ मान बैठे हैं कि लकारार्थ प्रक्रिया के 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' धातु के अर्थों के सम्बन्ध में जिस काल में जो प्रत्यय पूर्व सूत्रों में कहे गये हैं, वे प्रत्यय उन कालों से अन्य कालों में भी हो जाते हैं, इस सूत्र का आरम्भ कर विश्व को देख चुकने वाला पुत्र इसके होगा या होनहार जो कर्त्तव्य होने वाला था वह हो गया, इन प्रयोगों में काल भेद होने पर भी अर्थ का भेद नहीं माना जायेगा तो अतिप्रसंग दोष आयेगा। क्योंकि ऐसा मानने पर अतीतकाल सम्बन्धी रावण और भविष्यकाल में होने वाले शंख नामक चक्रवर्ती के एकपना सिद्ध हो जावेगा। अर्थात् रावण और चक्रवर्ती दोनों एक व्यक्ति हो जायेंगे। कोई इस प्रसंग का इस प्रकार निवारण करना चाहता है कि रावण राजा पूर्व काल में हुआ था और शंख नामक चक्रवर्ती भविष्यकाल में होगा। इस प्रकार दो शब्दों की भिन्न-भिन्न अर्थों में विषयता है, इस कारण दोनों राजा एक व्यक्ति रूप अर्थ नहीं बन पाते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानोगे तो प्रकरण में विश्वदृश्वा और जनिता इन दो शब्दों के भी

अतीतकालस्याप्यनागतत्वाध्यारोपादेकार्थताभिप्रेतेति चेत्, तर्हि न परमार्थतः कालभेदेप्यभिन्नार्थव्यवस्था। तथा करोति क्रियते इति कारकयोः कर्तृकर्मणोर्भेदेप्यभिन्नमर्थत एवाद्रियंते स एव करोति किंचित् स एव क्रियते केनचिदिति प्रतीतेरिति। तदपि न श्रेयः परीक्षायां। देवदत्तः कटं करोतीत्यत्रापि कर्तृकर्मणोर्देवदत्तकटयोरभेद-प्रसंगात्। तथा पुष्यस्तारकेत्यत्र व्यक्तिभेदेपि तत्कृतार्थमेकमाद्रियंते, लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति। तदपि न श्रेयः, पटकुटीत्यत्रापि पटकुट्योरेकत्वप्रसंगात् तल्लिंगभेदाविशेषात्। तथापोंभ इत्यत्र संख्याभेदेप्येकमर्थं

भिन्न-भिन्न अर्थ को विषय कर देने से ही क्या एक अर्थपना नहीं होगा। क्योंकि जो सबको देख चुका है ऐसे इस विश्वदृश्वा शब्द का जो अर्थ भूतकाल सम्बन्धी पुरुष होता है, वह भविष्यकाल सम्बन्धी उत्पन्न होगा-इस जनिता शब्द का अर्थ नहीं है। भविष्य काल में होने वाले पुत्र को अतीत काल सम्बन्धीपन का विरोध है। यदि भूतकाल में भविष्यकाल रूप का अध्यारोप करने से दोनों शब्दों का एक अर्थ अभीष्ट कर लिया जाता है, तब तो काल-भेद होने पर भी वास्तविक रूप से अर्थों के अभेद की व्यवस्था नहीं हो सकती। अर्थात् शब्दनय द्वारा हमें यह समझाना है कि 'विश्वं दृक्ष्यति सोऽस्य पुत्रो जनिता' इसके सरल अर्थ से 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता' इसका अर्थ भिन्न है, 'तुम पढ़ोगे और मैं तुमको देख लूंगा' इसकी अपेक्षा 'पढ़ चुके हुए तुमको मैं देखूंगा' - इसका अर्थ विलक्षण प्रतीत हो रहा है।

इसी प्रकार वे वैयाकरण जन 'करोति' - इस दशगणी के प्रयोग की संगति को करने वाले कर्त्ताकारक और 'किया जाय' जो इस प्रकार कर्म प्रक्रिया के पद की संगति रखने वाले कर्मकारक इन दो कारकों का भेद होने पर भी अभिन्न अर्थ का आदरपूर्वक ग्रहण कर रहे हैं, अर्थात् देवदत्त किसी अर्थ को कर रहा है इसका जो अर्थ है और देवदत्त के द्वारा कुछ किया जाता है, इसका भी वही अर्थ है ऐसी प्रतीति हो रही है। इस प्रकार वैयाकरणों के कहने पर आचार्य कहते हैं कि परीक्षा करने पर वह भी श्रेष्ठ नहीं ठहरता है। क्योंकि कर्त्ता और कर्म के अभेद मानने पर तो देवदत्त चटाई को रचता है। इस स्थल में भी कर्त्ता देवदत्त और कर्म बन रहे चटाई के अभेद हो जाने का प्रसंग आ जायेगा। अतः स्वातंत्र्य या परतंत्रता को पुष्ट करते हुए यहाँ भिन्न-भिन्न अर्थ का मानना आवश्यक है।

उसी प्रकार वे वैयाकरण पुष्यनक्षत्र तारा है, यहाँ व्यक्तियाँ या लिंग के भेद होने पर भी उनके द्वारा किये गये एक ही अर्थ का आदर कर रहे हैं। पुष्य शब्द पुलिंग है, और तारका शब्द स्त्रीलिंग है। फिर भी दोनों का अर्थ एक है। उन व्याकरणवेत्ताओं का अनुभव है कि लिंग का विवेचन कराना शिक्षा देने योग्य नहीं है। किसी शब्द के लिंग को नियत करना लोक के आश्रय है। लोक में अग्नि शब्द स्त्रीलिंग कहा जाता है। किन्तु शास्त्र में पुलिंग है। एक ही स्त्री को कहने वाला दारा, स्त्री, कलत्र शब्द भिन्न-भिन्न लिंग के धारक हैं। आयुध विशेष को कहने वाला शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है। अस्त्र शब्द नपुंसकलिंग है। अब आचार्य कहते हैं कि वह वैयाकरण का कथन भी श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि व्यक्ति या लिंग का भेद होने पर भी यदि अर्थ में भेद नहीं माना जायेगा तो पुल्लिंग पट और स्त्रीलिंग झोंपड़ी यहाँ भी पट और कुटी के एक हो जाने का प्रसंग आयेगा। क्योंकि उन शब्दों के लिंग का भेद तो अन्तररहित है, यानी जैसा पुष्य और तारका में लिंग का भेद है, वैसा ही पट और कुटी में लिंग का भेद है। फिर इनका एक अर्थ क्यों नहीं मान लिया जावे।

जलाख्यमादृताः संख्याभेदस्योद्भेदकत्वात् गुर्वादिवदिति। तदपि न श्रेयः परीक्षायां। घटस्तंतव इत्यत्रापि तथाभावानुषंगात् संख्याभेदाविशेषात्। एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि स यातस्ते पिता इति साधनभेदेपि पदार्थमभिन्नमादृताः "प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च" इति वचनात्। तदपि न श्रेयः परीक्षायां, अहं पचामि त्वं पचसीत्यत्रापि अस्मद्युष्मत्साधनाभेदेप्येकार्थत्वप्रसंगात्। तथा "संतिष्ठते अवतिष्ठत" इत्यत्रोपसर्गभेदेप्यभिन्नमर्थमादृता उपसर्गस्य धात्वर्थमात्रद्योतकत्वादिति। तदपि न श्रेयः। तिष्ठति प्रतिष्ठत

उसी प्रकार वे वैयाकरण 'आपः' इस स्त्रीलिंग बहुवचन शब्द और 'अम्भः' इस नपुंसकलिंग एक वचन शब्द यहाँ संख्या भेद होने पर एक 'जल' नामक अर्थ को स्वीकार कर लेते हैं। उनके यहाँ संख्या का भेद अर्थ का भेदक नहीं माना गया है, जैसे कि गुरु, साधन आदि में संख्या का भेद होने पर अर्थभेद नहीं है। अर्थात् - 'लोष्ठेष्टिका पाषाणः गुरुः' 'मृतिकादण्डकुलालाः घट साधनं' 'अन्नप्राणाः' 'गुरवः सन्ति' यहाँ संख्याभेद होने पर भी अर्थभेद नहीं है। एक गुरु व्यक्ति को या राजा को बहुवचन से कहा जाता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि उन वैयाकरणों का कथन भी परीक्षा की कसौटी पर श्रेष्ठ नहीं उतरता है। क्योंकि एक घट और अनेक तन्तुयें यहाँ भी संख्या के भेद से एकपन हो जाने का प्रसंग होगा, क्योंकि संख्या भेद 'आपः' और 'जल' के समान घट और तन्तुओं में एकसा है। यहाँ वहाँ कोई विशेषता नहीं है। किन्तु एक घट और अनेक तन्तुओं का एक अर्थ किसी ने भी नहीं स्वीकार किया है। अतः शब्दनय संख्या का भेद होने पर अर्थभेद को व्यक्तरूप से बता रहा है।

हे! इधर आओ, तुम मन में मान रहे होंगे कि मैं उत्तम रथ द्वारा विदेश जाऊँगा किन्तु तुम नहीं जाओगे, तुम्हारा पिता भी गया था?

इस प्रकार यहाँ साधन का भेद होने पर भी वे व्यवहारी जन एक ही पदार्थ को अभिन्न स्वीकार करते हैं। ऐसा व्याकरण में सूत्र कहा है कि जहाँ हँसी करना समझाजाए वहाँ 'मन्य' धातु के प्रकृतिभूत होने पर दूसरी धातुओं के उत्तम पुरुष के बदले मध्यम पुरुष हो जाता है। और मन्यति धातु को उत्तम पुरुष होजाता है, जो कि एक अर्थ का वाचक है। किन्तु वह भी उनका कथन परीक्षा करने पर अत्युत्तम नहीं घटित होता है। क्योंकि, इस प्रकार मैं पका रहा हूँ, तू पचाता है इत्यादि स्थलों में भी अस्मद् और युष्मत् साधन के अभेद होने पर भी एक अर्थपने का प्रसंग आयेगा।

उसी प्रकार संस्थान करता है, अवस्थान करता है इत्यादि प्रयोगों में उपसर्ग के भेद होने पर भी अभिन्न अर्थ को मानते हैं। वैयाकरणों की मनीषा है कि धातु के केवल अर्थ का ही द्योतन करने वाले उपसर्ग होते हैं। क्रिया अर्थ की वाचक धातुएँ हैं, उसी अर्थ का उपसर्ग द्योतन कर देते हैं। उपसर्ग किसी नवीन अर्थ के वाचक नहीं हैं।

इस प्रकार उनका कहना भी प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि इस प्रकार मानने पर ठहरता है, प्रस्थान करता है, इन प्रयोगों में भी स्थितिक्रिया और गमनक्रिया के अभेद हो जाने का प्रसंग आयेगा। अतः यह सिद्धांत करना चाहिए कि काल, कारक, संख्या आदि के भेद हो जाने से शब्दों का अर्थ भिन्न ही हो जाता

इत्यत्रापि स्थितिगतिक्रिययोरभेदप्रसंगात्। ततः कालादिभेदाद्भिन्न एवार्थोऽन्यथातिप्रसंगादिति शब्दनयः प्रकाशयति तद्भेदेप्यर्थाभेदे दूषणांतरं च दर्शयति–

तथा कालादिनानात्वकल्पनं निःप्रयोजनम्। सिद्धं कालादिनैकेन कार्यस्येष्टस्य तत्त्वतः ।७३।

कालादिभेदादर्थस्य भेदोस्त्विति हि तत्परिकल्पनं प्रयोजनवन्नान्यथा स च नास्तीति निःप्रयोजनमेव तत्। किं च–

कालाद्यन्यतमस्यैव कल्पनं तैर्विधीयतां। येषां कालादिभेदेपि पदार्थैकत्वनिश्चयः ।।७४।।

है। अन्यथा यानी ऐसा नहीं मानकर दूसरे प्रकार से मानोगे तो अतिप्रसंग दोष आयेगा। अर्थात् - पण्डितंमन्य, पण्डितमन्य या देवानांप्रिय, देवप्रिय, आदि में भी भेद नहीं हो सकेगा। किन्तु ऐसे स्थलों पर भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। इस बात को शब्दनय प्रकाशित कर देता है, यह समझना चाहिए।

उस शब्द के भेद होने पर भी यदि अर्थ का भेद नहीं माना जायेगा तो अन्य भी अनेक दूषण आते हैं। इस रहस्य को **श्री विद्यानन्द आचार्य** दिखलाते हैं।

यदि शब्द नय की अपेक्षा से लिंग आदि से भेद नहीं मानोगे तो लकारों में या कृदन्त में अथवा लौकिक वाक्य प्रयोगों में काल, संख्या आदि के नानापन की कल्पना करना निःप्रयोजन सिद्ध होगा। एक ही काल या एक ही उपसर्ग आदि के द्वारा वास्तविक रूप से अभीष्ट कार्य की सिद्धि हो जायेगी ।।७३।।

क्योंकि काल, कारक, लिंग आदि के भेद से यदि अर्थ का भेद है, तब तो उन काल आदि की कल्पना करना प्रयोजन सहित हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

किन्तु व्यवहार नय का अवलम्बन करने वाले के यहाँ वह अर्थभेद तो नहीं माना गया है। अतः वह काल आदि के नानापन की कल्पना करना प्रयोजन रहित ही है, दूसरी बात एक यह भी है -

जिन वैयाकरणों के यहाँ काल, कारक आदि के भेद होने पर भी पदार्थ के एकपने का निर्णय होता है, 'पर्वते वसति', 'पर्वतमधिवसति' - इन दोनों का अर्थ एक ही है। दार और अबला का एक ही अर्थ है; उन व्यवहारियों के अनेक काल, कारक, लिंग आदि में से किसी एक ही काल की या कारक आदि की कल्पना कर लेनी चाहिए।

भावार्थ - तीन काल, छह कारक, तीन लिंग, प्र परा, आदि अनेक उपसर्ग क्यों माने जा रहे हैं? शब्दकृत और अर्थकृत गौरव क्यों लादा जा रहा है? अतः शब्दशक्ति के अनुसार परिशेष में उनको अर्थभेद मानना आवश्यक होगा। पर्वत के ऊपर सामान्य पथिक के समान निवास करने पर पर्वत में निवास कहा जाता है और पर्वत के ऊपर अधिकार कर पर्वत का आक्रमण करते हुए वीरतापूर्वक जो पर्वत के ऊपर निवास किया जाता है, वहाँ 'उपान्वध्याङ् वसः' इस सूत्र से आधार की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाती है। विनीत, निर्बल, सुकुमार स्त्री के लिए अबला शब्द आता है।

तथा पुरुषार्थ रखने वाली और अवसर पर दुष्टों को हथखंडे लगाने वाली स्त्री के लिए दार शब्द प्रयुक्त किया जाता है। अतः लिंग भेद, कारक भेद, उपसर्ग आदि का भेद व्यर्थ नहीं है।।७४।।

कालभेदेप्यभिन्नार्थः। कालकारकलिंगसंख्यासाधनभेदेभ्यो भिन्नोऽर्थो न भवतीति स्वरुचिप्रकाशनमात्रं। कालादिभेदाद्भिन्नोर्थः इत्यत्रोपपत्तिमावेदयति–

शब्दः कालादिभिर्भिन्नाभिन्नार्थप्रतिपादकः। कालादिभिन्नशब्दत्वात्तादृक्सिद्धान्यशब्दवत्॥७५

सर्वस्य कालादिभिन्नशब्दस्याभिन्नार्थप्रतिपादकत्वेनाभिमतस्य विवादाध्यासितत्वेन पक्षीकरणात्र केनचिद्धे-तोर्व्यभिचारः। प्रमाणबाधितः पक्षः इति चेन्न, कालादिभिन्नशब्दस्याभिन्नार्थत्वग्राहिणः प्रमाणस्य भिन्नार्थग्राहिणा प्रमाणेन बाधितत्वात्॥

समभिरूढमिदानीं व्याचष्टे–

पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात्। नयः समभिरूढः स्यात् पूर्ववच्चास्य निश्चयः॥७६॥

विश्वदृश्वा सर्वदृश्वेति पर्यायभेदेपि शब्दोऽभिन्नार्थमभिप्रैति भविता भविष्यतीति च कालभेदाभिमननात्। क्रियते विधीयते करोति विदधाति पुष्यस्तिष्यः तारकोडुः आपो वाः अंभः सलिलमित्यादिपर्यायभेदेपि

काल के भेद होने पर भी अर्थ अभिन्न ही है, काल, कारक, लिंग, संख्या साधन के भेद हो जाने से अर्थ भिन्न नहीं हो पाता है। इस प्रकार वैयाकरणों का कथन अपनी मनमानी रुचि का प्रकाशन करना है। वस्तुतः विचारा जाए तो काल आदि के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। इस विषय में ग्रन्थकार युक्ति का स्वयं निवेदन करते हैं।

शब्द (पक्ष) काल, कारक आदि को करके भिन्न-भिन्न अर्थ का प्रतिपादन कर रहा है। क्योंकि, वे काल, उपसर्ग आदि के सम्बन्ध से रचित भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्द हैं, जैसे उस प्रकार के सिद्ध अन्य घट, पट, इन्द्र, पुस्तक आदि शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों के प्रतिपादक हैं॥७५॥

वैयाकरणों ने काल, कारक, आदि से भिन्न जिन शब्दों को अभिन्न अर्थ का प्रतिपादक अभीष्ट कर रखा है, उस विवाद में प्राप्त हो रहे सभी शब्दों को यहाँ अनुमान प्रयोग में पक्ष कोटि में कर लिया गया है। अतः किसी भी शब्द में हमारे हेतु का व्यभिचार दोष नहीं हो पाता है। सच्चा प्रतिज्ञारूपी पक्ष तो प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणों से बाधित है। क्योंकि काल आदि के योग से भिन्न शब्द के अभिन्न अर्थपने को ग्रहण करने वाले प्रमाण (ज्ञान) को उनके भिन्न-भिन्न अर्थको ग्रहण करने वाले प्रमाण करके बाधा प्राप्त हो जाती है।

शब्द नय का विस्तार के साथ वर्णन कर **श्री विद्यानन्द स्वामी** अब क्रमप्राप्त **समभिरूढ़ नय** का व्याख्यान करते हैं - पर्यायवाची शब्दों के भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ का अधिरोह हो जाने से यह नय समभिरूढ़ हो जाता है। पूर्व के समान इसका निश्चय कर लेना चाहिए।

अर्थात् व्यवहार नय की अपेक्षा शब्द नय द्वारा गृहीत अर्थ में जैसे भिन्न अर्थपना सिद्ध किया गया है, उसी प्रकार शब्द नय से समभिरूढ़ नय के भिन्न होने का विचार कर लेना चाहिए॥७६॥

विश्व को देख चुका, सबको देख चुका आदि पर्यायवाची शब्दों के भेद होने पर भी शब्द नय इनके अर्थ को अभिन्न मान रहा है। भविता (लुट्) और भविष्यति (लृट्) इस प्रकार पर्यायभेद होने पर भी काल

चाभिन्नमर्थं शब्दो मन्यते कारकादिभेदादेवार्थभेदाभिमननात्। समभिरूढः पुनः पर्यायभेदेपि भिन्नार्थानभिप्रैति॥ कथं?

इन्द्रः पुरन्दरः शक्र इत्याद्या भिन्नगोचराः। शब्दा विभिन्नशब्दत्वाद्वाजिवारणशब्दवत्॥७७॥

ननु चात्र भिन्नार्थत्वे साध्ये विभिन्नशब्दत्वहेतोरन्यथानुपपत्तिरसिद्धेति न मंतव्यं, साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तेरत्र भावात्। भिन्नार्थत्वं हि व्यापकं वाजिवारणशब्दयोर्विभिन्नयोरस्ति गोशब्दे वाभिन्नेपि तदस्ति

का भेद नहीं होने से शब्दनय दोनों का एक ही अर्थ मानता है। तथा किया जाता है, विधान किया जाता है इन दोनों का अर्थ एक है, शब्दनय की अपेक्षा तो करता है, और विधान करता है दोनों का अर्थ एक ही है। पुल्लिंग पुष्य और तिष्य का एक ही पुष्य नक्षत्र अर्थ है। स्त्रीलिंग तारका और उडु का सामान्य नक्षत्र अर्थ अभिन्न है। स्त्रीलिंग अप् और वार शब्द का एक ही जल अर्थ है। नपुंसकलिंग अम्भस् और सलिल शब्दों का वही पानी एक अर्थ है। - इत्यादि पर्यायों के भेद होने पर भी शब्दनय तो अभिन्न अर्थों को मान रहा है क्योंकि शब्द नय कारक आदि के भेद होने पर ही अर्थभेद को स्वीकार करता है, परन्तु यह समभिरूढ़ नय पर्यायवाची शब्दों का भेद होने पर भी भिन्न-भिन्न अर्थों को चाहता है। अर्थात् विश्वदृश्वा का अर्थ पृथक् है और सर्वदृश्वा का अर्थ पृथक् है; सर्व कहने से कुछ भी शेष नहीं रहता है। तथा करोति और विदधाति का अर्थ अलग है। असाधारण कार्य को करने में 'विदधाति' आता है और साधारण कार्य के करने में करोति। अम्भस् और सलिल का अर्थ भी भिन्न-भिन्न जल है। ये सब कैसे भिन्न हैं? इस बात को स्वयं ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा प्रतिपादन करते हैं।

सौधर्म इन्द्र के वाचक इन्द्र, पुरन्दर, शक्र, शचीपति, सहस्राक्ष इत्यादि शब्द (पक्ष) भिन्न-भिन्न अर्थ को विषय करते हैं। (साध्य) विविध प्रकार के भिन्न शब्द होने से (हेतु) जैसे कि पक्षी या घोड़े को कहने वाला 'वाजि' शब्द और हाथी को कहने वाला न्यारा 'वारण' शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों को कह रहा है (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात् - शब्दभेद है, तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिए। पर्यायवाची शब्द पृथक्-पृथक् अर्थों में आरूढ़ हैं; अनेक प्रकार की ऋद्धि, सम्पत्ति, विभूति, देवांगनायें आदि का उत्कट ऐश्वर्य होने से यह सौधर्म नाम का जीव इन्द्र कहलाता है। तथा पौराणिक मत अनुसार किसी नगरी का विदारण करने से वही जीव पुरन्दर कहा जाता है। तथा जम्बूद्वीप को उलटने की शक्ति धारण करने से वही जीव 'शक्र' कहा जाता है और इन्द्राणी का स्वामी होने से शचीपति कहा गया है॥७७॥

शंका - इस अनुमान प्रयोग में भिन्न-भिन्न अर्थपने को साध्य करने पर विभिन्न शब्दपन हेतु की अपने साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति असिद्ध है यानी साध्य के नहीं रहने पर हेतु के नहीं रहने रूप व्याप्ति नहीं है।

समाधान - आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं मानना चाहिए। क्योंकि साध्य की निवृत्ति होने पर साधन की निवृत्ति हो जाने का यहाँ सद्भाव है। विशेष-स्वरूप से भिन्न वाजि (घोड़ा) और वारण (हाथी) शब्दों में व्यापक भिन्न-भिन्न अर्थपना साध्य है।

विभिन्नशब्दत्वं तद्व्याप्यं साधनं विभिन्नार्थ एव साध्येस्ति नोभिन्नार्थत्वे, ततोन्यथानुपपत्तिरस्त्येव हेतोः॥

संप्रत्येवंभूतं नयं व्याचष्टे–

तत्क्रियापरिणामोर्थस्तथैवेति विनिश्चयात्। एवंभूतेन नीयेत क्रियांतरपराङ्मुखः॥७८॥

समभिरूढो हि शकनक्रियायां सत्यामसत्यां च देवराजार्थस्य शक्रव्यपदेशमभिप्रैति, पशोर्गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्तथारूढेः सद्भावात्। एवंभूतस्तु शकनक्रियापरिणतमेवार्थं तत्क्रियाकाले शक्रमभिप्रैति नान्यदा॥ कुत इत्याह–

अथवा सदृश स्वरूप करके भिन्न हो रहे ग्यारह गो शब्दों में भी वह वाणी आदि भिन्न अर्थपना साध्य विद्यमान है। अतः वह साध्य का व्याप्य विभिन्न शब्दपना हेतु विभिन्न अर्थ रूप साध्य के होने पर ही ठहर सकता है। अभिन्न अर्थपना होने पर नहीं ठहर सकता है। उस हेतु की अन्यथानुपपत्ति है ही, समीचीन व्याप्ति को रखने वाला हेतु अवश्य साध्य को साध देता है।

भावार्थ - नाना अर्थों का उल्लंघन कर एक अर्थ की अभिमुखता से रूढ़ि कराने वाला होने के कारण भी यह नय समभिरूढ़ कहा जाता है। गौ यह शब्द वचन, दिशा, जल, पशु, भूमि, रोम, वज्र, आकाश, बाण, किरण, दृष्टि-इन ग्यारह अर्थों में रहता है। जितने शब्द होते हैं, उतने अर्थ होते हैं। इसी प्रकार दूसरा उपनियम यों भी है कि जितने अर्थ होते हैं, उतने शब्द भी होते हैं। ग्यारह अर्थों को कहने वाले गो शब्द भी ग्यारह हैं। गकारके उत्तरवर्ती ओकार इस प्रकार समान वर्णों की अनुपूर्वी होने के कारण एक के सदृश शब्दों को व्यवहार में एक कह दिया गया है। अतः अनेक गो शब्दों-द्वारा ही अनेक वाणी आदि अर्थों की ज्ञप्ति होती है। इस नय का अर्थ की ओर लक्ष्य जाने पर अपने - अपने स्वरूपों में सम्पूर्ण पदार्थों का आरूढ़ रहना भी समभिरूढ़ नय द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है।

अब, **श्री विद्यानन्द आचार्य** सातवें एवंभूत नय का व्याख्यान करते हैं। एवंभूत नय के द्वारा उसी क्रिया रूप परिणाम के धारक अर्थ का उसी प्रकार विशेष रूप से निश्चय कर लिया जाता है। अतः यह नय अन्य क्रियाओं में परिणत उस अर्थ को जानने के लिए अभिमुख नहीं होता है। अर्थात् जिस समय जो कार्य कर रहा है, उसी समय वह उस कार्य का कर्त्ता कहा जाता है। जिस धातु से जो शब्द बना है, उस धातु के अर्थ अनुसार क्रियारूप परिणमते क्षण में ही वह शब्द कहा जा सकता है। एवंभूत नय अन्य क्रियारूप परिणमित अर्थ से पराङ्मुख रहता है॥७८॥

समभिरूढ़नय तो जम्बूद्वीप के परिवर्तन की सामर्थ्य धारणरूप क्रिया के होने पर अथवा नहीं होने पर देवों के राजा इन्द्र रूप अर्थ का शक्र इस शब्द करके व्यवहार करने का अभिप्राय रखता है। जैसे कि गाय रूप पशु की गमन क्रिया के होने पर अथव गमन क्रिया के नहीं होने पर बैठी अवस्था में भी गौ का व्यवहार हो जाता है, क्योंक उस प्रकार रूढि का सद्भाव है अर्थात् दूसरे ईशान, सनत्कुमार आदि इन्द्र या अहमिन्द्र भी जम्बूद्वीप के पलटने की शक्ति रखते हैं, फिर भी शक्र शब्द सौधर्म इन्द्र में रूढ़ है। इस निरुक्ति से गौः शब्द भी बैठी हुई, चलती हुई, सोती हुई आदि सभी अवस्थाओं के धारक बैल में रूढ़ है। गोवलीवर्द

यो यं क्रियार्थमाचष्टे नासावन्यत्क्रियं ध्वनिः।

पठतीत्यादिशब्दानां पाठाद्यर्थत्वसंजनात् ॥७९॥

न हि कश्चिदक्रिया शब्दोस्यास्ति गौरश्व इति जातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात् आशुगाम्यश्व इति, शुक्लो नील इति गुणशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव। शुचिभवनाच्छुक्लः नीलानान्नील इति देवदत्त इति यदृच्छाभिः शब्दाभिमताः अपि क्रियाशब्दा एव देव एव देयादिति देवदत्तः यज्ञदत्त इति। संयोगिद्रव्यशब्दाः समवायिद्रव्यशब्दाभिमताः क्रियाशब्दा एव। दंडोस्यास्तीति दंडी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यादि पंचतयी तु शब्दानां प्रवृत्तिः व्यवहारमात्रान्न निश्चयादित्ययं मन्यते॥

न्याय से स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग तीनों जाति के गौ पकड़े जाते हैं। किन्तु एवंभूत नय तो उस प्रकार की सामर्थ्य रखने की क्रिया करने रूप परिणति को प्राप्त अर्थ को ही उस क्रिया के अवसर में 'शक्र' कहने का अभिप्राय रखता है।

पूजा करते समय, अभिषेक करते समय आदि अन्य कालों में 'शक्र' इस नामकथन का अभिप्राय नहीं रखता है। किस कारण से यह व्यवस्था है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं - जो वाचक शब्द क्रिया के जिस अर्थ को व्यक्त कर रहा है, वह शब्द अन्य क्रिया के अर्थ को नहीं कह सकता। अन्यथा पढ़ रहा है, खा रहा है इत्यादि शब्दों को पढ़ना, पचाना आदि अर्थ के वाचकपन का प्रसंग आयेगा। अर्थात् - जो छात्र पढ़ रहा है, वह उसी समय पढ़ाने वाला अध्यापक नहीं है। धान्य पक रहा है, अग्नि या आतप पका रहा है। वाच्य क्रिया में परिणत अर्थ एवंभूत नय द्वारा कहा जाता है॥७९॥

जगत् में ऐसा कोई भी शब्द नहीं है जो कि क्रिया का वाचक नहीं हो। गो, अश्व आदि शब्द जाति को कहने वाले स्वीकार कर लिये गये हैं। वे भी क्रियाशब्द ही हैं। (क्रियारूप अर्थों को ही कह रहे हैं।) शीघ्र गमन करने वाला अश्व कहा जाता है 'अश भोजने' धातु से अश्व शब्द बनाने पर खाने वाला कहा जाता है। गमन करने वाला पदार्थ गौ कहा जाता है। जो शुक्ल, नील, रस आदि शब्द गुणवाचक स्वीकार किये गये हैं वे भी क्रियाशब्द ही हैं। 'शुचि होना यानी पवित्र हो जाना क्रिया से शुक्ल है।' नील रंगने रूप क्रिया से नील है।

रसा जाय यानी चखना रूप क्रिया से रस माना गया है। इसी प्रकार यदृच्छा शब्दों के द्वारा स्वीकार किये गये देवदत्त, यज्ञदत्त इत्यादि शब्द भी क्रियाशब्द ही हैं। लौकिक जन की इच्छा के अनुसार बालक, पशु आदि के जो मनचाहे नाम रख लिये जाते हैं, वे देवदत्त आदि यदृच्छाशब्द हैं। देव ही जिसको देवे वह पुरुष इस क्रिया अर्थ का धारक देवदत्त है। यज्ञ में जिस बालक को दिया जा चुका है, यों वह यज्ञदत्त है। इस प्रकार यहाँ भी यथायोग्य क्रियाशब्दपना घटित हो जाता है। भ्रमण, स्यन्दन, गमन, धावति, आगच्छति, पचन आदि क्रियाशब्द तो क्रिया वाचक हैं ही। संयोग सम्बन्ध से दंड जिसके पास है, वह दंडी पुरुष है। इस प्रकार की क्रिया को कहने वाला संयोग द्रव्यशब्द भी क्रियाशब्द ही है। तथा समवाय सम्बन्ध से सींग रूप अवयव जिस अवयवी बैल या महिष के हैं, वह विषाणी है। इत्यादि प्रकार मान लिये गये समवायी

एवमेते शब्दसमभिरूढैवंभूतनयाः सापेक्षाः सम्यक्, परस्परमनपेक्षास्तु मिथ्येति प्रतिपादयति-

एतेन्योन्यमपेक्षायां संतः शब्दादयो नयाः। निरपेक्षाः पुनस्ते स्युस्तदाभासाविरोधतः ॥८०॥

के पुनरत्र सप्तसु नयेष्वर्थप्रधानाः के च शब्दप्रधानाः नयाः? इत्याह-

तत्रर्जुसूत्रपर्यंताश्चत्वारोर्थनया मताः। त्रयः शब्दनयाः शेषाः शब्दवाच्यार्थगोचराः ॥८१॥

द्रव्यशब्द भी क्रियाशब्द ही हैं। सभी शब्दों में क्रियाशब्दपना घट जाता है। जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द एवं संयोगीशब्द, समवायीशब्द या यदृच्छा शब्द और सम्बन्ध वाचकशब्द इस प्रकार प्रसिद्ध हो रहे शब्दों की पाँच प्रकार की प्रवृत्ति तो केवल व्यवहार से ही है, निश्चय से नहीं है, इस सिद्धान्त को यह एवम्भूत नय मानता है।

इस प्रकार ये शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत, तीन नय यदि अपेक्षाओं से सहित हैं, तब तो समीचीन नय हैं और परस्पर में अपेक्षा नहीं रखते हुए केवल एकान्त से अपने विषय का आग्रह करने वाले तो ये तीनों मिथ्या हैं, कुनय हैं अर्थात् **'निरपेक्षाः नयाः मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्'-(श्रीसमन्तभद्राचार्यः)**। प्रतिपक्षी धर्म का निराकरण करने वाले कुनय हैं और प्रतिपक्षी धर्मों की अपेक्षा रखने वाले सुनय हैं। प्रमाणों से उन धर्मों की और अन्य धर्म या धर्मों की भी प्रतिपत्ति हो जाती है। तथा नय से अन्य धर्मों का निराकरण नहीं करते हुए उसी धर्म की प्रतिपत्ति होती है। तथा दुर्नय से तो अन्य धर्मों का निराकरण करते हुए एक ही धर्म का आग्रह किया जाता है। इस बात का स्वयं ग्रन्थकार **श्री विद्यानन्द स्वामी** प्रतिपादन करते हैं।

ये शब्द आदि तीन नय परस्पर में स्वकीय-स्वकीय विषयों की अथवा अन्य धर्मों की अपेक्षा रखें पर तो समीचीन नय हैं। किन्तु परस्पर अपेक्षा नहीं रखने वाले तीनों आभास हैं। अर्थात् शब्दनय यदि समभिरूढ़ और एवंभूत के नेय धर्मों की अपेक्षा नहीं रखता है, तो यह शब्दाभास है। तथा समभिरूढ़ नय यदि शब्द और एवंभूत के विषय का निराकरण कर केवल अपना ही अधिकार जमाना चाहता है, तो वह समभिरूढ़ाभास है। इसी प्रकार एवंभूत भी शब्द और समभिरूढ़ के विषय का तिरस्कार करता हुआ एवंभूताभास है। क्योंकि ऐसा करने से विरोध दोष आता है। अतः परस्पर सापेक्ष नय समीचीन है॥८०॥

इन सातों नयों में कौन से नय अर्थ की प्रधानता से व्यवहार करने योग्य हैं? और कौनसे नय शब्द की प्रधानता से प्रवृत्त होते हैं? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द स्वामी** कहते हैं -

उन सात नयों में नैगम से प्रारम्भ कर ऋजुसूत्र पर्यन्त चार तो अर्थनय माने गये हैं। अर्थात् नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र ये चार अर्थ नय हैं। शेष बचे हुए नय वाचक शब्द द्वारा कहे गये अर्थ को विषय करने वाले शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत-ये तीन शब्दनय हैं। इन तीनों की शब्द के वाच्य अर्थ में विशेष रूप से तत्परता रहती है और पहले चार नयों का अर्थ में विशेष लक्ष्य रहता है॥८१॥

कः पुनरत्र बहुविषयः कश्चाल्पविषयो नय इत्याह–

पूर्वः पूर्वो नयो भूमविषयः कारणात्मकः। परः परः पुनः सूक्ष्मगोचरो हेतुमानिह ॥८२॥

तत्र नैगमसंग्रहयोस्तावन्न संग्रहो बहुविषयो नैगमात्परः। किं तर्हि, नैगम एव संग्रहात्पूर्वं इत्याह–

सन्मात्रविषयत्वेन संग्रहस्य न युज्यते। महाविषयताभावाभावार्थान्नैगमान्नयात् ॥८३॥
यथा हि सति संकल्पस्तथैवासति वेद्यते। तत्र प्रवर्तमानस्य नैगमस्य महार्थता ॥८४॥

संग्रहाद्व्यवहारो बहुविषय इति विपर्ययमपाकरोति–

संग्रहाद्व्यवहारोपि सद्विशषावबोधकः। न भूमविषयोशेषसत्समूहोपदर्शिनः ॥८५॥

पुनः इन सात नयों में कौनसा नय बहुत ज्ञेय को विषय करता है? और कौनसा नय अल्प ज्ञेय को विषय करता है? साथ में कौन नय कार्य है ? और कौनसा नय कारण है? यह प्रश्न भी छिपा हुआ है। इसके उत्तर में आचार्य महाराज वार्तिक कहते हैं -

यहाँ पहिले - पहिले कहा गया नय तो बहुत पदार्थों को विषय करने वाला है और कारण स्वरूप है। किन्तु फिर पीछे-पीछे कहा गया नय अल्प पदार्थों को विषय करता है और कार्यस्वरूप है। यहाँ लौकिक कार्यकारण भाव विवक्षित है। शास्त्रीय कार्य कारण भाव तो अव्यवहित पूर्ववर्ती व्यापार वाले और उसके उपकार को झेलने वाले अव्यवहित उत्तरवर्ती पदार्थों में सम्भव है ॥८२॥

सबसे पहिले उन नयों में यह विचार है कि नैगम व संग्रह, दो नयों में बाद में कहा गया संग्रहनय तो पूर्ववर्ती नैगम से अधिक विषयवाला नहीं है, तो क्या है? इसका उत्तर यही है कि नैगमनय ही संग्रहनय से पूर्व में कहा गया अधिक पदार्थों को विषय करता है। इस बात को स्वयं ग्रन्थकार कहते हैं -

सद्भूत पदार्थ और असद्भूत (अभाव) पदार्थ दोनों संकल्पित अर्थों को विषय करनेवाले नैगम नय से केवल सद्भूत पदार्थों को विषय करने वाला होने से संग्रह नय की अधिक विषयज्ञता उचित नहीं है।

भावार्थ - संकल्प तो विद्यमान अथवा भूत भविष्यत् काल में हुए, होने वाले, या कदाचित् नहीं भी होने वाले अविद्यमान पदार्थों में भी हो सकता है किन्तु संग्रहनय केवल सद्भूत पदार्थों को ही जानता है, असद्भूत अर्थों को नहीं छूता है। अतः नैगम से संग्रह का विषय अल्प है। क्योंकि, जिस प्रकार सत् पदार्थों में संकल्प होता है, उसी प्रकार असत् पदार्थों में भी होता है। अतः उस असत् अर्थ में प्रवृत्ति करने वाले नैगमनय की महाविषयज्ञता है ॥८३-८४॥

संग्रह नय से व्यवहार नय अधिक विषय वाला है, इस विपर्ययज्ञान का ग्रन्थकार निराकरण करते हैं -

संग्रह नय से व्यवहार नय भी अल्पविषय वाला है। क्योंकि पूर्ववर्ती संग्रहनय तो सभी सत् पदार्थों को विषय करता है और यह व्यवहारनय सत् पदार्थों के विषयभुत अल्पपदार्थों का ज्ञापक है। अतः सम्पूर्ण सत् पदार्थों के समुदाय को दिखलाने वाले संग्रह नय से व्यवहारनय अधिक विषयग्राही नहीं है ॥८५॥

व्यवहारादृजुसूत्रो बहुविषय इति विपर्यासं निरस्यति–

नर्जुसूत्रः प्रभूतार्थो वर्तमानार्थगोचरः। कालत्रितयवृत्त्यर्थगोचरादृव्यवहारतः ॥८६॥

ऋजुसूत्राच्छब्दो बहुविषय इत्याशंकामपसारयति–

कालादिभेदतोप्यर्थमभिन्नमुपगच्छतः। नर्जुसूत्रान्महार्थोत्र शब्दस्तद्विपरीतवत् ॥८७॥

शब्दात्समभिरूढो महाविषय इत्यारेकां हंति–

शब्दात्पर्यायभेदेनाभिन्नमर्थमभीप्सिनः। न स्यात्समभिरूढोपि महार्थस्तद्विपर्ययः ॥८८॥

समभिरूढादेवंभूतो भूमविषय इति चाकूतमपास्यति–

क्रियाभेदेपि चाभिन्नमर्थमभ्युपगच्छतः। नैवंभूतः प्रभूतार्थो नयः समभिरूढतः ॥८९॥

व्यवहारनय की अपेक्षा ऋजुसूत्रनय बहुत पदार्थों को विषय करता है, इस प्रकार के विपर्यय ज्ञान का आचार्य निराकरण करते हैं।

भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल में स्थित अर्थों को विषय करने वाले व्यवहारनय की अपेक्षा केवल वर्तमान काल के अर्थों को विषय करने वाला ऋजुसूत्र नय तो बहु विषयज्ञ नहीं है। अर्थात् व्यवहार नय तीनों काल के पदार्थों को विषय करता है और ऋजुसूत्र नय केवल वर्तमान काल की पर्याय को ही विषय करता है। अतः अल्प विषयज्ञ है और व्यवहार का कार्य है ॥८६॥

ऋजुसूत्र नय से शब्दनय का विषय बहुत है। **श्री विद्यानन्द स्वामी** इस आशंका का निवारण करते हैं। काल, कारक आदि का भेद होने पर भी अभिन्न ही अर्थ को अभिप्रेत करने वाले ऋजुसूत्र नय से शब्दनय विपरीत यानी कालादि के भेद से भिन्न अर्थों को जानता है। अर्थात् ऋजुसूत्र नय तो काल आदि से भिन्न अनेक अर्थों को अभिन्न रूप से जानता है। और शब्द नय काल आदि से भिन्न एक - एक अर्थ को ही जान पाता है ॥८७॥

शब्द से समभिरूढ़ नय, अत्यधिक विषयों को जानता है। इस प्रकार की आशंका का श्री **विद्यानन्द आचाय** वार्तिक द्वारा निवारण करते हैं -

भिन्न - भिन्न पर्यायों को ग्रहण करने वाले पर्यायवाचक शब्दों के भेद होने पर भी उनसे अभिन्न अर्थ को ही अभीष्ट करने वाले शब्दनय से समभिरूढ़नय उस शब्द से विपरीत प्रकार का है। अर्थात् शब्दनय एकार्थवाची शब्दों में भेद नहीं करता है, परन्तु समभिरूढ़ नय शब्दभेद से अर्थभेद को ग्रहण करता है ॥८८॥

समभिरूढ़ नय से एवंभूत नय का विषय अधिक है? इस प्रकार की शंका का आचार्य निराकरण करते हैं। शब्दों में स्थित भिन्न-भिन्न धातुओं की क्रियाओं के भेद होने पर भी उसी अभिन्न अर्थ को स्वीकार करने वाले समभिरूढ़ नय से एवंभूत नय प्रचुरविषयवाला नहीं है। एवंभूत नय तो पढ़ाते समय ही मानव को पाठक कहेगा, किन्तु समभिरूढ़ नय खाते, पीते समय भी अध्यापक को पाठक कहता है ॥८९॥

इस प्रकार नयों के लक्षण और नयाभासों का विवेक तथा नयों के विषयका अल्पबहुत्वपन अथवा पूर्ववर्ती उत्तरवर्तीपन का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

कथं पुनर्नयवाक्यप्रवृत्तिरित्याह--

नैगमाप्रातिकूल्येन न संग्रहः प्रवर्तते। ताभ्यां वाच्यमिहाभीष्टा सप्तभंगीविभागतः ॥९०॥
नैगमव्यवहाराभ्यां विरुद्धाभ्यां तथैव सा। सा नैगमर्जुसूत्राभ्यां तादृग्भ्यामविगानतः ॥९१॥
सा शब्दान्निगमादन्याद्युक्तात् समभिरूढतः। सैवंभूताच्च सा ज्ञेया विधानप्रतिषेधगा ॥९२॥
संग्रहादेश शेषेण प्रतिपक्षेण गम्यताम्। तथैव व्यापिनी सप्तभंगी नयविदां मता ॥९३॥
विशेषैरुत्तरैः सर्वैर्नयानामुदितात्मनाम्। परस्परविरुद्धार्थैर्द्वंद्ववृत्तेर्यथायथम् ॥९४॥

नयों में वाक्य की प्रवृत्ति किस प्रकार होती है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं -

संग्रह नय नैगमनय के प्रतिकूल प्रवृत्ति करता है। अर्थात् नैगम यदि अस्ति को कहेगा तो संग्रह नास्ति धर्म को कहेगा। अतः उन दोनों नैगम संग्रहनयों से यहां अभीष्ट सप्तभंगी अनेक भेदों के द्वारा वाच्य होती है। अर्थात् नैगमनय की अपेक्षा संकल्पित इन्द्र का अस्तित्व मानकर और संग्रहनय से उसका नास्तित्व अभिप्रेत कर सात भंगों के समाहार स्वरूप एक नयसप्तभंगी बना लेनी चाहिए। इसी प्रकार अन्य भी विभाग करने से सप्तभंगी के अनेक भेद हो जाते हैं॥९०॥

उसी प्रकार विरुद्ध अस्तित्व और नास्तित्व के प्रयोजक नैगम और व्यवहार नय के द्वारा भी सप्तभंगी बनानी चाहिए तथा उसके सदृश विरुद्ध नैगम और ऋजुसूत्र दो नयों से अस्तित्व, नास्तित्व को कल्पित कर अनिन्दित मार्ग से सप्तभंगी बना लेनी चाहिए॥९१॥

इसी प्रकार वही सप्तभंगी नैगम नय से और शब्दनय से विधि और प्रतिषेध को प्राप्त है। तथा नैगम और अन्य भिन्नादि शब्दों के द्वारा कहे जा चुके समभिरूढ़ नय से भी विधि और निषेध को प्राप्त वह एक न्यारी सप्तभंगी है तथा विरुद्ध नैगम और एवंभूत से विधान करना और निषेध करना धर्मों को ले रही वह सप्तभंगी पृथक् समझनी चाहिए॥९२॥

जैसे नैगम की अपेक्षा अस्तित्व को रखकर शेष छह नयों की अपेक्षा से नास्तित्व को रखते हुए छह सप्तभंगियाँ बनायी गयी हैं, इसी प्रकार संग्रह आदि नयों से अस्तित्व को व्यवस्थापित कर शेष उत्तरवर्ती प्रतिपक्षी नयों के द्वारा उसी प्रकार व्याप्त सप्तभंगियाँ यों समझ लेनी चाहिए। ये सभी सप्तभंगियाँ नयवेत्ता विद्वानों के यहाँ ठीक मानी गयी हैं॥९३॥

पूर्व-पूर्व में जिनके स्वरूप कह दिये गये हैं, ऐसे सम्पूर्ण नयों की उत्तर-उत्तरवर्ती विशेष हो रहीं सम्पूर्ण नयों के साथ सप्तभंगियाँ बन जाती हैं। परस्पर में विरुद्ध सरीखे अर्थों को विषय करने वाले नयों के साथ यथायोग्य कलह हो जाने की प्रवृत्ति हो जाने से अस्तित्व और नास्तित्व के प्रयोजक धर्म घटित हो जाते हैं॥९४॥

उसी प्रकार प्रत्येक पर्याय में नयसप्तभंगी समझ लेनी चाहिए, जैसे वह अविरुद्ध प्रमाण सप्तभंगी पूर्व प्रकरणों से व्यवस्थित की जा चुकी है। उस नयसप्तभंगी के बिना चारों ओर से वचन बोलने का उपाय घटित नहीं हो पाता है। विशेष यह है कि नय सप्त भंगी में नास्तित्व की व्यवस्था कराने के लिए विरुद्ध

प्रत्येया प्रतिपर्यायमविरुद्धा तथैव सा। प्रमाणसप्तभंगी च तां विना नाभिवाग्गतिः ॥९५॥

इह तावन्नैगमस्य संग्रहादिभिः सह षड्भिः प्रत्येकं षट् सप्तभंग्यः, संग्रहस्य व्यवहारादिभिः सह वचनात् पंच, व्यवहारस्यर्जुसूत्रादिभिश्चतस्रः, ऋजुसूत्रस्य शब्दादिभिस्तिस्रः, शब्दस्य समभिरूढादिभ्यां द्वे, समभिरूढस्यैवंभूतेनैका, इत्येकविंशतिमूलनयसप्तभंग्यः पक्षप्रतिपक्षतया विधिप्रतिषेधकल्पनयावगंतव्याः। तथा

धर्म अपेक्षणीय है और प्रमाणसप्तभंगी में नास्तित्व धर्म की व्यवस्था के लिए अविरुद्ध आरोपित धर्म से नास्तित्व की व्यवस्था है॥९५॥

यहाँ नैगमनय की संग्रह, व्यवहार आदि छह नयों के साथ एक-एक होती हुई छह सप्तभंगियाँ बन *जाती हैं। अर्थात् नैगम नय की अपेक्षा अस्तित्व - १ और संग्रह से नास्तित्व - २, क्रम से उभय - ३,* अक्रम से अवक्तव्य- ४, नैगम और अक्रम से अस्ति अवक्तव्य - ५, संग्रह और अक्रम से नास्ति अवक्तव्य - ६, नैगम और संग्रह से तथा अक्रम से विवक्षा करने पर अस्तिनास्ति अवक्तव्य -७, इन सात भंगोंवाली एक सप्तभंगी हुई। इसी प्रकार नैगम से विधि की कल्पना कर और व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत से प्रतिषेध की कल्पना करनी चाहिए। मूलभंगों को बनाकर शेष पाँच भंगों को क्रम, अक्रम आदि से बनाते हुए पाँच सप्तभंगियाँ बना लेनी चाहिए। नैगमनय की संग्रह आदि के साथ छह सप्तभंगियाँ हुईं। तथा संग्रहनय की अपेक्षा विधि की कल्पना कर और व्यवहार नय की अपेक्षा से प्रतिषेध कल्पना करते हुए दो मूल भंग बनाकर सप्तभंगी बना लेना चाहिए। इसी प्रकार संग्रह की अपेक्षा विधि की कल्पना कर ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नयों की अपेक्षा नास्तित्व मानकर अन्य चार सप्तभंगियाँ बना लेना। इस प्रकार संग्रहनय की व्यवहार आदि के साथ कथन कर देने से एक एक प्रति एक एक सप्तभंगी होती हुई पाँच सप्तभंगियाँ हुईं। तथा व्यवहार की अपेक्षा अस्तित्व कल्पना कर और ऋजुसूत्र की अपेक्षा नास्तित्व को मानकर इन दो मूल भंगों से एक सप्तभंगी बनाना। व्यवहार नय की अपेक्षा अस्तित्व मान कर शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत से नास्तित्व की कल्पना करके तीन सप्तभंगियाँ और भी बना लेना। ये व्यवहारनय की ऋजुसूत्र आदि के साथ चार सप्तभंगियाँ होती हैं। तथा ऋजुसूत्र की अपेक्षा विधि की कल्पना अनुसार शब्द आदि तीन नयों के साथ निषेध की कल्पना कर दो-दो मूल भंगों के साथ ऋजुसूत्र नय की शब्द आदि तीन के साथ तीन सप्तभंगियाँ होती हैं। तथा शब्दनय की अपेक्षा विधि कल्पना कर और समभिरूढ़ के साथ निषेध कल्पना करते हुए दो मूल भंगों से एक सप्तभंगी बनाना। इसी प्रकार शब्द द्वारा विधि और एवंभूत द्वारा निषेध की कल्पना कर दो मूलभंगों से दूसरी सप्तभंगी बना लेना। इस प्रकार शब्द की समभिरूढ़ आदि दो नयों के साथ दो सप्तभंगियाँ हुईं। तथा समभिरूढ़ की अपेक्षा अस्तित्व की कल्पना कर और एवंभूत की अपेक्षा नास्तित्वको मानते हुए दो मूल भंगों से एक सप्तभंगी बना लेना। इस प्रकार स्वकीय पक्ष में पूर्व-पूर्व नयों की अपेक्षा से विधि और प्रतिकूल पक्ष माने गये, उत्तर-उत्तर नयों की अपेक्षा से प्रतिषेध की कल्पना करके सात मूल नयों की इक्कीस सप्तभंगियाँ होती हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए।

नवानां नैगमभेदानां द्वाभ्यां परापरसंग्रहाभ्यां सह वचनादष्टादश सप्तभंग्यः, परापरव्यवहाराभ्यां चाष्टादश, ऋजुसूत्रेण नव, शब्दभेदैः षड्भिः सह चतुःपंचाशत्, समभिरूढेन सह नव, एवंभूतेन च नव, इति सप्तदशोत्तरं शतं। तथा संग्रहादिनयभेदानां शेषनयभेदैः सप्तभंग्यो योज्याः। एवमुत्तरनयसप्तभंग्यः पंचसप्तत्युत्तरशतं।

नयों की मूल सप्तभंगियों के भेद हो चुके। अब नयों के उत्तर भेदों द्वारा रची गयी सप्तभंगियों को गिनाते हैं।

उसी क्रम के अनुसार अर्थ पर्याय नैगम - १, व्यंजनपर्याय नैगम - २, अर्थव्यंजनपर्याय नैगम - ३, शुद्ध द्रव्य नैगम - ४, अशुद्धद्रव्य नैगम - ५, शुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगम - ६, अशुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगम - ७, शुद्धद्रव्यव्यंजन पर्याय नैगम - ८, अशुद्धद्रव्यव्यंजनपर्याय नैगम - ९ इस प्रकार नैगम के नौ भेदों का पर, अपर, इन दो प्रकार के संग्रह नयों के साथ कथन करने से अठारह सप्तभंगियाँ होजाती हैं। अर्थात्- अर्थपर्याय नैगम की अपेक्षा अस्तित्व कल्पना कर परसंग्रह की अपेक्षा नास्तित्व मानते हुए दो मूलभंगों की भित्ति पर एक सप्तभंगी बना लेना। इसी प्रकार नौ नैगमों की अपेक्षा अस्तित्व मानते हुए दोनों संग्रहों से प्रतिषेध करते हुए अठारह सप्तभंगियाँ बन जाती हैं। तथा नौ नैगम के भेदों की अपेक्षा अस्तित्व मानकर पर, अपर इन दो व्यवहार नयों कर के नास्तित्व को मानते हुए दो-दो मूलभंगों से एक-एक सप्तभंगी बनाते हुए ये भी १८ सप्तभंगियाँ होगईं। तथा ऋजुसूत्र का एक ही भेद हैं। अतः नौ नैगमों से विधि की कल्पना कर और ऋजुसूत्रनय से प्रतिषेध करते हुए दो-दो मूलभंगों द्वारा ये नौ सप्तभंगियाँ हुईं। शब्दनय के काल, कारक, लिंग, संख्या, साधन, उपसर्ग ये छह भेद हैं। नैगम के नौ भेदों से अस्तित्व को मानते हुए और शब्दनय के छह भेदों से नास्तित्व की कल्पना करने से दो मूलभंगों से एक - एक सप्तभंगी को बनाकर नौ, छह, चौपन सप्तभंगियाँ बन जाती हैं। तथा नौ नैगमों से पहिले अस्तित्व भंग को साध कर और समभिरूढ़ से दूसरे नास्तित्व भंग की कल्पना कर एक-एक नैगम की अपेक्षा से विधि कल्पना कर और एवंभूत नय से निषेध कल्पना करते हुए नौ नैगम के भेदों की एवंभूत के साथ नौ सप्तभंगियाँ समझ लेनी चाहिए। इस प्रकार नैगम की १८+१८+९+५४+९+९=११७ इस प्रकार एक सौ सत्रह उत्तर सप्तभंगियाँ होती हैं।

इस प्रकार नैगम के प्रकारों अनुसार संग्रह आदि नयों के भेदों की उत्तर-उत्तर शेष बचे हुए नयों के भेदों के साथ अस्तित्व, नास्तित्व की विवक्षा कर सप्तभंगियाँ करनी चाहिए अर्थात् - दोनों संग्रह नयों की अपेक्षा अस्तित्व को मान कर और दोनों व्यवहारनयों से नास्तित्व को मानकर दो-दो मूलभंगों के द्वारा एक-एक सप्तभंगी बनाते हुए संग्रह के पर, अपर भेदों की, व्यवहार के पर, अपर दो भेदों के साथ चार सप्तभंगियाँ हुईं। दो संग्रहों की अपेक्षा अस्तित्व को मानते हुए और ऋजुसूत्र से नास्तित्व को गढ़ कर दो मूलभंगों द्वारा सप्तभंगी को बनाते हुए पर, अपर संग्रहों की एक प्रकार, ऋजुसूत्र के साथ दो सप्तभंगियाँ हुईं। तथा दो संग्रहों की छह प्रकार के शब्द नय के साथ दो-दो मूल भंगों से सप्तभंगी बनाकर बारह सप्तभंगियाँ हुईं। तथा दो संग्रहों की एक समभिरूढ़ के साथ विधि-प्रतिषेध कल्पना करते हुए दो सप्तभंगियाँ बनाना। इसी प्रकार दो संग्रहों की अपेक्षा विधि करते हुए और एवंभूत की अपेक्षा निषेध करते हुए दो

तथोत्तरोत्तरनयसप्तभंग्योपि शब्दतः संख्याताः प्रतिपत्तव्याः। इति प्रतिपर्यायं सप्तभंगी बहुधा वस्तुन्येकत्राविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना प्रागवदुक्ताचार्यैः नाव्यापिनी नातिव्यापिनी वा नाप्यसंभविनी तथा प्रतीतिसंभवात्। तद्यथा–

सप्तभंगियाँ हुईं। इस प्रकार संग्रहनय क भेदों की शेष नयों के भेदों के साथ ४+२+१२+२+२=२२ बाईस सप्तभंगियाँ हुईं। तथा व्यवहारनय के दो भेदों की अपेक्षा अस्तित्व मान कर और ऋजुसूत्र के एक भेद की अपेक्षा नास्तित्व मान कर दो मूलभंगों से एक-एक सप्तभंगी बनाते हुए दो सप्तभंगियाँ हुईं और दो व्यवहारनयों की छह प्रकार के शब्दनयों के साथ अस्तित्व, नास्तित्व की कल्पना करने पर बारह सप्तभंगियाँ और दो प्रकार व्यवहारनय की अपेक्षा अस्तित्व की कल्पना करने पर समभिरूढ़ के साथ नास्तित्व को मानते हुए दो सप्तभंगियाँ, दो व्यवहारनयों की अपेक्षा विधान करते हुए एवंभूत की अपेक्षा नास्तित्व को कल्पित कर दो सप्तभंगियाँ, इस प्रकार व्यवहारनय के दो भेदों की शेषनय या नयभेदों के साथ २+१२+२+२=१८ अठारह सप्तभंगियाँ होती हैं। तथा ऋजुसूत्र की सप्तभंगियाँ यों हैं कि एक ऋजुसूत्र की छह प्रकार के शब्द नय के साथ अस्तित्व, नास्तित्व को विवक्षित कर छह सप्तभंगियाँ होती हैं, यद्यपि ऋजुसूत्र की अपेक्षा अस्तित्व कल्पित कर और समभिरूढ़ की अपेक्षा नास्तित्व की कल्पना कर एक सप्तभंगी तथा ऋजुसूत्र की अपेक्षा अस्तित्व और एवंभूत की अपेक्षा नास्तित्व मान कर दो मूल भंगों द्वारा दूसरी सप्तभंगी-इस प्रकार दो सप्तभंगियाँ अन्य भी हो सकती थीं। किन्तु ये दो सप्तभंगियाँ मूलनय की इक्कीस सप्तभंगियों में गिनाई जा चुकी हैं। नयों के उत्तर भेदों की सप्तभंगियों में उक्त दो सप्तभंगियों को गिनाने का प्रकरण नहीं है। अतः एक प्रकार के ऋजुसूत्र नय की शेष उत्तरनय भेदों के साथ छह ही सप्तभंगियाँ होती हैं। तथा शब्दनय के भेदों की सप्त भंगियाँ इस प्रकार हैं कि छह प्रकार के शब्दनय की अपेक्षा अस्तित्व मानकर एक ही प्रकार के समभिरूढ़ नय की अपेक्षा नास्तित्व की कल्पना करके दो मूलभंगों द्वारा छह सप्तभंगियाँ और छह शब्दनय के भेदों की अपेक्षा अस्तित्व मानकर एक प्रकार के एवंभूत की अपेक्षा नास्तित्व को मानते हुए छह सप्तभंगियाँ हैं। इस प्रकार शब्दनय के भेदों की बचे हुए दो नयों के साथ ६+६=१२ बारह सप्तभंगियाँ होती हैं। समभिरूढ़ और एवंभूत का कोई उत्तरभेद नहीं है। अतः समभिरूढ़ की एवंभूत के साथ अस्तित्व या नास्तित्व विवक्षा करने पर उत्पन्न हुई एक सप्तभंगी मूल इक्कीस सप्तभंगियों में गिनी जा चुकी है। उत्तर सप्तभंगी में उसको गिनने की आवश्यकता नहीं है, गिन भी नहीं सकते हैं। इस प्रकार उत्तर नयों की ११७+२२+१८+६+१२=१७५ एक सौ पिचत्तर सप्तभंगियाँ होती हैं।

इस प्रकार भेद-प्रभेद करते हुए उत्तरोत्तर नयों की सप्तभंगियाँ भी शब्दों की अपेक्षा संख्यात हो सकती हैं। क्योंकि जगत् में संकेत अनुसार वाच्य अर्थों को प्रतिपादन करने वाले शब्द केवल संख्यात हैं। असंख्यात या अनन्त नहीं हैं।

भावार्थ - चौसठ अक्षरों के द्वारा संयुक्त अक्षर बनाये जाँय तो एक कम एकट्ठि प्रमाण १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने एक-एक होकर अपुनरुक्त अक्षर बन जाते हैं। तथा संकेत अनुसार इन अक्षरों को आगे पीछे रख कर या स्वरों का योगकर एकस्वर पद (एक स्वर वाले पद), दो स्वरवाले पद, तीन स्वर वाले पद, चार स्वर वाले पद, पाँच स्वरवाले पद एवं अ (निषेध या वासुदेव) इ (कामेदव), उ (क्रोध उक्ति), मा (लक्ष्मी), कु (पृथ्वी), ख (आकाश) घट (घड़ा), अग्नि, (आग), करी (हाथी), मनुष्य भुजंग, मर्कट, अजगर, पारिजात, परीक्षक, अभिनन्दन, साम्परायिक, सुरदीर्घिका अङ्गाखल्लरी, अभ्यवकर्षण, श्री वत्सलाञ्छन, इत्यादि पद बनाये जावें तो पद्मों, संखों, नलिनांग, नलिन आदि संख्याओं का अतिक्रमण कर संख्याती सप्तभंगियाँ बन जाती हैं, ऐसा समझना चाहिए जो कि जघन्य परीतासंख्यात से एक कम और उत्कृष्ट संख्यात नाम की संख्या के भीतर हैं।

संकल्पनामात्रग्राहिणो नैगमस्य तावदाश्रयणाद्विधिकल्पना, प्रस्थादिसंकल्पमात्रं प्रस्थाद्यानेतुं गच्छामीति व्यवहारोपलब्धेः। भाविनि भूतवदुपचारात्तथा व्यवहारः तंदुलेष्वोदनव्यवहारवदिति चेन्न, प्रस्थादिसंकल्प्यस्य तदानुभूयमानत्वेन भावित्वाभावात् प्रस्थादिपरिणामाभिमुखस्य काष्ठस्य प्रस्थादित्वेन भावित्वात् तत्र तदुपचारस्य प्रसिद्धिः। प्रस्थादिभावाभावयोस्तु तत्संकल्प्यस्य व्यापिनोनुपचरितत्वात्। न च तद्व्यवहारो मुख्य एवेति

इस प्रकार प्रत्येक पर्याय में बहुत प्रकार से एक वस्तु में अविरोध करके विधि और प्रतिषेध आदि की कल्पना करना आचार्यों ने सप्तभंगी कही है अर्थात् - पूर्वकथित प्रमाण सप्तभंगी के समान यह नयसप्तभंगी भी अनेक प्रकार से जोड़ लेनी चाहिए। प्रश्न के वश से एक वस्तु में या वस्तु के अंश में विधि और प्रतिषेध की कल्पना करना यह सप्तभंगी का निर्दोष लक्षण है।

लक्ष्य के एकदेश में रहने वाले अव्याप्तिदोष की इसमें सम्भावना नहीं है। और यह सप्तभंगी अतिव्याप्ति दोष से युक्त नहीं है, तथा असम्भव दोषवाली भी नहीं है। क्योंकि इस प्रकार प्रतीतियों से वस्तु में सातों भंग सम्भव है। उसी निर्णय को यहाँ इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि सर्वप्रथम केवल संकल्प को ही ग्रहण करने वाले नैगमनय का आश्रय लेने से विधि की कल्पना करना। क्योंकि प्रस्थ, इन्द्रप्रतिमा, आदि के केवल संकल्पस्वरूप जो प्रस्थ आदिक को लाने के लिए जाता है, इस प्रकार व्यवहार देखा जाता है। अर्थात् - प्रस्थ लाना नहीं है। किन्तु प्रस्थ के केवल संकल्प का लाना है। अन्न मापने वाले प्रस्थ के संकल्प की नैगमनय के द्वारा विधि की गयी है।

प्रश्न - भविष्य में होने वाले पदार्थ में द्रव्यनिक्षेप से ही पदार्थ के समान यहाँ उपचार से उस प्रकार का व्यवहार कर लिया जाता है, जैसे कच्चे चावलों में पके भात का व्यवहार हो जाता है।

उत्तर - ऐसा नहीं कहना, क्योंकि उस नैगमनय की प्रवृत्ति के अवसर पर प्रस्थ आदि के संकल्प का ही या संकल्प को प्राप्त प्रस्थ आदि का ही अनुभव किया जा रहा है। इस कारण उस संकल्प को भविष्यकाल सम्बन्धीपने का अभाव है। प्रस्थ इन्द्र आदि का संकल्प तो वर्तमान काल में विद्यमान है, संकल्प भविष्य में होने वाला नहीं है। प्रस्थ, प्रतिमा, आदि पर्यायस्वरूप होने के लिए अभिमुख काठ को प्रस्थ, प्रतिमा आदि की अपेक्षा भविष्यकाल सम्बन्धीपना है। अतः उस काष्ठ में उन प्रस्थ आदि के उपचार की सिद्धि हो जाती है। किन्तु नैगम नय का विषय तो मुख्य ही है क्योंकि प्रस्थ आदि के सद्भाव होने पर या उनका अभाव होने पर, दोनों दशा में व्यापक उन प्रस्थ आदि सम्बन्धी संकल्प को तो अनुपचरितपना है किन्तु द्रव्यनिक्षेप की अपेक्षा भावी में भूतपने और वर्तमानपने के समान उसका व्यवहार तो मुख्य नहीं है। अर्थात् द्रव्यनिक्षेप का विषय तो वर्तमान काल में नहीं विद्यमान है। किन्तु नैगम का विषय संकल्प मुख्य होकर इस काल में विद्यमान है। अतः नैगम नय की अपेक्षा प्रस्थ आदि की विधि को करने वाला प्रथम भंग बनाना चाहिए और शेष छह नयों की अपेक्षा से दूसरा भंग बनाना चाहिए।

उस संकल्पित प्रस्थ आदि के प्रति संग्रहनय के आश्रय से प्रतिषेध की कल्पना करना। क्योंकि

तत्प्रतिसंग्रहाश्रयणात्प्रतिषेधकल्पना न प्रस्थादिसंकल्पमात्रं प्रस्थादिसन्मात्रस्य तथा प्रतीतेः असतः प्रतीतिविरोधादिति व्यवहाराश्रयणात् द्रव्यस्य तथोपलब्धेरद्रव्यस्यासतः सतो वा प्रत्येतुमशक्तेः पर्यायस्य तदात्मकत्वादन्यथा द्रव्यांतरत्वप्रसंगादिति ऋजुसूत्राश्रयणात्पर्यायमात्रस्य प्रस्थादित्वेनोपलब्धेः, अन्यथा प्रतीत्यनुपपत्तेरिति शब्दाश्रयणात् कालादिभेदाद्भिन्नस्यार्थस्य प्रस्थादित्वादन्यथातिप्रसंगात्। इति समभिरूढाश्रयणात् पर्यायभेदेन भिन्नस्यार्थस्य प्रस्थादित्वात् अन्यथातिप्रसंगादिति, एवंभूताश्रयणात्

केवल प्रस्थ आदि का मानसिक संकल्प ही ता प्रस्थ, प्रतिमा, आदि स्वरूप पदार्थ नहीं है, परन्तु इस प्रकार प्रस्थ आदि के सद्भाव से तो केवल विद्यमान पदार्थों की ही प्रतीति हो सकती है। असत् पदार्थ की प्रतीति होने का विरोध है। अर्थात् वस्तुभूत प्रस्थ आदि नहीं हैं क्योंकि वे संग्रहनय की अपेक्षा नास्तित्व धर्म द्वारा प्रतिषिद्ध कर दिये जाते हैं। व्यवहारनय के आश्रय से ही द्रव्य की उस प्रकार की उपलब्धि होती है। क्योंकि सद्भाव के होने पर उसके व्याप्य द्रव्य की उस प्रकार प्रस्थ, इन्द्रप्रतिमा आदि रूप से उपलब्धि होती है। नैगमनय द्वारा केवल संकल्पित कर लिये गये असत् पदार्थ की अथवा संग्रह नय द्वारा सद्भूत जान लिये गये भी पदार्थ की व्यवहार नय द्वारा तब तक प्रतीति नहीं की जा सकती है, जब तक कि वह द्रव्य रूप से या सामान्य पर्याय रूप से व्यवहृत होता हुआ विभक्त नहीं किया जाता है। प्रकरण में प्रस्थरूपपर्याय को उस प्रस्थ आत्मक पना है। यदि ऐसा नहीं मानकर दूसरे प्रकारों से मानोगे तो प्रस्थ, घट, पट आदि को भिन्न-भिन्न द्रव्य हो जाने का प्रसंग आयेगा।

भावार्थ - व्यवहार नय और ऋजुसूत्र नय द्रव्य या पर्याय की प्रस्थ आदि रूप से विधि कर सकता है। कोरे संकल्प को प्रस्थ नहीं कहना चाहता है। अतः व्यवहार नय से ही प्रतिषेध कल्पना कर दूसरे भंग को पुष्ट करते हैं। इसी प्रकार ऋजुसूत्रनय के आश्रय से केवल प्रस्थ, प्रतिमा, आदि पर्यायों की प्रस्थ आदि रूप से उपलब्धि होती है। दूसरे प्रकारों से (संकल्प या सन्मात्र अथवा केवल द्रव्य कह देने से ही) प्रस्थ पर्याय की प्रतीति नहीं होती है। अतः ऋजुसूत्रनय से भी नास्तित्व भंग को साध लेना चाहिए। इस प्रकार शब्द नय के आश्रय से प्रतिषेध की कल्पना करना चाहिए, क्योंकि काल, कारक आदि के भेद से भिन्न अर्थ को प्रस्थ आदिपना है। अन्यथा (दूसरे प्रकार से) प्रस्थ आदि की व्यवस्था करने पर अतिप्रसंग दोष आता है इस प्रकार शब्द नय से नास्तित्व भंग को सिद्ध करना चाहिए। तथा छठे समभिरूढ़नय का आश्रय लेने से प्रतिषेध की कल्पना करनी चाहिए। क्योंकि प्रस्थ, पल्य आदि पर्यायवाचक शब्दों के भेद हो जाने से भिन्न-भिन्न अर्थ को प्रस्थ आदिपना है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जाएगा। अर्थात् पूर्व नयों के व्यापक अर्थों में समभिरूढ़नय होता है, तथा इसी प्रकार नैगम नय की अपेक्षा विधि की कल्पना करते हुए एवंभूत नय का आश्रय करने से निषेध की कल्पना करनी चाहिए।

क्योंकि प्रस्थ आदि की क्रिया करने में परिणत अर्थ को प्रस्थ आदिपना है। अन्यथा मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है। अर्थात् - जिस समय नापने के लिए पात्र में गेहूँ धान स्थित हैं, उसी समय की पात्र अवस्था को प्रस्थ कहना चाहिए। खाली रखे हुए पात्र को प्रस्थ नहीं मानना चाहिए। अन्यथा अव्यवस्था हो जाती है। जगत् में चाहे जिस पदार्थ को चाहे जिस शब्द करके कह दिया जावेगा। किन्तु एवंभूतनय की मनीषा अलग है। एवंभूत नय में परिणति मूल कारण है। उसको छोड़ देने पर सभी शाखाएँ

प्रस्थादिक्रियापरिणतस्यैवार्थस्य प्रस्थादित्वादन्यथातिप्रसंगादिति। तथा स्यादुभयं क्रमार्पितोभयनयार्पणात्, स्यादवक्तव्यं सहार्पितोभयनयाश्रयणात्, अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भंगा यथायोगमुदाहार्या, इत्येताः षट्सप्तभंग्यः। तथा संग्रहाश्रयतो विधिकल्पना स्यात् सदेव सर्वमसतोऽप्रतीतेः खरशृंगवदिति तत् प्रतिषेधकल्पना व्यवहाराश्रयणान्न स्यात्, सर्वं सदेव द्रव्यत्वादिनोपलब्धेर्द्रव्यादिरहितस्य सन्मात्रस्यानुपलब्धेश्चेति ऋजुसूत्राश्रयणात् प्रतिषेधकल्पना न सर्वं स्यात्। सदेव वर्तमानाद्रूपादन्येन रूपेणानुपलब्धेरन्यथा अनाद्यनंतसत्तोपलंभप्रसंगादिति शब्दाश्रयणात्प्रतिषेधकल्पना न सर्वं स्यात्सदेव कालादिभेदेन भिन्नस्यार्थस्योपलब्धेरन्यथा कालादिभेदानर्थक्यप्रसंगादिति समभिरूढाश्रयात्प्रतिषेधकल्पना न सर्वं सदेव स्यात्,

---

तितर-बितर हो जाती हैं। पूर्व नयों के व्यापक विषय को एवंभूत नहीं पकड़ती है। अतः छह प्रकारों से दो मूल भंगों को बनाना चाहिए। इसी प्रकार तीसरा भंग क्रम से अर्पित किये गये दोनों नयों की अर्पणा से कथंचित् उभय बना लेना, तथा एक साथ कहने के लिए अर्पित किये दोनों नयों के आश्रय से कथंचित् अवक्तव्य इस प्रकार चौथा भंग बनाना। तथा जिनके उत्तर कोटि में अवक्तव्य पड़ा हुआ है, ऐसे बचे हुए अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्ति नास्ति अवक्तव्य, ये तीन भंग भी यथायोग्य विवक्षाओं का योग मिलने पर उदाहरण करने योग्य है। इस प्रकार ये छह सप्तभंगियाँ समझा दी गयी हैं।

तथा नैगमनय की पद्धति अनुसार संग्रहनय का आश्रय करने से विधि की कल्पना होती है। सम्पूर्ण प्रतीतमान पदार्थ सद्भूत ही हैं। गर्दभ के सींग समान असत् पदार्थों की प्रतीति नहीं हो पाती है। इस प्रकार संग्रहनय से सब सत् हैं। 'स्यात् सदेव सर्वं' ऐसा प्रथम भंग बनाना तथा व्यवहार नय के आश्रय से उसके निषेध की कल्पना करना, 'न स्यात् सर्वं सदेव', किसी अपेक्षा से सम्पूर्ण पदार्थ केवल सत् रूप ही नहीं हैं क्योंकि व्यवहार में द्रव्य या पर्यायरूप से पदार्थों की उपलब्धि हो रही है। द्रव्य, गुण, पर्याय या उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से रहित केवल सत् की स्वप्न में भी उपलब्धि नहीं है। अन्यथा (द्रव्य और पर्याय के बिना) केवल सत् दृष्टिगोचर होगा तो जीव या घट का उपलम्भ करने पर उसकी अनादिकाल से अनन्त काल तक रहने वाली सत्ता के उपलम्भ हो जाने का प्रसंग आयेगा। किन्तु व्यवहारी जनों को केवल सत्ता का उपलम्भ नहीं होता है। द्रव्य और पर्यायों में विशेषण रूप सत् का ज्ञान हो जाता है। अतः व्यवहार नय से कोरे सत् की निषेध कल्पना की गयी है। इसी प्रकार ऋजुसूत्र नय के आश्रय से प्रतिषेध की कल्पना करना - 'न सर्वं स्यात् सदेव' - सभी पदार्थ कथंचित् सत् रूप ही नहीं हैं। क्योंकि वर्तमान पर्याय स्वरूप से, अन्य स्वरूपों से पदार्थों की उपलब्धि नहीं हो रही है। अन्यथा (यानी) ऋजुसूत्रनय से वर्तमान पर्यायों के अतिरिक्त पर्यायों की भी विधि दीखने लगेगी, तो अनादि, अनन्त, काल की पर्यायों का सद्भाव दीख जाना चाहिए।

अतः संग्रहनय से सत् की विधि को करते हुए ऋजुसूत्र नय से प्रतिषेध कल्पना करना युक्त है। इसी प्रकार शब्द नय के आश्रय से प्रतिषेध कल्पना कर लेना। 'न सर्वं स्यात् सदेव' सम्पूर्ण पदार्थ कथंचित् सत्रूप ही नहीं हैं। क्योंकि, काल, कारक, संख्या आदि के भेद करके भिन्न-भिन्न अर्थों की उपलब्धि हो रही है। अर्थात् काल आदि से भिन्न पदार्थ तो जगत् में विद्यमान है। शेष कोई कोरा सत् पदार्थ नहीं है।

पर्यायभेदेन भिन्नस्यार्थस्योपलब्धेरन्यथैकपर्यायत्वप्रसंगात् इति। एवंभूताश्रयात् प्रतिषेधकल्पना न सर्वं सदेव तत्क्रियापरिणतस्यैवार्थस्य तथोपपत्तेरन्यथा क्रियासंकरप्रसंगात् इति। तथोभयनयक्रमाक्रमार्पणादुभयावक्तव्यकल्पना विधिनयाश्रयणात् सहोभयनयाश्रयणाच्च विध्यवक्तव्यकल्पना प्रतिषेधनयाश्रयणात् सहोभयनयाश्रयणाच्च प्रतिषेधावक्तव्यकल्पना क्रमाक्रमोभयनयाश्रयणात्तदुभयावक्तव्यकल्पनेति पंचसप्तभंगयः। तथा व्यवहारनयाद्विधिकल्पना सर्वं द्रव्याद्यात्मकं प्रमाणप्रमेयव्यवहारान्यथानुपपत्तेः कल्पनामात्रेण तद्व्यवहारे

अन्यथा काल, कारक, आदि के भेद करने के व्यर्थपन का प्रसंग होगा, जो कि इष्ट नहीं है। इसी प्रकार समभिरूढ़ नय के आश्रय से प्रतिषेध कल्पना कर लेना। सभी पदार्थ कथंचित् सत् रूप ही नहीं हैं। क्योंकि पर्यायों को कहने वाले पर्यायवाची शब्दों के भेद करके भिन्न-भिन्न अर्थों की उपलब्धि हो रही है।अन्यथा एक ही पर्यायवाची शब्द के द्वारा कथन हो जाने का प्रसंग आयेगा। अथवा पदार्थ की एक ही पर्याय मान लेने से प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न पर्यायों से युक्त पदार्थ तो समभिरूढ़ नय की दृष्टि से सत् है। शेष कोरे सत् तो असत् ही हैं। तथा संग्रहनय की अपेक्षा विधि की कल्पना करते हुए तभी एवंभूत नय के आश्रय से प्रतिषेध की कल्पना कर लेना 'न स्यात् सर्वं सदेव,' सम्पूर्ण पदार्थ कथंचित् सत्रूप ही नहीं हैं। क्योंकि उस-उस क्रिया में परिणत अर्थ का उस प्रकार होना बनता है। अन्य प्रकार से सद्भूतपना मान लेने पर क्रियाओं के संकर हो जाने का प्रसंग आयेगा। अतः संग्रहनय के द्वारा कोरे सत् की विधि हो जाने पर भी क्रिया परिणतियों के बिना यह नय उसको असत् ही कहता जायेगा। इस प्रकार संग्रह की अपेक्षा विधिकल्पना और व्यवहार आदि पाँच नयों से निषेध कल्पना करते हुए पाँच प्रकार के दो मूलभंग तथा संग्रह व्यवहार या संग्रह ऋजुसूत्र आदि दो-दो नय के क्रम और अक्रम की बिवक्षा कर देने से तीसरे उभय भंग और चौथे अवक्तव्य भंग की कल्पना कर लेना चाहिए। और विधिप्रयोजक संग्रहनय का आश्रय करने से तथा साथ कहने के लिए उभय नयों का आश्रय कर लेने से पाँचवें अस्ति अवक्तव्य भंग की तथा प्रतिषेध के प्रयोजक नयों का आश्रय कर लेने से और एक साथ दो नयों के अर्थ प्रतिपादन करने का आश्रय करने से छठे प्रतिषेधावक्तव्य धर्म की कल्पना कर लेनी चाहिए। तथा क्रम से और अक्रम से और उभय नयों के एक साथ प्रतिपादन का आश्रय करने से उन विधि निषेध के साथ दोनों का अवक्तव्य नाम का सातवाँ भंग बन जाता है।

इस प्रकार संग्रह से विधि की विवक्षा करने और उत्तरवर्ती पाँच नयों से निषेध की विवक्षा करने से दो मूलभंगों के द्वारा पाँच सप्तभंगियाँ सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार तीसरे व्यवहार नय से विधि की कल्पना करना चाहिए। "स्यात् सर्वं द्रव्याद्यात्मकं" सम्पूर्ण पदार्थ कथंचित् द्रव्यपर्याय आदि स्वरूप हैं क्योंकि अन्यथा (पदार्थों के द्रव्य, पर्याय आदि स्वरूप माने बिना) प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता आदि के व्यवहार नहीं बन सकते हैं। बौद्धों के अनुसार कोरी कल्पना से उन प्रमाण, प्रमेयपन का व्यवहार माना जायेगा तो स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष का निराकरण कर देने की यथार्थ रूप से व्यवस्था नहीं बन सकेगी। इसके लिए वस्तुभूत द्रव्य या पर्यायों को मानते हुए प्रमाण, प्रमेय, व्यवहार का आश्रय करना पड़ता है। द्रव्य या स्थूल पर्यायों को मानने वाले उस व्यवहारी के प्रति तो अब ऋजुसूत्र नय का आश्रय करने से दूसरे भंग प्रतिषेध

स्वपरपक्षव्यवस्थापननिराकरणयोः परमार्थतोनुपपत्तेरिति तं प्रति तावदृजुसूत्राश्रयात्प्रतिषेधकल्पना, न सर्वं द्रव्याद्यात्मकं, पर्यायमात्रस्योपलब्धेरिति। शब्दसमभिरूढैवंभूताश्रयात् प्रतिषेधकल्पना न सर्वं द्रव्याद्यात्मकं, कालादिभेदेन, पर्यायभेदेन क्रियाभेदेन च भिन्नस्यार्थस्योपलब्धेः इति। प्रथमद्वितीयभंगौ पूर्ववदुत्तरे भंगा इति चतस्रः सप्तभंग्यः प्रतिपत्तव्याः। तथर्जुसूत्राश्रयाद्विधिकल्पना सर्वं पर्यायमात्रं द्रव्यस्य क्वचिदव्यवस्थितेरिति तं प्रति शब्दाश्रयात्प्रतिषेधकल्पना। समभिरूढैवंभूताश्रयाच्च न सर्वं पर्यायमात्रं कालादिभेदेन पर्यायभेदेन क्रियाभेदेन च भिन्नस्य पर्यायस्योपपत्तिमत्त्वादिति। द्वौ भंगौ क्रमाक्रमार्पितोभयनयास्तृतीयचतुर्थभंगाः त्रयोन्ये प्रथमद्वितीयतृतीया एव वक्तव्योत्तरा यथोक्तनययोगादवसेया इति तिस्रः सप्तभंग्यः। तथा शब्दनयाश्रयात्

की कल्पना करनी पड़ती है क्योंकि 'न सर्वं द्रव्याद्यात्मकं' सभी पदार्थ कथंचित् द्रव्य या सहभावी पर्यायोंस्वरूप ही नहीं हैं। क्योंकि केवल वर्तमान काल की सूक्ष्म, स्थूल पर्यायें ही दृश्यमान हैं। द्रव्य या भेद-प्रभेदवान चिरकालीन पर्यायें तो नहीं दीख रही हैं। अतः नास्तित्व भंग सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नयों के आश्रय से प्रतिषेध की कल्पना करना कि 'न सर्वं द्रव्याद्यात्मकं' सम्पूर्ण पदार्थ कथंचित् द्रव्य, पर्याय आदि स्वरूप ही नहीं हैं क्योंकि काल, कारक आदि के भेद से अथवा पर्यायवाची शब्दों के वाच्य अर्थ का भेद करके तथा भिन्न-भिन्न क्रिया परिणतियों के भेद करके भिन्न-भिन्न अर्थों की उपलब्धि हो रही है। मात्र द्रव्य और पर्यायें ही नहीं दीख रहे हैं। इस प्रकार व्यवहारनय की अपेक्षा पहला भंग और शेष चार नयों की अपेक्षा दूसरा-दूसरा भंग बना कर पहले-दूसरे भंगों को बना लेना। पश्चात् पूर्वक्रम के अनुसार क्रम अक्रम आदि द्वारा शेष उत्तरवर्ती पाँच भंगों को बना लेना चाहिए। इस प्रकार ये चार सप्तभंगियाँ समझ लेनी चाहिए।

उसी प्रकार ऋजुसूत्र नय का आश्रय लेने से विधि की कल्पना करना- 'सर्वं जगत् पर्यायमात्रमस्ति' सम्पूर्ण पदार्थ केवल पर्याय स्वरूप ही हैं। नित्यद्रव्य की कहीं भी व्यवस्था नहीं है। इस प्रकार ऋजुसूत्रनय से अस्तित्व की कल्पना करने वाले उस वादी के प्रति शब्द नय का आश्रय लेने से निषेध की कल्पना कर लेना तथा समभिरूढ़ और एवंभूत नय का आश्रय लेने से भी निषेध की कल्पना कर लेना चाहिए क्योंकि सभी पदार्थ केवल काल आदि द्वारा अभेद को धारने वाली पर्यायों स्वरूप नहीं हैं। किन्तु काल, लिंग आदि के भेद करके अथवा भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्दों के भेद करके एवं पृथक्-पृथक् क्रिया परिणतियाँ करके भिन्न हो रही पर्यायें ही सिद्धिमार्ग पर लायी जा चुकी हैं। अर्थात्-शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय तो काल, कारक, रूढ़ि और क्रियापरिणतियों से पृथक्-पृथक् बन रही पर्यायों का ही सत्त्व मानते हैं, वर्त्तमान काल की सामान्य रूप से हो रही पर्यायों का अस्तित्व नहीं मानते हैं। अतः तीन प्रकारों से दूसरा भंग बन गया।

मूलभूत दो भंगों को बनाकर क्रम और अक्रम से यदि दो नयों को विवक्षित किया जायेगा तो तीन प्रकार के तीसरे, चौथे भंग बन जायेंगे। जिनकी उत्तर कोटि में अवक्तव्य पद लग गया है ऐसे प्रथम, द्वितीय और तीसरे भंग ही प्रक्रिया अनुसार ऊपर कहे गये नयों के योग से पाँचवें, छठे, सातवें-ये अन्य तीन भंग समझ लेने चाहिए। इस प्रकार ऋजुसूत्र नय से अस्तित्व की कल्पना करते हुए और शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत नयों से नास्तित्व को मानते हुए दो मूल भगों के द्वारा तीन सप्तभंगियाँ हुईं।

विधिकल्पना सर्वं कालादिभेदाद्भिन्नं विवक्षितकालादिकस्यार्थस्याविवक्षितकालादित्वानुपपत्तेरिति। तं प्रति समभिरूढैवंभूताश्रया प्रतिषेधकल्पना न सर्वं कालादिभेदादेव भिन्नं पर्यायभेदात् क्रियाभेदाच्च भिन्नस्यार्थस्य प्रतीतेः इति मूलभंगद्वयं पूर्ववत् परे पंच भंगाः प्रत्येया इति द्वे सप्तभंग्यौ। तथा समभिरूढ्याश्रया विविधकल्पना सर्वं पर्यायभेदाद्भिन्नं विवक्षितपर्यायस्याविवक्षितपर्यायत्वेनानुपलब्धेरिति तं प्रत्येवंभूताश्रया प्रतिषेधकल्पना न

इसी प्रकार शब्दनय का आश्रय कर लेनेसे विधि की कल्पना करना कि काल, कारक आदि से विभिन्न होते हुए सभी पदार्थ अस्तिस्वरूप हैं क्योंकि विवक्षा को प्राप्त हो रहे काल, कारक आदि से विशिष्ट हुए अर्थ को अविवक्षित काल, कारक आदि से सहितपना असिद्ध है अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने नियत काल, कारक, वचन आदि की अपेक्षा अस्तिरूप हैं।

इस प्रकार अस्तित्व की कल्पना करने वाले उस वादी के प्रति समभिरूढ़ और एवंभूत नयों का आश्रय लेती हुई प्रतिषेध कल्पना कर लेनी चाहिए। क्योंकि केवल काल, कारक आदि के भेद से ही जगत् में भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, ऐसा नहीं है किन्तु पर्यायों के भेद से और क्रिया परिणतियों के भेद से भिन्न-भिन्न स्वरूप पदार्थों की प्रतीति होती है अर्थात् समभिरूढ़ और एवंभूत नय पर्याय और क्रिया-परिणतियों से परिणत पर्यायों की सत्ता को मानते हैं। अतः शब्दनय का व्यापक विषय इनकी दृष्टि में नास्ति है। इस प्रकार दो मूल भंगों को बनाते हुए पूर्व प्रक्रिया के समान शेष पाँच भंगों को भी प्रतीत कर लेना चाहिए। इस प्रकार शब्द नय की अपेक्षा अस्तित्व और समभिरूढ़ एवंभूतों की अपेक्षा नास्तित्व धर्म को मानते हुए दो मूल भंगों द्वारा एक-एक सप्तभंगी को बनाने से दो सप्तभंगियाँ हो जाती हैं।

तथा समभिरूढ़ नय का आश्रय कर विधि की इस प्रकार कल्पना करना चाहिए कि सम्पूर्ण पदार्थ पृथक्-पृथक् पर्यायों को कहने वाले पर्यायवाची शब्दों के भेद से भिन्न अस्तिस्वरूप हैं, क्योंकि विवक्षा में प्राप्त की गई पर्याय की अविवक्षित अन्य पर्यायत्व से उपलब्धि नहीं हो पाती है। इस प्रकार कहने वाले उस विद्वान् के प्रति एवंभूतनय का आश्रय लेते हुए प्रतिषेध की कल्पना कर लेना चाहिए।

क्योंकि पर्याय भेदों से भिन्न सभी पदार्थ जगत् में भेद रूप ही हैं ऐसा नहीं है। किन्तु पृथक्-पृथक् क्रियापरिणतियों के भेद से पर्यायों के भेद की उपलब्धि हो रही है। अर्थात् क्रियाप्रधान एवंभूत नय की अपेक्षा पढ़ाते समय ही (कोई) अध्यापक कहलाता है, अन्य काल में नहीं। इसलिए समभिरूढ़ नय की अपेक्षा जिस पदार्थ की विधि है उसका एवंभूतनय की अपेक्षा निषेध है। इन विधि और निषेध के संयोग से उत्पन्न अन्य पाँच भंग भी पूर्व प्रक्रिया के समान समझ लेने चाहिए। अर्थात् समभिरूढ़ और एवंभूत नयों की क्रम से विवक्षा करने पर तीसरा उभय भंग है। समभिरूढ़ और एवंभूत के गोचर धर्मों की युगपत् विवक्षा करने पर चौथा अवक्तव्य भंग है। विधि के प्रयोजक समभिरूढ़ नय का आश्रय करने और समभिरूढ़, एवंभूत दोनों नयों के एक साथ कथन का आश्रय करने से पाँचवाँ विधि अवक्तव्य भंग है। प्रतिषेध के प्रेरक एवंभूत नय का आश्रय ले लेने और समभिरूढ़ एवंभूत दोनों को एक साथ कहने का आश्रय कर लेने से छठा प्रतिषेधावक्तव्य भंग है। विधि प्रतिषेधों के नियोजक नयों का आश्रय करने से और युगपत् समभिरूढ़

सर्वं पर्यायभेदादेव भिन्नं क्रियाभेदेन पर्यायस्य भेदोपलब्धेरिति। एतत्संयोगजाः पूर्ववत्परे पंचभंगाः प्रत्येतव्या इत्येका सप्तभंगी। एवमेता एकविंशतिसप्तभंग्यः। वैपरीत्येनापि तावत्यः प्रपंचतोभ्यूह्या। तथोत्तरनयसप्तभंग्यः

एवंभूतों की विवक्षा हो जाने से सातवें विधिप्रतिषेधावक्तव्य भंग की कल्पना कर लेनी चाहिए। यह एक सप्तभंगी हुई।

इस प्रकार छह, पाँच, चार, तीन, दो एक, (६+५+४+३+२+१=२१) ये सब मिलाकर इक्कीस सप्तभंगियाँ होती हैं।

विपरीत रूप से भी उतनी ही संख्या वाली २१ सप्तभंगियाँ विस्तार से स्वयं अपने आप तर्कणा करने योग्य हैं। अर्थात् एवंभूतनय की अपेक्षा पढ़ाते समय ही मनुष्य पाठक है। अन्य पर्यायों में या बहुवचन आदि अवस्था में मनन करने की पर्याय में, सामान्य मनुष्यपन के व्यवहार में संगृहीत सत् पदार्थों में और संकल्पित पदार्थों में, वह पाठक नहीं है। अतः एवंभूत नय की अपेक्षा अस्तित्व धर्म को मानकर शेष छह नयों की अपेक्षा नास्तित्व की कल्पना करके दो मूल भंगोंकी भित्ति पर छह सप्तभंगियाँ बना लेना। तथा समभिरूढ़ से विधि की कल्पना करके और शब्द, ऋजुसूत्र, व्यवहार, संग्रह और नैगम नय की अपेक्षा से नास्तित्व की कल्पना में पाँच सप्तभंगियाँ बन जाती हैं। समभिरूढ़ नय की मनीषा है कि सभी पदार्थ अपने-अपने वाच्य पर्यायों में ही आरूढ़ हैं। इसकी व्याप्य दृष्टि में पूर्व-पूर्व नयों के व्यापक विषय नहीं दिखते हैं। अतः समभिरूढ़ से अस्तित्व और शब्द आदि से नास्तित्व ऐसे दो मूल भंगों से पाँच सप्तभंगियाँ बन जाती हैं। तथा शब्द नय की अपेक्षा अस्तित्व और ऋजुसूत्र, व्यवहार, संग्रह, नैगमों की अपेक्षा नास्तित्व को मानते हुए दो मूल भंगों से चार सप्तभंगियाँ बन जाती हैं। शब्दनय को काल, कारक आदि से भिन्न पदार्थ ही दिख रहे हैं। संकल्पित या संगृहीत अथवा व्यवहार में आने वाले पदार्थ या सरल पर्यायें मानों हैं ही नहीं। तथा ऋजुसूत्र की अपेक्षा पहिले अस्तित्व भंग की कल्पना कर व्यवहार, संग्रह, नैगम नयों से दूसरे नास्तित्व भंग की अपेक्षा हुए दो मूल भंगों द्वारा तीन सप्तभंगियाँ बना लेना। ऋजुसूत्र नय वर्तमान पर्यायों पर ही दृष्टि रखता हैं। व्यवहार करने योग्य या संग्रह प्रयोजक धर्म अथवा संकल्प इनका स्पर्श नहीं करता है। तथा व्यवहार नय से अस्तित्व की कल्पना कर संग्रह, नैगम नयों से प्रतिषेध की कल्पना करते हुए दो मूलभंगों द्वारा दो सप्तभंगियाँ बना लेना। व्यवहार में आने वाले द्रव्य, पर्याय आदि ही पदार्थ हैं। सत् सामान्य से संगृहीत पदार्थ कहीं एकत्रित नहीं होते हैं। तथा संग्रहनय की अपेक्षा से अस्तित्व मानते हुए नैगम की अपेक्षा नास्तित्व भंग की कल्पना कर पूर्वोक्त पद्धति अनुसार एक सप्तभंगी बना लेनी चाहिए। इस प्रकार विपरीतपने करके भी ६+५+४+३+२+१=२१ इक्कीस सप्तभंगियाँ हुईं।

उत्तरवर्ती नयों करके पूर्ववर्ती नयों के विषय का सर्वथा निषेध नहीं कर दिया गया है, जिससे कि इनको कुनयपने का प्रसंग प्राप्त हो, किन्तु उपेक्षा भाव है। पूर्व की सप्तभंगियों में भी तो उत्तरवर्ती नयों द्वारा प्रतिषेध कल्पना उपेक्षा भावों के अनुसार ही की गयी थी। अन्य कोई उपाय नहीं।

उसी प्रकार मूल नयों के समान उत्तर नयों की भी सम्पूर्ण सप्तभंगियाँ समझ लेनी चाहिए। परस्पर में विरुद्ध दो अर्थों में से किसी भी एक की अथवा नैगमनय के नौ भेद प्रभेदों में से किसी भी एक की अपने गृहीत विषय अनुसार विधि करने पर और उसके प्रतिपक्षी नय का आश्रय लेने से उस धर्म का प्रतिषेध करने

सर्वा: परस्परविरुद्धार्थयोर्द्वयोर्नवभेदप्रभेदयोरेकतरस्य स्वविषयविधौ तत्प्रतिपक्षस्य नयस्यावलंबनेन तत्प्रतिषेधे मूलभंगद्वयकल्पनया यथोदितन्यायेन तदुत्तरभंगकल्पनया च प्रतिपर्यायमवगंतव्या:। पूर्वोक्तप्रमाणसप्तभंगीवत्तद्विचारश्च कर्तव्य:। प्रतिपादितनयसप्तभंगीष्वपि प्रतिभंगं स्यात्कारस्यैवकारस्य च प्रयोगसद्भावात्। तासां विकलादेशत्वादेश्च सकलादेशत्वादेस्तत् सप्तभंगीत: सकलादेशात्मिकाया विशेषव्यवस्थापनात्। येन च कारणेन सर्वनयाश्रया: सप्तधा वचनमार्गा: प्रवर्तंते॥

पर दो मूल भंगों की कल्पना करके पूर्व में कही गयी यथायोग्य न्याय पद्धति से और उन दो के उत्तरवर्ती पाँच भंगों की कल्पना करके प्रत्येक पर्याय में सप्तभंगियाँ समझ लेनी चाहिए। अर्थात् - नैगम के नौ भेदों में परस्पर अथवा संग्रह आदि के उत्तर भेदों के अनुसार दो मूल भंगों को बनाते हुए सैकड़ों सप्तभंगियाँ बनायी जा सकती हैं। प्रश्नवश एक वस्तु में विधि निषेधों की व्यस्त और समस्त रूप के द्वारा कल्पना करना सप्तभंगी है। अर्थ पर्याय नैगम की अपेक्षा विधि की कल्पना कर और पर संग्रह का अवलम्ब लेकर निषेध की कल्पना करके दो मूल भंगों के द्वारा सप्तभंगी बना लेना।

पूर्व प्रकरणों में कही गयी प्रमाण सप्तभंगियों के समान नय सप्तभंगियों का विचार भी कर लेना चाहिए। अर्थात् - ''प्रमाणनयैरधिगम:'' सूत्र में अड़तालीसवीं वार्तिक से छप्पनवीं वार्तिक तक प्रमाणसप्तभंगी का जिस प्रकार विचार किया गया है, उसी प्रकार का नय सप्तभंगी का विचार यहाँ करना चाहिए। प्रमाण सप्तभंगी में अन्य धर्मों की अपेक्षा रहती है और नय सप्तभंगी में अन्य धर्मों की उपेक्षा रहती है। उक्त सभी नय सप्तभंगियों में प्रत्येक भंग के साथ कथंचित् को कहने वाले स्यात्कार का और व्यवच्छेद को करने वाले एवकार के प्रयोग का सद्भाव पाया जाता है। 'स्यात्कार: सत्यलाञ्छन:' - सत्य की छाप स्यात्कार है और दृढ़ता का बोधक एवकार है।

उन नय सप्तभंगियों को विकलादेश शब्दपना, विकलज्ञानपना तथा विकल अर्थपना आदि है। किन्तु प्रमाण सप्तभंगियों को सकलादेश शब्दपना आदि है। इस कारण सकलादेशस्वरूप उस प्रमाण सप्तभंगी से इस नयसप्तभंगी के विशेष हो जाने की व्यवस्था है अर्थात् अनन्त सप्तभंगियों के विषय हो रहे अनन्त धर्मसप्तक स्वभाव वस्तु का काल, आत्मरूप आदि के द्वारा अभेदवृत्ति या अभेद उपचार का प्रकाशक वाक्य सकलादेश है और एक सप्तभंगी के विषयभूत स्वभावों का प्रकाशक वाक्य विकलादेश है।

जिस कारण से वस्तु स्वभावों के अनुसार सात प्रकार के संशय, जिज्ञासा और प्रश्न उठते हैं, इसी कारण सम्पूर्ण नयों के अवलम्बनभूत सात प्रकार के ही वचन मार्ग हैं। न्यून और अधिक वाक्यों की सम्भावना नहीं है।

अत: ये सभी नय दूसरे श्रोताओं के प्रति वाच्य अर्थ का प्रतिपादन करने पर तो शब्दस्वरूप नय हैं और ज्ञान करने वाले आत्मा को स्वार्थों का प्रकाश करने की विवक्षा होने पर ये सभी नय ज्ञानस्वरूप व्यवस्थित हैं। 'नीयतेऽनेन इति नय:' यह करणसाधन व्युत्पत्ति करने पर उक्त अर्थ लब्ध हो जाते हैं। स्वयं आत्मा को ज्ञान और अर्थ का प्रकाश तो ज्ञान स्वरूप नयों के द्वारा है और दूसरों के प्रति ज्ञान और अर्थ

सर्वे शब्दनयास्तेन परार्थप्रतिपादने। स्वार्थप्रकाशने मातुरिमे ज्ञाननयाः स्थिताः ॥९६॥
वै नीयमानवस्त्वंशाः कथ्यंतेऽर्थनयाश्च ते। त्रैविध्यं व्यवतिष्ठंते प्रधानगुणभावतः ॥९७॥

किं पुनरमीषां नयानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिराहोस्वित्प्रतिविशेषोस्तीत्याह–

यत्र प्रवर्तते स्वार्थे नियमादुत्तरो नयः। पूर्वपूर्वो नयस्तत्र वर्तमानो न वार्यते ॥९८॥
सहस्रेष्ट शती यद्वत्तस्यां पंचशती मता। पूर्वसंख्योत्तरत्वाभ्यां संख्यायामविरोधतः ॥९९॥

परः परः पूर्वत्र पूर्वत्र कस्मान्नयो न प्रवर्तत इत्याह–

पूर्वत्र नोत्तरा संख्या यथायातानुवर्त्यते। तथोत्तरनयः पूर्वनयार्थसकले सदा ॥१००॥

का प्रकाश होना शब्द स्वरूप नयों के द्वारा सम्भव है। तथा 'नीयन्ते ये इति नयाः' - यों कर्म साधन नय शब्द की निरुक्ति करने पर तो निश्चय से वस्तु के ज्ञात अंश वे अर्थस्वरूप नय हैं। इस प्रकार प्रधान और गौण रूप से ये नय तीन प्रकार व्यवस्थित हैं। अर्थात् - प्रधान रूप से ज्ञानस्वरूप ही नय हैं। किन्तु गौण रूप से नय वाचक शब्द को भी नय कह देते हैं। तथा गौण गौण रूप से वाच्य अर्थ को भी नय कह देते हैं। जगत् में ज्ञान, शब्द और अर्थ तीन ही पदार्थ गणनीय हैं।

"बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रोबुद्ध्यादिवाचिका :" ऐसा श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा है। ज्ञाननय प्रमाता को स्वयं अपने लिये अर्थ का प्रकाश कराते हैं। शब्दनय दूसरों के प्रति अर्थ का प्रकाश कराते हैं। अर्थनय तो स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं ॥९६-९७॥

इन सभी नयों की फिर क्या एक ही अर्थ में प्रवृत्ति होती है? अथवा क्या कोई विलक्षणता का सम्पादक विशेष है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं -

जिस-जिस स्वार्थ को विषय करने में उत्तरवर्ती नय नियम से प्रवृत्ति करता है, उस स्वार्थ को जानने में पूर्व पूर्ववर्तीनय प्रवृत्ति करता हुआ नहीं रोका जाता है। जैसे कि सहस्र में आठसौ समा जाते हैं और उस आठ सौ संख्या में पाँच सौ गर्भित माने जाते हैं। पूर्व संख्या नियम से उत्तर संख्या में प्रवृत्ति करती है, इसमें कोई विरोध नहीं है ॥९८-९९॥

भावार्थ - व्यवहारनय द्वारा जाने गये पदार्थ में संग्रहनय और नैगम नय प्रवृत्त हो सकते हैं। कोई विरोध नहीं है। पूर्ववर्ती नयों का विषय व्यापक है और उत्तरवर्ती नयों का विषय व्याप्य है। पूर्ववर्ती नय उत्तरवर्ती नय का जनक है।

उत्तर-उत्तरवर्ती नय पूर्व-पूर्व के नयों के विषयों में कैसे प्रवृत्ति नहीं करते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं -

जिस प्रकार उत्तर उत्तरवर्तिनी संख्या यथायोग्य चली आरही पूर्व-पूर्व की संख्याओं में अनुवर्तन नहीं करती है, उसी प्रकार उत्तरवर्ती नय पूर्ववर्ती नयों के परिपूर्ण विषय में सदा प्रवृत्ति नहीं करते हैं। अर्थात् जैसे पाँच सौ में पूरे आठ सौ नहीं रहते हैं, उसी प्रकार पूर्व नयों के व्यापक विषयों में अल्पग्राहिणी उत्तरवर्ती नय प्रवृत्ति नहीं करते हैं ॥१००॥

प्रमाणनयानामपि परस्परविषयगमनविशेषेण विशेषितश्चेति शंकायामिदमाह–

नयार्थेषु प्रमाणस्य वृत्तिः सकलदेशिनः। भवेन्न तु प्रमाणार्थे नयानामखिलेषु सा ॥१०१॥

किमेवं प्रकारा एव नयाः सर्वेप्याहुस्तद्विशेषाः संति? अपरेपीत्याह–

संक्षेपेण नयास्तावद्व्याख्यातास्तत्र सूचिताः। तद्विशेषाः प्रपंचेन संचिंत्या नयचक्रतः ।१०२।

एवमधिगमोपायभूताः **प्रमाणनयाः** व्याख्याताः (य)॥

इति नयसूत्रस्य व्याख्यानं समाप्तं॥

प्रमाण और नयों को भी परस्पर में विषयों के गमन विशेष से कोई विशेषता प्राप्त है क्या? इस प्रकार आशंका होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं -

सकल वस्तु को ग्रहण करके जानने वाले प्रमाण की प्रवृत्ति तो नयों द्वारा गृहीत किये गये अर्थों में अवश्य होती है। किन्तु नयों की यह प्रवृत्ति इस प्रमाण द्वारा गृहीत अर्थों में सम्पूर्ण अंशों में नहीं होती है। अर्थात् प्रमाण ने अभेदवृत्ति करके वस्तु के सम्पूर्ण अंशों को जाना है और नयों द्वारा वस्तु के एक अंश या कतिपय अंशों को ही जाना जाता है, अतः व्यापकग्राही प्रमाण तो नयों के विषय में प्रवृत्ति कर लेता है किन्तु नय प्रमाणगृहीत सभी अंशों को स्पर्श नहीं कर सकता है। अथवा नय जिस प्रकार अन्तस्तलस्पर्शी होकर वस्तु के अंश को जता देता है, उस प्रकार प्रमाण की या श्रुत ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं है। तभी तो प्रमाण, नय दोनों को स्वतंत्रता से अधिगम का कारण माना गया है।

सम्पूर्ण नय इतने ही प्रकार के हैं अथवा और भी उनके विशेष भेद हैं? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द आचाय** कहते हैं कि कथित प्रकारों से अतिरिक्त भी नय विद्यमान हैं।

श्री उमास्वामी महाराज ने उस नय प्रतिपादक सूत्र में संक्षेप से नयों की सूचना कर दी है।

तदनुसार कुछ भेद, प्रभेद, करते हुए **श्री विद्यानन्द स्वामी** ने उन नयों का व्याख्यान कर दिया है। अधिक विस्तार से उन नयों के विशेष भेद प्रभेदों का **नयचक्र** नामक ग्रन्थ से विद्वान् पुरुषों को चिन्तन कर लेना चाहिए, समझ लेना चाहिए॥१०२॥

इस प्रकार अधिगम के प्रकृष्ट उपायभूत प्रमाण और नयों का यहाँ तक व्याख्यान कर दिया है। 'प्रमाणनयैरधिगमः' आदि पहिले कई सूत्रों में प्रमाणों का व्याख्यान है और प्रथम अध्याय के इस अन्तिम सूत्र में नयों का विवरण किया गया है, क्योंकि प्रमाण, नय स्वरूप ही न्याय है।

इस प्रकार नयों का प्रतिपादन करने वाले "नैगम संग्रह व्यवहारर्जुसूत्रशब्द समभिरूढैवंभूता नयाः" इस सूत्र का व्याख्यान पूर्ण हुआ है।

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

卐 तत्त्वार्थाधिगमभेदः 卐

अथ तत्त्वार्थाधिगमभेदमाह–

तत्त्वार्थाधिगमस्तावत्प्रमाणनयतो मतः।
सर्वः स्वार्थः परार्थो वाध्यासितो द्विविधो यथा ॥१॥

अधिगच्छत्यनेन तत्त्वार्थानधिगमयत्यनेनेति वाधिगमः स्वार्थो ज्ञानात्मकः, परार्थो वचनात्मक इति प्रत्येयम्॥

परार्थाधिगमस्तत्रानुद्भवद्रागगोचरः। जिगीषु गोचरश्चेति द्विधा शुद्धधियो विदुः ॥२॥
सत्यवाग्भिर्विधातव्यः प्रथमस्तत्त्ववेदिभिः। यथा कथंचिदित्येष चतुरंगो न संमतः ॥३॥

यहाँ तक प्रथम अध्याय के सूत्रों का विवरण करके **विद्यानंद आचार्य** अब तत्त्वार्थ के अधिगम के भेद कहते हैं -

सर्वप्रथम उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वों के जानने का उपाय प्रमाण और नय कहा है। वह प्रमाण स्वार्थ और परार्थ के भेद से दो प्रकार का माना गया है अर्थात् सर्व अधिगम स्व पर के लिए होता है॥१॥

जिस ज्ञान के द्वारा जीव तत्त्वार्थों को जानता है व जाना जाता है, दूसरों को समझाया जाता है उसको **अधिगम** कहते हैं। अधि उपसर्ग पूर्वक 'गम्' धातु से 'अच्' प्रत्यय करके अधिगम शब्द की निष्पत्ति होती है वह कर्तृ वाच्य है। इसका अर्थ ज्ञानस्वरूप अधिगम है। तथा अधिपूर्वक 'गम्' धातु से ण्यन्त प्रक्रिया में णिच् प्रत्यय करके पुनः अच् प्रत्यय की विधि के द्वारा जो अधिगम शब्द की निष्पत्ति की जाती है वह अधिगतिं के प्रेरक शब्द को कहता है- जैसे पढ़ना और पढ़ाना। वैसे ही समझना और समझाना।

ज्ञानात्मक अधिगम स्व के लिए उपयोगी होता है और वचनात्मक अधिगम अन्य श्रोताओं के लिए उपयोगी होता है। ऐसा समझना चाहिए।

शुद्ध बुद्धि वाले महापुरुषों ने वह परार्थ अनुमान दो प्रकार का कहा है। प्रथम राग द्वेष के अगोचर होता है- जिसमें तत्त्वों के जानने की अभिलाषा होती है। दूसरे में वादी को जीतने की इच्छा होती है। गोचर का अर्थ विषय है।

अर्थात् - वस्तु के स्वरूप को जानने के लिए जो वीतराग भावना से गुरु शिष्य की परस्पर चर्चा होती है उसको वाद कहते हैं। और परस्पर में एक दूसरे को जीतने की इच्छा से जो वचन व्यवहार होता है-उसे विवाद कहते हैं। इस प्रकार शब्दात्मक पदार्थ का अधिगम दो प्रकार का है॥२॥

वीतराग पुरुषों में होने वाला प्रथम शब्द रूप अधिगम सत्यवचन कहने वाले तत्त्ववेत्ता पुरुषों के द्वारा विधान करने योग्य है। यह संवाद तो यथायोग्य चाहे किसी भी प्रकार से किया जा सकता है। इसमें सभ्य, सभापति, वादी और प्रतिवादी इन चार अंगों का होना आवश्यक नहीं माना है॥३॥

प्रवक्त्राज्ञाप्यमानस्य प्रसभज्ञानपेक्षया। तत्त्वार्थाधिगमं कर्तुं समर्थोऽथ च शाश्वतः ॥४॥
विश्रुतः सकलाभ्यासाज्ज्ञायमानः स्वयं प्रभुः। तादृक्सभ्यसभापत्य भावेपि प्रतिबोधकः ॥५॥
साभिमानजनारब्ध्यश्चतुरंगो निवेदितः। तज्ज्ञैरन्यतमापायेप्यर्थापरिसमाप्तितः ॥६॥
जिगीषद्भ्यां विना तावन्न विवादः प्रवर्तते। ताभ्यामेव जयोन्योन्यं विधातुं न च शक्यते ॥७॥
वादिनो स्पर्द्धया वृद्धिरभिमानप्रवृद्धितः। सिद्धे वाचाकलंकस्य महतो न्यायवेदिनः ॥८॥
स्वप्रज्ञापरिपाकादिप्रयोजनेति केचन। तेषामपि विना मानाद्द्वयोर्यदि स संमतः ॥९॥
तदा तत्र भवेद्व्यर्थः सत्प्राश्निकपरिग्रहः। ज्ञेयं प्रश्नवशान्नैव कथं तैरिति मन्यते ॥१०॥

यह वीतराग पुरुषों में होने वाला संवाद उत्कृष्ट ज्ञान वा निर्मल ज्ञान की अपेक्षा से प्रामाणिक वक्ता के द्वारा आज्ञापित पुरुष को तत्त्वार्थों का अधिगम कराने में समर्थ है। इसलिए यह शाश्वत है अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञानी पुरुष की आज्ञानुसार कोई भी सज्जन पुरुष कभी भी तत्त्वों का निर्णय करने के लिए संवाद कर सकता है ॥४॥

जो वक्ता सम्पूर्ण शास्त्रों का अभ्यास करने से जगत् प्रसिद्ध विद्वान् है, स्वयं दूसरों को समझाने के लिए अपने सिद्धान्त में निष्णात (प्रभु) है, वह प्रवक्ता वैसे सभ्य और सभापति के अभाव में भी जिज्ञासु शिष्यों का प्रबोधक हो सकता है ॥५॥

परस्पर एक दूसरे को जीतने की इच्छा रखने वाले अभिमानी पुरुषों के द्वारा जो वाद (शास्त्रार्थ) प्रारंभ किया जाता है, उस वाद के वादी, प्रतिवादी, सभ्य (सभासद) और सभापति - ये चार अंग शास्त्र को जानने वालों ने निवेदन किये हैं (माने हैं)। विवाद में चार अंगों में से किसी एक अंग के नहीं होने पर अर्थ की परिसमाप्ति नहीं होती है। अर्थात् परिपूर्ण प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥६॥

एक दूसरे को जीतने के इच्छुक वादी-प्रतिवादी के बिना विवाद की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तथा उन दोनों ही के द्वारा जय-पराजय का विधान (निर्णय) करना शक्य नहीं है अर्थात् जय-पराजय की व्यवस्था (निर्णय) करने के लिए सभ्य पुरुष और सभापति की आवश्यकता होती है ॥७॥

न्यायशास्त्र को परिपूर्ण रूप से जानने वाले न्यायवेदी महान् विद्वान् अकलंकदेव के वचन से यह सिद्ध हो चुका है कि वादी और प्रतिवादी पुरुष के प्रतिस्पर्धा से वृद्धि को प्राप्त अभिमान स्वकीय पराजय और दूसरे की जय को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं है। अतः सभ्य और सभापति की आवश्यकता होती है ॥८॥

स्वकीय प्रज्ञा (बुद्धि) के परिपाक (अन्य को समझाने के लिए संकलना, ज्ञान की वृद्धि का अभ्यास) आदि प्रयोजन के कारण सभ्य और सभापति के बिना भी वादी और प्रतिवादी में विवाद की प्रवृत्ति देखी जाती है। ऐसा कोई कहता है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि उन वादी प्रतिवादियों ने यदि प्रमाण के बिना ही प्रज्ञा का परिपाक होना मान लिया है तब तो सभ्य (श्रेष्ठ) पुरुषों को या प्राश्निक पुरुषों को एकत्रित करना व्यर्थ है। परन्तु "प्रश्न के कारण ज्ञेय पदार्थ व्यवस्थित नहीं है"- यह वादी प्रतिवादी के द्वारा स्वयं कैसे माना जा सकता है?

अर्थात् वे कैसे स्वीकार कर सकते हैं कि हमारा कथन ठीक नहीं है। अतः सभ्य और सभापति की आवश्यकता है ॥९-१०॥

तयोरन्यतमस्य स्यादभिमानः कदाचन। तन्निवृत्त्यर्थमेवेष्टं सभ्यापेक्षणमत्र चेत्॥११॥
राजापेक्षणमप्यस्तु तथैव चतुरंगता। वादस्य भाविनीमिष्टामपेक्ष्य विजिगीषताम्॥१२॥
सभ्यैरनुमतं तत्त्वज्ञानं दृढतरं भवेत्। इति ते वीतरागाभ्यामपेक्ष्यास्तत एव चेत्॥१३॥
तच्चेन्महेश्वरस्यापि स्वशिष्यप्रतिपादने। सभ्यापेक्षणमप्यस्तु व्याख्याने च भवादृशां॥१४॥
स्वयं महेश्वरः सभ्यो मध्यस्थस्तत्त्ववित्त्वतः। प्रवक्ता च विनेयानां तत्त्वख्यापनतो यदि॥१५॥
तदान्योपि प्रवक्तैवं भवेदिति वृथा तव। प्राश्निकापेक्षणं चापि समुदायत्वमुदाहृतः॥१६॥
यथा चैकः प्रवक्ता च मध्यस्थोभ्युपगम्यते। तथा सभापतिः किं न प्रतिपाद्यः स एव ते॥१७॥

कोई कहता है कि वादी और प्रतिवादी में कभी किसी एक के मन में अभिमान आ जाने से वह यद्वा तद्वा प्रवृत्ति करने लग जाता है, तब उस असभ्य आचरण की निवृत्ति के लिए[1] सभ्यपुरुषों की अपेक्षा करना इष्ट होता है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि यद्यपि विशिष्ट ज्ञाता के विवाद में सभ्य पुरुषों की आवश्यकता नहीं है तथापि राजा की अपेक्षा से विवाद के चार अंग माने हैं, तथा भावी काल में होने वाले विवाद के विजय की इच्छा रखने वाले विद्वानों की अपेक्षा से भी विवाद के चार अंग माने गये हैं।

भावार्थ - प्रत्येक वादी और प्रतिवादी यह चाहता है कि हमारी विजय होनी चाहिए और वह भी ज्ञानी पुरुषों के समीप। अतः विवाद में सभ्य और सभापति की आवश्यकता होती है॥११-१२॥

"सभा में स्थित सभ्य पुरुषों के द्वारा अनुमति को प्राप्त तत्त्वज्ञान अधिक दृढ़तर हो जाता है। इसलिए विवाद में सभ्यों की उपस्थिति अवश्य होनी चाहिए।" इस प्रकार वादी के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं- कि इस प्रकार तो तत्त्वज्ञान को दृढ़ करने के लिए वीतराग वादी-प्रतिवादियों के द्वारा भी सभ्यों की अपेक्षा की जानी चाहिए। अर्थात् सभ्य पुरुषों के द्वारा अनुमित तत्त्वज्ञान दृढ़ हो जाता है और ऐसा होने पर महेश्वर को भी अपने शिष्यों को तत्त्व का प्रतिपादन करते समय सभ्यों की अपेक्षा करनी पड़ेगी तथा आप जैसे विद्वानों को भी व्याख्यान के समय सभ्यों की उपस्थिति की आवश्यकता होगी। परन्तु ऐसा एकान्त प्रतीत नहीं होता है॥१३-१४॥

यदि कहो कि - महेश्वर स्वयं सभ्य है, तत्त्वों का यथार्थ वेत्ता होने से मध्यस्थ है तथा विनयी शिष्यों के प्रति तत्त्वों का व्याख्यान करने वाला होने से उत्कृष्ट वक्ता भी है (इसलिए उसको सभ्य की आवश्यकता नहीं है), तब तो हम कहेंगे कि अन्य विद्वान् भी इसी प्रकार प्रकृष्ट वक्ता हो जाएगा। अतः तुम्हारा भी प्राश्निको (सभ्यों) की अपेक्षा का कथन व्यर्थ होता है, जो कि तुम (नैयायिकों) ने हर्ष के साथ कहा है॥१५-१६॥

जिस प्रकार नैयायिकों ने एक ही ईश्वर को प्रवक्ता और मध्यस्थ स्वीकार किया है, वैसे ही उसको सभापति और प्रतिपाद्य (शिष्य) क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाता है? ॥१७॥

१. जो वादी-प्रतिवादी के सिद्धान्त के ज्ञाता हैं तथा असमीचीन प्रवृत्ति का निराकरण करके समीचीन प्रवृत्ति कराते हैं वे सभ्य कहलाते हैं।

मर्यादातिक्रमाभावहेतुत्वाद्बोध्यशक्तितः। प्रसिद्धप्रभावात्तादृग्विनेयजनवद्ध्रुवम् ॥१८॥
स्वयं बुद्धः प्रवक्ता स्यात् बोध्यसंदिग्धधीरिह। तयोः कथं सहैकत्र सद्भाव इति चाकुलं ॥१९॥
प्राश्निकत्वप्रवक्तृत्वसद्भावस्यापि हानितः। स्वपक्षरागौदासीनविरोधस्यानिवारणात् ॥२०॥
पूर्वं वक्ता बुधः पश्चात्सभ्यो न व्याहतो यदि। तदा प्रबोधको बोध्यस्तथैव न विरुध्यते ॥२१॥
वक्तृवाक्यानुवदिता स्वस्य स्यात्प्रतिपादकः। तदर्थं बुध्यमानस्तु प्रतिपाद्योनुमन्यताम् ॥२२॥
तथैकांगोपि वादः स्याच्चतुरंगो विशेषतः। पृथक् सभ्यादिभेदानामनपेक्षाच्च सर्वदा ॥२३॥

क्योंकि सभापति का कार्य है मर्यादा का उल्लंघन नहीं करने देना। मर्यादा के अतिक्रमण के अभाव का हेतु होने से महेश्वर सभापति भी हो सकता है। क्योंकि सभापति के लिए उपयोगी प्रभाव भी महेश्वर में प्रसिद्ध है। तथा विनयशील शिष्य के समान ज्ञान प्राप्त करने योग्य शक्ति वाला होने से शिष्य भी हो सकता है। तथा ऐसे प्रसिद्ध प्रभाव से युक्त होने से वह महेश्वर शिष्य भी है॥१८॥

जो स्वयंबुद्ध होता है, वह प्रवक्ता होता है और बोध कराने योग्य पठनीय विषय में सन्देहबुद्धि को धारण करने वाला शिष्य होता है। अतः यहाँ शिष्य और गुरु का एक साथ सद्भाव कैसे पाया जा सकता है? यह कथन एकान्तवादियों को आकुलता का उत्पादक है। क्योंकि एक ही ईश्वर व्याख्याता और शिष्य दोनों नहीं हो सकता है॥१९॥

जिस प्रकार महेश्वर में प्रतिपादकत्व और प्रतिपाद्यत्व दो धर्म एक साथ नहीं रहते हैं, उसी प्रकार महेश्वर के प्राश्निकत्व और प्रवक्तृत्व के सद्भाव की हानि (अभाव) है। क्योंकि प्रवक्ता को अपने पक्ष का राग होता है और प्राश्निक जन दोनों पक्षों में उदासीन रहते हैं। अतः एक ही पुरुष में स्वपक्ष का राग और परपक्ष की उदासीनता के विरोध का निवारण नहीं हो सकता॥२०॥

यदि नैयायिक कहें कि एक ही पुरुष पूर्व अवस्था में प्रवक्ता होता है, वही मानव दूसरे समय में सभ्य (प्राश्निक वा मध्यस्थ) हो जाता है, इसमें व्याघात दोष नहीं आता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो प्रबोधक (गुरु) वा प्रबन्धक सभापति और बोध्य (शिष्य) वा प्रतिवादी भी एक ही पुरुष हो जायेगा। इसमें भी कोई विरोध नहीं आयेगा अर्थात् इसमें अनेकान्त की सिद्धि हो जायेगी॥२१॥

इस कथन से एक ही वक्ता (तत्त्वों का विवेचन करने वाला) अपने वाक्यों का अनुवादन करने वाला होने से प्रतिपादक है और स्वयं अर्थ को समझने वाला होने से प्रतिपाद्य (शिष्य) भी है अर्थात् एक ही मानव प्रतिपाद्य और प्रतिपादक दोनों ही अवस्थाओं को धारण कर रहा है, ऐसा मानना चाहिए॥२२॥ इस प्रकार एक अंग वाला भी चार अंग वाला हो जाता है।

पृथक् - पृथक् वादी, प्रतिवादी, सभ्य, सभापति आदि भेदों की अपेक्षा न होने से एकांग वाला भी वाद अविशेषता से चतुरंग हो जाता है॥२३॥

यथा वाद्यादयो लोके दृश्यंते तेन्यभेदिनः। तथा न्यायविदामिष्टा व्यवहारेषु ते यदि ॥२४॥
तदा भावात्स्वयं वक्तुः सभ्या भिन्ना भवंतु ते। सभापतिश्च तद्बोध्यजनवंतश्च नेष्यते ॥२५॥
जिगीषाविरहात्तस्य तत्त्वं बोधयतो जनान्। न सभ्यादिप्रतीक्षास्ति यदि वादे क्व सा भवेत् ॥२६॥
ततो वादो जिगीषायां वादिनोः संप्रवर्तते। सभ्यापेक्षणतो जल्पवितंडावदिति स्फुटं ॥२७॥
तदपेक्षा च तत्रास्ति जयेतरविधानतः। तद्वदेवान्यथा तत्र सा न स्यादविशेषतः ॥२८॥
सिद्धो जिगीषतोर्वादश्चतुरंगस्तथा सति। स्वाभिप्रेतव्यवस्थानाल्लोकप्रख्यातवादवत् ॥२९॥

जैसे लोक म दूसरों का भेद करने वाले वादी प्रतिवादी आदि देखे जाते हैं, उसी प्रकार न्यायशास्त्रों को जानने वाले विद्वानों के व्यवहारों में भी दूसरों का भेद करने वाले वादी आदि इष्ट कर लिये जाते हैं, स्वीकार कर लिये जाते हैं अर्थात् जैसे लौकिक जन किसी कारणवश परस्पर विवाद करते हैं उनमें वादी-प्रतिवादी की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार न्यायग्रन्थों में भी किसी कारणवश वादी-प्रतिवादी की कल्पना जाती है। इस प्रकार नैयायिक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो पदार्थों का स्वयं विवेचन करने वाले वक्ता से सभ्य (सभासद) पृथक् ही है। और वक्ता के द्वारा समझाने योग्य सभ्य (वा शिष्य) के समान सभापति भी भिन्न होना चाहिए। परन्तु नैयायिक सिद्धान्त में वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति इनको भिन्न-भिन्न स्वीकार नहीं किया गया है॥२४-२५॥

यदि नैयायिक कहे कि श्रोतागण को तत्त्व का स्वरूप समझाने वाले महेश्वर के जीतने की इच्छा का अभाव होने से सभ्य, सभापति आदि की अपेक्षा नहीं होती है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो विवाद में भी सभ्य, सभापति आदि की प्रतीक्षा क्यों होनी चाहिए? परन्तु नैयायिक ने वाद में सभ्य सभापति आदि को स्वीकार किया है। इससे सिद्ध होता है कि वादी प्रतिवादी के परस्पर जीतने की इच्छा होने पर ही वाद प्रवर्त्त होता है। इसलिए जल्प और वितंडा के समान विवाद में भी स्पष्ट रूप से सभ्य, सभापति आदि की अपेक्षा होती है।

अर्थात् जिस प्रकार जल्प और वितण्डा जीत को चाहने वाले में ही होता है, उसी प्रकार वाद भी विजिगिषु पुरुषों में ही होता है। इसलिए वीतराग कथा को वाद नहीं कहते हैं॥२६-२७॥

जल्प और वितंडा के समान जय और पराजय का विधान होने से वाद में भी सभ्य, सभापति आदिकी अपेक्षा होती है। अन्यथा (यदि वाद में सभ्य आदि की अपेक्षा नहीं की जायेगी तो) अन्यत्र (जल्प और वितंडा में) भी सभ्य आदि की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। क्योंकि जल्प और वितंडा से वाद में कोई विशेषता नहीं है॥२८॥ इसलिए ऐसा होने पर अनुमान से यह सिद्ध होता है कि लोक प्रसिद्ध वाद (मुकदमा लड़ना आदि) के समान जीतने की इच्छा रखने वाले वादी प्रतिवादी में होने वाला वाद भी अपने अभिप्रेत विषय का व्यवस्थापक होने से चतुरंग (वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति युक्त) है॥२८-२९॥

ननु च प्राश्निकापेक्षणाविशेषेपि वादजल्पवितंडानां न वादो जिगीषतोस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वरहितत्वात्। यस्तु जिगीषतोर्न स तथा सिद्धो यथा जल्पो वितंडा च तथा वादः तस्मान्न जिगीषतोरिति। न हि वादस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थो भवति जल्पवितंडयोरेव तथात्वात्। तदुक्तं। "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितंडे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कंटकशाखावरणवदिति। तदेतत्प्रलापमात्रं, वादस्यैव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वोपपत्तेः। तथाहि–वाद एव तत्त्वाध्यवसायरक्षणार्थः प्रमाणतर्कसाधनोपालंभत्वे सिद्धांताविरुद्धत्वे पंचावयवोपपन्नत्वे च सति पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहत्वात्, यस्तु न तथा स न यथा आक्रोशादिः,

---

नैयायिक प्रश्न करता है वा कहता है कि यद्यपि वाद, जल्प और वितण्डा के बीच प्राश्निक (सभ्य) पुरुषों की अपेक्षा में कोई विशेषता नहीं है, तथापि वाद जीतने की इच्छा रखने वाले पुरुषों में नहीं होता है। क्योंकि वह तत्त्वनिर्णय की रक्षा के प्रयोजन से रहित है। परन्तु जो जीतने की इच्छा रखने वालों में प्रवर्त्त रहा है वह तत्त्व निर्णय का संरक्षण करने रूप प्रयोजन से रहित नहीं है। जैसे कि जल्प और वितण्डा हैं। अर्थात् जैसे जीतने की इच्छा से प्रवर्त्त होने वाला जल्प और वितण्डा तत्त्व के निर्णायक नहीं हैं, उसी प्रकार जीतने की इच्छा रखने वालों में होने वाला वाद भी तत्त्व का निर्णायक नहीं है। अतः तत्त्व का निर्णय करने के लिये वाद नहीं होता है। इसलिए जीतने की इच्छा करने वाले में होने वाला विवाद वाद नहीं है। वाद तत्त्व के निर्णय की रक्षा करने के लिए नहीं है। परन्तु जल्प और वितण्डा तत्त्वनिर्णय की रक्षा के लिए हैं। सो ही न्याय ग्रन्थों में कहा है -

जल्प और वितण्डा तत्त्व के निर्णय की रक्षा के लिये होता है। जैसे कि बीज के बोने पर उत्पन्न छोटे-छोटे अंकुरों की रक्षा करने के लिए कंटकाकीर्ण वृक्षों की शाखाओं के द्वारा किया गया आवरण (बाड़) उपयोगी होता हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि नैयायिकों का यह कथन केवल प्रलाप मात्र है। क्योंकि वास्तव में वाद के ही तत्त्वनिर्णय के संरक्षण रूप प्रयोजन का सहित पना है अर्थात् वाद ही तत्त्व का निर्णायक है।

उसी को आचार्य अनुमान के द्वारा सिद्ध करते हैं- प्रमाण और तर्क के द्वारा स्वपक्ष साधन और परपक्ष का निराकरण करने वाला होने से, सिद्धान्त के अविरुद्ध होने से, अनुमान के पाँच अंगों से सहित होने से, पक्ष और प्रतिपक्ष का ग्रहण करने वाला होने से वाद ही तत्त्वों के निर्णय की रक्षा करने के लिए होता है। परन्तु जो इस प्रकार तत्त्व के निर्णय रूप संरक्षक का प्रयोजनभूत नहीं है - वह उक्त हेतुओं से सहित नहीं है; जैसे रोना, गाली देना आदि। परन्तु वाद तत्त्व का निर्णायक है, अतः तत्त्व के निर्णय के संरक्षणार्थ है। अतः इसमें अनुमान प्रमाण रूप युक्ति का सद्भाव है।

यह तत्त्व संरक्षण रूप हेतु असिद्ध भी नहीं है। क्योंकि प्रमाण (प्रमिति का करण) तर्क (तत्त्वज्ञान के विचारात्मक ऊहापोह) साधन (परपक्ष का दूषक और स्वपक्ष का साधक कारण) का उपलंभ सिद्धान्त के अविरुद्ध है। अनुमान के पाँच अवयवों प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन से सहित है और विवादापन्न पक्ष प्रतिपक्ष का ग्रहण करने वाला वाद कहलाता है अर्थात् युक्ति प्रत्युक्ति सहित वचनों की रचना को वाद कहते हैं, ऐसा न्यायसूत्र का कथन है, वह नैयायिकों के मतानुसार ही है।

तथा च वादस्तस्मात्तत्त्वाध्यवसायरक्षणार्थ इति युक्तिसद्भावात्। न तावदयमसिद्धो हेतुः प्रमाणतर्कसाधनोपालंभः सिद्धांताविरुद्धः पंचावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद इति वचनात्। पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहादित्युच्यमाने जल्पेपि तथा स्यादित्यवधारणविरोधस्तत्परिहारार्थं प्रमाणतर्कसाधनोपालंभत्वादिविशेषणं। न हि जल्पे तदस्ति यथोक्तोपपन्नछलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालंभो जल्प इति वचनात्। तत एव न वितंडा तथा प्रसज्यते पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहरहितत्वाच्च। पक्षप्रतिपक्षौ हि वस्तुधर्मावेकाधिकरणौ विरुद्धौ एककालावनवसितौ वस्तुविशेषौ वस्तुनः सामान्येनाधिगतत्वाच्च विशेषावगमनिमित्तौ विवादः। एकाधिकरणाविति नानाधिकरणौ विचारं न प्रयोजयत उभयोः प्रमाणेनोपपत्तेः। तद्यथा–अनित्या बुद्धिर्नित्य आत्मेति अविरुद्धावप्येवं विचारं न प्रयोजयतः।

यदि इस हेतु में पक्ष और प्रतिपक्ष का ग्रहण करना मात्र कह दिया जाता, तब तो जल्प में भी पक्ष प्रतिपक्ष का ग्रहण होने से "वाद ही तत्त्व का संरक्षक है," इस प्रकार की अवधारणा का विरोध आता है। अतः उस विरोध का परिहार करने के लिए प्रमाण, तर्क, साधन, उलाहना देना, सिद्धान्त से अविरुद्ध होना आदि विशेषण दिये गये हैं। जल्प में प्रमाण, तर्क, साधन उपालंभ सिद्धान्त से अविरुद्ध आदि हेतु के विशेषण नहीं हैं। क्योंकि न्यायशास्त्र में कहा है कि उपरि कथित वाद के लक्षण से युक्त है परन्तु छल, जाति (असत् उत्तर देना) निग्रहस्थानों के द्वारा साधन का उपालंभ उलाहना जिसमें होते हैं वह जल्प कहलाता है। अर्थात् जिसमें छल, जाति निग्रह स्थान आदि के द्वारा स्वपक्षसाधन और परपक्ष दूषण दिया जाता है वह जल्प है। तथा वितंडा में भी वाद का प्रसंग नहीं आ सकता। क्योंकि वितण्डा तत्त्वों के निर्णय का संरक्षक नहीं है। वितण्डा में पक्ष का ग्रहण और प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं है। अतः जल्प और वितण्डा से रहित वाद ही तत्त्वों के निश्चय का संरक्षक है।

परस्पर विरुद्ध, एक अधिकरण से युक्त और एक काल में रहने वाले वस्तु स्वभावस्वरूप पक्ष प्रतिपक्ष वस्तुविशेष हैं, जो वस्तु के सामान्य धर्म से अधिगत हैं, और विशेष धर्म के जानने के निमित्तभूत हों-ऐसे पक्ष प्रतिपक्ष में विवाद होता है। अर्थात् जैसे शब्द को वा आत्मा को सामान्य रूप से ज्ञाता द्रष्टा जानकर उसके विशेष नित्यत्व अनित्यत्व आदि विशेषों (पर्यायों) को जानने में विवाद होता है।

वे पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों एक अधिकरण में रहने चाहिए क्योंकि नाना अधिकरण में स्थित पक्ष प्रतिपक्ष धर्म वादी प्रतिवादी को विचार करने के लिए प्रेरित नहीं करते हैं अर्थात् नाना अधिकरणों में रहने वाले धर्मों का विचार (साध्य) करना नहीं होता है। क्योंकि दो अधिकरणों में पृथक्-पृथक् रहने वाले पक्ष और प्रतिपक्ष प्रमाण से सिद्ध हैं। जैसे बुद्धि (मनोविज्ञान) अनित्य और आत्मा नित्य है, इसमें अनित्य धर्म बुद्धि में है और नित्य धर्म आत्मा में है। दोनों विरुद्ध धर्मों का अधिकरण भिन्न है। अतः इसमें विवाद नहीं है। परन्तु दोनों विरुद्ध धर्मों का अधिकरण जब एक होता है तब उसको सिद्ध करने के लिए शास्त्रार्थ किया जाता है। क्रियावान पुद्गल है और अक्रियावान आकाश है। इसमें विवाद नहीं है। अविरुद्ध धर्म भी विवाद

---

१. पक्ष को कहने को **प्रतिज्ञा** कहते हैं। साध्य को सिद्ध करने के लिए कहा गया साध्य का अविनाभावी **हेतु** है। उसको सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त देना **उदाहरण** है। जैसे पर्वत अग्निमान है (प्रतिज्ञा) धूमवाला होने से (हेतु) जो धूमवाला है वह अग्निवाला है, जैसे रसोई घर। प्रतिज्ञा को दोहराना **उपनय** है, जैसे वह पर्वत भी धुआँ वाला है।

तद्यथा क्रियावद्द्रव्यं गुणवच्चेति विरुद्धौ। तावुक्तौ। तथाभिन्नकालौ न, विवादार्हौ यथा क्रियावद्द्रव्यं निःक्रियं च कालभेदे सतीत्येककालावित्युक्तं। तथावसितौ विचारं न प्रयोजयेते निश्चयोत्तरकालं विवादाभावादित्यनवसितौ निर्दिष्टौ। एवं विशेषणविशिष्टयोर्धर्मयोः पक्षप्रतिपक्षयोः परिग्रह इत्थंभावनियमः। एवं धर्मायं धर्मी नैवं धर्मेति वा सोऽयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो न वितंडायामस्ति सप्रतिपक्षस्थापनार्हा नो वितंडा इति वचनात्। तथा यथोक्तो जल्पः प्रतिपक्षस्थापनाहीनतया विशेषतो वितंडात्वं प्रतिपद्यते। वैतंडिकस्य च स्वपक्ष एव साधनवादिपक्षापेक्षया प्रतिपक्षो हस्तिप्रतिहस्तिन्यायेन स च वैतंडिको न साधनं वक्ति केवलं परपक्षनिराकरणायैव प्रवर्तत इति व्याख्यानात्। ननु वैतंडिकस्य प्रतिपक्षाभिधानः स्वपक्षोस्त्येवान्यथा प्रतिपक्षहीन इति सूत्रकारो ब्रूयात् न तु

के योग्य नहीं है। जैसे द्रव्य क्रियावान है और गुणवान है। ये अविरुद्ध दो धर्म विचार मार्ग पर आरूढ़ नहीं हैं। इसलिए विरुद्ध धर्म वाले पक्ष प्रतिपक्ष साध्य होते हैं। उसी प्रकार भिन्न काल में रहने वाले विरुद्ध दो धर्म भी विवाद करने योग्य नहीं हैं। जैसे द्रव्य सक्रिय और निष्क्रिय दोनों प्रकार के हैं।

काल भेद होने पर द्रव्य में सक्रियत्व और निष्क्रियत्व दोनों घटित हो जाते हैं। इसलिए एक काल कहा है। जैन सिद्धान्त के अनुसार हलन चलन करता हुआ पुद्गल और जीव सक्रिय हैं और शेष चार द्रव्य निष्क्रिय हैं। अतः एक काल में होने वाले पक्ष प्रतिपक्ष में विवाद है। भिन्न काल में स्थित द्रव्यों में विवाद नहीं है। उत्तरकाल में विवाद का अभाव होने से निश्चित पदार्थ विवाद के योग्य नहीं है। इसलिए अनिश्चित पक्ष प्रतिपक्ष का निर्देश किया गया है। इस प्रकार एकाधिकरण, विरुद्ध, एककाल और अनिश्चित विशेषणों से विशिष्ट पक्ष-प्रतिपक्षरूप धर्म का परिग्रह (ग्रहण) करना वाद है। इस प्रकार का नियम है।

परिग्रह का अर्थ 'इसी प्रकार हो सकता है' यह नियम करना है। यह धर्म इस प्रकार है, यह धर्मी का स्वरूप है, वह यह धर्म इस प्रकार नहीं है। इस प्रकार पक्ष प्रतिपक्ष का परिग्रह (ऊहापोह रूप विचार) वितण्डा में नहीं है अर्थात् प्रसिद्ध पक्ष और पक्ष का उक्ति-प्रत्युक्तिरूप कथन करना वितण्डा में नहीं है।

गौतम सूत्र में वितण्डा का लक्षण इस प्रकार लिखा है कि जल्प का एकदेश यदि प्रतिपक्ष की स्थापना से हीन (रहित) होता है तो वितण्डा होती है। इसका अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कथनानुसार जल्प यदि प्रतिपक्ष की स्थापना की हीनता के द्वारा विशेषता को प्राप्त करा दिया जाता है तो वह जल्प वितण्डापन को प्राप्त हो जाता है। वितण्डावाद प्रयोजन को सिद्ध करने वाले वादी का स्वकीय पक्ष ही साधनवादी के पक्ष की अपेक्षा से "हस्ति प्रतिहस्ति" न्याय के अनुसार प्रतिपक्ष समझ लिया जाता है। अर्थात् जिस प्रकार लड़ने के लिए खड़ा हुआ हस्ती दूसरे हस्ती की अपेक्षा प्रतिहस्ती मान लिया जाता है, उसी प्रकार शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करने वाले नैयायिक के पक्ष की अपेक्षा जो प्रतिपक्ष शब्द का नित्यपना है वहीं नैयायिक के पक्ष का खण्डन करने वाले वैतण्डिक का स्वकीय पक्ष है।

वह वैतण्डिक स्वकीय पक्ष को पुष्ट करने के लिए हेतु या युक्तियों को नहीं कहता है। केवल दूसरों के द्वारा सिद्ध किये गये पक्ष का निराकरण करने के लिए ही प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार वितण्डा के लक्षण सूत्र का कथन है।

प्रतिपक्षस्थापनाहीन इति। न हि राजहीनो देश इति च कश्चिद्राजपुरुषहीन इति वक्ति तथाभिप्रेतार्थाप्रतिपत्तेरिति केचित्। तेपि न समीचीनवाचः, प्रतिपक्ष इत्यनेन विधिरूपेण प्रतिपक्षहीनस्यार्थस्य विवक्षितत्वात्। यस्य हि स्थापना क्रियते स विधिरूपः प्रतिपक्षो न पुनर्यस्य परपक्षनिराकरणसामर्थ्योन्नतिः सोत्र मुख्यविधिरूपतया व्यवतिष्ठते तस्य गुणभावेन व्यवस्थितेः। जल्पोपि कश्चिदेवं प्रतिपक्षस्थापनाहीनः स्यान्नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वप्रसंगादिति परपक्षप्रतिषेधवचनसामर्थ्यात् सात्मकं जीवच्छरीरमिति स्वपक्षस्य सिद्धेर्विधिरूपेण स्थापनाविरहादिति चेन्न, नियमेन प्रतिपक्षस्थापनाहीनत्वाभावाज्जल्पस्य। तत्र हि कदाचित्स्वपक्षविधानद्वारेण

शंका - वितण्डा नामक शास्त्रार्थ को करने वाले वैतण्डिक का प्रतिपक्ष नामक स्वपक्ष है ही। अन्यथा "प्रतिपक्ष से हीन वितण्डा है" ऐसा न्याय सूत्रकार कह देते। किन्तु प्रतिपक्ष की स्थापना से हीन है, ऐसा नहीं कहते हैं। राज से हीन (रहित) देश है ऐसा कहने पर राजपुरुषों से देश रहित है ऐसा कोई नहीं कह सकते। क्योंकि ऐसा कहने पर अभिप्रेत अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती।

अर्थात् जो प्रतिवादी के प्रतिकूल पक्ष है, वही वैतण्डिक वादी का स्वपक्ष है। इसलिये वैतण्डिक को प्रतिपक्ष की स्थापना करने से रहित कहा है। सर्वथा वैतण्डिक को प्रतिपक्ष रहित नहीं कहा है जैसे सर्व देश में राजा व्यापक नहीं हैं, राजपुरुष काम कर रहे हैं। अतः सर्वथा राज रहित देश नहीं है - ऐसा कोई कह रहे हैं।

समाधान - जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाला विद्वान् भी समीचीन वक्ता नहीं है। क्योंकि "प्रतिपक्ष" इस विधि रूप से प्रतिपक्ष हीन अर्थ की विवक्षा है; जिसकी स्थापना की जाती है वह विधि रूप प्रतिपक्ष है, परन्तु पुनः जिसका परपक्ष के निराकरण के सामर्थ्य से उन्नयन कर लिया जाता है अर्थात् अर्थापत्तिज्ञान से जिसका ज्ञान हो जाता है, वह मुख्य रूप से यहाँ व्यवस्थित नहीं है, अपितु गौण रूप से व्यवस्थित है।

कोई विद्वान् कहते हैं कि जल्प भी प्रतिपक्ष की स्थापना से हीन है। जैसे यह जीवित शरीर आत्मा रहित नहीं है, श्वासोच्छ्वास आदि प्रमाण वाला होने से। वा प्राणत्व का प्रसंग होने से। क्योंकि जीव रहित शरीर में श्वासोच्छ्वास आदि प्रमाण नहीं होते। इस प्रकार परपक्ष का निषेध करने वाले वचन के सामर्थ्य से ही जीवित शरीर सात्मक है, इस प्रकार स्वपक्ष की सिद्धि हो जाती है। परन्तु स्वतंत्र विधिरूप से जल्पवादियों के पक्ष की स्थापना नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि नियम रूप से जल्पवादी के प्रतिपक्ष की स्थापना से रहितपना नहीं है। अर्थात् वितण्डा स्वकीय पक्ष की स्थापना से रहित है परन्तु जल्प पक्ष की स्थापना रहित नहीं है। क्योंकि जल्प में कदाचित् स्वपक्ष के विधान द्वारा परपक्ष का प्रतिषेध कर दिया जाता है और कभी परपक्ष के निषेध से स्वपक्ष का विधान इष्ट किया गया है। किन्तु वितण्डा में इस प्रकार नहीं है। क्योंकि वितण्डा में सर्वदा परपक्ष के निषेध का ही नियम है।

परपक्षप्रतिषेधः कदाचित्परपक्षप्रतिषेधद्वारेण स्वपक्षविधानमिष्यते नैवं वितंडायां परपक्षप्रतिषेधस्यैव सर्वदा तत्र नियमात्। नन्वेवं प्रतिपक्षोपि विधिरूपो वितंडायां नास्तीति प्रतिपक्षहीन इत्येव वक्तव्यं स्थापनाहीन इत्यस्यापि तथाऽसिद्धेः, स्थाप्यमानस्याभावे स्थापनायाः संभवायोगादिति चेन्न; अनिष्टप्रसंगात्। सर्वथा प्रतिपक्षहीनस्यार्थस्यानिष्टस्य प्रसक्तौ च यथा वितंडायां साध्यनिर्देशाभावस्तस्य चेतसि परिस्फुरणाभावश्च तथार्थापत्त्यापि गम्यमानस्य प्रतिपक्षस्याभाव इति व्याहतिः स्याद्वचनस्य गम्यमानस्वपक्षाभावे परपक्षप्रतिषेधस्य भाविविरोधात्। प्रतिपक्षस्थापनाहीन इति वचने तु न विरोधः सर्वशून्यवादिनां परपक्षप्रतिषेधे सर्वः शून्यमिति स्वपक्षगम्यमानस्य भावेपि स्थापनाया गम्यमानायास्तद्बद्भावाभावे वा शून्यताव्याघातात्। तर्हि प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वेन तमभ्युपेयादित्यत्रापि प्रतिपक्षहीनमपि चेति वक्तव्यं, सर्वथा प्रतिपक्षहीनवादस्यासंभवादिति चेत्। क एवं व्याचष्टे सर्वप्रतिपक्षहीनमिति? परतः प्रतिज्ञामुपादित्समानस्तत्त्वबुभुत्साप्रकाशनेन स्वपक्षं वचनतोनवस्थापयत्स्वदर्शनं साधयेदिति व्याख्यानात् तत्र

शंका - इस प्रकार वितण्डा में विधिरूप प्रतिपक्ष नहीं है इसलिए इसे प्रतिपक्षहीन ही कहना चाहिए। क्योंकि "स्थापना हीन है" इस प्रकार के कथन की भी असिद्धि है क्योंकि स्थापना करने योग्य पदार्थ का अभाव होने पर स्थापना की संभावना करना युक्त नहीं है।

समाधान - जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर अनिष्ट का प्रसंग आता है। कारण कि सर्वथा प्रतिपक्ष से हीन अनिष्ट अर्थ का प्रसंग प्राप्त होने पर जैसे वितण्डा में अपने साध्य हो रहे धर्म के निर्देश का अभाव है, और उस साध्य की मन में स्फूर्ति होने का अभाव है।

उसी प्रकार अर्थापत्ति के द्वारा गम्यमान प्रतिपक्ष का अभाव है। अतः व्याघात दोष आता है। यदि अर्थापत्ति से जानने योग्य स्वरूप को स्वीकार नहीं किया जायेगा, तो परपक्ष के निषेध का भावी विरोध आता है। "प्रतिपक्ष की स्थापना से हीन है" - इस प्रकार के कथन में कोई विरोध नहीं है।

सर्व शून्यवादियों के द्वारा प्रमाण, प्रमेय आदि को मानने वाले दूसरे विद्वानों के पक्ष का निषेध किये जाने पर यद्यपि शून्यवादियों के "सम्पूर्ण जगत् शून्य है" "निःस्वभाव है" इस प्रकार गम्यमान निजपक्ष का सद्भाव है, तथापि, गम्यमान स्थापना का उस स्वपक्ष के समान यदि सद्भाव नहीं माना जाता है तो शून्यता का भी व्याघात हो जाता है।

प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए, प्रयोजन की सिद्धि के इच्छुकों (पुरुषों) को प्रतिपक्षहीनता भी स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार यहाँ पर भी प्रतिपक्ष से हीन है - ऐसा कहना चाहिए।

सर्वथा प्रतिपक्षहीन वाद की असंभवता है। ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कौन कह रहा है कि सभी प्रकार प्रतिपक्षों से हीन वितण्डा होना चाहिए? परवादी से प्रतिज्ञा को ग्रहण करने की इच्छा रखने वाला वैतंडिक तत्त्व को जानने की इच्छा का प्रकाशन करके स्वकीय पक्ष को वचनों के द्वारा व्यवस्थापित नहीं करता हुआ अपने सिद्धान्त दर्शन की सिद्धि कराता है (करता है)। इस प्रकार के व्याख्यान से वितण्डा में भी गम्यमान स्वपक्ष का सद्भाव पाया जाता है। अन्यथा इस प्रकार अपने व्याख्यान से स्वपक्ष की स्थापना नहीं करता है ऐसा मानने पर 'स्वपक्ष को व्यवस्थापित नहीं करता है' - भाष्यकार के इन वचनों का विरोध आता है।

गम्यमानस्य स्वपक्षस्य भावात्, स्वपक्षमनवस्थापयन्निति भाष्यकारवचनस्यान्यथा विरोधात्। कुतोन्यथा भाष्यकारस्यैवं व्याख्यानमितिचेत्, सर्वथा स्वपक्षहीनस्य वादस्य जल्पवितंडावदसंभवादेव कथमेवं वादजल्पयोर्वितंडातो भेदः? प्रतिपक्षस्थापनाहीनत्वाविशेषादिति चेत्, उक्तमत्र नियमतः प्रतिपक्षस्थापनाया हीना वितंडा, कदाचित्तया हीनौ वादजल्पाविति। केवलं वादः प्रमाणतर्कसाधनोपलंभत्वादिविशेषणः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः। जल्पस्तु छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालंभश्च यथोक्तोपपन्नश्चेति वितंडातो विशिष्यते। तदेवं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहस्य जल्पे सतोपि प्रमाणतर्कसाधनोपलंभत्वादिविशेषणाभावाद्वितंडायामसत्त्वाच्च न जल्पवितंडयोस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वसिद्धिः प्रकृतसाधनाद्येनेष्टविघातकारीदं स्यादनिष्टस्य साधनादिति

भावार्थ - वात्स्यायन ऋषि ने अपने सूत्र में कहा है कि "दूसरे वादी के साध्य का निषेध करना स्वरूप वाक्य ही वैतण्डिक का पक्ष है। वह वैतंडिक किसी साध्य विशेष की प्रतिज्ञा कर स्थापना नहीं करता है अर्थात् स्वकीय पक्ष की स्थापना नहीं करता है। अपनी प्रतिज्ञा को भी ग्रहण नहीं करता है, तत्त्व को जानने की इच्छा भी प्रकट नही करता है। केवल, दूसरे के पक्ष का खण्डन करना ही (जिसका) कार्य है। इससे सिद्ध होता है कि वितण्डा सर्वथा प्रतिपक्ष की सिद्धि से रहित नहीं है।

शंका - अन्यथा (वितण्डा में प्रतिपक्ष की सिद्धि होने पर) भाष्यकार का इस प्रकार व्याख्यान कैसे सिद्ध हो सकता है?

समाधान - जैनाचार्य कहते हैं कि जल्प और वितण्डा के समान सर्वथा स्वपक्षहीन वाद की असंभवता है अर्थात् जैसे जल्प और वितण्डा में स्वपक्ष विद्यमान है उसी प्रकार वाद में भी स्वपक्ष का अस्तित्व है।

प्रश्न - इस प्रकार स्वपक्ष के होने पर वितण्डा से जल्प और वाद का भेद कैसे हो सकेगा? क्योंकि प्रतिकूल पक्ष की स्थापना से रहितपने की अपेक्षा इन तीनों में समानता है (कोई विशेषता नहीं है।)

उत्तर - जैनाचार्य कहते हैं कि इस विषय में पूर्व में ही कह दिया गया है कि नियम (निश्चय) से वितण्डा प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित ही है। परन्तु वाद और जल्प कभी-कभी प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित होते हैं। केवल (अकेले) वाद प्रमाण, तर्क, साधन का उपलंभत्वादि विशेषणों से युक्त है और वह वाद पक्ष और प्रतिपक्ष का ग्रहण करने वाला है। अर्थात् वाद प्रमाण और तर्क के द्वारा स्वपक्ष की स्थापना और प्रतिपक्ष का निराकरण करता है। परन्तु जल्प तो छल, जाति और निग्रह स्थानों के द्वारा साधन करना, उपालंभ (उलाहना) देना आदि से युक्त है। अतः यथोक्त (उपरिकथित) विशेषणों से युक्त वितण्डा से जल्प और वाद में विशेषता है। इस प्रकार यद्यपि जल्प में पक्ष और प्रतिपक्ष के ग्रहण रूप वाद का लक्षण विद्यमान है, तथापि प्रमाण और तर्क के द्वारा वस्तु को सिद्ध करना, विपरीत होने पर उलाहना देना, सिद्धान्त के अविरुद्ध होना आदि विशेषणों का अभाव होने से वितण्डा में वाद का सत्त्व (अस्तित्व) नहीं है। इसलिए प्रकृत हेतु के द्वारा जल्प और वितण्डा में तत्त्वनिर्णय के संरक्षकपने की असिद्धि है। अर्थात् जल्प और वितंडा में हेतुओं के द्वारा तत्त्व का निर्णय नहीं होता है जिससे कि अनिष्ट का साधन होने से यह हेतु इष्ट

वाद एव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वाज्जिगीषतोर्युक्तो न जल्पवितंडे ताभ्यां तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणासंभवात्। परमार्थतः ख्यातिलाभपूजावत्। तत्त्वस्याध्यवसायो हि तत्त्वनिश्चयस्तस्य संरक्षणं न्यायबलात्सकलबाधकनिराकरणेन पुनस्तत्र बाधकमुद्भावयतो यथाकथंचिन्निर्मुखीकरणं चपेटादिभिस्तत्पक्षनिराकरणस्यापि तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणत्वप्रसंगात्। न च जल्पवितंडाभ्यां तत्र सकलबाधकपरिहरणं छलजात्याद्युपक्रमपराभ्यां संशयस्य विपर्यासस्य वा जननात्। तत्त्वाध्यवसाये सत्यपि हि वादिनः परनिर्मुखीकरणे प्रवृत्तौ प्राश्निकास्तत्र संशेरते विपर्ययस्यन्ति वा किमस्य तत्त्वाध्यवसायोस्ति किं वा नास्तीति। नास्त्येवेति वा परनिर्मुखीकरणमात्रे तत्त्वाध्यवसायरहितस्यापि प्रवृत्तिदर्शनात्तत्त्वोपप्लववादिवत्

साध्य का विघातक हो सके। इसलिए वाद ही तत्त्व निर्णय के संरक्षणार्थ (तत्त्व का निर्णय करने के लिए) उपयोगी होने से जीतने की इच्छा रखने वाले पुरुषों में प्रवर्त्त रहा है। अर्थात् जल्प और वितण्डा तत्त्व-निर्णायक नहीं हैं। इसलिए तत्त्व का निर्णय करने वाले जिज्ञासुओं की जल्प और वितण्डा में प्रवृत्ति नहीं होती है, जैसे विद्वानों में प्रकृष्ट विद्वत्ता की प्रसिद्धि परमार्थतः ख्याति पूजा लाभ आदि से नहीं होती है। अथवा जैसे जल्प और वितण्डा से ख्याति पूजा लाभ की प्राप्ति नहीं होती है-उसी प्रकार जल्प और वितण्डा के द्वारा तत्त्व का निर्णय नहीं होता है। अतः उक्त हेतु वाद ही में ठहरता है।

निश्चय से तत्त्व का अध्यवसाय ही तत्त्व का निर्णय है (निश्चय है)। न्याय (प्रमाण और नय) के बल से अथवा प्रमाण और नय के द्वारा अर्थपरीक्षण रूप न्याय के सामर्थ्य से सम्पूर्ण बाधकों (बाधक प्रमाणों) का निराकरण कर देना ही तत्त्व का संरक्षण है। किन्तु पुनः यथाकथंचित् (अन्याय या अनुचित) मार्ग का अनुसरण करके बाधक प्रमाणों का उद्भावन करने वाले प्रतिवादी का मुख बन्द कर देना तत्त्व का संरक्षण नहीं है। यदि किसी का मुख बन्द कर देना ही तत्त्वनिर्णय का संरक्षण मान लिया जाए तो थप्पड़ मारना आदि के द्वारा वादी के पक्ष के निराकरण करने के भी तत्त्वनिर्णय तथा तत्त्व के संरक्षण का प्रसंग आयेगा। अर्थात् प्रमाण के द्वारा सकल बाधाओं का निराकरण करने पर ही तत्त्व का निर्णय होता है और तत्त्व की रक्षा होती है। जिस किसी प्रकार से किसी का मुख बन्द कर देने से तत्त्व का निर्णय नहीं होता है।

छल, जाति (असमीचीन उत्तर), निग्रह करना आदि उपक्रम वाले जल्प और वितण्डा के द्वारा पक्ष में आगत सकल बाधकों का परिहार नहीं हो सकता। जल्प और वितण्डा संशय और विपर्यय ज्ञान के उत्पादक हैं अतः तत्त्व का निर्णय करने वाले नहीं हैं। क्योंकि तत्त्व का निर्णय हो जाने पर भी वादी की दूसरे (प्रतिवादी) का जिस किसी अन्याय मार्ग से मुख बन्द करने की प्रवृत्ति होने पर प्राश्निक (प्रश्न करने वाले) सभ्य पुरुष उस विषय में संशय करने लग जाते हैं कि इस वादी के तत्त्व का निर्णय है या नहीं? अथवा सभ्य पुरुष विपरीत हो जाते हैं कि इस वादी को तत्त्व का निर्णय है ही नहीं। क्योंकि इस वादी की तत्त्व निर्णय से रहित केवल स्वपक्ष सिद्धि करने वाले प्रतिवादी का मुख बन्द करने में ही प्रवृत्ति देखी जाती है।

तथा चाख्यातिरेव प्रेक्षावत्सु अस्य स्यादिति कुतः पूजालाभो वा? ततश्चैवं वक्तव्यं वादो जिगीषतोरेव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वादन्यथा तदनुपपत्तेः। पराभ्युपगममात्राज्जल्पवितंडावत्त्वात् निग्रहस्थानवत्त्वाच्च। न हि वादे निग्रहस्थानानि न संति। सिद्धांताविरुद्धः इत्यनेनापसिद्धांतस्य पंचावयवोपपन्न इत्यत्र पंचग्रहणान्न्यूनाधिकयोरवयवोपपन्नग्रहणाद्धेत्वाभासपंचकस्य प्रतिपादनादष्टानां निग्रहस्थानानां तत्र

जैसे तत्त्वों का उपप्लव (अभाव) मानने वाले वादी की स्वयं तत्त्व का निर्णय नहीं होते हुए भी प्रतिपक्षी के मुख बन्द करने की प्रवृत्ति होती है। यही दूसरे का मुख बन्द करने का प्रयत्न जल्प ओर वितण्डा में होता है। तथा विचारशील पुरुषों में इसकी (जल्प ओर वितण्डा की) अख्याति (निन्दा) ही होती है। इसलिए जल्प और वितण्डा में पूजालाभ-सत्कार कैसे प्राप्त हो सकता है?

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि तत्त्वसंरक्षण व तत्त्वनिर्णय का कारण होने से तत्त्व को जानने की वा जीतने की इच्छा वाले दो वादी प्रतिवादी में वाद की प्रवृत्ति होती है। अन्यथा (यदि तत्त्वों का निर्णय करने की इच्छा नहीं है तो) वाद की प्रवृत्ति नहीं होती है। जैसे दूसरे नैयायिकों द्वारा स्वीकृत जल्प और वितण्डा निग्रहस्थान का कारण होने से तत्त्व के निर्णायक नहीं हैं, अतः उनको वाद नहीं कह सकते। वाद में निग्रह स्थान (तिरस्कार वर्धक) नहीं होते हैं, ऐसा नहीं है अर्थात् वाद में भी वादी प्रतिवादियों के द्वारा तिरस्कार-वर्धक या पराजय-सूचक निग्रहस्थान होते हैं। अतः वाद एक दूसरे को जीतने की इच्छा रखने वालों में होता है।

वाद में "सिद्धान्त अविरुद्ध" यह पद पड़ा हुआ है। इससे वाद में अपसिद्धान्त का निग्रह स्थान है अर्थात् वाद में सिद्धान्त के अविरुद्ध अपसिद्धान्त का निग्रह किया जाता है। वाद के लक्षण में "पंचावयवोपपन्न" - इस विशेषण से न्यून और अधिक नामक निग्रह स्थान कहा गया है अर्थात् "पंचावयवोपपन्न" पाँच अवयवों से सहित पाँचों हेत्वाभास नामक निग्रहस्थान वाद में नियमित कहे गये हैं। इस प्रकार वाद में आठ निग्रह स्थान कहे गये हैं।

भावार्थ : वाद सिद्धान्त के अविरुद्ध होता है, अतः जो वादी प्रतिवादी सिद्धान्त के विरुद्ध बोलता है वह अपसिद्धान्त नामक निग्रह स्थान है।

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण (दृष्टान्त), उपनय और निगमन ये पाँच अनुमान के अंग हैं। इनमें से न्यूनाधिक करना पाँचों अंगों का प्रयोग नहीं करना न्यूनाधिक नामक निग्रह स्थान है। इनमें से एक कम बोलने पर न्यून और अधिक बोलने से अधिक नामक निग्रह स्थान है।

यदि प्रतिज्ञा नहीं कही जाती है तो आश्रयासिद्ध हेत्वाभास नामक निग्रह स्थान होता है।
यदि हेतु नहीं कहा जाता है तो स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नामक निग्रह स्थान होता है।
अन्वयदृष्टान्त नहीं कहने पर विरुद्ध हेत्वाभास निग्रह स्थान होता है।
व्यतिरेक दृष्टान्त नहीं कहने पर अनैकान्तिक हेत्वाभास निग्रह स्थान है।
उपनय के नहीं होने पर बाधित हेत्वाभास नामक निग्रह स्थान होता है।
निगमन से युक्त नहीं होने पर सत्प्रतिपक्ष नामक निग्रह स्थान होता है।

नियमव्याख्यानात्। ननु वादे सतामपि निग्रहस्थानानां निग्रहबुद्ध्योद्भावनाभावान्न जिगीषास्ति। तदुक्तं तर्कशब्देन भूतपूर्वगतिन्यायेन वीतरागकथात्वज्ञापनादुद्भावनियमो लभ्यते तेन सिद्धांताविरुद्धः। पंचावयवोपपन्न इति चोत्तरपदयोः समस्तनिग्रहस्थानाद्युपलक्षणार्थत्वादेव वादेऽप्रमाणबुद्ध्या परेण छलजातिनिग्रहस्थानानि प्रयुक्तानि न निग्रहबुद्ध्योद्भाव्यंते किं तु निवारणबुद्ध्या तत्त्वज्ञानायावयवयोः प्रवृत्तिर्न च साधनाभासो दूषणाभावो वा तत्त्वज्ञानहेतुरतो न तत्प्रयोगो युक्तः इति। तदेतदसंगतं। जल्पवितंडयोरपि तथोद्भावननियमप्रसंगात्तयोस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणाय स्वयमभ्युपगमात्। तस्य छलजातिनिग्रहस्थानैः कर्तुमशक्यत्वात्। परस्य तूष्णींभावार्थं जल्पवितंडयोश्छलाद्युद्भावनमिति चेन्न, तथा परस्य

इस प्रकार अपसिद्धान्त, न्यून, अधिक और पाँच हेत्वाभास ऐसे आठ निग्रह स्थानों का कथन हुआ। जीतने की इच्छा रखने वाले वादी, प्रतिवादी, एक दूसरे पर ये पाँच निग्रह स्थान उठा सकते हैं। अतः जिगीषु पुरुषों में ही वाद होता है।

नैयायिक कहता है कि यद्यपि वाद में आठ निग्रह स्थानों का सद्भाव है तथापि परस्पर में निग्रह बुद्धि के द्वारा निग्रह स्थानों का उठाना नहीं होने से वहाँ परस्पर में जीतने की इच्छा नहीं है। वही न्याय ग्रन्थों में लिखा है कि तर्क शब्द के द्वारा भूतपूर्व का ज्ञान होना इस न्याय से वाद में वीतरागकथापन का ज्ञापक होने से निग्रह स्थानों के उद्भाव का नियम प्राप्त हो जाता है। इसलिए "प्रमाण तर्क साधनोपालंभ" के उत्तर में स्थित "सिद्धान्ताविरुद्ध" और "पंचावयवोपपन्न" इन दोनों पदों के द्वारा सम्पूर्ण निग्रहस्थान, छल, जाति, आदि का उपलक्षणरूप प्रयोजनसहितपना है। इसलिए वाद में अप्रमाणपने की बुद्धि से दूसरों के प्रति छल, जाति और निग्रह स्थानों का प्रयोग किया जाता है। दूसरे (वादी) का निग्रह करने के लिए छल, जाति आदि का उद्भावन नहीं किया जाता है।

किन्तु दोषों के निवारण की सद्विचारबुद्धि से तत्त्वज्ञान के अवयवों में वादी, प्रतिवादी की प्रवृत्ति होती है। दूसरे के हेतु को हेत्वाभास बना देना अथवा अपने हेतु में दूषण नहीं आने देना हमारा लक्ष्य नही है। हेत्वाभास कर देना या दूषण नहीं आने देना कोई तत्त्व ज्ञान का कारण नहीं है। इसलिए छल, जाति, निग्रहस्थान आदि का प्रयोग करना युक्तिसंगत नहीं है।

भावार्थ - वीतराग कथा में "यहाँ यह होना चाहिए, यह नही होना चाहिए" - इस प्रकार तत्त्वज्ञान के लिए किया गया विचार तर्क है। विमर्षण कर पक्ष प्रतिपक्षों के द्वारा अर्थ का अवधारण करना **निर्णय** है। तर्क और निर्णय के समय किया गया विचार जैसे वीतरागता का कारण है, वैसे ही वाद में वीतराग कथा का विचार होता है। उसमें वीतरागता के लिए ही छल आदि का प्रयोग किया जाता है। हार-जीत के लिए निग्रह स्थान आदि का प्रयोग नहीं है।

जैनाचार्य कहते हैं कि यह नैयायिक का कथन पूर्वापरसंगति से रहित है। क्योंकि जल्प और वितण्डा में भी निग्रह बुद्धि से छल, जाति आदि का प्रयोग नहीं है, अपितु तत्त्व के निर्णय के लिए ही छलादि निग्रह स्थानों का प्रयोग करने के नियम का प्रसंग है। क्योंकि नैयायिकों ने जल्प और वितण्डा को तत्त्व निर्णय की संरक्षा करने के लिए स्वीकार किया है। छल,जाति और निग्रह स्थान के द्वारा तत्त्व निर्णय करना शक्य नहीं है।

तूष्णींभावासंभवादसदुत्तराणामानंत्यान्न्यायबलादेव परनिराकरणसंभवात्। सोयं परनिराकरणायान्ययोगव्यवच्छेदेनाव्यवसिताद्यनुज्ञानं तत्त्वविषयप्रज्ञापारिपाकादि च फलमभिप्रेत्य वादं कुर्वन् परं निग्रहस्थानैर्निराकरोतीति कथमविरुद्धवाक् न्यायेन प्रतिवादिनः स्वाभिप्रायान्निवर्तनस्यैव निग्रहत्वादलाभे वा ततो निग्रहत्वायोगात्। तदुक्तं। "आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः। न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्तनम्॥" इति सिद्धमेतत् जिगीषतोर्वादो निग्रहस्थानवत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति। स च चतुरंगः स्वाभिप्रेतस्वव्यवस्थानफलत्वाल्लोकप्रख्यातवादवत्। तथाहि–

मर्यादातिक्रमं लोके यथा हंति महीपतिः। तथा शास्त्रेप्यहंकारग्रस्तयोर्वादिनोः क्वचित्।३०।

"दूसरों को चुप करने के लिए जल्प और वितण्डा में छल, जाति आदि का उद्भावन किया जाता है"- ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि उस प्रकार छलादि के द्वारा दूसरों को चुप कर देना संभव नहीं है क्योंकि असमीचीन उत्तर अनन्त हैं।

न्याय के सामर्थ्य से ही दूसरे का निराकरण करना संभव है। सो वह प्रसिद्ध नैयायिक दूसरों का निराकरण करने के लिए अन्य के योग के व्यवच्छेद द्वारा अनिर्णीत, संदिग्ध, विपर्यस्त आदि का ज्ञान होना और जाने गये तात्त्विक विषयों में प्रज्ञा का परिपाक, दृढ़ता आदि हो जाने रूप फल का निश्चय करके वाद को कहने वाला प्रतिवादी ही निग्रह स्थानों के द्वारा वादी का निराकरण कर सकता है। ऐसा कहने वाला नैयायिक पूर्वापर अविरुद्ध बोलने वाला कैसे जाना जा सकता है? न्याय के सामर्थ्य से प्रतिवादी की स्व अभिप्राय से निवृत्ति करा देना ही निग्रह स्थान है। यदि अपने आग्रहीत अभिप्रायों से निवृत्त कराकर वादी प्रतिवादी को अपने समीचीन सिद्धान्तों का लाभ नहीं करा देता है तो इन छल आदिकों से उस प्रतिवादी का निग्रह किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है। ग्रन्थों में भी लिखा है कि - लाभ, सत्कार, प्रसिद्धि आदि का नहीं होना तो दूर रहा, (अर्थात्) जीतने की इच्छा रखने वालों को लाभ, सत्कार आदि तो प्राप्त होता ही नहीं है, किसी एक का किसी एक के द्वारा न्याय पद्धति से नियमपूर्वक स्वकीय अभिप्रायों से निवृत्त करा देना ही निग्रह है। इससे यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि वाद जीतने की इच्छा रखने वाले विद्वानों में ही होता है। अन्यथा (जीतने की इच्छा के बिना) निग्रह स्थान नहीं हो सकता।

इस प्रकार अट्ठाईसवीं वार्तिक के अनुसार वह वाद लोकप्रसिद्ध वाद के समान स्वकीय अभिप्राय के अनुसार अपने पक्ष की व्यवस्था कर देने रूप फल सहित होने से सभ्य, सभापति, वादी और प्रतिवादी, इन अंगों सहित होता है।

अर्थात् जैसे न्यायाधीश (सभापति), साक्षी या दर्शक (सभ्य), वादी और प्रतिवादी इन अंगों सहित लौकिक वाद (मुकदमा) चलता है।

जिस प्रकार लोक में राजा मर्यादा का उल्लंघन करने वाले वादी-प्रतिवादी को दण्डित करता है, उन्हें दण्ड देता है, उसी प्रकार शास्त्र में (शास्त्रीय चर्चा में) भी अहंकार से ग्रसित वादी प्रतिवादी की मर्यादा के अतिक्रमण का (मर्यादा के उल्लंघन का) सभापति नाश करता है अर्थात् सभापति मर्यादा का उल्लंघन करने वाले वादी प्रतिवादी को दण्डित करता है॥३०॥

वादिनोर्वादनं वादः समर्थे हि सभापतौ। समर्थयोः समर्थेषु प्राश्निकेषु प्रवर्तते ॥३१॥
सामर्थ्यं पुनरीशस्य शक्तित्रयमुदाहृतम्। येन स्वमंडलस्याज्ञा विधेयत्वं प्रसिद्ध्यति ॥३२॥
मंत्रशक्त्या प्रभुस्तावत्स्वलोकान् समयानपि। धर्मन्यायेन संरक्षेद्विप्लवात्साधुसात् सुधीः ३३।
प्रभुसामर्थ्यतो वापि दुर्लंघ्यात्मबलैरपि। स्वोत्साहशक्तितो वापि दंडनीतिविदांवरः ॥३४॥
रागद्वेषविहीनत्वं वादिनि प्रतिवादिनि। न्यायेऽन्याये च तद्वत्त्वं सामर्थ्यं प्राश्निकेष्वदः ॥३५॥
सिद्धांतद्वयवेदित्वं प्रोक्तार्थग्रहणत्वता। प्रतिभादिगुणत्वं च तत्त्वनिर्णयकारिता ॥३६॥
जयेतरव्यवस्थायामन्यथानधिकारता। सभ्यानामात्मनः पत्युर्यशो धर्मं च वांछतः ॥३७॥
कुमारनंदिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः। राजप्राश्निकसामर्थ्यमेवंभूतमसंशयम् ॥३८॥

स्वकीय-स्वकीय योग्य सामर्थ्य से युक्त वादी-प्रतिवादियों का वाद तो सामर्थ्ययुक्त सभापति तथा तत्त्वज्ञान सामर्थ्य युक्त प्राश्निकों (प्रश्न करने वाले सभ्यपुरुषों) के होने पर ही होता है॥३१॥

सभापति का सामर्थ्य मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साह शक्ति इन तीन शक्ति रूप कहा गया है। जिस शक्तित्रय के सामर्थ्य से सभापति का अपने मंडल पर आज्ञा का विधेयत्व गुण (आज्ञा के अनुसार विधान करने योग्य गुण) प्रसिद्ध हो जाता है॥३२॥

मंत्रशक्ति के द्वारा सभापति धर्म न्याय के द्वारा अपने साधर्मी लोगों की, अपने सिद्धान्तों की और उपसर्गों से पीड़ित साधुओं की रक्षा करता है॥३३॥

प्रभुत्व शक्ति से सभापति अलंघनीय, दुःसाध्य लंघनीय स्वकीय बल के द्वारा स्ववर्ग और स्वधर्म और साधु संतों की रक्षा करता है। दंडनीति को जानने वालों में श्रेष्ठ सभापति तीसरी उत्साह शक्ति के द्वारा धर्म और धर्मात्माओं की रक्षा करता है, तथा अपने अनुशासन से उनको सन्मार्ग पर लगाता है॥३४॥

प्राश्निकों में वादी और प्रतिवादी के प्रति राग - द्वेष नहीं होना, न्याय-अन्याय में न्याय को न्याय और अन्याय को अन्याय कहने का सामर्थ्य युक्त होना, वादी - प्रतिवादी इन दोनों के सिद्धान्तों को जानने वाला होना, वादी और प्रतिवादी के द्वारा कथित अर्थ का ग्राहकत्व, नव-नव उन्मेष शालिनी बुद्धि निपुणता आदि गुणों से युक्त होना और तत्त्वों का निर्णय करना आदि शक्तियाँ होनी चाहिए। अन्यथा (यदि इन शक्तियों में से प्राश्निक में किसी शक्ति का अभाव है तो) जय और पराजय की व्यवस्था में अनधिकारता होगी अर्थात् ऐसा सभ्य जय, पराजय की व्यवस्था कराने में या जय पराजय का निर्णय करने में समर्थ नहीं हो सकता। स्वकीय यश और धर्म को, तथा सभापति के यश और धर्म को चाहने वाले सभ्यों को (सभासद पुरुषों को) उक्त प्रकार के गुणों से युक्त होना परमावश्यक है॥३५-३६-३७॥

वाद और न्याय में विचक्षण (चतुर) कुमारनन्दी आचार्य राजा (सभापति) और प्राश्निक (सभ्य) पुरुषों के उपरि कथित सामर्थ्य को संशय रहित कहते हैं अर्थात् इन दोनों में यह सामर्थ्य होना ही चाहिए॥३८॥

एकतः कारयेत्सभ्यान् वादिनामेकतः प्रभुः। पश्चादभ्यर्णकान् वीक्ष्यं प्रमाणगुणदोषयोः॥३९॥
लौकिकार्थविचारेषु न तथा प्राश्निका यथा। शास्त्रीयार्थविचारेषु वा तज्ज्ञाः प्राश्निका यथा॥४०
सत्यसाधनसामर्थ्यसंप्रकाशनपाटवः। वाद्यजेयो विजेता नो सदोन्मादेन केवलम्॥४१॥इति
समर्थसाधनाख्यानं सामर्थ्यं वादिनो मतं। सा त्ववश्यं च सामर्थ्यादन्यथानुपपन्नता॥४२॥
सद्दोषोद्भावनं वापि सामर्थ्यं प्रतिवादिनः। दूषणस्य च सामर्थ्यं प्रतिपक्षविघातिता॥४३॥

ननु यथा सभापतेः प्राश्निकानां च सामर्थ्यमविरुद्धमुक्तं वादिनोः साधनदूषणयोश्च परस्परव्याघातात्। तथाहि–यदि वादिनः सम्यक्साधनवचनं सामर्थ्यं साधनस्य चान्यथानुपपन्नत्वं तदा कथं तत्र प्रतिवादिनः सद्दोषोद्भावनं सामर्थ्यं संसाध्यं दूषणस्य च पक्षविघातितावत्कथमितरदिति परस्परव्याहतं पश्यामः।

प्रभु (सभापति) एक तरफ सभ्यों (सभासदों) को बिठाता है और एक तरफ वादी एवं प्रतिवादी को। उसके बाद समीपवर्त्ती दर्शकों को बिठाता है। तब वादी और प्रतिवादी के गुण दोषों में प्रमाण को समझता है॥३९॥

जैसे लोकसम्बन्धी अर्थों के विचारों में प्राश्निक होते हैं, वैसे प्राश्निक शास्त्र सम्बन्धी अर्थ के विचारों में नहीं होते है। परन्तु शास्त्रार्थ के विचार करने में उस विषय को यथा योग्य परिपूर्ण जानने वाले पुरुष मध्यस्थ होते हैं॥४०॥

सत्य (समीचीन) साधन (हेतु) के सामर्थ्य के संप्रकाशन में दक्ष वादी विद्वान् अजेय होता है और दूसरों को जीतने वाला होता है। केवल चित्त के विभ्रम से सदा वादी विजेता नहीं होता है॥४१॥

समर्थ साधन का कथन करना ही वादी का सामर्थ्य माना गया है और हेतु का सामर्थ्य साध्यके साथ अन्यथा अनुपपत्ति होना है। वह अन्यथा अनुपपत्ति होना अत्यावश्यक है अर्थात् अन्यथानुपपत्ति के बिना साधन की सिद्धि नहीं हो सकती है॥४२॥

समीचीन दोषों की उद्भावना करना प्रतिवादी का सामर्थ्य है तथा प्रतिपक्ष का विघात करना दूषण का सामर्थ्य है॥४३॥

जिस प्रकार सभापति और प्राश्निकों (सभ्यों) का सामर्थ्य एक दूसरे के अविरुद्ध कहा गया है, वैसे वादी और प्रतिवादियों की शक्ति अविरुद्ध नहीं है। क्योंकि, वादी का सामर्थ्य समीचीन साधन के द्वारा साध्य को सिद्ध करना है और प्रतिवादी का सामर्थ्य है, उसमें समीचीन दूषण देना। परन्तु यदि वादी प्रतिवादी की शक्ति विरुद्ध नहीं होगी तो इन दोनों के सामर्थ्य का परस्पर व्याघात हो जाता है। उसी को कहते हैं - यदि वादी का अन्यथानुपपन्नत्व साधन का सामर्थ्य समीचीन हेतु का कथन है तो उसमें प्रतिवादी का समीचीन दोषों का उद्भावन करने का सामर्थ्य कैसे संसाध्य हो सकता है? तथा दूषण के सामर्थ्य में प्रतिपक्ष का विघातकपना भी कैसे साधा जायेगा? इसलिए 'यह नहीं है', 'वह नहीं है', - इस प्रकार परस्पर में व्याघात को प्राप्त होता देख रहे हैं। तथा वादी, प्रतिवादी, सभ्य, सभापति, में से किसी एक के असमर्थ होने पर

तदन्यतमासमर्थत्वे वा यथा समर्थे सभापतौ प्राश्निकेषु वचनं वादस्तथा समर्थयोर्वादिप्रतिवादिनोः साधनदूषणयोश्चेति व्याख्यानमनुपपन्नमायातमिति कश्चित्। तदसत्। वादिप्रतिवादिनोः साधनदूषणवचने क्रमतः प्रवृत्तौ विरोधाभावात्। पूर्वं तावद्वादी स्वदर्शनानुसारितया समर्थः साधनं समर्थमुपन्यस्यति पश्चात्प्रतिवादी स्वदर्शनालंबनेन दोषोद्भावनसमर्थसद्दूषणं तत्सामर्थ्यं प्रतिपक्षविघातिता न विरुध्यते॥

का पुनरियं प्रतिपक्षविघातितेत्याह–

सा पक्षांतरसिद्धिर्वा साधनाशक्ततापि वा। हेतोर्विरुद्धता यद्वदभासांतरतापि च॥४४॥

साधनस्य स्वपक्षघातिता पक्षांतरसाधनत्वं यथा विरुद्धत्वं स्वपक्षसाधनाशक्तत्वमात्रं वा यथानैकांतिकत्वादि साधनाभासत्वं, तदुद्भवने स्वपक्षसिद्धेरपेक्षणीयत्वात्। तदुक्तं। "विरुद्धं हेतुमद्भव्यवादिनं

भी जैसे सभापति और सभ्य पुरुषों के समर्थ होने पर तत्त्व का निर्णय करने के लिए चर्चा करना वाद है; उसी प्रकार समर्थ वादी प्रतिवादी के साधन और दूषण के उपपन्न होने पर शास्त्रार्थ व्याख्यान होना असिद्ध है। अर्थात् समर्थ सभ्य और सभापति के होने पर ही शास्त्रार्थ हो सकता है। इस प्रकार कोई कहता है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार का कथन समीचीन नही है। क्योंकि क्रम से वादी के साधन के वचन में और प्रतिवादी के वचन में दूषण की प्रवृत्ति में विरोध का अभाव है। सर्वप्रथम वादी स्वकीय दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार अन्यथा अनुपपत्तिस्वरूप साधन का निरूपण करता है। उसके पश्चात् प्रतिवादी अपने दर्शन (सिद्धान्त) का अवलम्बन लेकर दोषों के उद्भावन में समर्थ समीचीन दूषण का प्ररूपण करता है। उस दूषण का प्रतिपक्ष का विघात करना रूप सामर्थ्य विरुद्ध नहीं है। अर्थात् वादी के हेतु को समीचीन दूषण देना विरुद्ध नहीं पड़ता है।

प्रतिपक्षी का विघात क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं - गृहीत पक्ष से पक्षान्तर की सिद्धि हो जाना अथवा प्रकृत साध्य को साधने वाले हेतु का अशक्तपना भी प्रतिपक्ष का विघातक है। तथा वादी के हेतु का विरुद्धपना जिस प्रकार प्रतिपक्ष का विघातक है उसी प्रकार वादी के हेतु का अन्य हेत्वाभासों के द्वारा दूषित कर देना भी प्रतिपक्ष का विघातक है।

वाद में किसी का घात मारन ताड़न नहीं है, अपितु परस्पर में हेतु को दूषित करना, साध्य के साधन में दूषण देना ही विघात है॥४४॥

वादी के द्वारा ग्रहण किया हुआ पक्ष प्रतिवादी का प्रतिपक्ष है। प्रतिवादी श्रेष्ठ दूषण के द्वारा वादी के साधन का विघात कर देता है। अतः वादी के हेतु का निज पक्ष का विघात क्या है? आचार्य इसका उत्तर देते हैं - साधन के पक्षान्तर का साधनत्व ही साधन की स्वपक्षघातिता है। अर्थात् वादी या प्रतिवादी के साधन (हेतु) को समीचीन हेतुओं से खण्डन कर देना ही पक्षघातिता है।

जैसे विरुद्धत्व, स्वपक्ष साधन अशक्तत्व मात्र प्रतिपक्ष का घातक है अथवा जैसे अनैकान्तिक विरुद्ध आदि हेत्वाभास भी प्रतिपक्ष के विघातक हैं। परन्तु उन हेत्वाभास आदि दोषों के उद्भावन (प्रकट) करने में प्रतिवादी को अपने पक्ष की सिद्धि करना अपेक्षणीय है अर्थात् प्रतिवादी स्वकीय पक्ष को सिद्ध

जयतीतरः। "आभासांतरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते॥" इति। न चैवमष्टांगो वादः स्यात्तत्साधनतद्वचनयोर्वादिसामर्थ्यरूपत्वात् सद्दूषणतद्वचनयोश्च प्रतिवादिसामर्थ्यरूपत्वाद्दिगंतरत्वायोगात् नैवं प्रभुः सभ्यो वा वादिप्रतिवादिनोः सामर्थ्यं तयोः स्वतंत्रत्वात्। ततो नाभिमानिकोपि वादो द्व्यंग एव वीतरागवादवदिति शक्यं वक्तुं, चतुर्णामंगानामन्यतमस्याप्यपाये अर्थापरिसमाप्तेरित्युक्तप्रायं। एवमयमाभिमानिको वादो जिगीषतोर्द्विविध इत्याह–

इत्याभिमानिकः प्रोक्तस्तात्त्विकः प्रातिभोपि वा। समर्थवचनं वादश्चतुरंगो जिगीषतोः॥४५॥

करता हुआ ही वादी के पक्ष का हेत्वाभासों के द्वारा खण्डन कर उसे जीत सकता है, अन्यथा नहीं। सो ही ग्रन्थों में लिखा है - प्रतिवादी विद्वान् विरुद्ध हेतुओं का उद्भावन कर वा अन्य हेत्वाभासों का कथन कर वादी को जीत लेता है। परन्तु इसमें प्रतिवादी के निज पक्ष की सिद्धि की अपेक्षा आवश्यक है। निज पक्ष की सिद्धि के बिना दोषों का उद्भावन करना पक्षघातिता नहीं है।

सभापति, सभ्य, वादी, प्रतिवादी, वादी का समर्थ साधन, वादी द्वारा अविनाभावी हेतु का कहना, प्रतिवादी के द्वारा समीचीन दोषों का उत्थापन और प्रतिपक्ष विघातक दूषण का कथन, ये वाद के आठ अंग हैं। यह आठ अंग वाला वाद किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि उस वादी के समर्थ साधन का कथन करना और अन्यथा अनुपपत्ति रूप हेतु का प्रयोग करना-ये दोनों वादी के सामर्थ्य स्वरूप पदार्थ हैं। अतः वादी नामक अंग में ये दोनों गर्भित हो जाते हैं। तथा समीचीन दोषों को उठाना और उस प्रतिपक्ष विघातक दूषण का कथन करना, ये दोनों प्रतिवादी के सामर्थ्य स्वरूप हैं। अतः प्रतिवादी नामक अंग में ये दोनों गर्भित हो जाते हैं। इसलिए वाद के चार ही अंग हैं। इन चार अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों का उपदेश देने या संकेत करने का अभाव है। वाद के दो अंग हैं, इस प्रकार नहीं कहना चाहिए। क्योंकि सभ्य और सभापति दोनों स्वतंत्र शक्तिशाली पदार्थ हैं। वे वादी और प्रतिवादी के आधीन नहीं हैं।

इसलिए अभिमान की प्रेरणा से प्रवर्त रहा भी वाद वादी, प्रतिवादी इन दो अंगों वाला है ऐसा नहीं कह सकते। जैसे वीतराग पुरुषों में होने वाला वाद (संवाद) दो अंग वाला होता है उस प्रकार जीतने की इच्छा रखने वाले पुरुषों का वाद दो अंग वाला नहीं है। अर्थात् वीतराग संवाद में जैसे वादी और प्रतिवादी दो अंग हैं उसी प्रकार वाद में दो अंग हैं- ऐसा कहना शक्य नहीं है। वाद चार अंग वाला ही है क्योंकि वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति, इन चार अंगों में से किसी भी एक अंग का अभाव हो जाने पर प्रयोजन-सिद्धि की परिपूर्णता नहीं हो सकती है। इस बात को पूर्व में बहुत बार कह दिया गया है।

इस प्रकार जीतने की इच्छा रखने वालों का अभिमान से प्रयुक्त किया गया वाद दो प्रकार का है। इस बात को आचार्य कहते हैं - (इस प्रकार) जीतने की इच्छा रखने वाले विद्वानों का समर्थ हेतु या समर्थ दूषण का कथन करना रूप वाद चार अंग वाला है और वह वाद अभिमान से प्रयुक्त किया गया है। तात्त्विक और प्रतिभा के भेद से वह वाद दो प्रकार का है॥४५॥

जिसमें तत्त्वों का निर्णय किया जाता है वह वाद तात्त्विक है। तथा अपनी प्रतिभा को बढ़ाने के लिए जो वाद होता है अथवा जिससे अपनी बुद्धि के द्वारा इष्ट, अनिष्ट की सिद्धि की जाती है, वह वाद प्रातिभ कहा जाता है।

पूर्वाचार्योपि भगवानमुमेव द्विविधं जल्पमावेदितवानित्याह–

द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्। त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥४६॥

कः पुनर्जयोत्रेत्याह–

तत्रेह तात्त्विके वादेऽकलंकैः कथितो जयः। स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोन्यस्य वादिनः ॥४७॥

कथं ?

स्वपक्षसिद्धिपर्यंता शास्त्रीयार्थविचारणा। वस्त्वाश्रयत्वतो यद्वल्लौकिकार्थे विचारणा ॥४८॥

कः पुनः स्वस्य पक्षो यत्सिद्धिर्जयः स्यादिति विचारयितुमुपक्रमते–

जिज्ञासितविशेषोत्र धर्मी पक्षो न युज्यते। तस्यासंभवदोषेण बाधितत्वात्खपुष्पवत् ॥४९॥

पूर्व में आचार्य ने भी उस जल्प नामक वाद को दो प्रकार का कहा है। उसी को आचार्य कहते हैं -

त्रेसठ वादियों को जीतने वाले **श्रीदत्त आचार्य** ने स्वरचित **जल्पनिर्णय** नामक ग्रन्थ में तात्त्विक और प्रतिभा गोचर जल्प दो प्रकार का कहा है। अर्थात् तत्त्वों को विषय करने वाला जल्प तात्त्विक है और नवीन अर्थों की युक्तियों के उद्बोध को कराने वाली प्रतिभा बुद्धि से होने वाला जल्प प्रातिभ है ॥४६॥

जय क्या पदार्थ है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं कि उन दोनों प्रकारों के वादों में से इस तात्त्विक वाद में **श्री अकलंक देव** ने जय व्यवस्था इस प्रकार कही है कि वादी और प्रतिवादी में से किसी एक के निज पक्ष की सिद्धि हो जाना ही अन्य वादी का निग्रह है। अर्थात् अन्य वादी का निग्रह करना ही स्वपक्ष की सिद्धि है। स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष के निग्रह करने को ही जय कहते हैं ॥४७॥

स्वपक्ष की सिद्धि से अन्य वादी का निग्रह कैसे होता है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं -

जैसे लौकिक अर्थों का विचार करना वस्तु के आश्रय से होता है, वैसे ही शास्त्रीय अर्थों की विचारणा स्वपक्ष सिद्धि पर्यन्त होती है। अर्थात् - स्वपक्ष की सिद्धि हो जाने पर कथा की समाप्ति हो जाती है ॥४८॥

कोई पुनः प्रश्न करता है कि स्वपक्ष क्या है जिसकी सिद्धि हो जाने से जय होती है ? इस प्रश्न *पर विचार करने के लिए आचार्य उपक्रम करते हैं -*

इस प्रकरण में जिज्ञासित (जिसकी जिज्ञासा है) विशेष धर्मी पक्ष है, यह युक्त नहीं है। क्योंकि आकाश पुष्प के समान वह जिज्ञासित विशेष धर्मी असंभव दोष से बाधित है।

वादी किसी भी धर्मी में किसी साध्य विशेष की प्रतिपत्ति करना नहीं चाहता है। क्योंकि जिस वादी ने पूर्व में विशेष रूप से अर्थ का निश्चय कर लिया है, उस वादी की दूसरों को समझाने के लिए प्रवृत्ति हुआ करती है। और प्रतिवादी की प्रवृत्ति वादी के पक्ष का खण्डन करने के लिए होती है। अतः वादी और प्रतिवादी की अपेक्षा जिज्ञासितपना (जानने की इच्छा रूप) पक्ष का लक्षण घटित नहीं होता, क्योंकि वादी और

क्वचित्साध्यविशेषं हि न वादी प्रतिपित्सते। स्वयं विनिश्चितार्थस्य परबोधाय वृत्तितः ।।५०।।
प्रतिवादी च तस्यैव प्रतिक्षेपाय वर्तनात्। जिज्ञासितो न सभ्याश्च सिद्धांतद्वयवेदिनः ।।५१।।
स्वार्थानुमाने वाद्ये च जिज्ञासितेति चेन्मतं। वादे तस्याधिकारः स्यात् परप्रत्ययनादृते ।।५२।।
जिज्ञापयिषितात्मेह धर्मी पक्षो यदीष्यते। लक्षणद्वयमायातं पक्षस्य ग्रंथघातिने ।।५३।।
तथानुष्णोग्निरित्यादिः प्रत्यक्षादिनिराकृतः। स्वपक्षं स्यादतिव्याप्ति नेदं पक्षस्य लक्षणं ।।५४।।
लिंगात्साधयितुं शक्यो विशेषो यस्य धर्मिणः। स एव पक्ष इति चेत् वृथा धर्मविशेषवाक् ५५।

प्रतिवादी दोनों की जानने की इच्छा नहीं है। तथा सभ्य (सभासद) भी जानने के इच्छुक नहीं हैं। क्योंकि सभ्य (प्राश्निक) पुरुष तो वादी और प्रतिवादी दोनों के सिद्धान्त को जानने वाले होते हैं। इसलिए दोषयुक्त होने से जिज्ञासिता विशेष धर्मी को पक्ष कहना युक्तिसंगत नहीं है॥४९-५०-५१॥

"यद्यपि परार्थानुमान और जीतने की इच्छा रखने वालों के वाद जिज्ञासित विशेष धर्मी पक्ष नहीं हैं, परन्तु स्वार्थ अनुमान में तथा आदि में कथित वीतराग पुरुषों के संवाद में तो जिज्ञासित विशेष धर्मी पक्ष हो सकता है"-ऐसा वैशेषिक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि दूसरों को युक्तियों के द्वारा ज्ञान कराया जाता है। उस वाद को छोड़कर अन्य वाद में जिज्ञासित विशेष धर्मी पक्ष हो सकता है अर्थात् तात्त्विक संवाद में जिज्ञासित विशेष धर्मी पक्ष बन सकता है॥५२॥

"यदि जीतने की इच्छा रखने वाले पुरुषों के वाद में जिस साध्यवान धर्मी की ज्ञापित कराने (समझाने) की इच्छा उत्पन्न हो चुकी है, वह धर्मी पक्ष कहलाता है अर्थात् जिज्ञापयिषित धर्मी को पक्ष कहते हैं, इस प्रकार कहने वाले वैशेषिक के प्रति जैनाचार्य कहते हैं कि-इस प्रकार पक्ष का लक्षण करने पर जिज्ञासित विशेष धर्मी पक्ष और जिज्ञापयिषित धर्मी पक्ष-ये दो पक्ष के लक्षण हो जाते हैं जो पक्ष के लक्षण को कहने वाले ग्रन्थ के घातक हैं अर्थात् लक्षण तो एक होता है। दो लक्षण कहने से अपसिद्धान्त की प्राप्ति होती है। अतः वैशेषिक के द्वारा माना गया यह पक्ष का लक्षण असंभव दोष से दूषित है॥५३॥

तथा अग्नि अनुष्ण (शीतल) है इत्यादि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित पक्ष भी हो सकता है। अर्थात् जिज्ञासु को अग्नि का अनुष्णपना जानने की भी इच्छा हो सकती है।

परन्तु जिज्ञासु की इच्छा को पक्ष मानना, पक्ष का लक्षण अतिव्याप्ति दोष से युक्त होने से समीचीन नहीं है अर्थात् विपरीत पक्ष में लक्षण जाता है, अपक्ष में लक्षण जाता है अतः पक्ष का लक्षण निर्दोष नहीं है॥५४॥

जिस धर्मी के साध्य रूप विशेष धर्म का ज्ञापक हेतु से सिद्ध करना शक्य होता है वही पक्ष कहलाता है। इस प्रकार कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने पर तो साध्य रूप विशेष धर्म का कथन करना व्यर्थ होगा अर्थात् केवल धर्मी का ही कथन करना चाहिए। साध्यवान् धर्मी को पक्ष कहने की आवश्यकता नहीं है॥५५॥

लिंगं येनाविनाभावि सोर्थः साध्योवधार्यते। न च धर्मी तथाभूतः सर्वत्रानन्वयात्मकः ॥५६॥
न धर्मी केवलः साध्यो न धर्मः सिद्ध्यसंभवात्। समुदायस्तु साध्येत यदि संव्यवहारिभिः ॥५७॥
तदा तत्समुदायस्य स्वाश्रयेण विना सदा। संभवाभावतः सोपि तद्विशिष्टः प्रसाध्यताम् ॥५८॥
तद्विशेषोपि सोन्येन स्वाश्रयेणेति न क्वचित्। साध्यव्यवस्थितिर्मूढ चेतसामात्मविद्विषाम् ॥५९॥
विनापि तेन लिंगस्य भावात्तस्य न साध्यता। ततो न पक्षतेत्येतदनुकूलं समाचरेत् ॥६०॥
धर्मिणापि विना भावात्क्वचिल्लिंगस्य पक्षता। तस्य माभूत्ततः सिद्धः पक्षः साधनगोचरः ॥६१॥

यादृगेव हि स्वार्थानुमाने पक्षः शक्यत्वादिविशेषणः साधनविषयस्तादृगेव परार्थानुमाने युक्तः स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनाय प्रेक्षावतां परार्थानुमानप्रयोगात्, अन्यथा तल्लक्षणस्यासंभवादिदोषानुषंगात्॥

ज्ञापक हेतु जिस साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला हेतु है, वह पदार्थ साध्य होता है, यह निर्णय किया जाता है, उस प्रकार धर्मी साध्य नहीं होता है। क्योंकि धर्मी का सर्वत्र हेतु के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है (अन्वयात्मक नहीं है) अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम है- वहाँ-वहाँ अग्नि है ऐसा कथन करना तो उचित है। किन्तु जो जो धूमवान् होता है वह-वह अग्निवाला होता है यह अन्वय ठीक नहीं है (क्योंकि हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति है, हेतुमान का साध्यमान के साथ अविनाभाव नहीं है। हेतु के साथ अधिकरण को लगाकर पुनः व्याप्ति बनाने से अन्वय दृष्टान्त नहीं मिलता है। व्याप्ति में तो साध्य धर्म ही होता है, धर्मी नहीं। अन्यथा व्याप्ति घटित नहीं होती है।) इसलिए केवल धर्मी साध्य नहीं होता है। क्योंकि अकेले धर्म या धर्मी की सिद्धि होना असंभव है। समीचीन व्यवहार को जानने वाले पुरुषों के द्वारा यदि धर्म और धर्मी का समुदाय सिद्ध किया जाता है, तो सर्वदा समुदाय का स्वकीय आश्रय के बिना रहना संभव नहीं है। इसलिए वह समुदाय भी स्वकीय आश्रय से विशिष्ट ही साधने (सिद्ध करने) योग्य है। तथा, उस आश्रय से विशिष्टसमुदाय अन्य स्वाश्रय से विशिष्ट साधने योग्य है और इस प्रकार कथन करने से कहीं पर भी विश्रान्ति न होने से अनवस्था दोष आता है। अतः आत्मा से द्वेष रखने वाले (जिन-धर्म से बहिर्भूत) मूढ़ चित्तवाले को कहीं पर भी साध्य की व्यवस्था नहीं हो सकती ॥५६-५९॥

उस धर्म विशिष्ट धर्मी रूप पक्ष के बिना भी ज्ञापक हेतु का सद्भाव पाया जाता है। इसलिए समुदाय के साध्यता नहीं है। अतः समुदाय के पक्षपना भी नहीं है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं- इस प्रकार कथन करना तो हमारे अनुकूल आचरण ही है।

अथवा-कहीं-कहीं धर्मी रूप पक्ष के बिना भी ज्ञापक हेतु का सद्भाव पाया जाता है। अतः उस धर्मी को पक्षपना नहीं हो सकता है। इसलिए सिद्ध होता है कि स्वार्थानुमान के समान वाद में भी शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्ध माने गये साध्य को सिद्ध करने वाले हेतु के विषयभूत धर्मी को ही पक्ष मानना चाहिए ॥६०-६१॥

जैसा, स्वार्थानुमान में शक्यत्व आदि विशेषणों से युक्त ज्ञापक हेतु का विषय हो रहा प्रतिज्ञा रूप पक्ष है, उसी प्रकार का पक्ष परार्थ अनुमान में भी स्वीकार करना युक्त है। क्योंकि स्वकीय निश्चय के समान

का पुनः पक्षस्य सिद्धिरित्याह–

सभ्यप्रत्यायनं तस्य सिद्धिः स्याद्वादिनोथवा। प्रतिवादिन इत्येष निग्रहोन्यतरस्य तु ॥६२॥

वादिनः स्वपक्षप्रत्यायनं सभायां स्वपक्षसिद्धिः, प्रतिवादिनः स एव निग्रहः, प्रतिवादिनोथवा तत्स्वपक्षसिद्धिर्वादिनो निग्रह इत्येतत्प्रत्येयम्॥ तथोक्तं। "स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोन्यस्य वादिनः। नासाधनांगवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः॥" इति॥

अत्र परमतमनूद्य विचारयति–

असाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः। निग्रहस्थानमन्यत्तन्न युक्तमिति केचन ॥६३॥

स्वपक्षं साधयन् तत्र तयोरेको जयेदादि। तूष्णीभूतं ब्रुवाणं वा यत्किंचित्तत्समंजसम् ॥६४॥

अन्य पुरुषों के निश्चय की उत्पत्ति करने के लिए विचारशील तार्किक पुरुषों के द्वारा परार्थानुमान का प्रयोग किया जाता है। अतः पक्ष का यही लक्षण ठीक है। अन्यथा-उस पक्ष के लक्षण के करने में असंभव आदि दोषों की प्राप्ति हो जाने का प्रसंग आता है।

पक्ष की सिद्धि क्या है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं- सभा में स्थित सभ्य जनों को प्रतिज्ञान कराने के लिए वादी के उस उपर्युक्त पक्ष की सिद्धि होती है। अथवा-वादी और प्रतिवादी दोनों में से एक प्रतिवादी का ही निग्रह होगा। अथवा प्रतिवादी के उस प्रतिज्ञा रूप पक्ष की सभ्यों के सन्मुख सिद्धि हो जाना ही वादी का निग्रह हो जाना है॥६२॥

सभा में निजपक्ष का ज्ञापन कराना ही वादी के स्व पक्ष की सिद्धि है और वही प्रतिवादी का निग्रह है। अथवा प्रतिवादी के अपने पक्ष की सिद्धि हो जाना ही वादी का निग्रह है। ऐसा विश्वास करना चाहिए। सो ही कहा है - वादी और प्रतिवादी में से किसी एक के स्वपक्ष की सिद्धि हो जाने पर दूसरे वादी का निग्रह हो जाता है। वादी के लिए आवश्यक हेतु के अंगों का कथन नहीं करना निग्रह स्थान नहीं है। और दोनों के दोषों का उद्भावन नहीं करना भी निग्रह स्थान नहीं है। अपितु स्वकीय पक्ष की सिद्धि हो जाना ही वादी की जय और प्रतिवादी की पराजय है।

अब यहाँ पर बौद्ध मत का अनुवाद करके आचार्य विचार करते हैं -

"कोई (सौगत मतानुयायी) कहता है कि यदि वादी प्रतिज्ञा आदि अनुमान के अंगों का कथन नहीं करता है और प्रतिवादी वादी के हेतु में दोषों का उद्भावन नहीं करता है, तो वादी प्रतिवादी दोनों ही निग्रह स्थान को प्राप्त होते हैं। इनसे अन्य कोई निग्रह स्थान युक्तिसंगत नहीं है।"

इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि - वादी और प्रतिवादी-इन दोनों में कोई एक यदि स्वपक्ष को सिद्ध करता हुआ कुछ भी समंजस (समीचीन) कहने वाले को चुप करके जीतता है (अर्थात् केवल हेतु के पाँचों अंगों का कथन नहीं करना ही वादी का निग्रह स्थान नहीं है) अपितु प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि हो जाने पर वादी का असाधनांग वचन वादी की पराजय करा देता है। अतः स्वपक्ष की सिद्धि करना ही प्रतिवादी की पराजय है॥६३-६४॥

सत्यमेतत्, स्वपक्षं साधयन्नेवासाधनांगवचनाददोषोद्भावनाद्वा वादी प्रतिवादी वा तूष्णीभूतं यत्किंचिद्ब्रुवाणं वा परं जयति नान्यथा केवलं पक्षो वादिप्रतिवादिनोः सम्यक् साधनदूषणवचनमेवेति पराकूतमनूद्य प्रतिक्षिपति–

सत्साधनवचः पक्षो मतः साधनवादिनः। सद्दूषणाभिधानं तु स्वपक्षः प्रतिवादिनः ॥६५॥
इत्ययुक्तं द्वयोरेकविषयत्वानवस्थितेः। स्वपक्षप्रतिपक्षत्वासंभवाद्भिन्नपक्षवत् ॥६६॥
वस्तुन्येकत्र वर्तेते तयोः साधनदूषणे। तेन तद्वचसोर्युक्ता स्वपक्षेतरता यदि ॥६७॥
तदा वास्तवपक्षः स्यात्साध्यमानं कथंचन। दूष्यमाणं च निःशंकं तद्वादिप्रतिवादिनोः ॥६८॥

बौद्ध कहते हैं कि यह कथन सत्य है कि स्वकीय पक्ष की सिद्धि करता हुआ वादी या प्रतिवादी अनुमान के प्रतिज्ञा आदि अवयवों को नहीं कहता है तथा हेतु के दोषों का उत्थापन नहीं करता है और सर्वथा चुपचाप रहता है, वा कुछ भी बोल देता है उसको प्रतिवादी जीत लेता है अन्यथा नहीं। अर्थात् स्वपक्ष की सिद्धि करने वाला ही जय को प्राप्त होता है। अथवा केवल समीचीन साधन (हेतु) का कथन करना ही वादी का पक्ष है और वादी के हेतु में दूषण देना प्रतिवादी का पक्ष है। इस प्रकार दोनों की कुचेष्टाओं का अनुवादन कर आचार्य आक्षेप का प्रत्याख्यान करते हैं -

श्रेष्ठ हेतु का कथन करना ही साधनवादी का पक्ष माना गया है तथा वादी के हेतु में समीचीन दूषण का कहना प्रतिवादी का स्वपक्ष है - ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि दोनों में एक विषय की व्यवस्था नहीं है। अतः स्वपक्ष और प्रतिपक्ष की असंभवता है। जैसे सर्वथा भिन्न पक्षों में स्वपक्ष की व्यवस्था नहीं होती है अर्थात् सिद्धि किसी की की जाती है और दूषण किसी दूसरे का उठाया जाता है तो स्वपक्ष और प्रतिपक्ष का निर्णय नहीं हो सकता है॥६५-६६॥

एक ही वस्तु में यदि वादी और प्रतिवादी का साधन और दूषण देना प्रवृत्त होता है, इसलिए वादी और प्रतिवादी के वचनों में स्वपक्ष और प्रतिपक्षपना युक्त है। तदा (तब तो) किसी भी प्रकार से वादी के द्वारा साध्यमान और प्रतिवादी के द्वारा निःशंक होकर दूषित किया गया ही वास्तविक पक्ष वादी और प्रतिवादी को सिद्ध हो जाता है॥६७-६८॥

शब्द को अनित्य कहने वाले वादियों के यहाँ जो वस्तु वादी के द्वारा सिद्ध की जा रही है और नैयायिक आदि प्रतिवादी के द्वारा वह शब्द का वस्तुभूत अनित्यपना दूषित किया जा रहा है, वही वादी का पक्ष है, क्योंकि पूर्व में इस ग्रन्थ की साठवीं कारिका में शक्यत्व, असिद्धत्व आदि विशेषणों से युक्त तथा ज्ञापक हेतु के विषयभूत पक्षत्व की व्यवस्था की है तथा जो दूषणवादी के द्वारा शब्दादि वस्तु अनित्य रूप से साध्य है और प्रतिवादी के द्वारा दूष्यमाण है वह प्रतिवादी के पक्ष रूप से व्यवस्थित है। किन्तु वादी के साधन वचन और प्रतिवादी के दूषण वचन पक्ष नहीं हैं। क्योंकि वादी के साधन कथन में और प्रतिवादी के दूषण उत्थापन में कोई विवाद नहीं है। विवाद का उनमें अभाव है अर्थात् वादी हेतुओं के द्वारा स्वकीय

यद्वस्तु शब्दानित्यत्ववादिनां साध्यमानं वादिना, दूष्यमाणं च प्रतिवादिना तदेव वादिनः पक्षः शक्यत्वादिविशेषणस्य साधनविषयस्य पक्षत्वव्यवस्थापनात्। तथा यद्दूषणवादिना शब्दादि वस्तु अनित्यत्वादिना साध्यमानं वादिना दूष्यमाणंत देव प्रतिवादिनः पक्ष इति व्यवतिष्ठते न पुनः साधनवचनं वादिनः, दूषणवचनं च प्रतिवादिनः, पक्ष इति विवादाभावात्तयोस्तत्र विवादे वा यथोक्तलक्षण एव पक्ष इति तस्य सिद्धेरेकस्य जयोऽपरस्य पराजयो व्यवतिष्ठते, न पुनरसाधनांगवचनमात्रमदोषोद्भावनमात्रं वा। पक्षसिद्ध्यविनाभाविनस्तु साधनांगस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानं प्रतिपक्षसिद्धौ सत्यां प्रतिवादिन इति न निवार्यत एव। तथाहि–

पक्षसिद्ध्यविनाभावि साधनावचनं ततः। निग्रहो वादिनः सिद्धः स्वपक्षे प्रतिवादिनि ॥६९॥

सामर्थ्यात् प्रतिवादिनः सद्दूषणानुद्भावनं निग्रहाधिकरणं वादिनः पक्षसिद्धौ सत्यामित्यवगंतव्यं। तथा वादिनं साधनमात्रं ब्रुवाणमपि प्रतिवादी कथं जयतीत्याह–

पक्ष को पुष्ट करता है और प्रतिवादी उसके हेतु को दूषित करने की चेष्टा करता है। परन्तु ये पक्ष या प्रतिपक्ष नहीं हो सकते। यदि वादी और प्रतिवादी का उनमें (साधन और दूषण में) विवाद होने लगे तो उपर्युक्त पक्ष का लक्षण घटित होने से वही पक्ष हो जाता है। अतः उस पक्ष की सिद्धि हो जाने से वादी या प्रतिवादी में एक की विजय और दूसरे की पराजय होना व्यवस्थित हो जाता है।

किन्तु केवल अनुमान के पाँचों अंगों का उच्चारण नहीं करना वा हेतु के दोषों का उत्थापन नहीं करना मात्र वादी प्रतिवादी के निग्रह वा विजय नहीं है; क्योंकि पक्ष सिद्धि के अविनाभावी हेतु के अंगों का कथन नहीं करना वादी का निग्रह स्थान है। यह निग्रह स्थान प्रतिवादी के द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि करने पर ही होगा। इसलिए तत्त्व का निवारण नहीं हो सकता। वही **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं -

प्रतिवादी के स्वपक्ष की सिद्धि हो जाने पर यदि वादी के द्वारा पक्षसिद्धि के अविनाभावी हेतु का कथन नहीं किया जाता है तो वादी का निग्रह स्थान हो जाता है॥६९॥

बिना कहे ही सामर्थ्य से यह तत्त्व भी समझ लेना चाहिए कि वादी के द्वारा स्वकीय पक्ष की सिद्धि कर देने पर प्रतिवादी के द्वारा श्रेष्ठ दूषण नहीं देना ही प्रतिवादी का निग्रह स्थान है। यदि वादी अपने पक्ष की सिद्धि नहीं करता है तो प्रतिवादी का निग्रह नहीं होता।

"केवल साधन मात्र को कहने वाले वादी को प्रतिवादी कैसे जीत लेता है?" ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं -

वादी के विरुद्ध हेतुओं का उद्भावन करने वाला प्रतिवादी वादी को जीत लेता है अर्थात् वादी के हेतुओं को हेत्वाभास सिद्ध करने वाले प्रतिवादी की विजय हो जाती है।

विरुद्धसाधनोद्भावी प्रतिवादीतरं जयेत्। तथा स्वपक्षसंसिद्धेर्विधानं तेन तत्त्वतः ॥७०॥

दूषणांतरमुद्भाव्य स्वपक्षं साधयन् स्वयं। जयत्येवान्यथा तस्य न जयो न पराजयः ॥७१॥

यच्च धर्मकीर्तिनाभ्यधायि साधनं सिद्धिस्तदंगं त्रिरूपं लिंगं तस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानं। तथा साधनस्य त्रिरूपलिंगस्याङ्गं समर्थनं व्यतिरेकनिश्चयनिरूपणत्वात्, तस्य विपक्षे बाधकप्रमाणवचनस्य हेतोः समर्थनत्वात् तस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानमिति च तन्नैयायिकस्यापि समानमित्याह–

स्वेष्टार्थसिद्धेरंगस्य त्र्यंशहेतोरभाषणं। तस्यासमर्थनं चापि वादिनो निग्रहो यथा ॥७२॥

पंचावयवलिंगस्याभाषणं न तथैव किम्। तस्यासमर्थनं चापि सर्वथाप्यविशेषतः ॥७३॥

इसलिए वादी को अपने पक्ष की सिद्धि का विधान वास्तव रूप से करना अत्यावश्यक है अर्थात् स्वपक्ष की सिद्धि किये बिना विजय प्राप्त नहीं हो सकती ॥७०॥

वादी के हेतु में दूषणों का उद्भावन करके स्वपक्ष की सिद्धि करने वाला प्रतिवादी वादी को जीत लेता है। अन्यथा (स्वपक्ष को सिद्ध नहीं करने वाले) प्रतिवादी की न विजय होती है और न पराजय ॥७१॥

तथा बौद्धमतानुयायी धर्मकीर्ति ने यह कहा था कि साधन की सिद्धि का कारण तीन रूप वाला ज्ञापक हेतु है। उस तीन रूप लिंग (हेतु) का कथन नहीं करना ही वादी का निग्रह स्थान है।

भावार्थ - पक्ष धर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति - ये तीन अंग हेतु के माने गये हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, ये अनुमान के तीन अंग हैं। वादी यदि स्वपक्षसिद्धि के लिए तीन रूप वाले हेतु का कथन नहीं करेगा, तो वह निग्रह स्थान का पात्र होगा।

अथवा "असाधनांग" वचन का दूसरा अर्थ यह भी है कि साधन तीन रूप वाले लिंग का अंग समर्थन व्यतिरेक के निश्चय का निरूपण करने से होता है। अथवा उस हेतु के विपक्ष में बाधक प्रमाण वचन को समर्थन कहते हैं। अर्थात् हेतु वचन का विपक्ष में बाधक होना ही समर्थन है। उस समर्थन वचन का कथन नहीं करना ही वादी का निग्रह स्थान है।

साध्य के अभाव में हेतु के अभाव का कथन करना व्यतिरेक है। हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति को सिद्ध करके धर्मी में उस हेतु का सद्भाव सिद्ध करना समर्थन है। यह अन्वय मुख से समर्थन है और व्यतिरेक के निश्चय का निरूपण करने से विपक्ष में बाधक प्रमाण का कथन करना ही व्यतिरेक मुख से समर्थन है। यदि वादी व्यतिरेक मुख से समर्थन का निरूपण नहीं करता है तो वादी का निगह स्थान है। इस प्रकार बौद्ध मतावलम्बी **धर्मकीर्त्ति** के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि यह नैयायिक के कथन के समान ही है। इसी का **विद्यानन्द आचार्य** स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि -

जिस प्रकार स्वकीय इष्ट अर्थ की सिद्धि के अंग तीन अंश वाले हेतु का कथन नहीं करना तथा उस तीन अंश वाले हेतु का समर्थन नहीं करना वादी का निग्रह स्थान है, उसी प्रकार नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत पाँच अवयव वाले हेतु का कथन नहीं करना तथा पाँच अवयव वाले हेतु का समर्थन नहीं करना क्या वादी का निग्रह स्थान नहीं है? अवश्य ही है। क्योंकि तीन अंश वाले और पाँच अंश वाले हेतु में सर्वथा अविशेषता है अर्थात् दोनों में समानता है ॥७२-७३॥

ननु च न सौगतस्य पंचावयवसाधनस्य तत्समर्थनस्य वाऽवचनं निग्रहस्थानं तत्र निगमनांतसामर्थ्याद्गम्यमानत्वात् तद्वचनस्य पुनरुक्तत्वेनाफलत्वादित्यपि न संगतमित्याह–

सामर्थ्यादुद्गम्यमानस्य निगमस्य वचो यथा। पक्षधर्मोपसंहारवचनं च तथाऽफलम्॥७४॥

ननु च सपक्षधर्मोपसंहारस्य सामर्थ्यादुद्गम्यमानस्यापि हेतोरपक्षधर्मत्वेनासिद्धत्वस्य व्यवच्छेदः फलमस्तीति युक्तं तद्वचनमनुमन्यते यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः संश्च शब्द इति। तर्हि निगमनस्यापि प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयानामेकार्थत्वोपदर्शनं फलमस्ति तत्तद्वचनमपि युक्तिमदेवेत्याह–

भावार्थ - पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्ष व्यावृत्ति, अबाधित विषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व-इन पाँच अवयवों से सहित हेतु का कथन नहीं करना नैयायिकों के कथनानुसार भी निग्रह स्थान है। वैसे ही बौद्धों का कहना भी निग्रह स्थान है। दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

शंका - पाँच अवयव वाले हेतु का अथवा उसके समर्थन का कथन नहीं करना कोई बौद्ध का निग्रह स्थान नहीं है। क्योंकि वहाँ निगमन पर्यन्त अवयवों का बिना कहे हेतु की सामर्थ्य से ही अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान कर लिया जाता है।

उस गम्यमान का भी यदि कथन किया जायेगा तो पुनरुक्त हो जाने के कारण वह निष्फल होगा।

समाधान - जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों का यह कहना भी सुसंगत नहीं है। इसी को आचार्य कहते हैं-

जिस प्रकार हेतु के सामर्थ्य से गम्यमान निगमन रूप अवयव का कथन करना निष्फल है उसी प्रकार पक्ष में स्थित हेतु के उपसंहार रूप उपनय का कथन करना भी निष्फल है। अर्थात् जैसे गम्यमान निगमन का कथन करना नैयायिकों के निष्फल है उसी प्रकार गम्यमान उपसंहार का कथन करना बौद्धों के सिद्धान्त में भी निष्फल होगा॥७४॥

शंका - यद्यपि पक्ष धर्म के उपसंहार रूप उपनय का कथन नहीं करने पर भी सामर्थ्य से ज्ञान कर लिया जाता है, तथापि किसी को पक्ष में वृत्तिपना नहीं होने के कारण हेतु के स्वरूपासिद्ध हेत्वाभासपने की शंका हो जाने पर उस असिद्धित्व का व्यवच्छेदन में उपनय कथन का फल विद्यमान है। इसलिए उस पक्षधर्मोपसंहार का कथन करना युक्त माना जाता है। जैसे "जो सत् है वह सर्व क्षणिक है" जैसे-घट। शब्द भी सत् है, इसलिए क्षणिक है। वह उपनय वाक्य है। उस उपनय का कथन करने से हेतु का पक्ष में ठहरने के कारण स्वरूपसिद्धिका व्यवच्छेद हो जाता है।

समाधान - इस प्रकार बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं - कि निगमन नामक पाँचवें अवयव का कथन नहीं करने पर भी यद्यपि उसका ज्ञान हो जाता है, फिर भी प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय इन चारों का एक ही साध्य विषय की साधना रूप प्रयोजन को दिखाना निगमन का फल है। अतः निगमन का कथन करना भी युक्तिसंगत है। इसी को **श्रीविद्यानन्द आचार्य** कहते हैं-

तस्यासिद्धत्वविच्छित्तिः फलं हेतोर्यथा तथा। निगमस्य प्रतिज्ञानाद्येकार्थत्वोपदर्शनम् ॥७५॥

न हि प्रतिज्ञादीनामेकार्थत्वोपदर्शनमंतरेण संगतत्वमुपपद्यते भिन्नविषयप्रतिज्ञादिवत्। तथा प्रतिज्ञातः साध्यसिद्धौ हेत्वादिवचनमनर्थकं स्यादन्यथा तस्या न साधनांगतेति यदुक्तं तदपि स्वमतघातिधर्मकीर्तेरित्याह-

प्रतिज्ञातोर्थसिद्धौ स्याद्धेत्वादिवचनं वृथा। नान्यथा साधनांगत्वं तस्या इति यथैव तत् ॥७६॥
तत्त्वार्थनिश्चये हेतोर्दृष्टांतोऽनर्थको न किम्। सदृष्टान्तप्रयोगेषु प्रविभागमुदाहृताः ॥७७॥

ततोर्थातिविपरीतव्यतिरेकत्वं प्रदर्शितव्यतिरेकत्वमिति। न च वैधर्म्यदृष्टांतदोषाः क्वचिन्न्यायविनिश्चयादौ प्रतिपाद्यानुरोधतः सदृष्टांतेषु सत्प्रयोगेषु सविभागमुदाहृताः न पुनः साधनांगत्वानियमात्। तदनुद्भावनं प्रतिवादिनो निग्रहाधिकरणं वादिना स्वपक्षस्यासाधनेपीति ब्रुवाणः सौगतो जडत्वेन जडानपि छलादिना व्यवहारतो नैयायिकान् जयेत्। किं च-

---

जिस प्रकार उपनय का फल हेतु के असिद्ध (असिद्ध हेत्वाभासपन) का विच्छेद करना है, उसी प्रकार निगमन का फल प्रतिज्ञा, हेतु आदि अनेक (चार) अवयवों का एक अर्थत्व (एक प्रयोजनत्व) को दिखाना है। अतः पाँचों अवयवों का कथन करना आवश्यक है। अन्यथा निग्रह स्थान होता है ॥७५॥

क्योंकि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदिकों का एक ही अर्थ दिखाये बिना उनकी परस्पर में संगति नहीं हो सकती। जैसे पृथक्-पृथक् विषय को करने वाले प्रतिज्ञा आदि की संगति नहीं हो सकती।

तथा, प्रतिपाद्य शिष्य के अनुरोध से पाँच या तीन अवयवों का कथन होता है। जैसे प्रतिज्ञा से साध्य की सिद्धि हो जाने पर हेतु, दृष्टान्त आदि का कथन करना अनर्थक (निष्प्रयोजन) है। अथवा (यदि प्रतिज्ञा वाक्य से साध्य सिद्धि नहीं मानेंगे तो) प्रतिज्ञा के साधन का अंगत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा। इस प्रकार जो बौद्ध का कथन है, वह भी बौद्ध मतानुयायी **धर्मकीर्त्ति** के स्वमत का घातक ही है। इसी कथन को स्पष्ट करने के लिए **विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं-

प्रतिज्ञा वाक्य से ही अर्थ की सिद्धि हो जाने पर पुनः हेतु आदि का वचन करना वृथा (निष्प्रयोजन) होगा। अन्यथा उस प्रतिज्ञा वाक्य के साध्य सिद्धि का अंगपना घटित नहीं होगा। इस प्रकार जैसा बौद्ध कहता है उसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि हेतु के द्वारा तत्त्वार्थ का निश्चय हो जाने पर पुनः दृष्टान्त का कथन करना व्यर्थ क्यों नहीं होगा? परन्तु समीचीन दृष्टान्तों के प्रयोग में विभाग कहा गया है अर्थात् दृष्टान्त के प्रयोग में साधर्म्य और वैधर्म्यपना कहा गया है ॥७६-७७॥

तथा वैधर्म्य दृष्टान्त का निरूपण करने के लिए व्यतिरेक दिखलाना पड़ता है। उस साध्य रूप अर्थ से अतिरिक्त विपरीत के साथ व्यतिरेकपना दिखलाना ही व्यतिरेकत्व है। इस प्रकार दिये गये वैधर्म्य दृष्टान्त के दोष किन्हीं **"न्याय विनिश्चय, जल्पनिर्णय"** आदि ग्रन्थों में शिष्यों के अनुरोध से दृष्टान्त सहित समीचीन प्रयोगों में साधर्म्य और वैधर्म्य का विभाग नहीं कहा गया है। किन्तु साधन के अंग के अनियम से उन दोषों का निरूपण नहीं किया है। अर्थात् अकलंक देव ने वैधर्म्य दृष्टान्त या साधर्म्य दृष्टान्त का कथन करना बतलाया है तथा उनके दोषों का भी निरूपण किया है। यह साधनांगत्व के अनियम से व्यवस्था नहीं की गई है। तथा शिष्यों के अनुरोध से कितने भी अंगों का कथन किया जा सकता है।

सत्ये च साधने प्रोक्ते वादिना प्रतिवादिनः। दोषानुद्भावते च स्यान्न्यक्कारो वितथेपि वा ॥७८॥
प्राच्ये पक्षेऽकलंकोक्तिर्द्वितीये लोकबाधिता। द्वयोर्हि पक्षसंसिद्ध्यभावे कस्य विनिग्रहः ॥७९॥
अत्रान्ये प्राहुरिष्टं नस्तथा निग्रहणं द्वयोः। तत्त्वज्ञानोक्तिसामर्थ्यशून्यत्वस्याविशेषतः ॥८०॥
यथोपात्तापरिज्ञानं साधनाभासवादिनः। तथा सद्दूषणाज्ञानं दोषानुद्भाविनः समं ॥८१॥

वादी के द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि नहीं करने पर भी यदि दोषों का उत्थापन नहीं करना प्रतिवादी का निग्रह स्थान है तो ऐसा कहने वाला सौगत (बौद्ध) अपने जड़पने से छल, जाति आदिके वचन व्यवहार करने वाले मूर्ख नैयायिकों को जीत रहा है।

भावार्थ - ज्ञान स्वरूप आत्मा को नहीं मानने वाले बौद्ध जड़ हैं (ज्ञान शून्य हैं) और ज्ञान से सर्वथा भिन्न आत्मा को मानने वाले नैयायिक भी जड़ हैं।

किंच (दूसरी बात यह भी है) वादी के द्वारा समीचीन हेतु का कथन कर देने पर और प्रतिवादी के द्वारा दोषों का उत्थापन नहीं करने पर क्या प्रतिवादी का तिरस्कार (निग्रह स्थान) हो जाता है? अथवा वादी के द्वारा असत्य हेतु का कथन करने पर तथा प्रतिवादी के द्वारा उसमें दोषों का उद्भावन नहीं करने पर प्रतिवादी की पराजय होती है? प्रथम पक्ष में **अकलंक देव** का सिद्धान्त ही कह दिया जाता है अर्थात् वादी के द्वारा किये गये सत्य हेतु के प्रयोग में जब प्रतिवादी दोष नहीं उठा सकता तब प्रतिवादी की पराजय हो जाती है। यह स्याद्वादवेत्ता अकलंक देव का सिद्धान्त है। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर लोकबाधित होते हैं अर्थात् स्वपक्ष की सिद्धि के बिना प्रतिवादी का निग्रह करने पर लोकविरुद्ध होता है। क्योंकि दोनों के पक्षों की सिद्धि के अभाव में किसका निग्रह किया जा सकता है? अर्थात् किसी का भी नहीं। इसलिए वादी के द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि कर देने पर यदि प्रतिवादी उसका खण्डन नहीं कर सकता है तो प्रतिवादी की पराजय हो जाती है ॥७८-७९॥

इस द्वितीय पक्ष (वादी के द्वारा सदोष हेतु के कहने पर भी यदि प्रतिवादी उसका खण्डन नहीं कर सकता तो प्रतिवादी की पराजय हो जाती है) के विषय में कोई विद्वान् कहते हैं कि इसमें वादी प्रतिवादी दोनों का निग्रहण (पराजय) होता है। यह कथन हमको इष्ट है। अर्थात् यदि वादी का हेतु समीचीन नहीं है और प्रतिवादी उसका खण्डन नहीं कर सकता तो वादी और प्रतिवादी दोनों की पराजय हो जाती है। क्योंकि तत्त्वज्ञान पूर्वक कथन करने के सामर्थ्य के शून्यत्व की दोनों में कोई विशेषता नहीं है अर्थात् वादी, प्रतिवादी दोनों का कथन तत्त्वार्थ के कथन से रहित है।

जैसे हेत्वाभास वादी (असत्य हेतु का प्रयोग करने वाले) को ग्रहण किये गये स्वपक्ष का परिज्ञान नहीं है, उसी प्रकार असत्य (सदोष) हेतु में दोषों का उत्थापन नहीं करने वाले प्रतिवादी को भी समीचीन दूषण का ज्ञान नहीं है। इसलिए तत्त्वज्ञान से शून्य होने से दोनों ही समान हैं ॥८०-८१॥ यदि कोई कहे कि सभा के भय से अथवा अन्य किन्हीं कारणों से प्रतिवादी दोषों को जानता हुआ भी वादी के दोषों का उद्भावन

जानतोपि सभाभीतेरन्यतो वा कुतश्चन। दोषानुद्भावनं यद्वत्साधनाभासवाक् तथा ॥८२॥
दोषानुद्भावने तु स्याद्वादिना प्रतिवादिने। परस्य निग्रहस्तेन निराकरणतः स्फुटम् ॥८३॥
अन्योन्यशक्तिनिर्घातापेक्षया हि जयेतरः। व्यवस्था वादिनोः सिद्धा: नान्यथातिप्रसंगतः ८४।
इत्येतदुर्विदग्धत्वे चेष्टितं प्रकटं न तु। वादिनः कीर्तिकारि स्यादेवं माध्यस्थहानितः ॥८५॥
दोषानुद्भावनाख्यानाद्यथा परनिराकृतिः। तथैव वादिना स्वस्य दृष्टवान् का तिरस्कृतिः ॥८६॥
दोषानुद्भावनादेकं न्यक् कुर्वंति सभासदः। साधनानुक्तितो नान्यमित्यहो तेऽतिसज्जनाः ॥८७॥

नहीं करता है तो हम भी कह सकते हैं कि निर्दोष हेतु को जानता हुआ भी वादी सभा के भय से वा किन्हीं अन्य कारणों से हेत्वाभास का प्रयोग करता है। इस प्रकार दोनों के ही तत्त्व ज्ञान पूर्वक कथन करने का सामर्थ्य सिद्ध नहीं हो रहा है॥८२॥

वादी के द्वारा प्रतिवादी के प्रति दोषों का उद्भावन नहीं करने पर दूसरे का निग्रह स्पष्ट रूप से परपक्ष का निराकरण करने से हो ही जाता है, अन्यथा नहीं। अतः परस्पर में एक दूसरे की शक्ति का विघात करने की अपेक्षा से ही वादी और प्रतिवादी के जय, पराजय की व्यवस्था सिद्ध है। अन्यथा अतिप्रसंग दोष होने से जय पराजय की व्यवस्था नहीं है। अर्थात् स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष का निराकरण करना ही वादी या प्रतिवादी की विजय है। स्वपक्ष की सिद्धि के बिना विजय प्राप्त नहीं हो सकती। यदि स्वपक्ष सिद्धि और परपक्ष के निराकरण के बिना ही जय पराजय मानेंगे तो अतिप्रसंग दोष आयेगा॥८३-८४॥

अब जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कथन करना स्वकीय मूर्खता की चेष्टा को प्रकट करना है; स्व का दुर्विदग्धपना[1] प्रकट करना है। किसी भी उपाय से प्रतिवादी की शक्ति का विघात करने का प्रयत्न करना वादी की कीर्ति (को करने वाला) नहीं है। क्योंकि इस प्रकार का निंदनीय कार्य करने से अन्य सभ्य पुरुषों के माध्यस्थ भाव की हानि होती है॥८५॥

जिस प्रकार प्रतिवादी के द्वारा दोषों का उत्थापन नहीं करने पर प्रतिवादी का निराकरण हो जाता है (प्रतिवादी की पराजय हो जाती है), उसी प्रकार समीचीन हेतु का प्रयोग नहीं करने पर वादी के द्वारा स्वकीय तिरस्कार क्यों नहीं देखा जाता है? अर्थात् समीचीन हेतु का प्रयोग नहीं करने पर वादी का तिरस्कार क्यों नहीं होगा? ॥८६॥

सभासद दोषों का उत्थापन नहीं करने पर वादी और प्रतिवादी में से एक प्रतिवादी का तिरस्कार (निग्रह स्थान) कर देते हैं। परन्तु समीचीन साधन का कथन नहीं करने से वादी का तिरस्कार (पराजय) नहीं करते हैं। अहो! वे सभासद आवश्यकता से भी अधिक सज्जन हैं अर्थात् सदोष हेतु को कहने वाले वादी का निग्रह नहीं करके केवल सदोष हेतु में दोषों का उद्भावन नहीं करने वाले प्रतिवादी का ही निराकरण करते हैं, वे सभासद न्याय को नहीं जानते हैं॥८७॥

---

१. मिथ्या आग्रहवश स्वकीय असत्य पक्ष के अभिमान से सत्य पक्ष को ग्रहण नहीं करना दुर्विदग्धपना है।

अत्र परेषामाकूतमुपदर्श्य विचारयति–

पक्षसिद्धिविहीनत्वादेकस्यात्र पराजये। परस्यापि न किं नु स्याज्जयोप्यन्यतरस्य तु ॥८८॥
तथा चैकस्य युगपत्स्यातां जयपराजयौ। पक्षसिद्धीतरात्मत्वात्तयोः सर्वत्र लोकवत् ॥८९॥
तदेकस्य परेणेह निराकरणमेव नः। पराजयो विचारेषु पक्षासिद्धिस्तु सा क्व नुः ॥९०॥
पराजयप्रतिष्ठानमपेक्ष्य प्रतियोगिनां। लोके हि दृश्यते यादृक् सिद्धं शास्त्रेपि तादृशम् ॥९१॥
सिद्ध्यभावः पुनर्दृष्टः सत्यपि प्रतियोगिनि। साधनाभावतः शून्ये सत्यपि च स जातुचित् ॥९२॥
तन्निराकृतिसामर्थ्यशून्ये वादमकुर्वति। पराजयस्ततस्तस्य प्राप्त इत्यपरे विदुः ॥९३॥

इस प्रकरण में जैनाचार्य दूसरों के अभिप्राय को दिखाकर विचार करते हैं, अर्थात् छह कारिकाओं के द्वारा दूसरे विद्वानों के मन्तव्य को कहते हैं -

पक्ष की सिद्धि से रहित होने के कारण एक की पराजय होने पर दूसरे (वादी) की पराजय क्यों नहीं होती है? क्योंकि साधनाभास को कहने वाला वादी और दोषों को उद्भावन नहीं करने वाला प्रतिवादी दोनों ही स्वकीय पक्ष की सिद्धि करने वाले नहीं हैं। अतः वादी की जय मानने पर प्रतिवादी की जय भी माननी पड़ेगी। तथा ऐसा होने पर वादी या प्रतिवादी की जय और पराजय दोनों एक साथ हो जायेगी। क्योंकि जैसे लोक में जय और पराजय की व्यवस्था प्रसिद्ध है, उसी प्रकार शास्त्रार्थ में भी स्वपक्ष की सिद्धि कर देने पर वादी की विजय और स्वरूप की सिद्धि नहीं होने पर पराजय होना प्रसिद्ध है अर्थात् जय और पराजय पक्षसिद्धि और पक्ष की असिद्धि स्वरूप ही है ॥८८-८९॥ इसलिए दूसरे विद्वानों के द्वारा एक वादी या प्रतिवादी का निराकरण हो जाना ही हमारे विचारों में पराजय मानी गई है। ऐसी अवस्था में किसी एक मनुष्य के वह पक्ष की असिद्धि कहाँ रह सकती है? जैसे लोक में प्रतियोगी (प्रतिकूल) पुरुषों की अपेक्षा करके पराजय की प्रतिष्ठा देखी जाती है। अपने पक्ष के प्रतिकूल बोलने वाले पुरुष की लौकिक विवाद में पराजय हो जाती है। उसी प्रकार शास्त्रीय विवाद में भी स्वकीय पक्ष के प्रतिकूल बोलने वालों की पराजय देखी जाती है ॥९०-९१॥

"प्रतियोगी मानव के होने पर भी पुनः समीचीन हेतु का अभाव होने से पक्षसिद्धि का अभाव देखा जाता है। तथा कभी-कभी प्रतियोगी का अभाव होने पर सिद्धि का अभाव देखा जाता है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि उस प्रतियोगी के निराकरण करने के सामर्थ्य से शून्य होने से वाद को नहीं करने वाले मानव के होने पर उसकी पराजय हो जाती है अर्थात् दूसरे को वाद के सामर्थ्य से शून्य कर दिया जाए, अथवा वह मानव वाद करने के योग्य नहीं रहता है- वही वादी की पराजय है। ऐसा कोई विद्वान् कहते हैं ॥९२-९३॥ जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकरण में इस प्रकार कहने वाले विद्वानों के अभिमतों पर विचार किया जा रहा है। सर्व प्रथम आचार्य कहते हैं कि निराकरण का अर्थ क्या है? वादी या प्रतिवादी को किसी भी प्रकार से चुप कर देना मात्र उसका निराकरण है? अथवा - समीचीन वचन वाले (वाग्मी) के द्वारा अभीष्ट पक्ष में (तत्त्व में) दूषण देना निराकरण है?

तत्रेदं चिंत्यते तावत्तन्निराकरणं किमु। निर्मुखीकरणं किं वा वाग्मिस्तत्तत्त्वदूषणम् ॥९४॥
नात्रादिकल्पना युक्ता परानुग्राहिणां सतां। निर्मुखीकरणावृत्तेर्बोधिसत्त्वादिवत्क्वचित् ॥९५॥
द्वितीयकल्पनायां तु पक्षसिद्धेः पराजयः। सर्वस्य वचनैस्तत्त्वदूषणे प्रतियोगिनाम् ॥९६॥
सिद्ध्यभावस्तु योगिनामसति प्रतियोगिनि। साधनाभावतस्तत्र कथं वादे पराजयः ॥९७॥
यदैव वादिनोः पक्षः प्रतिपक्षपरिग्रहः। राजन्वति सदेकस्य पक्षासिद्धस्तथैव हि ॥९८॥
सा तत्र वादिनो सम्यक् साधनोक्तेर्विभाव्यते। तूष्णींभावाच्च नान्यत्र नान्यदेत्यकलंकवाक्॥९९॥
तूष्णींभावोथवा दोषानाशक्तिः सत्यसाधने। वादिनोक्ते परस्येष्टा पक्षसिद्धिर्न चान्यथा ॥१००॥

इन दोनों पक्षों में से आदि (प्रथम) पक्ष की कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि बोधिसत्त्व आदि विद्वानों के समान दूसरों पर अनुग्रह करने वाले सज्जन पुरुषों की कहीं भी किसी को चुप करने की प्रवृत्ति नहीं होती है अर्थात् जैसे बोधिसत्त्व की प्रवृत्ति सबके ऊपर वात्सल्य भावस्वरूप होती है, उसी प्रकार सभ्य पुरुषों की प्रवृत्ति दूसरों का अनुग्रह करने वाली होती है, तत्त्व को समझाने की होती है, उसको चुप करने की नहीं ॥९४-९५॥

यदि युक्तिपूर्वक तत्त्वों में दूषण देना रूप द्वितीय पक्ष की कल्पना करने पर तो पक्ष की सिद्धि हो जाना ही पर (दूसरे) की पराजय है। तथा समीचीन हेतु रूप वचनों के द्वारा प्रतियोगी (प्रतिकूल बोलने के) के तत्त्व में (पक्ष में) दूषण देना ही पराजय है। अर्थात् स्वपक्ष सिद्धि और पर पक्ष निराकरण ही स्वजय और पर की पराजय है। प्रतियोगी वादी के नहीं होने पर और योगी के (अनुकूल बोलने वाले के) समीप समीचीन हेतु का अभाव होने से वादी के पक्ष की सिद्धि का अभाव है। अतः वादी के द्वारा प्रतिवादी की पराजय कैसे हो सकती है? ॥९६-९७॥

"जिस काल में उचित राजा के सभापति होने पर न्यायी राजा के द्वारा वादी और प्रतिवादी के पक्ष और प्रतिपक्ष का ग्रहण होता है वहाँ एक वादी के समीचीन पक्ष की सिद्धि हो जाने पर प्रतिवादी के प्रतिपक्ष की असिद्धि हो जाती है; उसी प्रकार वादी के द्वारा समीचीन निर्दोष हेतु का कथन करने से और प्रतिवादी के चुप हो जाने पर (प्रत्युत्तर नहीं देने पर) वादी के पक्ष की सिद्धि और प्रतिवादी के पक्ष की असिद्धि जान ली जाती है। अन्यत्र (अन्य स्थान में) और अन्य काल वा अन्य प्रकार से पक्ष की सिद्धि नहीं जानी जाती है"। यह अकलंक देव का निर्दोष वाक् (वचन) है ॥९८-९९॥

वादी के द्वारा निर्दोष साधन का कथन करने पर जब प्रतिवादी चुप हो जाता है अथवा वादी के निर्दोष हेतु में दोषों का उत्थापन (उद्भावन) करने के लिए असमर्थ हो जाता है तब वादी के पक्ष की सिद्धि हो जाती है, अन्यथा वादी के पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती ॥१००॥

इस प्रकार समीचीन हेतु के द्वारा पक्ष की सिद्धि मानने पर किसी भी वादी या प्रतिवादी के अभीष्ट तत्त्व की सिद्धि करने में कोई आक्षेप नहीं आता है। दूसरे के पक्ष का निराकरण करने वाले की कीर्ति होती है और प्रतिवादी की अपकीर्ति को करने वाले की पराजय होती है। इस प्रकार स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष

कस्यचित्तत्त्वसंसिद्ध्यप्रतिक्षेपो निराकृतेः। कीर्तिः पराजयोवश्यमकीर्तिकृदिति स्थितम् ॥१०१॥
असाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः। न युक्तं निग्रहस्थानं संधाहान्यादिवत्ततः ॥१०२॥

के पुनस्ते प्रतिज्ञाहान्यादय इमे कथ्यंते? प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञांतरं, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वंतरं, अर्थांतरं, निरर्थकं, अविज्ञातार्थं, अपार्थकं, अप्राप्तकालं, पुनरुक्तं, अननुभाषणं, अज्ञानं, अप्रतिभा, पर्यनुयोग्यानुपेक्षणं, निरनुयोज्यानुयोगः, विक्षेपः, मतानुज्ञा, न्यूनं, अधिकं, अपसिद्धांतः, हेत्वाभासः, छलं, जातिरिति। तत्र प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थानं कथमयुक्तमित्याह–

प्रतिदृष्टांतधर्मस्य यानुज्ञा न्यायदर्शने। स्वदृष्टांते मता सैव प्रतिज्ञाहानिरैश्वरैः ॥१०३॥

प्रतिदृष्टांतधर्मानुज्ञा स्वदृष्टांते प्रतिज्ञाहानिरित्यक्षपादवचनात्। एवं सूत्रमनूद्य परीक्षणार्थं भाष्यमनुवदति–

साध्यधर्मविरुद्धेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते। अन्यदृष्टांतधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानतः ॥१०४॥
प्रतिज्ञाहानिरित्येव भाष्यकाराग्रहो न वा। प्रकारांतरोप्यस्याः स्यात् संभवाच्चित्तविभ्रमात् ॥१०५॥

निराकृति में ही वादी की विजय स्थित ह॥१०१॥ इसलिए बौद्धों के द्वारा कथित असाधनांग वचन (हेतु के अंगों का कथन नहीं करना) और हेतु के दोषों का उत्थापन नहीं करना, ये दोनों ही निग्रह स्थान हैं। ऐसा कहना युक्ति-संगत नहीं है। जैसे नैयायिकों के द्वारा कथित प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर आदि को निग्रहस्थान कहना उचित नहीं है॥१०२॥

इसलिए आचार्य कहते हैं कि बौद्ध और नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत निग्रहस्थान की व्यवस्था प्रशस्त नहीं है।

नैयायिकों के द्वारा कल्पित प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थान कौनसे हैं? ऐसा पूछने पर जैनाचार्य कहते हैं- प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, पर्यानुयोग्यानुपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, विक्षेप, मतानुज्ञा, न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, हेत्वाभास, छल और जाति ये चौबीस नैयायिक के द्वारा स्वीकृत प्रतिज्ञा आदि निग्रह स्थान माने हैं। इनका लक्षण आगे कहेंगे। नैयायिक के द्वारा कथित ये चौबीस निग्रहस्थान युक्त नहीं हैं, उनमें सर्वप्रथम प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रह स्थान अयुक्त क्यों है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं - ईश्वरों ने (ईश्वर की उपासना करने वाले नैयायिकों ने) न्याय दर्शन में स्वकीय दृष्टान्त में प्रतिकूल पक्ष सम्बन्धी दृष्टान्त धर्म की स्वीकारता को ही प्रतिज्ञाहानि कहा है॥१०३॥

गौतम ऋषि के द्वारा रचित **न्याय दर्शन** म "प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः" स्वकीय दृष्टान्त में प्रतिकूल पक्ष सम्बन्धी दृष्टान्त के धर्म की स्वीकारता ही प्रतिज्ञाहानि है। ऐसा अक्षपाद का वचन है। इस अक्षपाद के सूत्र का अनुवाद करके परीक्षा करने के लिए **श्री विद्यानन्द आचार्य** भाष्य कहते हैं-

न्याय भाष्य में लिखा है कि स्वकीय अभीष्ट साध्य धर्म के विरुद्ध धर्म के द्वारा प्रत्यवस्थान (दूषण) उठाने पर अन्य प्रतिकूल दृष्टान्त के धर्म को अपने इष्ट दृष्टान्त में स्वीकार कर लेने वाले वादी का **प्रतिज्ञाहानि** नामक निग्रहस्थान हो जाता है। इस प्रकार भाष्यकार का आग्रह उचित नहीं है। क्योंकि वक्ता के चित्त में विभ्रम हो जाने से या अन्य किसी प्रकार से प्रतिज्ञाहानि होने की संभावना है॥१०४-१०५॥

विनश्वरस्वभावोयं शब्द ऐंद्रियकत्वतः। यथा घट इति प्रोक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते ॥१०६॥
दृष्टमैंद्रियकं नित्यं सामान्यं तद्वदस्तु नः। शब्दोपीति स्वलिंगस्य ज्ञानात्तेनापिसंमतं ॥१०७॥
कामं घटोपि नित्योस्तु सामान्यं यदि शाश्वतं। इत्येवं भाष्यमाणेन प्रतिज्ञोत्पद्यते कथम् ॥१०८॥
दृष्टांतस्य परित्यागात्स्वहेतोः प्रकृतक्षतेः। निगमांतस्य पक्षस्य त्यागादिति मतं यदि ॥१०९॥
तथा दृष्टांतहानिः स्यात्साक्षादियमनाकुला। साध्यधर्मपरित्यागाद् दृष्टांते स्वेष्टसाधने ॥११०॥
पारंपर्येण तु त्यागो हेतूपनययोरपि। उदाहरणहानौ हि नानयोरस्ति साधुता ॥१११॥
निगमस्य परित्यागः पक्षबाधेपि वा स्वयं। तथा च न प्रतिज्ञातहानिरेवेति संगतम् ॥११२॥
पक्षत्यागात्प्रतिज्ञायास्त्यागस्तस्य तदाश्रितेः। पक्षत्यागोपि दृष्टांतत्यागादिति यदीष्यते ॥११३॥
हेत्वादित्यागतोपि स्यात् प्रतिज्ञात्यजनं तदा। ततः पक्षपरित्यागाविशेषान्नियमः कुतः ॥११४॥

"इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होने से यह शब्द अनित्य है (विनश्वर स्वभाव वाला है), जैसे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होने से घट विनाशशील हैं।" ऐसा वादी के द्वारा कहने पर प्रतिवादी दूषण उठाता है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय सामान्य पदार्थ नित्य है, उसी के समान हमारे यहाँ शब्द भी नित्य है। इस प्रकार स्वलिंग (इन्द्रियजन्यत्व) का ज्ञान होजाने से वादी ने भी उसको स्वीकार कर लिया है कि यदि सामान्य जाति नित्य है तो यथेष्ट रूप से घट भी नित्य हो सकता है। इस प्रकार नैयायिक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने वाले वादी अपने दृष्टान्त घट का नित्यपना स्वीकार करते हुए प्रतिज्ञा कैसे उत्पन्न कर सकता है? ॥१०६-१०७-१०८॥

दृष्टान्त का परित्याग हो जाने से अपने हेतु से, प्रकरण प्राप्त साध्य की क्षति हो जाने से और निगमन पर्यन्त पक्ष का त्याग हो जाने से (यदि) प्रतिज्ञा हानि मानते हैं, अर्थात् दृष्टान्त की हानि होने से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँचों की हानि हो जाती है। इस प्रकार भाष्यकार के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो स्वइष्ट साधक दृष्टान्त में साध्य धर्म (अनित्य) का परित्याग हो जाने से यह साक्षात् निराकुल दृष्टान्त की हानि है अर्थात् इसको प्रतिज्ञाहानि न कहकर दृष्टान्त हानि कहना चाहिए॥१०९-११०॥

यदि भाष्यकार कहे कि यद्यपि साक्षात् रूप से दृष्टान्त की हानि है तथापि परम्परा से प्रतिज्ञा की ही हानि होती है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि परम्परा से तो हेतु और उपनय की हानि भी हो जाती है। क्योंकि उदाहरण की हानि हो जाने पर नियम से हेतु और उपनय की समीचीनता भी नहीं रह सकती। तथा प्रतिज्ञास्वरूप पक्ष के बाधित हो जाने पर निगमन का परित्याग भी स्वयं हो जाता है। इसलिए प्रतिज्ञाहानि ही निग्रह स्थान है। ऐसा भाष्यकार का एकान्त आग्रह करना सुसंगत नहीं है॥१११-११२॥

भाष्यकार का कथन है कि पक्ष के आश्रित होने के कारण पक्ष का त्याग होने से प्रतिज्ञा का भी त्याग हो जाता है। तथा दृष्टान्त का त्याग होने से पक्ष का त्याग हो जाता है। इस प्रकार भाष्यकार ने स्वीकार किया है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो हेतु, उपनय आदि के त्याग से भी प्रतिज्ञा का त्याग

साध्यधर्मप्रत्यनीकधर्मेण प्रत्यवस्थितः प्रतिदृष्टांतधर्मं स्वदृष्टांतेनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः। यथा अनित्यः शब्दः ऐंद्रियकत्वात् घटवदिति ब्रुवन् परेण दृष्टमैंद्रियकं सामान्यं नित्यं कस्मान्न तथा शब्द इत्येवं प्रत्यवस्थितः। प्रयुक्तस्य हेतोराभासतामवश्यमपि कथावसानमकुर्वन्निश्चयमतिलंघ्य प्रतिज्ञात्यागं करोति, यद्यैंद्रियकं सामान्यं नित्यं कामं घटोपि नित्योस्तु इति। स खल्वयं ससाधनस्य दृष्टांतस्य नित्यत्वं प्रसज्जन्निगमांतमेव पक्षं च परित्यजन् प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात्पक्षस्येति भाष्यकारमतमालून-विस्तीर्णमादर्शितम्॥

प्रतिज्ञाहानिसूत्रस्य व्याख्यां वार्तिककृत्पुनः। करोत्येवं विरोधेन न्यायभाष्यकृतः स्फुटम्॥११५॥
दृष्टश्चांते स्थितश्चायमिति दृष्टांत उच्यते। स्वदृष्टांतः स्वपक्षः स्यात् प्रतिपक्षः पुनर्मतः॥११६॥

हो जाता है। इसलिए पक्ष के परित्याग की विशेषता न होने से भाष्यकार का नियम सुरक्षित कैसे रह सकता है अर्थात् जैसे हेतु आदि के त्याग से प्रतिज्ञा की हानि होने से निग्रह स्थान संभव है, इसलिए पक्ष के त्याग से ही प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रह स्थान होता है। यह नियम नहीं रह सकता है॥११३-११४॥

न्याय भाष्य का कथन भी है कि साध्य रूप धर्म के प्रत्यनीक (प्रतिकूल) धर्म के द्वारा प्रत्यवस्थान (दूषण) को प्राप्त हुआ वादी यदि प्रतिकूल दृष्टान्त के धर्म को स्वकीय दृष्टान्त में स्वीकार कर लेने की अनुमति दे देता है, तो वह अपनी पूर्व में की गई प्रतिज्ञा को छोड़ देता है। अतः यह वादी का प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रह स्थान है। जैसे घट के समान इन्द्रियजन्य ज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य होने से शब्द अनित्य है, इस प्रकार कहने वाला वादी प्रतिवादी के द्वारा इन्द्रियजन्य ज्ञान के द्वारा ग्राह्य सामान्य नित्य कहा गया है, देखा गया है, उस प्रकार शब्द नित्य क्यों नहीं है?'' इस प्रकार दूषित किया गया है। इस प्रकार प्रतिवादी के द्वारा प्रयुक्त हेतु के व्यभिचार (हेत्वाभास) को जानता हुआ भी वाद कथा का अवसान (समाप्ति) नही करताहुआ वादी स्वकीय निश्चित पक्ष का उल्लंघन करके प्रतिज्ञा का त्याग कर देता है कि यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान ग्राह्य सामान्य नित्य है तो घट भी इन्द्रियज्ञान ग्राह्य होने से नित्य हो जाओ? निश्चय से इस प्रकार कहने वाला वह वादी हेतु सहित दृष्टान्त के नित्यत्व का प्रसंग कराता हुआ (अर्थात् दृष्टान्त को नित्य मानता हुआ) और निगमन पर्यन्त पक्ष को छोड़ता हुआ प्रतिज्ञा का त्याग कर देता है। इसलिए कहा जाता है कि पक्ष के आश्रय प्रतिज्ञा है। इस प्रकार भाष्यकार के मन्तव्य को छिन्न, भिन्न करके (बिखेर कर) आचार्यदेव के द्वारा दिखाया गया है।

न्याय वार्त्तिक ग्रन्थ के कर्त्ता **उद्योतकर** प्रतिज्ञाहानि के प्रतिपादक लक्षण सूत्र की व्याख्या न्यायभाष्य कृत का विरोध करके स्पष्ट रूप से इस प्रकार करते हैं कि दृष्ट अर्थात् विचार के अन्त में स्थित को दृष्टान्त कहते हैं। अर्थात् दृष्टान्त के अन्त में जो स्थित है यह दृष्टान्त कहा जाता है। अतः दृष्टान्त का अर्थ पक्ष है। स्वदृष्टान्त का अर्थ स्वपक्ष है, इसी प्रकार प्रतिदृष्टान्त का अर्थ प्रतिपक्ष माना गया है। इस प्रकार उस धर्म को नहीं जानता हुआ प्रतिपक्ष के धर्म को स्वपक्ष में स्वीकार करने वाले पुरुष के न्याय के अविरोध से इस प्रकार प्रतिज्ञा कर लेना है कि इन्द्रियग्राह्य सामान्य यदि नित्य है तो वैसा इन्द्रियग्राह्य होने से शब्द

प्रतिदृष्टांत एवेति तद्धर्ममनुजानतः। स्वपक्षे स्यात्प्रतिज्ञानमिति न्यायाविरोधतः ॥११७॥
सामान्यमैंद्रियं नित्यं यदि शब्दोपि तादृशः। नित्योस्त्विति ब्रुवाणस्यानित्यत्वत्यागनिश्चयात् ॥११८॥
इत्येतच्च न युक्तं स्यादुद्योतकरजाड्यकृत्। प्रतिज्ञाहानिरित्थं तु यतस्तेनावधार्यते ॥११९॥
सा हेत्वादिपरित्यागात् प्रतिपक्षप्रसाधना। प्रायः प्रतीयते वादे मंदबोधस्य वादिनः ॥१२०॥

यथाह उद्योतकरः दृष्टाश्चासावंते च व्यवस्थित इति दृष्टांतः स्वपक्षः, प्रतिदृष्टांतः प्रतिपक्षः प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहाति। यदि सामान्यमैंद्रियकं नित्यं शब्दोप्येवमस्त्विति तदेतदपि तस्य जाड्यकारि संलक्ष्यते। इत्थमेव प्रतिज्ञाहानेरवधारयितुमशक्तेः। प्रतिपक्षप्रसाधनाद्धि प्रतिज्ञायाः किल हानिः संपद्यते सा तु हेत्वादिपरित्यागादपि कस्यचिन्मंदबुद्धेर्वादिनो वादिप्रायेण प्रतीयते न पुनः प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेभ्यनुजानत एव येनायमेकप्रकारः प्रतिज्ञाहानौ स्यात्। तथा विक्षेपादिभिराकुलीभावात् प्रकृत्या समाधीरुत्वादन्यमनस्कत्वादेर्वा निमित्तात्। किंचित्साध्यत्वेन प्रतिज्ञाय तद्विपरीतं प्रतिजनिरुपलभ्यत एव

भी नित्य हो सकता है। ऐसा कहने वाले वादी के शब्द के अनित्यत्व की प्रतिज्ञा का त्याग होता है। ऐसा निश्चय है। अर्थात् शब्द के अनित्यत्व की प्रतिज्ञा को छोड़ देने वाले वादी के प्रतिज्ञाहानि निग्रह-स्थान मानना चाहिए ॥११५-११८॥

जैनाचार्य कहते हैं कि - ऐसा कहना जाड्यकृत होने से (मूर्खता को प्रकट करने वाला होने से) उद्योतकर का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। जिस कारण से उद्योतकर के द्वारा इस प्रकार से प्रतिज्ञाहानि का होना नियमित किया जाता है, वह ठीक ही है। क्योंकि, हेतु, दृष्टान्त आदि के परित्याग से ही प्रतिज्ञा की हानि हो सकती है। प्रतिपक्षसाधना वही कहलाती है अर्थात् जब तक प्रतिवादी द्वारा स्वकीय प्रतिपक्ष की सिद्धि नहीं की जाएगी, तब तक वादी का निग्रह स्थान नहीं हो सकता। प्रायः बाद में मंदज्ञान वाले वादी की किसी कारण से वा अन्य किसी निमित्त से आतुर हो जाने से प्रतिज्ञा छूट जाती है, वह विपरीतता ग्रहण कर लेता है-ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए नियम से उन नैयायिक आदि के द्वारा कहे गये वचन में सूत्र का अर्थ यथार्थ व्यवस्थित नहीं है। अर्थात् आप्त के वचन ही यथार्थ हैं ॥११९-१२१॥

उद्योतकर कहता है कि दृष्ट है (विचारयुक्त है) वह अन्त (धर्म) जिसका वह दृष्टान्त कहलाता है। अर्थात् पक्ष के धर्म जिसमें दृष्टिगोचर होते हैं, वह दृष्टान्त कहलाता है। दृष्टान्त का अर्थ है-स्वपक्ष और प्रतिदृष्टान्त का अर्थ है प्रतिपक्ष। प्रतिपक्ष के धर्म को स्वपक्ष में स्वीकार करने वाला वादी स्वप्रतिज्ञा को छोड़ देता है।

जैसे इन्द्रियज्ञान ग्राह्य जाति नित्य है - वैसे इन्द्रियज्ञान ग्राह्य होने से शब्द को भी नित्य स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार **उद्योतकर** के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि उद्योतकर का कथन उसके जाड्य को ही प्रकट कर रहा है। क्योंकि, इस प्रकार प्रतिज्ञाहानि का निश्चय करना शक्य नहीं है। प्रतिपक्ष की सिद्धि कर देने पर ही प्रतिज्ञा की हानि होती है। तथा यह हानि हेतु आदि के परित्याग से भी किसी-किसी मन्द बुद्धि वाले वादी के प्रायः करके वाद में प्रतीत हो जाता है। किन्तु फिर प्रतिपक्षी के धर्म को स्वपक्ष में स्वीकार कर लेने से ही प्रतिज्ञाहानि नहीं है जिससे कि प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रह स्थान में प्रतिपक्ष के धर्म

पुरुषभ्रांतेरनेककारणत्वोपपत्तेः। ततो नाप्तोपज्ञमेवेदं सूत्रं भाष्यकारस्य वार्तिककारस्य च व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात् युक्त्यागमविरोधात्। अत्र धर्मकीर्तेर्दूषणमुपदर्श्य परिहरन्नाह–

कुतश्चिदाकुलीभावादन्यतो वा निमित्ततः। तथा तद्वाचि सूत्रार्थो नियमान्न व्यवस्थितः।१२१।

यस्त्वाहैंद्रियकत्वस्य व्यभिचाराद्विनश्वरे। शब्दसाध्ये न हेतुत्वं सामान्येनेति सोप्यधीः ॥१२२॥

सिद्धसाधनतस्तेषां संधाहानेश्च भेदतः। साधनं व्यभिचारित्वात्तदनंतरतः कुतः ॥१२३॥

सास्त्येव हि प्रतिज्ञानहानिर्दोषः कुतश्चन। कस्यचिन्निग्रहस्थानं तन्मात्रात्तु न युज्यते ॥१२४॥

येषां प्रयोगयोग्यास्ति प्रतिज्ञानुमितीरणे। तेषां तद्धानिरप्यस्तु निग्रहो वा प्रसाधने ॥१२५॥

को स्वपक्ष में स्वीकार कर लना मात्र ही एक प्रतिज्ञाहानि निग्रह स्थान हो सकता है। अर्थात् प्रतिज्ञाहानि अनेक प्रकार से हो सकती है। तथा, विक्षेपादि के द्वारा वादी के आकुलित हो जाने से, स्वभाव से ही सभा में भीरुत्व होने से वा वादी का चित्त इधर उधर भटक जाने से अथवा किन्हीं अन्य प्रकरणों में लग जाने से वा किसी निमित्त कारण से किसी धर्म को साध्य रूप से प्रतिज्ञा करके उस साध्य से विपरीत धर्म को कुछ क्षण के लिए स्वीकार करने की प्रतिज्ञा कर लेना ही देखा जाता है। क्योंकि पुरुषों को भ्रान्तज्ञान होने के अनेक कारण बन जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि नैयायिकों का सिद्धान्त यथार्थ वक्ता आप्त के द्वारा कहा हुआ नहीं है क्योंकि भाष्यकार और वार्तिककार के सूत्र की व्यवस्थापना करना शक्य नहीं है, कारण कि उनका सूत्रार्थ आगम और युक्ति से विरुद्ध है। अब यहाँ **धर्मकीर्त्ति** के दूषण को दिखाकर उसका परिहार करते हुए आचार्य कहते हैं-

जो **धर्मकीर्त्ति** कहता है कि शब्द को विनश्वर साध्य करने के लिए ऐन्द्रियकत्व हेतु का सामान्य पदार्थ के साथ व्यभिचार होने से ऐन्द्रियकत्व हेतु समीचीन नहीं है- इस प्रकार कहने वाला वह धर्मकीर्त्ति भी बुद्धिमान नहीं है (मूर्ख है) ॥१२१॥ क्योंकि ऐसा कहने पर उनका हेतु सिद्धसाधन दोष से युक्त हो जाता हैं। तथा प्रतिज्ञाहानि नामक दोष से भेद होने के कारण वादी का हेतु किसी भी कारण से उसके अव्यवहित काल में व्यभिचारी हो जाता है। इसलिए प्रतिज्ञाहानि दोष तो किसी-न-किसी कारण से है ही। परन्तु केवल प्रतिज्ञाहानि से ही किसी भी वादी का निग्रहस्थान कर देना युक्तिसंगत नहीं है॥१२२-१२४॥

जिनके सिद्धान्त में अनुमति के कथन करने में प्रतिज्ञा वाक्य प्रयोग करने योग्य माना गया है, उनके यहाँ प्रतिज्ञा की हानि भी निग्रहस्थान हो सकता है। किन्तु प्रतिवादी के द्वारा स्वकीय पक्ष की सिद्धि कर देने रूप प्रयोजन की सिद्धि कर देने पर वादी का निग्रह हो सकता है। अर्थात् प्रतिवादी के द्वारा स्वकीय सिद्धान्त अर्थ की समीचीन हेतु के द्वारा सिद्धि कर देने पर ही वादी का निग्रह होना संभव है, अन्यथा नहीं। अर्थात् स्वपक्ष की सिद्धि बिना वादी का निग्रह नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त निश्चित है। क्योंकि स्वकीय पक्ष की सिद्धि ही जय है, यह कथन है॥१२५-१२६॥

परेण साधिते स्वार्थे नान्यथेति हि निश्चितं। स्वपक्षसिद्धिरेवात्र जय इत्यभिधानतः ॥१२६॥
गम्यमाना प्रतिज्ञा न येषां तेषां च तत्क्षतिः। गम्यमानैव दोषः स्यादिति सर्वं समंजसम् ॥१२७॥

न हि वयं प्रतिज्ञाहानिर्दोष एव न भवतीति संगिरामहे अनैकांतिकत्वात् साधनदोषात् पश्चात् तद्भावात् ततो भेदेन प्रसिद्धेः। प्रतिज्ञां प्रयोज्यां सामर्थ्यगम्यां वा वदतस्तद्धानेस्तथैवाभ्युपगमनीयत्वात् सर्वथा तामनिच्छतो वादिन एवासंभवात् केवलमेतस्मादेव निमित्तात् प्रतिज्ञाहानिर्भवति प्रतिपक्षसिद्धिमंतरेण च कस्यचिन्निग्रहाधिकरणमित्येतन्न क्षम्यते तत्त्वव्यवस्थापयितुमशक्तेः॥

प्रतिज्ञांतरमिदानीमनुवदति–

प्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थस्य धर्मविकल्पतः। योसौ तदर्थनिर्देशस्तत्प्रतिज्ञांतरं किल ॥१२८॥

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञांतरं तल्लक्षणसूत्रमनेनोक्तमिदं व्याचष्टे–

जिनके सिद्धान्त में प्रतिज्ञा सामर्थ्य से जान ली जाती है- उनके प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती है। जब प्रतिज्ञा गम्यमान है तब प्रतिज्ञा का हानिरूप दोष भी समंजस (समीचीन) है। अर्थात् प्रतिज्ञा गम्यमान होने पर प्रतिज्ञाहानि दोष भी गम्यमान होता है॥१२७॥

जैनाचार्य कहते हैं कि "प्रतिज्ञाहानि नामक दोष ही नहीं है"- ऐसा हम प्रतिज्ञापूर्वक नहीं कहते हैं, क्योंकि हेतु का दोष अनैकान्तिक होने से, पश्चात् प्रतिज्ञाहानि का सद्भाव होने से। परन्तु प्रतिज्ञा हानि अनैकान्तिक दोष से भिन्न प्रसिद्ध है। जो विद्वान प्रतिज्ञा को शब्द द्वारा प्रयोग करने योग्य वा शब्दों से नहीं कह कर अर्थापत्ति से गम्यमान कहते हैं, उनके यहाँ प्रतिज्ञा की हानि भी उसी प्रकार शब्द के द्वारा कहने योग्य वा अर्थापत्ति के द्वारा जानने योग्य स्वीकार कर लेना चाहिए। सर्वथा प्रतिज्ञा को नहीं मानने वाले वादी की असंभवता है। केवल इस निमित्त मात्र से प्रतिज्ञाहानि होती है। प्रतिवादी द्वारा प्रतिपक्ष की सिद्धि किये बिना जिस किसी भी उपाय से वादी का निग्रहस्थान करना क्षम्य नहीं है। क्योंकि ऐसी प्रक्रियाओं से तत्त्व व्यवस्था करना शक्य नहीं है। अर्थात् जिस किसी प्रकार से तत्त्व व्यवस्था नहीं हो सकती। अब **प्रतिज्ञान्तर** निग्रह स्थान के सम्बन्ध में कहते हैं -

प्रतिज्ञात अर्थ का निषेध करने पर धर्म के विकल्प से (पक्ष के विकल्प से) जो साध्य सिद्धि के लिए अर्थ का निर्देश किया जाता है। निश्चय से वह **प्रतिज्ञान्तर** नामक निग्रह स्थान है॥१२८॥

वादी द्वारा प्रतिज्ञात (स्वीकृत) अर्थ वा प्रतिवादी के द्वारा प्रतिषेध करने पर वादी उस दूषण को दूर करने की इच्छा से धर्मान्तर (पक्षान्तर) के विकल्प से प्रतिज्ञात अर्थ का अन्य विशेषण से विशिष्ट करके कथन करता है वह प्रतिज्ञान्तर है। अर्थात् जिस धर्म को कहने की प्रतिज्ञा की थी उसको पलट कर दूसरी प्रतिज्ञा कर लेना प्रतिज्ञान्तर है। यह नैयायिकों के गुरु गौतम ऋषि के द्वारा कथित प्रतिज्ञान्तर निग्रह स्थान का लक्षण है। इसी की **विद्यानन्द आचार्य** व्याख्या करते हैं-

घटोऽसर्वगतो यद्वत्तथा शब्दोप्यसर्वगः। तद्वदेवास्तु नित्योयमिति धर्मविकल्पनात् ॥१२९॥
सामान्येनैंद्रियत्वस्य सर्वगत्वोपदर्शितं। व्यभिचारेपि पूर्वस्याः प्रतिज्ञायाः प्रसिद्धये ॥१३०॥
शब्दोऽसर्वगतस्तावदिति सत्त्वांतरं कृतम्। तच्च तत्साधनाशक्तमिति भाष्ये न निग्रहः ॥१३१॥

अनित्यः शब्दः ऐंद्रियकत्वाद्घटवदित्येकः सामान्यमैंद्रियकं नित्यं कस्मान्न तथा शब्द इति द्वितीयः। साधनस्थानैकांतिकत्वं सामान्येनोद्भावयति तेन प्रतिज्ञातार्थस्य प्रतिषेधे सति तं दोषमनुद्धरन् धर्मविकल्पं करोति, सोयं शब्दोऽसर्वगतो घटवदाहोस्वित्सर्वगतः सामान्यवदिति? यद्यसर्वगतो घटवत्तदा तद्वदेवानित्योस्त्विति ब्रूते। सोयं सर्वगतत्वासर्वगतत्वधर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञांतरं अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञातोऽसर्वगतो अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाया अन्यत्वात्। तदिदं निग्रहस्थानं साधनसामर्थ्यापरिज्ञानाद्वादिनः। न चोत्तरप्रतिज्ञा-पूर्वप्रतिज्ञां साधयत्यतिप्रसंगात् इति परस्याकूतं॥

जिस प्रकार घट असर्वगत है, उसी प्रकार शब्द भी असर्वगत है, उस ऐन्द्रियक सामान्य के समान यह शब्द नित्य भी है। इस प्रकार धर्म की विकल्पना करने से ऐन्द्रियकत्व हेतु का सामान्य जाति के साथ व्यभिचार हो जाने पर वादी द्वारा स्वकीय पूर्व की प्रतिज्ञा की प्रसिद्धि के लिए शब्द का सर्वव्यापकपना विकल्प दिखलाया गया है कि तब तो शब्द असर्वगत हो जाए। इस प्रकार वादी ने दूसरी प्रतिज्ञा की। परन्तु, वह दूसरी प्रतिज्ञा उस अपने प्रकृत पक्ष को साधने में समर्थ नहीं है (इस प्रकार भाष्य ग्रन्थ में वादी का निग्रह होना माना जाता है। किन्तु यह प्रशस्त मार्ग नहीं है)॥१२९-१३१॥

शब्द अनित्य है बहिरंग इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होने से घट के समान। इस प्रकार वादी के कहने पर प्रतिवादी ने शब्द के अनित्यपने का खण्डन किया कि शब्द नित्य है इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय होने से, जैसे सामान्य। अतः सामान्य के समान शब्द भी नित्य क्यों नहीं होगा? इस प्रकार दूसरा प्रतिवादी कहता है। यह कथन ऐन्द्रियिकत्व हेतु का सामान्य के द्वारा व्यभिचार दोष होने से प्रतिवादी के द्वारा उद्भावन किया जाता है। इसलिए ऐसी दशा में वादी के प्रतिज्ञात अर्थ का उस प्रतिवादी द्वारा निषेध हो जाने पर वादी उस व्यभिचार दोष का उद्धार (उद्भावन) नहीं करता हुआ धर्म (पक्ष) के विकल्प को करता है कि क्या है? शब्द घट आदि के समान अव्यापक है (असर्वगत है कि) सामान्य के समान सर्वगत (सर्व व्यापक) है? यदि घट के समान शब्द असर्वगत है तब तो घट के समान वह शब्द अनित्य भी है। ऐसा वादी कहता है। तब वादी शब्द के सर्वगत और असर्वगत धर्मों के विकल्प से उस प्रतिज्ञात अर्थ का कथन करता है, यह वादी का निर्देश दूसरी प्रतिज्ञा करना होने से प्रतिज्ञान्तर है। क्योंकि पूर्व प्रतिज्ञा (पक्ष) थी कि "शब्द अनित्य है" इस प्रतिज्ञा से "शब्द अव्यापक है, अनित्य होने से।" यह दूसरी प्रतिज्ञा है। अर्थात् प्रथम प्रतिज्ञा में शब्द को अनित्य सिद्ध करना है। दूसरी प्रतिज्ञा में शब्द को अव्यापक सिद्ध कर रहे हैं। यह पूर्व प्रतिज्ञा से भिन्न (अन्य) है। इसलिए यह वादी का प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रह स्थान है। क्योंकि वादी को अपने प्रयुक्त हेतु के सामर्थ्य का परिज्ञान नहीं है। उत्तर काल में की गई अपूर्व (दूसरी) प्रतिज्ञा पूर्व की प्रतिज्ञा को सिद्ध नहीं करती है। यदि दूसरी प्रतिज्ञा पूर्व प्रतिज्ञा को सिद्ध करती है तो अतिप्रसंग दोष आता है।

अत्र धर्मकीर्तेः दूषणमुपदर्शयति–

नात्रेदं युज्यते पूर्वप्रतिज्ञायाः प्रसाधने। प्रयुक्तायाः परस्यास्तद्भावहानेन हेतुवत् ॥१३२॥
तदसर्वगतत्वेन प्रयुक्तादैंद्रियत्वतः। शब्दानित्यत्वमाहायमिति हेत्वंतरं भवेत् ॥१३३॥
न प्रतिज्ञांतरं तस्य क्वचिदप्यप्रयोगतः। प्रज्ञावतां जडानां तु नाधिकारो विचारणे ॥१३४॥
विरुद्धादिप्रयोगस्तु प्राज्ञानामपि संभवात्। कुतश्चिद्विभ्रमात्तत्रेत्याहुरन्ये तदप्यसत् ॥१३५॥
प्रतिज्ञातार्थसिद्ध्यर्थं प्रतिज्ञायाः समीक्षणात्। भ्रांतैः प्रयुज्यमानायाः विचारे सिद्धहेतुवत् ।१३६॥
प्राज्ञोपि विभ्रमाद्बयाद्वादेऽसिद्धादिसाधनम्। स्वपक्षसिद्धिर्येन स्यात्सत्त्वमित्यतिदुर्घटम् ।१३७॥

ततो प्रतिपत्तिवत्प्रतिज्ञांतरं कस्यचित्साधनसामर्थ्यापरिज्ञानात् प्रतिज्ञाहानिवत् ॥

तर्हि कथमिदमयुक्तमित्याह–

अतः प्रतिज्ञा अन्तर हो जाना वादी का निग्रह स्थान है। यह नैयायिक का सिद्धान्त है।

यहाँ प्रतिज्ञान्तर में **धर्मकीर्त्ति** के द्वारा दिये गये दूषण को **विद्यानन्द आचार्य** दिखाते हैं -

धर्मकीर्त्ति बौद्ध कहते हैं कि "इस प्रतिज्ञान्तर निग्रह स्थान में नैयायिकों का कथन करना युक्त नहीं पड़ता है। क्योंकि पूर्व प्रतिज्ञा के प्रसाधन (सिद्ध करने) में प्रयुक्त की गई दूसरी प्रतिज्ञा को उस प्रतिज्ञापन की हानि हो जाती है, जैसे कि विरुद्ध हेतु को प्रयोग करने पर पूर्व हेतु के हेतुत्व की हानि हो जाती है। यह वादी अपने प्रयुक्त किये इन्द्रिय ज्ञान ग्राह्यत्व हेतु से असर्वगत हेतु के द्वारा शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करता है अतः यह प्रतिज्ञान्तर निग्रह स्थान न होकर हेत्वन्तर निग्रह स्थान है। क्योंकि बुद्धिमानों ने कहीं पर भी प्रतिज्ञा और प्रतिज्ञान्तर का प्रयोग नहीं किया है। जो अर्थापत्ति से प्रतिज्ञा और प्रतिज्ञान्तर को नहीं समझते हैं उन जड़ बुद्धि वाले मूर्खों का तत्त्वों के विचार में अधिकार नहीं है। विरुद्ध व्यभिचार आदि हेत्वाभासों का प्रयोग करना विशिष्ट विद्वानों के भी किसी विभ्रम के कारण संभव हो सकता है। जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों का यह कथन भी प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि भ्रान्त पुरुषों के द्वारा प्रतिज्ञात अर्थ की सिद्धि के लिए विचार कोटि में प्रयुक्त की गई अन्य (दूसरी) प्रतिज्ञा भी देखी जाती है। जैसे पूर्व हेतु की सिद्धि के लिए अन्य हेतु का प्रयोग किया जाता है॥१३२-१३६॥

तथा बुद्धिमान पुरुष भी वाद में विभ्रम हो जाने से असिद्ध, विरुद्ध आदि हेतु का प्रयोग कर लेते हैं। परन्तु जिस हेतु से स्वपक्ष की सिद्धि होती है वही हेतु प्रशंसनीय होता है। अतः बौद्धों के द्वारा कथित सत्त्व हेतु का घटित होना दुर्घट है। सत्त्व हेतु किसी प्रकार घटित नहीं हो सकता है॥१३७॥

इसलिए किसी एक वादी को साधन के सामर्थ्य का परिज्ञान नहीं होने से प्रतिज्ञाहानि के समान प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रह स्थान की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् बौद्धों के अनुसार प्रतिज्ञान्तर के निषेध की व्यवस्था युक्त नहीं है।

प्रश्न - प्रतिज्ञान्तर अयुक्त क्यों है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं -

ततोनेनैव मार्गेण प्रतिज्ञांतरसंभवः। इत्येतदेव निर्युक्तिस्तद्धि नानानिमित्तकं ॥१३८॥
प्रतिज्ञाहानितश्चास्य भेदः कथमुपेयते। पक्षत्यागविशेषेपि योगैरिति च विस्मयः ॥१३९॥
प्रतिदृष्टांतधर्मस्य स्वदृष्टांतेभ्यनुज्ञया। यथा पक्षपरित्यागस्तथा संधांतरादपि ॥१४०॥
स्वपक्षसिद्धये यद्वत्संधांतरमुदाहृतं। भ्रांत्या तद्वच्च शब्दोपि नित्योस्त्विति न किं पुनः ॥१४१॥
शब्दानित्यत्वसिद्ध्यर्थं नित्यः शब्द इतीरणं। स्वस्थस्य व्याहतं यद्वत्तथाऽसर्वगशब्दवाक् ॥१४२॥

ततः प्रतिज्ञाहानिरेव प्रतिज्ञांतरं निमित्तभेदात्तद्भेदैर्निग्रहस्थानांतराणां प्रसंगात्। तेषां तत्रांतर्भावे प्रतिज्ञांतरस्येति प्रतिज्ञाहानावन्तर्भावस्य निवारयितुमशक्तेः॥ प्रतिज्ञाविरोधमनूद्य विचारयन्नाह–

प्रतिज्ञाया विरोधो यो हेतुना संप्रतीयते। स प्रतिज्ञाविरोधः स्यादित्येतच्च न युक्तिमत् ॥१४३॥

उत्तर - "इसलिए नैयायिक के द्वारा कथित इस मार्ग से ही प्रतिज्ञान्तर निग्रह स्थान संभव है।" ऐसा कहना भी युक्ति रहित है। क्योंकि वह प्रतिज्ञान्तर निग्रह स्थान अनेक प्रकारों से संभव हो सकता है॥१३८॥ तथा प्रतिज्ञाहानि से इस प्रतिज्ञान्तर का भेद कैसे हो सकता है। अर्थात् प्रतिज्ञाहानि से भिन्न प्रतिज्ञान्तर निग्रह स्थान को नैयायिक कैसे स्वीकार कर सकते हैं? पक्षरूप प्रतिज्ञा का त्याग नामक प्रतिज्ञाहानि और प्रतिज्ञान्तर में कोई विशेषता नहीं होने पर भी नैयायिकों के द्वारा प्रतिज्ञान्तर नामक भिन्न निग्रह स्थान स्वीकार करना यह आश्चर्यकारक है॥१३९॥

जिस प्रकार प्रतिकूल दृष्टान्त को धर्म के स्वकीय दृष्टान्त में स्वीकार करने पर वादी के पक्ष का परित्याग (प्रतिज्ञा हानि) हो जाता है, उसी प्रकार प्रतिज्ञान्तर से भी वादी के पक्ष का परित्याग हो जाता है॥१४०॥

जिस प्रकार वादी ने स्वपक्ष की सिद्धि के लिए भ्रान्ति के वश होकर प्रतिज्ञान्तर का कथन किया है, उसी के समान वादी ने प्रतिज्ञा हानि के अवसर पर "शब्द भी नित्य हो जावे"- ऐसा कह दिया है। इसलिए प्रतिज्ञान्तर को प्रतिज्ञाहानि क्यों नहीं मान लिया जाता है? ॥१४१॥

शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि के लिए विचारशील वादी का जिस प्रकार "शब्द नित्य हो सकता है" यह प्रतिज्ञाहानि के अवसर पर कथन करना व्याघात युक्त है, उसी प्रकार प्रतिज्ञान्तर के समय स्वस्थ (विचारशील) वादी का शब्द के असर्वगतत्व की दूसरी प्रतिज्ञा का कथन करना भी व्याघात दोष से युक्त है। अर्थात् ज्ञानी वादी न प्रतिज्ञाहानि करता है न प्रतिज्ञान्तर करता है। संगतिपूर्वक कथन करने वाला अलीक कथन नहीं करता है॥१४२॥ इसलिए सिद्ध होता है कि निमित्त के भेद से प्रतिज्ञाहानि ही प्रतिज्ञान्तर है। प्रतिज्ञान्तर को भिन्न निग्रह स्थान नहीं मानना चाहिए। यदि उन निमित्तों के भेद से पृथक्-पृथक् निग्रह स्थान माने जायेंगे तो अनेक निग्रह स्थानान्तरों का प्रसंग आयेगा। यदि उन निग्रहस्थानों को २४ निग्रहस्थानों में गर्भित कर लिया जायेगा तो फिर प्रतिज्ञान्तर का अन्तर्भाव प्रतिज्ञाहानि में कर लेना चाहिए। तथा प्रतिज्ञान्तर का प्रतिज्ञाहानि में अन्तर्भाव होने का निवारण कौन कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकते।

अब **विद्यानन्द आचार्य** प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रह स्थान का अनुवादन कर विचार करते हैं -

प्रयुक्त किये गये हेतु के साथ प्रतिज्ञावाक्य का जो विरोध प्रतीत हो रहा है, वह तीसरा **प्रतिज्ञा-विरोध** नामक निग्रह स्थान है, परन्तु नैयायिकों का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है॥१४३॥

"प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोध" इति सूत्रं। यत्र प्रतिज्ञा हेतुना विरुध्यते हेतुश्च प्रतिज्ञायाः स प्रतिज्ञाविरोधो नाम निग्रहस्थानं, यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं भेदेनाग्रहणादिति न्यायवार्तिकं। तच्च न युक्तिमत्॥

प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञात्वे हेतुना हि निराकृते। प्रतिज्ञाहानिरेवेयं प्रकारांतरतो भवेत्॥१४४॥
द्रव्यं भिन्नं गुणात्स्वस्मादिति पक्षेभिभाषिते। रूपाद्यर्थांतरत्वेनानुपलब्धेरितीर्यते॥१४५॥
येन हेतुर्हतस्तेनासंदेहं भेदसंगरः। तदभेदस्य निर्णीतेस्तत्र तेनेति बुध्यताम्॥१४६॥
हेतोर्विरुद्धता वा स्याद्दोषोयं सर्वसंमतः। प्रतिज्ञादोषता त्वस्य नान्यथा व्यतिष्ठते॥१४७॥

"प्रतिज्ञा के हेतु का विरोध ही प्रतिज्ञा विरोध है। यह सूत्र है। जिस साध्य में हेतु के द्वारा प्रतिज्ञा विरुद्ध पड़ती है वा प्रतिज्ञा से हेतु विरुद्ध होता है, वह प्रतिज्ञाविरुद्ध नामक निग्रह स्थान है। जैसे गुण से व्यतिरिक्त (सर्वथा भिन्न) द्रव्य है, क्योंकि द्रव्य और गुणों का भेद रूप से ग्रहण नहीं होता है। अर्थात् द्रव्य से गुण भिन्न दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। इस प्रकार **न्याय वार्त्तिक** का ग्रन्थकार कहता है। परन्तु यहाँ पर "द्रव्य से गुण भिन्न हैं"- इस प्रतिज्ञा का गुण और द्रव्य का भिन्न-भिन्न ग्रहण नहीं होना रूप हेतु के साथ विरोध है।

यह प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रह स्थान है। किन्तु नैयायिकों का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि विरुद्ध हेतु के द्वारा प्रतिज्ञा के प्रतिज्ञापन का निराकरण हो जाने से यह दूसरे प्रकार से प्रतिज्ञाहानि ही है; पृथक् निग्रहस्थान नहीं है॥१४४॥

स्वकीय गुणों से द्रव्य भिन्न है। इस प्रकार पक्ष के कहने पर पुनः रूप-रसादि गुणों से भिन्न द्रव्य की उपलब्धि नहीं हो रही है, ऐसा कहा जाता है तो इसमें "द्रव्य से गुण भिन्न है" इस साध्य की रक्षा करते हैं तो "द्रव्य से भिन्न रसादि गुणों की उपलब्धि नहीं होती है"- इस हेतु का व्याघात हो जाता है। यदि हेतु की रक्षा करते हैं तो साध्य का विनाश होता है। अतः जिस कारण से हेतु व्यवस्थित है, उससे भेद सिद्ध करने की प्रतिज्ञा निःसन्देह नष्ट हो जाती है। क्योंकि वहाँ उस हेतु के द्वारा द्रव्य के साथ उन गुणों के अभेद का निर्णय हो रहा है॥१४५-१४६॥

अथवा हेतु की विरुद्धता (विरुद्धहेत्वाभास) नामक यह दोष सर्वसम्मत है? सभी न्यायवेत्ताओं ने इसे स्वीकार किया है। परन्तु प्रतिज्ञा सम्बन्धी दोष (प्रतिज्ञा विरुद्धता) यह दोष विरुद्ध हेत्वाभास से भिन्न व्यवस्थित नहीं हो सकता। अर्थात् यह विरुद्ध हेत्वाभास हेतु का दोष है। प्रतिज्ञा का दोष नहीं है। हेत्वाभासों की निग्रहस्थानों में गणना नहीं कर सकते। इसलिए "प्रतिज्ञाविरुद्ध" नामक निग्रहस्थान मानना उपयुक्त नहीं है॥१४७॥

जो **उद्योतकर** ने कहा था कि उक्त कथन से ही प्रतिज्ञा विरोध नामक निग्रह स्थान भी कहा जा चुका है - जिस हेतु में स्वकीय वचनों के द्वारा विरुद्धता आती है जैसे 'श्रमणा' (दीक्षिता तपस्विनी) स्त्री गर्भवती है। 'आत्मा नहीं हैं' इत्यादि प्रयोग स्वकीय वचन से विरुद्ध होते हैं।

यदपि उद्योतकरेणाभ्यधायि; 'एतेनैव प्रतिज्ञाविरोधोप्युक्तः, यत्र प्रतिज्ञा स्ववचनेन विरुध्यते यथा "श्रमणा गर्भिणी" नास्त्यात्मेति वाक्यांतरोपप्लवादिति' तदपि न युक्तमित्याह–

प्रतिज्ञा च स्वयं यत्र विरोधमधिगच्छति। नास्त्यात्मेत्यादिवत्तत्र प्रतिज्ञाविधिरेव न ॥१४८॥

तद्विरोधोद्भावनेन त्यागस्यावश्यंभावित्वात्। स्वयमत्यागान्नेयं प्रतिज्ञाहानिरिति चेत् न, तद्विरुद्धत्व-प्रतिपत्तेरेव न्यायबलात्त्यागरूपत्वात्। यत्किंचिदवदतोपि प्रतिज्ञाकृतिसिद्धेर्वदतोपि दोषत्वेनैव तत्त्यागस्य व्यवस्थितेः। यदपि तेनोक्तं हेतुविरोधोपि प्रतिज्ञाविरोध एव एतेनोक्तो यत्र हेतुः प्रतिज्ञया बाध्यते यथा सर्वं पृथक् समूहे भावशब्दप्रयोगादिति, तदपि न साधीय इत्याह–

क्योंकि 'तपस्विनी' कहने पर गर्भवती नहीं हो सकती और गर्भवती होने पर तपस्विनी नहीं कह सकते। अतः तपस्विनी को गर्भवती कहना स्ववचन बाधित है। अतः जहाँ प्रतिज्ञाविरोध के लक्षण में प्रतिज्ञा स्ववचन से विरुद्ध हो जाती है, वहाँ इतना अन्य वाक्य का उपस्कार कर लेना चाहिए। जैनाचार्य कहते हैं कि यह उद्योतकर का कथन युक्तिसंगत नहीं है। इसी बात को आचार्य कहते हैं -

जिस प्रकरण में स्ववचन के द्वारा ही धर्म, धर्मी का समुदाय वचन स्वरूप प्रतिज्ञा स्वयं विरोध को प्राप्त हो जाती है; जैसे कोई जीव कहता है कि आत्मा नहीं है, 'मेरी माता वन्ध्या है' इत्यादि वाक्य स्ववचन बाधित हैं। ऐसे प्रकरण में प्रतिज्ञा की विधि ही नहीं है अर्थात् स्ववचन बाधित ही प्रतिज्ञा की हानि है॥१४८॥

प्रतिवादी के द्वारा प्रतिज्ञा में दोषों का उद्भावन कर देने से वादी की प्रतिज्ञा का त्याग अवश्यंभावी (अवश्य ही हो जाता) है। इसलिए प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान प्रतिज्ञाहानि से भिन्न नहीं है।

"प्रतिवादी के द्वारा दोषों का उत्थापन करने पर भी वादी स्वयं प्रतिज्ञा का त्याग नहीं करता है- इसलिए प्रतिज्ञा हानि नहीं है," ऐसा भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि प्रतिवादी के द्वारा हेतु में दोषों का उत्थापन कर देने पर वादी को स्वकीय प्रतिज्ञा वाक्य के विरुद्धत्व का ज्ञान (निर्णय) हो जाना ही न्यायमार्ग के सामर्थ्य से प्रतिज्ञा का त्याग कर देना है।

स्ववचन के विरुद्ध बोलने वाले वादी के वाक्य में यदि प्रतिवादी दोषों का उत्थापन करता है और वादी उसके प्रत्युत्तर में कुछ नहीं बोलता है तो भी वादी के प्रतिज्ञा का छेद हो जाता है और वादी यदि यद्वा तद्वा उत्तर देता है तो भी वादी का कथन दोष सहित होने से उस प्रतिज्ञाहानि की व्यवस्था कर दी जाती है अर्थात् प्रतिज्ञाहानि हो जाती है। इसलिए प्रतिज्ञाहानि से भिन्न प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रह स्थान मानना उपयुक्त नहीं है।

उद्योतकर ने यह कहा था कि पूर्वोक्त कथन से हेतु का विरोध होना ही प्रतिज्ञा विरोध नामक निग्रह स्थान है अर्थात् हेतुविरोध नामक निग्रहस्थान नहीं मानकर प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान में उसका अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। जिस प्रकरण में प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा हेतु वाक्य बाधित हो जाता है, जैसे सम्पूर्ण पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं, समुदाय में भाव या पदार्थ शब्द का प्रयोग होने से। अर्थात् इस अनुमान में पृथक् भाव को सिद्ध करने वाली प्रतिज्ञा में भाव शब्द द्वारा समुदाय का कथन करना रूप हेतु विरुद्ध पड़ता है। इसलिए **उद्योतकर** का कथन श्रेष्ठ नहीं है। इसी को **विद्यानन्द आचार्य** स्पष्ट करते हैं -

हेतुः प्रतिज्ञया यत्र बाध्यते हेतुदुष्टता। तत्र सिद्धान्यथा संधाविरोधोतिप्रसज्यते ॥१४९॥
सर्वं पृथक् समुदायः भावशब्दप्रयोगतः। इत्यत्र सिद्धया भेदसंधया यदि बाध्यते ॥१५०॥
हेतुस्तत्र प्रसिद्धेन हेतुना सापि बाध्यता। प्रतिज्ञावत्परस्यापि हेतुसिद्धेरभेदतः ॥१५१॥
भावशब्दः समूहं हि यस्यैकं वक्ति वास्तवं। तस्य सर्वं पृथक्त्वमिति संधाधिहन्यते ॥१५२॥
विरुद्धसाधनाद्वायं विरुद्धो हेतुरागतः। समूहावास्तवे हेतुदोषो नैकोपि पूर्वकः ॥१५३॥
सर्वथा भेदिनो नानार्थेषु शब्दप्रयोगतः। प्रकल्पितसमूहेष्वित्येवं हेत्वर्थनिश्चयात् ॥१५४॥
तथा सति विरोधोयं तद्धेतोः संधया स्थितः। संधाहानिस्तु सिद्धेयं हेतुना तत्प्रबाधनात्।१५५।

जिस अनुमान में प्रतिज्ञा के द्वारा हेतु बाधित हो जाता है, वहाँ हेतु का दुष्टपना सिद्ध है। (उससे हेतु सदोष होता है, प्रतिज्ञा दूषित नहीं होती)। अन्यथा (यदि हेतु का दोष प्रतिज्ञा को दिया जायेगा तो) प्रतिज्ञा विरोध में अतिप्रसंग दोष आयेगा। अर्थात् प्रतिज्ञाविरोध को हेतुविरोध में गर्भित कर सकेंगे और हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन के दोष प्रतिज्ञा को दे सकेंगे ॥१४९॥

सम्पूर्ण पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं, क्योंकि समुदाय में भाव शब्द का प्रयोग होता है। इस अनुमान में प्रसिद्ध भेदसिद्धि की प्रतिज्ञा के द्वारा यदि समुदाय में भाव शब्द का कथन करना रूप हेतु बाधित कर दिया जाता है, तो प्रमाणसिद्ध हेतु के द्वारा प्रतिज्ञा भी बाधित हो जाती है।

क्योंकि जैसे नैयायिकों के, पदार्थों की पृथक्-पृथक् सिद्धि करने वाली प्रतिज्ञा की प्रमाण से सिद्धि है, वैसे ही जैन सिद्धान्त में अपर संग्रह नय की अपेक्षा पदार्थों को समुदाय रूप सिद्ध करने वाले हेतु की भी प्रमाण से सिद्धि है। हेतु और प्रतिज्ञा में कोई भेद (विशेषता) नहीं है अर्थात् भगवती आर्हती नीति के अनुसार कथंचित् शब्द का प्रयोग कर लेने पर पृथक् भाव के द्वारा समुदाय में कोई विरोध नहीं आता है।

जिन अद्वैतवादियों के यहाँ भाव (सत्) शब्द वस्तुभूत एक समुदाय को ही कहता है, उनके यहाँ "सम्पूर्ण पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं" इस प्रकार की प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती है अर्थात् प्रसिद्ध हेतु के द्वारा प्रतिज्ञा का बाधित हो जाना प्रतीति सिद्ध है ॥१५०-१५२॥

अथवा, वादी के द्वारा कथित यह हेतु प्रतिज्ञा से विरुद्ध साध्य को सिद्ध करने वाला होने से विरुद्ध हेतु सिद्ध हुआ है (विरुद्ध हेत्वाभास है)। तथा समूह के अवास्तव होने से पूर्ववर्ती एक भी हेतु का दोष वादी के ऊपर लागू नहीं हो सकता। अर्थात् बौद्ध समुदाय को वास्तविक नहीं मानता है। बौद्ध सिद्धान्त में संतान, समुदाय, अवयवी ये सब कल्पित माने गये हैं। नैयायिक, जैन और मीमांसक समुदाय को वस्तुभूत मानते हैं। क्योंकि बौद्ध सिद्धान्त में सम्पूर्ण पदार्थ सर्वथा भिन्न-भिन्न (भेद सहित) हैं। इसलिए सर्वथा भेदवादी बौद्ध के मिथ्या वासनाओं के द्वारा कल्पित समूह रूप नाना अर्थों (वास्तव में भिन्न-भिन्न अनेक पदार्थों) में भाव शब्द का प्रयोग होता है। ऐसा माना है। इसलिए इस प्रकार हेतु के अर्थ का निश्चय हो जाने से कोई दोष नहीं है। यदि समुदाय वास्तविक पदार्थ है, तब तो हेतु का प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा यह विरोध स्थित है। तथा हेतु के द्वारा प्रतिज्ञावाक्य की बाधा (छेद) हो जाने से यह प्रतिज्ञा हानि भी सिद्ध हो जाती है ॥१५३-१५५॥ इसलिए हेतु विरोध (हेत्वाभास) को प्रतिज्ञा विरोध कहना उचित नहीं है।

यदप्यभिहितं तेन, एतेन प्रतिज्ञाया दृष्टांतविरोधो वक्तव्यो हेतोश्च दृष्टांतादिभिर्विरोधः प्रमाणविरोधश्च प्रतिज्ञाहेत्वोर्यथा वक्तव्य इति, तदपि न परीक्षाक्षममित्याह–

दृष्टांतस्य च यो नाम विरोधः संधयोदितः। साधनस्य च दृष्टांतप्रमुखैर्मानबाधनम् ॥१५६॥
प्रतिज्ञादिषु तस्यापि न प्रतिज्ञाविरोधता। सूत्रारूढतयोक्तस्य भांडालेख्यनयोक्तिवत् ॥१५७॥
प्रतिज्ञानेन दृष्टांतबाधने सति गम्यते। तत्प्रतिज्ञाविरोधः स्याद्द्विष्ठत्वादिति चेन्मतम् ॥१५८॥
हंत हेतुविरोधोपि किं नैषोभीष्ट एव ते। दृष्टांतादिविरोधोपि हेतुरेतेन वर्णितः ॥१५९॥
निग्रहस्थानसंख्यानविघातकृदयं ततः। यथोक्तनिग्रहस्थानेष्वंतर्भावविरोधतः ॥१६०॥
प्रत्यक्षादिप्रमाणेन प्रतिज्ञाबाधनं पुनः। प्रतिज्ञाहानिरायाता प्रकारांतरतः स्फुटम् ॥१६१॥
निदर्शनादिबाधा च निग्रहांतरमेव ते। प्रतिज्ञानश्रुतेस्तत्राभावात्तद्बाधनात्ययात् ॥१६२॥

उद्योतकर पंडित ने जो यह कहा था कि "पूर्वोक्त विचार से प्रतिज्ञा द्वारा दृष्टान्त का विरोध भी करना चाहिए और दृष्टान्त आदि के द्वारा हेतु का विरोध करना चाहिए। तथा जैसे प्रतिज्ञा और हेतु विरोध करने योग्य है, उसी प्रकार प्रमाण आदि के द्वारा बाधित अन्य विरोध भी वक्तव्य हैं।" जैनाचार्य कहते हैं कि यह **उद्योतकर** का कथन भी परीक्षा को सहन करने में समर्थ नहीं है। इसी को ग्रन्थकार कहते हैं -

जो **उद्योतकर** ने प्रतिज्ञा के द्वारा दृष्टान्त का विरोध कहा है, तथा दृष्टान्त, उपनय आदि के द्वारा हेतु का विरोध कहा है और प्रतिज्ञा आदिकों में जो प्रमाणों के द्वारा बाधा आ जाना, या विरोध होने का निरूपण किया है, उसके भी प्रतिज्ञाविरोधता नामक निग्रहस्थानपना नहीं है। क्योंकि गौतम सूत्र में प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध को निग्रह स्थान रूप से आरूढ़ करके कहा गया है। जैसे मिट्टी आदि से निर्मित बर्तन में उकेरा हुआ चित्राम चिरकाल तक स्थिर रहता है, उसी प्रकार सूत्र में आरूढ़ तत्त्व चिरकाल तक स्थिर रहता है। उस सूत्र में स्थित प्रतिज्ञाविरोध आदि को ग्रहण करना चाहिए, स्वेच्छानुसार नहीं ॥१५६-१५७॥

प्रतिज्ञा के द्वारा दृष्टान्त के बाधित हो जाने पर अर्थापत्ति न्याय के द्वारा जान लिया जाता है कि यह प्रतिज्ञाविरोध है। (इसलिए दृष्टान्तविरोध और प्रमाणविरोध प्रतिज्ञाविरोध में गर्भित हो जाता है) क्योंकि विरोध दो पदार्थों में रहता है। इस प्रकार **उद्योतकर** का मन्तव्य होने पर **जैनाचार्य** कहते हैं- हंत (बड़े खेद की बात है कि)! तुम्हारे (नैयायिकों के) सिद्धान्त में हेतु का विरोध नामक निग्रहस्थान क्यों स्वीकार किया गया है? हेतु का दृष्टान्त आदि के साथ विरोध भी स्वतंत्र रूप से निग्रह स्थान क्यों नहीं माना है? इस कथन से आचार्यदेव ने यह वर्णन किया है कि जब प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञान्तर इनको पृथक्-पृथक् निग्रह स्थान स्वीकार किया है तो **उद्योतकर** प्रतिज्ञाविरोध के समान हेतुविरोध, दृष्टान्तविरोध को भी स्वतंत्र निग्रह स्थान स्वीकार क्यों नहीं करते हैं? उनको भी स्वीकार करना चाहिए ॥१५८-१५९॥

हेतु विरोध और दृष्टान्त विरोध को स्वीकार करना नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत संख्या का विघातक है। इसलिए इनका नैयायिकों की आम्नायानुसार स्वीकृत चौबीस निग्रह स्थानों में अन्तर्भाव कर लेना भी विरोध युक्त है। अर्थात् हेतु विरोध, दृष्टान्त विरोध आदि का यदि प्रतिज्ञा विरोध में अन्तर्भाव किया जाता है, तो प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञान्तरविरोध का भी प्रतिज्ञाहानि में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए ॥१६०॥

यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित प्रतिज्ञा को प्रतिज्ञाविरोध कहा जाता है, तब तो स्पष्ट रूप से प्रतिज्ञाहानि ही प्रकारान्तर से प्रतिज्ञाविरोध सिद्ध होती है। इसलिए प्रतिज्ञाविरोध को पृथक् निग्रहस्थान मानने पर दृष्टान्त विरोध, हेतु विरोध, उपनय विरोध, निगमन विरोध, प्रत्यक्ष विरोध, अनुमान विरोध आदि को भी पृथक्-पृथक् निग्रह स्थान मानना पड़ेगा। तथा प्रतिकूल ज्ञान की श्रुति का वहाँ अभाव होने से उन दृष्टान्त विरोध, हेतु विरोध, आदि निग्रह स्थानों के बाधा का अभाव है ॥१६१-१६२॥

यदप्यवादि तेन परपक्षसिद्धेन गोत्वादिनानैकांतिकचोदनाविरुद्धेति यः परपक्षसिद्धेन गोत्वादिना व्यभिचारयति तद्विरुद्धमुत्तरं वेदितव्यम्। अनित्यः शब्दः ऐंद्रियकत्वात् घटवदिति केनचिद्बौद्धं प्रत्युक्तं, नैयायिकप्रसिद्धेन गोत्वादिना सामान्येन हेतोरनैकांतिकत्वचोदना हि विरुद्धमुत्तरं सौगतस्यानिष्टसिद्धेरिति। तदपि न विचारार्हमित्याह–

गोत्वादिना स्वसिद्धेन यानैकांतिकचोदना। परपक्षविरुद्धं स्यादुत्तरं तदिहेत्यपि ॥१६३॥
न प्रतिज्ञाविरोधेंतर्भावमेति कथंचन। स्वयं तु साधिते सम्यग्गोत्वादौ दोष एव सः ॥१६४॥
निराकृतौ परेणास्यानैकांतिकसमानता। हेतोरेव भवेत्तावत् संधादोषस्तु नेष्यते ॥१६५॥

उद्योतकर ने जो यह कहा था कि दूसरे पक्ष में प्रसिद्ध गोत्व आदि नित्य जातियों के द्वारा अनैकान्तिक हेत्वाभास की शंका उठाना विरुद्ध है। इस प्रकार, जो परपक्ष से सिद्ध गोत्व आदि जातियों के द्वारा हेतु का व्यभिचार उठाया जाता है, वह **उद्योतकर** का उत्तर विरुद्ध समझना चाहिए।

जैसे शब्द अनित्य है इन्द्रियज्ञान जन्य होने से घट के समान। इस प्रकार कह चुकने पर नैयायिकों के यहाँ प्रसिद्ध गोत्व आदि सामान्य जाति के द्वारा इन्द्रियजन्यत्व हेतु में व्यभिचारी की कुतर्कणा उठाना विरुद्ध उत्तर है। क्योंकि इस हेतु से बौद्धों के अनिष्ट की सिद्धि होती है। अर्थात् बौद्ध जन भी घट के समान सामान्य को भी अनित्य मानते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार **उद्योतकर** का कहना भी विचार करने योग्य नहीं है। इसी को आचार्य कहते हैं -

बौद्ध सिद्धान्त में गोत्व आदि जातियों को अनित्य माना है। इसलिए स्वकीय सिद्धान्त में सिद्ध गोत्वादि के द्वारा जो व्यभिचारीत्व की शंका उठाई जाती है, वह उत्तर भी परपक्ष से विरुद्ध पड़ता है। इसलिए वह व्यभिचार दोष किसी प्रकार से प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान में अन्तर्भाव को प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु स्वयं गोत्व आदि के सम्यक् प्रकार साध चुकने पर वह दोष ही है। किन्तु दूसरे प्रतिवादी के द्वारा पक्ष का निराकरण कर देने पर उस हेतु का अनैकान्तिक हेत्वाभासपना समान ही होगा। इसलिए वह हेत्वाभास प्रतिज्ञा का दोष नहीं माना जा सकता ॥१६३-१६५॥

जो **उद्योतकर** ने कहा था कि **"स्वपक्षानपेक्षं"** - इसका अर्थ इस प्रकार है कि जो नैयायिक अपने निज पक्ष की अपेक्षा नहीं रखने वाले हेतु का प्रयोग करता है, जैसे शब्द अनित्य है इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय होने से। इस हेतु में नैयायिकादि मत में गोत्व, अश्वत्व आदि जातियों के अनित्यत्व का विरोध हो जाने से वह हेतु विरुद्ध है।

भावार्थ - नैयायिक इन्द्रियज्ञान का विषय होने से शब्द को अनित्य सिद्ध करना चाहता है, परन्तु अनित्य हेतु नित्य रहने वाली गोत्व आदि जाति में भी जाता है। अतः जो-जो इन्द्रियज्ञान के विषय हैं वे-वे अनित्य हैं -ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इन्द्रियज्ञान विषय हेतु नित्य, गोत्व आदि जाति में भी जाता है। गोत्वादि जाति इन्द्रियज्ञान का विषय है, परन्तु अनित्य नहीं है। अतः इन्द्रियज्ञान विषय हेतु शब्द को अनित्य सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि यह हेतु अनैकान्तिक है। ऐसा **उद्योतकर** का कहना है। परन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि **उद्योतकर** का यह कथन भी चातुर्यपूर्ण नहीं है। इसी को आचार्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

यदप्यभाणि तेन, स्वपक्षानपेक्षं च तथा यः स्वस्वपक्षानपेक्षं हेतुं प्रयुंक्ते अनित्यः शब्द ऐंद्रियकत्वादिति स स्वसिद्धस्य गोत्वादेरनित्यत्वविरोधाद्विरुद्ध इति। तदप्यपेशलमित्याह–

हेतावैंद्रियकत्वे तु निजपक्षानपेक्षिणि। स प्रसिद्धस्य गोत्वादेरिति तत्त्वविरोधतः ॥१६६॥
स्याद्विरोध इतीदं च तद्वदेव न भिद्यते। अनैकांतिकतादोषात्तदभावाविशेषतः ॥१६७॥
वादीतरप्रतानेन गोत्वेन व्यभिचारिता। हेतोर्यथा चैकतरसिद्धेनासाधनेन किम् ॥१६८॥
प्रमाणेनाप्रसिद्धौ तु दोषाभावस्तदा भवेत्। सर्वेषामपि तेनायं विभागो जडकल्पितः ॥१६९॥

सोयमुद्योतकरः स्वयमुभयपक्षसंप्रतिपन्नस्त्वनैकांतिक इति प्रतिपद्यमानो वादिनः प्रतिवादिन एव प्रमाणतः सिद्धेन गोत्वादिनानैकांतिकचोदनेन हेतोर्विरुद्धमुत्तरं ब्रुवाणमतिक्रमेण कथं न्यायवादी? अप्रमाणसिद्धेन तु सर्वेषां तच्चोदनं दोषाभास एवेति तद्विभागं कुर्वन् जडत्वमात्मनो निवेदयति। अत्र

निजपक्ष की अपेक्षा नहीं रखने वाले इन्द्रियज्ञान विषय हेतु के होने पर नैयायिकों के वह हेतुविरुद्ध होता है। क्योंकि उनके सिद्धान्त में प्रसिद्ध गोत्व आदि सामान्य तत्त्व से विरोध आता है। इसलिए यह हेतु प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान है। ऐसा उद्योतकर का कहना प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि धूम, व्यापकत्व आदि को सिद्ध करने के लिए दिये गये अग्नित्व, प्रमेयत्व आदि व्यभिचारी हेत्वाभासों के समान यह ऐन्द्रियकत्व हेतु के प्रति कथित विरुद्ध दोष अनैकान्तिक दोष से पृथक् नहीं है। क्योंकि हेतु के साथ अविनाभाव सम्बन्ध का अभाव होने से दोनों में कोई विशेषता नहीं है। इसलिए इस हेतु को प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रह स्थान न मानकर अनेकान्त दोष में गर्भित कर लेना चाहिए॥१६६-१६७॥

जैसे वादी और प्रतिवादी दोनों के यहाँ प्रसिद्ध गोत्व सामान्य के द्वारा हेतु का व्यभिचार दोष है, उसी प्रकार वादी वा प्रतिवादी दोनों में किसी एक के यहाँ प्रसिद्ध गोत्व जाति के द्वारा व्यभिचार आ सकता है। तब साध्य को सिद्ध नहीं करने वाले अहेतु से क्या प्रयोजन है? जब वादी और प्रतिवादी दोनों का ही पक्ष प्रमाण सिद्ध नहीं होने पर दोष का अभाव है, ऐसा यदि कहा जाता है तो सभी के यहाँ यह विभाग करना जड़ पुरुषों के द्वारा कल्पित किया गया है॥१६८-१६९॥

आचार्य कहते हैं कि यह **उद्योतकर** विद्वान् स्वयं इस तत्त्व को समझ रहा है कि वादी प्रतिवादी दोनों के पक्षों में जो संप्रतिपन्न है (सम्यग्ज्ञान हो जाता है), वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। इस प्रकार वादी वा प्रतिवादी के दर्शन में प्रमाण से सिद्ध गोत्व आदि सामान्य हेतु के द्वारा व्यभिचार दोष की तर्कणा से विरुद्ध उत्तर को कहने वाला हेतु का अतिक्रमण कर रहा है वह न्यायवादी कैसे हो सकता है? क्योंकि वादी और प्रतिवादी सभी के ही अप्रमाण सिद्ध (प्रमाण से असिद्ध) हेतु के द्वारा अनैकान्तिक हेत्वाभास की शंका उठाना दोषाभास ही है। अतः उस विरुद्ध उत्तर रूप प्रतिज्ञा विरोध निग्रह स्थान अनैकान्तिक हेत्वाभास का विभाग करने वाले **उद्योतकर** पण्डित स्वकीय जड़पने को व्यक्त कर रहे हैं। अपनी मूर्खता का निवेदन कर रहे हैं।

प्रतिज्ञावचनादेवासाधनांगवचनेन वादिनिगृहीते प्रतिज्ञाविरुद्धस्यानिग्रहत्वमेवेति धर्मकीर्तिनोक्तं दूषणमसंगतं गम्यमानः प्राह–

प्रतिज्ञावचनेनैव निगृहीतस्य वादिनः। न प्रतिज्ञाविरोधस्य निग्रहत्वमितीतरे ॥१७०॥
तेषामनेकदोषस्य साधनस्याभिभाषणे। परेणैकस्य दोषस्य कथनं निग्रहो यथा ॥१७१॥
तथान्यस्यात्र तेनैव कथनं तस्य निग्रहः। किं नेष्टो वादिनोरेवं युगपन्निग्रहस्तव ॥१७२॥
साधनावयवस्यापि कस्यचिद्वचने सकृत्। जयोस्तु वादिनोन्यस्यावचने च पराजयः ॥१७३॥
प्रतिपक्षाविनाभाविदोषस्योद्भावने यदि। वादिनि न्यक्कृतेन्यस्य कथं नास्य विनिग्रहः ।१७४॥
तदा साध्याविनाभावि साधनावयवेरणे। तस्यैव शक्त्युभयाकारेन्यस्यवाक् च पराजयः१७५॥

यहाँ (इस प्रकरण में) प्रतिज्ञा वचन के द्वारा ही असाधनांग वचन से वादी का निग्रह हो जाने पर पुनः उस वादी के प्रति प्रतिज्ञाविरुद्ध अनिग्रह ही है अर्थात् प्रतिज्ञाविरुद्ध निग्रहस्थान नहीं है। अतः यह धर्मकीर्ति के द्वारा कथित प्रतिज्ञाविरुद्ध निग्रहस्थान नामक दूषण असंगत है। इसी बात को आचार्य समझाते हैं -

प्रतिज्ञावचन के द्वारा निग्रहस्थान को प्राप्त वादी के प्रतिज्ञाविरोध का निग्रहस्थान नहीं होता है। इस प्रकार कोई बौद्ध विद्वान् कहता है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं -

जैसे उन (बौद्धों) के अनेक दोष वाले साधन (हेतु) का कथन करने पर प्रतिवादी के द्वारा एक दोष का कथन कर देना ही वादी का निग्रह हो जाता है उसी प्रकार यहाँ भी उसी वादी के द्वारा साधन के अंगों से भिन्न अंग का कथन करना उस वादी का निग्रहस्थान क्यों नहीं इष्ट कर लिया जाता है। तथा इस प्रकार होने पर तेरे मत में वादी और प्रतिवादी दोनों का एक साथ निग्रह हो जाता है। अर्थात् वादी तो असाधन के अंगों का कथन कर रहा है और प्रतिवादी अपने कर्तव्य रूप से स्वीकृत सम्पूर्ण दोषों को उत्थापन करने में प्रमादी हो रहा है॥१७०-१७१-१७२॥

किसी भी साधन (हेतु) के अवयव का कथन करने पर एक साथ (एक समय में) वादी की विजय और अन्य (दूसरे) साधन अवयव का कथन नहीं करने पर वादी की पराजय हो जाती है। अर्थात् साधन के अंग के कहने पर विजय और कुछ साधन के अंग नहीं कहने से वादी के एक साथ जय, पराजय प्राप्त हो जाने का प्रसंग आता है॥१७३॥

यदि सौगत सिद्धान्तानुसार प्रतिकूल पक्ष के अविनाभावी दोष का प्रतिवादी के द्वारा उत्थापन हो जाने पर वादी का तिरस्कार हो जाता है, तब तो साध्य के साथ अविनाभाव रखने वाले साधनरूप अवयव का कथन करने पर वादी द्वारा इस अन्य प्रतिवादी का विशेष रूप से निग्रह क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा। जब उस साध्य का अविनाभावी साधन के अवयव का कथन करने पर शक्ति के उभयाकार में अन्य के वचन प्रतिवादी की पराजय में कारण हो जाते हैं अर्थात् प्रतिपक्ष के अविनाभावी दोषों का कथन करने पर वादी की पराजय हो जाती है और वादी के द्वारा साध्य के अविनाभावी हेतु का कथन करने पर प्रतिवादी की पराजय हो जाती है। इस प्रकार उभय शक्ति के आकार (कथन) में अन्य के वाक् पराजित हो जाते हैं॥१७४-१७५॥

विरुद्धोद्भावनं हेतोः प्रतिपक्षप्रसाधनं। यथा तथाविनाभाविहेतूक्तिः स्वार्थसाधना ॥१७६॥
साधनावयवोनेकः प्रयोक्तव्यो यथापरः। तथा दोषोपि किं न स्यादुद्भाव्यस्तत्र तत्त्वतः ।१७७।
तस्मात्प्रयुज्यमानस्य गम्यमानस्य वा स्वयं। संगरस्याव्यवस्थानं कथाविच्छेदमात्रकृत् ॥१७८॥

संगरः प्रतिज्ञा तस्य वादिना प्रयुज्यमानस्य पक्षधर्मोपसंहारवचनसामर्थ्याद्गम्यमानस्य वा यदव्यवस्थानं स्वदृष्टांते प्रतिदृष्टांतधर्मानुज्ञानात् प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधेन धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशाद्वा प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधात् प्रतिज्ञाविरोधाद्वा प्रतिवादिनापद्येत तत्कथाविच्छेदमात्रं करोति न पुनः पराजयं वादिनः स्वपक्षस्य प्रतिवादिनावश्यं साधनीयत्वादिति न्यायं बुद्ध्यामहे। प्रतिज्ञावचनं तु कथाविच्छेदमात्रमपि न प्रयोजयति

जैसे वादी के, हेतु के विरुद्ध दोष का उद्भावन करने से प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि हो जाती है, उसी प्रकार वादी के द्वारा अविनाभावी हेतु का कथन करने से वादी की स्वार्थसिद्धि हो जाती है अर्थात् साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले हेतु का कथन करना ही स्वकीय अर्थ की सिद्धि का कारण है॥१७६॥

जिस प्रकार वादी के द्वारा साधन के अनेक दूसरे अवयवों का प्रयोग करना उचित है, उसी प्रकार प्रतिवादी के द्वारा वास्तविक रूप से अनेक दोषों का उत्थापन करना उचित क्यों नहीं है? इसलिए स्वयं मुख से उच्चारण की गई, वा अर्थापत्ति के द्वारा गम्यमान (जानी गई) प्रतिज्ञा की तीन निग्रहस्थानों के द्वारा व्यवस्था नहीं होने देना है। वह केवल निग्रहस्थान देकर बाद में विघ्न डाल देना मात्र है। यों केवल कथा का विच्छेद कर देने से प्रतिवादी द्वारा वादी का पराजय सम्भव नहीं है॥१७७-१७८॥

संगर वा प्रतिज्ञा एकार्थवाची है। वादी के द्वारा प्रयुक्त उस प्रतिज्ञा वचन नामक संगर की पक्ष धर्म के उपसंहार रूप वचन के सामर्थ्य से गम्यमान (अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञात) प्रतिज्ञा की व्यवस्था नहीं होने देना (वा वादकथा का अवसान कर देना) है। स्वकीय दृष्टान्त में वादी के द्वारा प्रतिवादी के प्रतिकूल दृष्टान्त के धर्म की स्वीकारता करना रूप प्रतिज्ञाहानि से प्रतिज्ञा की अव्यवस्था होती है तथा प्रतिज्ञात अर्थ का प्रतिषेध कर देने से, धर्मान्तर के विकल्प से उस प्रतिज्ञात अर्थ का निर्देश करने रूप प्रतिज्ञान्तर निग्रह स्थान से तथा प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध रूप प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रह स्थान से प्रतिवादी के द्वारा वादी के प्रतिज्ञावाक्य की अव्यवस्था कर दी जाती है। इस प्रकार प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर और प्रतिज्ञाविरोध नामक तीन निग्रहस्थान के द्वारा प्रतिवादी केवल कथा के विच्छेद को करता है। इससे वादी की पराजय नहीं हो सकती। क्योंकि प्रतिवादी के द्वारा विजय प्राप्त करने के लिए स्वपक्ष का साधन (स्वपक्ष सिद्ध करने वाले हेतु का कथन) करना आवश्यक है। हम इसी को न्याय समझते हैं।

प्रतिज्ञा का वचन कथा के विच्छेद मात्र का प्रयोजक नहीं है।

भावार्थ - बौद्ध सिद्धान्तानुसार अर्थ या प्रकरण से प्रतिज्ञा जान ली जाती है, प्रतिज्ञा का व्यर्थ में उच्चारण करना वादी का निग्रह स्थान है, क्योंकि वादी केवल प्रतिज्ञा का उच्चारण कर कथा का विच्छेद करना चाहता है।

तस्यासाधनांगत्वाव्यवस्थितेः पक्षधर्मोपसंहारवचनादित्युक्तं प्राक्। केवलं स्वदर्शनानुरागमात्रेण प्रतिज्ञावचनस्य निग्रहत्वेनोद्भावनेपि सौगतैः प्रतिज्ञाविरोधादिदोषोद्भावनं नानवसरमनुमंतव्यं, अनेकसाधनवचनवदनेक-दूषणवचनस्यापि विरोधाभावात् सर्वथा विशेषाभावादिति विचारितमस्माभिः॥

संप्रति प्रतिज्ञासंन्यासं विचारयितुमुपक्रममाह–

प्रतिज्ञार्थापनयनं पक्षस्य प्रतिषेधने। न प्रतिज्ञानसंन्यासः प्रतिज्ञाहानितः पृथक् ॥१७९॥

इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि प्रतिज्ञा का उच्चारण करने का प्रयोजन केवल कथा का विच्छेद करना ही नहीं है क्योंकि प्रतिज्ञावचन साध्य की सिद्धि के व्यवस्थापक नहीं हैं अर्थात् प्रतिज्ञा वचन साध्यसिद्धि का अंग नहीं हैं। ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। जैसे हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन साध्य की सिद्धि के अंग हैं। वैसे प्रतिज्ञा भी साध्य की सिद्धि का अंग है अर्थात् पक्षधर्म का उपसंहार वचन साध्य की सिद्धि का अंग है। क्वचित् उपनय और निगमन के कथन के बिना भी साध्य की सिद्धि हो जाती है। इस बात का पूर्व में विशद रूप से कथन कर दिया गया है।

सौगत के द्वारा केवल स्वकीय (बौद्ध) दर्शन के श्रद्धान मात्र से (अनुराग मात्र से) प्रतिज्ञा-कथन के निग्रहस्थान के द्वारा वादी के प्रति प्रतिज्ञाविरोध, अनैकान्तिक आदि दोषों का उद्भावन करना बिना अवसर का नहीं मानना चाहिए। क्योंकि अनेक साधनों के अंग के कथन के समान अनेक दूषणों का कथन करना भी कोई विरोधयुक्त नहीं है। अर्थात् जैसे शिष्य को समझाने के लिए अनेक हेतुओं के द्वारा साध्य को सिद्ध किया जाता है, वैसे ही दूसरे पक्ष को निर्बल बनाने के लिए अनेक दोषों का प्रयोग किया जा सकता है। इसमें विरोध का अभाव है। तथा साधन और दूषण देने में अनेक सहारों के लेने की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है। इस बात का अन्य ग्रन्थों में हमारे द्वारा विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

इस समय प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान का विचार करने के लिए **श्री विद्यानन्द आचार्य** उपायपूर्वक कहते हैं -

वादी के पक्ष का दूसरे प्रतिवादी के द्वारा निषेध किये जाने पर यदि वादी उसके परिहार की इच्छा से अपने प्रतिज्ञा किये गये अर्थ का निह्नव करता है तो वह वादी का **प्रतिज्ञा संन्यास** नामक निग्रह स्थान है। आचार्य कहते हैं कि प्रतिज्ञा संन्यास नामक निग्रह स्थान "प्रतिज्ञाहानि" निग्रह स्थान से पृथक् नहीं है॥१७९॥

शंका - "पक्ष के प्रतिषेध में प्रतिज्ञात अर्थ का अपनयन करना **प्रतिज्ञा संन्यास** नामक निग्रहस्थान है।" यह न्यायवेत्ता सूत्रकार का वचन है। जो वादी प्रतिवादी द्वारा पक्ष का निषेध कर देने पर पक्ष का परित्याग करता है (पक्ष को छोड़ देता है) उसको प्रतिज्ञा संन्यास नामक निग्रह स्थान समझना चाहिए। जैसे इन्द्रियज्ञान का विषय होने से शब्द अनित्य है - वादी के द्वारा ऐसा कहने पर प्रतिवादी के द्वारा नित्य सामान्य से इन्द्रियजन्यत्व हेतु का खण्डन कर दिया जाता है। इसका उदाहरण पूर्व के समान हैं। तथा सामान्य से

ननु पक्षप्रतिषेधे 'प्रतिज्ञानार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यास:' इति सूत्रकारवचनात् य: प्रतिज्ञातमर्थं पक्षप्रतिषेधे कृते परित्यज्यति स प्रतिज्ञासंन्यासो वेदितव्य: उदाहरणं पूर्ववत्। सामान्येनैकांतिकत्वाद्धेतो: कृते ब्रूयादेक एव महान्नित्य शब्द इति। एतत्साधनस्य सामर्थ्यापरिच्छेदाद्विप्रतिपत्तितो निग्रहस्थानमित्युद्योतकरवचनाच्च प्रतिज्ञासंन्यासस्तस्य प्रतिज्ञाहानेर्भेद एवेति मन्यमानं प्रत्याह–

एक एव महान्नित्योयं शब्द: इत्यपनीयते। प्रतिज्ञार्थ: किलानेन पूर्ववत्पक्षदूषणे ॥१८०॥
हेतोरैंद्रियकत्वस्य व्यभिचारप्रदर्शनात्। तथा चापनयो हानि: संधाया इति नार्थभित् ॥१८१॥
प्रतिज्ञाहानिरेवैतै: प्रकारैर्यदि कथ्यते। प्रकारांतरतोपीयं तदा किं न प्रकथ्यते ॥१८२॥
तन्निमित्तप्रकाराणां नियमाभावत: क्व नु। यथोक्ता नियतिस्तेषां नाप्तोपज्ञं वचस्तत: ॥१८३॥

अनैकान्तिक हेत्वाभास हेतु का कथन करके शब्द महान नित्य और एक ही है। ऐसा कह दिया जाने पर वादी स्वकीय 'शब्द अनित्य है' इस पक्ष को छोड़ देता है। वा इसमें हेतु के सामर्थ्य का ज्ञान न होने से और निग्रहस्थान की प्रयोजक विविध प्रतिपत्ति वा विरुद्ध प्रतिपत्ति हो जाने से प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान होता है।

इस प्रकार **उद्योतकर** का वचन होने से प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान से प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान भिन्न रूप ही है।

समाधान - इस प्रकार प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान को मानने वाले नैयायिक के प्रति जैनाचार्य कहते हैं -

पूर्व उदाहरण के समान वादी के इन्द्रियजन्यत्व हेतु का प्रतिवादी के द्वारा व्यभिचार दिखाने से वादी का पक्ष दूषित हो जाने पर निश्चय से वादी के द्वारा "एक ही महान् शब्द नित्य है" यह अपना पूर्व प्रतिज्ञात अर्थ छोड़ दिया जाता है। इसलिए प्रतिज्ञात अर्थ का अपनय (हानि) और प्रतिज्ञा संन्यास, इनमें कोई अर्थ का भेद नहीं है अर्थात् दोनों में कोई भेद नहीं है॥१८०-१८१॥

नैयायिक यदि प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास इन भिन्न-भिन्न प्रकारों के द्वारा प्रतिज्ञाहानि कहते हैं जो प्रतिज्ञाहानि भिन्न-भिन्न निग्रहस्थानों की प्रयोजक है, तब जैनाचार्य कहते हैं कि प्रतिज्ञाहानि अन्य प्रकार से क्यों नहीं कही जाती है? क्योंकि प्रतिज्ञाहानि के निमित्तों, प्रकारों के नियम का अभाव है। अर्थात् ऐसा कोई नियम नहीं है कि प्रतिज्ञाहानि के निमित्त इतने ही प्रकार के होते हैं; जैसे दृष्टान्त की हानि, उपनय की हानि इत्यादि अनेक प्रकार से प्रतिज्ञा की हानि हो सकती है इसलिए नैयायिकों के द्वारा कथित निग्रह स्थानों की संख्या भी नियत कैसे हो सकती है? अत: उन नैयायिकों के वचन आप्त के द्वारा कथित नहीं है॥१८२-१८३॥

अथवा - प्रतिवादी के द्वारा वादी के पक्ष का नियमपूर्वक प्रतिषेध (खण्डन) कर देने पर वादी का चुप रह जाना, पृथ्वी को देखने लग जाना, ऊपर आकाश को देखते रहना, पूर्व आदि दिशाओं का अवलोकन करना, खकारना, भागने लग जाना, व्यर्थ बकवाद करना, कषाय के उद्वेग में आकर हाथों को

पक्षस्य प्रतिषेधे हि तूष्णींभावो धरेक्षणं। व्योमेक्षणं दिगालोकः खात्कृतं चपलायितम् ।१८४।
हस्तास्फालनमाकंपः प्रस्वेदाद्यप्यनेकधा। निग्रहांतरमस्यास्तु तत्प्रतिज्ञांतरादिवत् ॥१८५॥

हेत्वंतरं विचारयन्नाह–

अविशेषोदिते हेतौ प्रतिषिद्धे प्रवादिना। विशेषमिच्छतः प्रोक्तं हेत्वंतरमपीह यत् ॥१८६॥
तदेवमेव संभाव्यं नान्यथेति न निश्चयः। परस्मिन्नपि हेतौ स्यादुक्ते हेत्वंतरं यथा ॥१८७॥
यथा च प्रकृते हेतौ दोषवत्यपि दर्शिते। परस्य वचनं हेतोर्हेत्वंतरमुदाहृतम् ॥१८८॥
तथा निदर्शनादौ च दृष्टांताद्यंतरं न किम्। निग्रहस्थानमास्थेयं व्यवस्थाप्यातिनिश्चितम् ॥१८९॥
यदि हेत्वंतरेणैव निगृहीतस्य वादिनः। दृष्टांताद्यंतरं तत्स्यात्कथायां विनिवर्तनात् ॥१९०॥
तदानैकांतिकत्वादिहेतुदोषेण निर्जिते। मा भूद्धेत्वंतरं तस्य तत एवाविशेषतः ॥१९१॥

फटकारना, शरीर कम्पित हो जाना, पसीना छूटना, आदि अनेक प्रकार के निग्रह स्थान हो सकते हैं। जैसे प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञासंन्यास, प्रतिज्ञान्तर आदि भिन्न निग्रहस्थान मान लिये गये हैं॥१८४-१८५॥ अतः प्रतिज्ञासंन्यास को भी प्रतिज्ञाहानि में गर्भित कर लेना चाहिए।

अब हेत्वन्तर निग्रहस्थान पर विचार करते हुए जैनाचार्य कहते हैं-

वादी के द्वारा विशेषता रहित हेतु के कथन पर पुनः प्रतिवादी के द्वारा उसे हेतु का खण्डन कर देने पर हेतु में कुछ विशेषता लगाने की इच्छा करने वाले वादी का हेत्वन्तर निग्रह स्थान कहा गया है। अर्थात् नैयायिकों ने उसे हेत्वन्तर निग्रहस्थान माना है। वह इसी प्रकार संभव है। अन्यथा (अन्यप्रकारों से) हेत्वन्तर निग्रह स्थान संभव नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा निश्चय करना ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे नैयायिक के दूसरे हेतु का कथन कर देने पर हेत्वन्तर निग्रह स्थान कहा गया है और जिस प्रकार वादी के प्रकरण प्राप्त हेतु को प्रतिवादी के द्वारा दोषयुक्त दिखला देने पर (दोषयुक्त सिद्ध कर देने पर) दूसरे हेतु का कथन करना वादी का हेत्वन्तर निग्रह स्थान कहा गया है, उसी प्रकार वादी के द्वारा प्रकृत साध्य को सिद्ध कर करने के लिए प्रयुक्त दृष्टान्त, उपनय आदि में प्रतिवादी के द्वारा उन दृष्टान्त आदि को दोषयुक्त सिद्ध कर देने पर वादी का हेत्वन्तर निग्रह स्थान के समान दृष्टान्तर, उपनयान्तर आदि निग्रह स्थान क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा। उस वादी के द्वारा पश्चात् अधिक निश्चित किये गये दृष्टान्त आदिकों को व्यवस्थापित कर कह दिया गया है। वे दृष्टांतर आदि निग्रहस्थान हो जायेंगे। अर्थात् हेतु की त्रुटि होने पर जैसे विशेषण लगाकर अन्य हेतु का प्रयोग करने पर हेत्वन्तर नामक निग्रह स्थान हो जाता है, उसी प्रकार उदाहरण में भी न्यूनता दिखलाई जाती है। वह दृष्टान्तर निग्रहस्थान क्यों नहीं कहा जाता है? ॥१८६-१८९॥

यदि नैयायिक यों कहे कि अकेले हेत्वन्तर से ही निग्रह को प्राप्त हो चुके वादी के प्रति दृष्टान्तादि अन्तर का कथन करना तो उतने से ही हो जाएगा इस कारण वाद कथा में विशेष रूप से उनकी निवृत्ति की गई है।

अर्थात् हेत्वन्तर के द्वारा ही वादी जब निग्रहस्थान हो जाता है, तब दृष्टान्तान्तर के कथन करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार नैयायिक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो प्रतिवादी

यथा चोद्भाविते दोषे हेतोर्यद्वा विशेषणं। ब्रूयात्कश्चित्तथा दृष्टांतादेरपि जिगीषया ॥१९२॥

अविशेषोक्तौ हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वंतरमिति सूत्रकारवचनात् द्वित्वत्वं निग्रहस्थानं साधनांतरोपादाने पूर्वस्यासामर्थ्यख्यापनात्। सामर्थ्ये वा पूर्वस्य हेत्वंतरं व्यर्थमित्युद्योतकरो व्याचक्षाणो गतानुगतिकतामात्मसात्कुरुते प्रकारांतरेणापि हेत्वंतरवचनदर्शनात्। तथा अविशेषोक्ते दृष्टांतोपनयनिगमने प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो दृष्टांताद्यंतरोपादाने पूर्वस्यासामर्थ्यख्यापनात्। सामर्थ्ये वा पूर्वस्य प्रतिदृष्टांताद्यंतरं व्यर्थमिति वक्तुमशक्यत्वात्। अत्राक्षेपसमाधानानां समानत्वात् यदप्युपादेशिप्रकृतादर्थादप्रतिसंबंधत्वार्थमर्थांतरमभ्युपगमार्थासंगतत्वान्निग्रहस्थानमिति तदपि विचारयति–

द्वारा अनैकान्तिक हेत्वाभास के दोषों द्वारा वादी के पराजित हो जाने पर हेत्वन्तर का कथन भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि हेत्वन्तर और दृष्टान्तान्तर में कोई विशेषता नहीं है। अथवा, जैसे हेतु के दोषों का उत्थापन कर देने पर हेतु के विशेषणं लगाकर हेत्वन्तर निग्रहस्थान कहा जाता है, उसी प्रकार दृष्टान्त आदि के दोष उठाने की इच्छा से दृष्टान्तान्तर को कहना दृष्टांतान्तर निग्रह स्थान है। यह भी स्वीकार करना पड़ेगा अर्थात् दृष्टान्तान्तर भिन्न निग्रह स्थान सिद्ध हो जायेगा ॥१९०-१९१-१९२॥

विशेषता को लक्षित न कर सामान्य रूप से हेतु के कहने पर पुनः प्रतिवादी के द्वारा हेतु के प्रतिषिद्ध हो जाने पर विशेष अंश की इच्छा करने वाले वादी का हेत्वन्तर निग्रहस्थान हो जाता है। **न्यायसूत्र** कार का वचन है। यहाँ उसी हेतु में अन्य विशेषण का प्रक्षेप कर देने से अथवा अन्य नवीन हेतु का प्रयोग करने से दोनों ही हेत्वन्तर निग्रह स्थान कहे जाते हैं। अन्य साधनान्तर को ग्रहण करने पर वादी के पूर्व हेतु की असमर्थता प्रकट हो जाती है। वादी का पूर्व कथित हेतु यदि समर्थ है तो वादी का अन्य ज्ञापक हेतु उठाना व्यर्थ हो जाता है। इस प्रकार कहने वाले ***उद्योतकर*** *गतानुगतिकता (देखादेखी) आत्मसात् कर रहा है,* क्योंकि अन्य प्रकार से भी हेत्वन्तर का वचन (कथन) देखा जाता है।

तथा हेत्वन्तर के समान वादी के द्वारा अविशेष रूप से दृष्टान्त उपनय और निगमन के कथन का निषेध कर देने पर पुनःदृष्टान्त आदि में विशेषणों की इच्छा रखने वाले वादी के द्वारा अन्य दृष्टान्त उपनय आदि को ग्रहण करने पर पूर्वकथित दृष्टान्त आदि की असामर्थ्य को प्रकट कर देने से वादी का निग्रह स्थान हो जाता है। अथवा पूर्वकथित दृष्टान्त आदि की योग्य सामर्थ्य होने पर पुनः वादी द्वारा प्रतिदृष्टान्तान्तर का कथन करना व्यर्थ हो जाता है। ऐसा भी कहा जा सकता है। इसमें आक्षेप और समाधान समान हैं। अर्थात् हेत्वन्तर निग्रह स्थान के समान दृष्टान्तान्तर आदि निग्रहस्थान भी हो सकते हैं। इनमें कोई विशेषता नहीं है।

अब **न्याय दर्शन** में **गौतम ऋषि** ने जो 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान का लक्षण करते समय कहा था कि प्रकरण अर्थ से असम्बद्ध (प्रकरण के साथ सम्बन्ध नहीं रखने वाले) अर्थ का कथन करना 'अर्थान्तर' नामक निग्रह स्थान है। अतः प्रकरण प्राप्त अर्थ की उपेक्षा कर प्रकृत में जिसकी अपेक्षा नहीं है उस अर्थ का कथन करना अर्थान्तर है। इसमें स्वीकृत अर्थ की असंगति होने से निग्रह स्थान माना गया है। इसी को

प्रतिसंबंधशून्यानामर्थानामभिभाषणम्। यत्पुनः प्रकृतादर्थादर्थांतरसमाश्रितम् ॥१९३॥
क्वचित्किंचिदपि न्यस्य हेतुं तच्छब्दसाधने। पदादिव्याकृतिं कुर्याद्यथानेकप्रकारतः ॥१९४॥
तत्रापि साधनेशक्ते प्रोक्तेर्थांतरवाक् कथम्। निग्रहो दूषणे वापि लोकवद्विनियम्यते ॥१९५॥
असमर्थे तु तत्र स्यात्कस्यचित्पक्षसाधने। निग्रहार्थांतरं वादे नान्यथेति विनिश्चयः ॥१९६॥

निरर्थकं विचारयितुमारभते–

वर्णक्रमस्य निर्देशो यथा तद्वन्निरर्थकं। (कथं) यथा जबझभेत्यादेः प्रत्याहारस्य कुत्रचित् ॥१९७॥

आचार्य कहते हैं- जो प्रकरण प्राप्त अर्थ से प्रतिकूल अर्थान्तर से आश्रित है तथा विद्वानों के प्रति सम्बन्ध से शून्य अर्थों का प्ररूपक है वह अर्थान्तर है। जैसे किसी पक्ष में किसी भी साध्य को स्थापित कर वादी द्वारा विवक्षित हेतु कहा गया है।

ऐसे अवसर पर वादी उस हेतु शब्द के सिद्ध करने में पद, कारक, धात्वर्थ आदि का अनेक प्रकारों से व्युत्पादन करने लगता है वा व्युत्पादन करता है अर्थात् स्वादिगण की "हि गतौ बुद्धौ च" धातु से 'तुन्' प्रत्यय करने पर कृदन्त में हेतु शब्द निष्पन्न होता है। सुबन्त और तिङन्त ये दो पद होते हैं। उपसर्ग क्रिया के अर्थ का द्योतक है। इत्यादि अप्रकृत बातों का कथन करना वादी का निरर्थक निग्रहस्थान हो जाता है, क्योंकि वादी प्रतिवादियों को न्यायपूर्वक सार्थक प्रकृतोपयोगी वाक्य कहने चाहिए। प्रकरण को छोड़कर हेतु शब्द 'हिनोति' धातु से तु प्रत्यय करने पर बनता है। इत्यादि कहना अर्थान्तर निग्रह स्थान है ॥१९३-१९४॥

अर्थान्तर नामक निग्रह स्थान के प्रकरण में वादी के द्वारा साध्य को साधने में समर्थ साधन (हेतु) के कह देने पर पुनः यदि वादी अप्रकृत (अप्रकरण) की वार्त्ता कहता है तो वह वादी का अर्थान्तर नामक निग्रह स्थान कैसे हो सकता है? अथवा वादी के द्वारा साध्य की सिद्धि के लिए असमर्थ हेतु का कथन करने पर पुनः असम्बद्ध कथन करना अर्थान्तर निग्रह क्यों कहा जाता है? वा वादी के किसी पक्ष के साधन में प्रतिवादी के द्वारा समर्थ दूषण देने पर निग्रह स्थान कहलाता है। वा असमर्थ दूषण देने पर निग्रह स्थान कहलाता है। जैसे कि लोक में स्वकीय कार्य को सिद्ध करने के लिए कुछ भी किया जा सकता है। अर्थात् लौकिक व्यवस्था के अनुसार विशेष रूप से नियम किया जाता है, तब तो निग्रहस्थान नहीं हो सकता।

वादी या प्रतिवादी द्वारा असमर्थ साधन या दूषण कहने पर तो किसी का भी वह निग्रहस्थान नहीं होगा। वाद में किसी भी एक के पक्ष की सिद्धि हो जाने पर दूसरे असम्बद्ध भाषी का अर्थान्तर निग्रह स्थान होगा। अन्य प्रकारों से निग्रहस्थान हो जाने की व्यवस्था नहीं है। इस प्रकार पूर्व प्रकरण में इसका निश्चय किया है ॥१९५-१९६॥

अब निरर्थक नामक निग्रहस्थान का विचार करते हैं -

जैसे क ख ग घ आदि वर्णमाला के अक्षरों के क्रम का निर्देश करना निरर्थक है, उसी प्रकार निष्प्रयोजन अक्षरों का प्रयोग करने से प्रतिपादक का निरर्थक नामक निग्रह स्थान हो जाता है। जैसे कि किसी स्थल पर शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिए व्याकरण के "ज ब ग ड द श, झ भ घ, ढ ध ष अल् हल् जश आदि प्रत्याहारों का निरूपण करने वाला पुरुष निग्रहीत (पराजित) हो जाता है ॥१९७॥

यदुक्तं वर्णक्रमो निर्देशवन्निरर्थकं। तद्यथा–नित्यः शब्दो जबगडदशस्त्वाञ्झभघढधष्वदिति॥

तत्सर्वथार्थशून्यत्वात् किं साध्यानुपयोगतः। द्वयोरादिविकल्पोत्रासंभवादेव तादृशः॥१९८॥
वर्णक्रमादिशब्दस्याप्यर्थवत्त्वात्कथंचन। तद्विचारे क्वचिदनुत्कार्येणार्थेन योगतः॥१९९॥
द्वितीयकल्पनायां तु सर्वमेव निरर्थकम्। निग्रहस्थानमुक्तं स्यात्सिद्धवन्नोपयोगवत्॥२००॥
तस्मान्नेदं पृथग्युक्तं कक्षापिहितकादिवत्। कथाविच्छेदमात्रं तु भवेत्पक्षांतरोक्तिवत्॥२०१॥

तथाहि–ब्रुवन्न साध्यं न साधनं जानीते असाध्यसाधनं चोपादत्ते इति निगृह्यते स्वपक्षं साधयतान्येन नान्यथा, न्यायविरोधात्। यदप्युक्तं, "परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थं भाष्ये चोदनाहतमसामर्थ्यं च संवरणान्निग्रहस्थानं ससामर्थ्यं चाज्ञानमिति, तदिह विचार्यते–

न्याय दर्शन म **गौतम ऋषि** ने कहा है कि वर्णों के क्रम का नाम मात्र कथन करने के समान निरर्थक नामक निग्रहस्थान है, जैसे शब्द (पक्ष) नित्य है (साध्य) ज ब ग ड़ दश्पना होने से (हेतु) झ भ घ ढ ध ष के समान (दृष्टान्त)। इस कथन में वाच्य-वाचक भाव नहीं होने से अर्थज्ञान नहीं होता है। और अर्थज्ञान नहीं होने से वादी स्वयमेव निग्रहस्थान को प्राप्त हो जाता है।

जैनाचार्य कहते हैं कि निरर्थक निग्रहस्थान सर्वथा अर्थशून्य होने से वक्ता का निग्रह करता है? अथवा प्रकृत साध्य के साधन में उपयोगी नहीं होने से निरर्थक वचन वक्ता का निग्रह करता है?

इन दोनों विकल्पों में प्रथम विकल्प (सर्वथा अर्थशून्यता) तो संभव नहीं है- क्योंकि वैसे जगत् में सभी अर्थों में शून्य शब्दों का होना असंभव है। वर्णक्रम (रुदन पठन) आदि शब्दों के भी किसी अपेक्षा अर्थसहितपना है। सूक्ष्म दृष्टि से उसका विचार करने पर क्वचित् अनुकरण कराना रूप अर्थ की अपेक्षा सभी शब्द अर्थवान हैं। किसी-न-किसी रूप से सभी शब्दों का अर्थ के साथ योग रहता ही है अर्थात् अर्थ से सर्वथा शून्य कोई शब्द ही नहीं है॥१९८-१९९॥

दूसरे पक्ष की, साध्य के साधन में निरुपयोगी होने से निरर्थक शब्द वक्ता का निग्रह करने वाले हैं, इस पक्ष की कल्पना करने पर सर्व निग्रह स्थान निरर्थक निग्रह स्थान हो जायेंगे। क्योंकि निरर्थक निग्रह स्थान के समान प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञासंन्यास, प्रतिज्ञानन्तर आदि सभी निग्रहस्थान साध्य के साधन में अनुपयोगी होने से सभी निग्रह स्थानों का निरर्थक निग्रहस्थान में अन्तर्भाव हो जायेगा। इसलिए निरर्थक निग्रह स्थान को पृथक् मानना युक्तिसंगत नहीं है। जैसे कांछ ढकना, कंपना, हाथ फटकारना आदि पृथक् निग्रह स्थान नहीं हैं। पक्षान्तर के कथन के समान इस निरर्थक निग्रह स्थान से वाद कथा का केवल विच्छेद हो सकता है। वादी एवं प्रतिवादी की जय, पराजय नहीं हो सकती॥२००-२०१॥

तथाहि (अनुमान वाक्य से इसको सिद्ध करते हैं) निरर्थक शब्दों को कहने वाला मानव साध्य और साधन को नहीं जानता है। जो वचन साध्य के साधक नहीं हैं वे सर्व निरर्थक हैं। अतः उनका कथन करने वाला निग्रहस्थान को प्राप्त हो जाता है। परन्तु जो वादी या प्रतिवादी स्वकीय पक्ष को सिद्ध कर चुका है वह दूसरे के द्वारा निग्रह स्थान को प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि पक्ष की सिद्धि कर देने पर भी यदि निग्रहस्थान कहा जावेगा तो न्यायग्रन्थों से विरोध को प्राप्त होगा।

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरुक्तमपि वादिना। अविज्ञातमविज्ञातार्थं तदुक्तं जडात्मभिः ॥२०२॥
यदा मंदमती तावत्परिषत्प्रतिवादिनौ। तदा सत्यगिरोपेते निग्रहस्थानमापयेत् ॥२०३॥
यदा तु तौ महाप्राज्ञौ तदा गूढाभिधानतः। द्रुतोच्चारादितो वा स्यात्तयोरनवबोधनम् ॥२०४॥
प्राग्विकल्पे कथं युक्तं तस्य निग्रहणं सताम्। पत्रवाक्यप्रयोगेपि वक्तुस्तदनुषंगतः ॥२०५॥

अब **अविज्ञातार्थ** निग्रह स्थान का विचार करते हैं -

न्याय दर्शन में **गौतम ऋषि** ने जो अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान का लक्षण कहा था कि वादी के द्वारा तीन बार कहने पर भी यदि सभासद तथा प्रतिवादी के वह पक्ष हेतु समझ में नहीं आता है तो वादी का अविज्ञातार्थ नामक निग्रह स्थान हो जाता है (कहा जाता है)। **न्याय भाष्य** में उदाहरण देकर कहा है कि वादी के द्वारा तीन बार कथित वाक्य को यदि प्रतिवादी और सभासद नहीं समझते हैं तो वह वादी का अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान है। अथवा अत्यन्त शीघ्र - शीघ्र उच्चारण करना वा विजय प्राप्ति की इच्छा से गूढ़ अर्थ वाले पदों का प्रयोग करना इत्यादि कारणों से अपने असामर्थ्य को छिपा देने का कुत्सित प्रयोग करने पर वादी का अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान होता है।

यदि वादी साध्य को साधने में समर्थ है तो भी गूढ़ पद प्रयोग करने से या शीघ्र बोलने से उसका अज्ञान समझा जाता है। इस प्रकरण में उस अविज्ञातार्थ का आचार्य विचार करते हैं -

ज्ञान से सर्वथा भिन्न जड़ स्वरूप आत्मा को मानने वाले नैयायिकों के द्वारा जो अविज्ञात अर्थ का लक्षण कहा गया था कि वादी के द्वारा तीन बार किसी वस्तु के लक्षण का कथन करने पर भी यदि सभासद और प्रतिवादी के समझ में नहीं आया हो तो इससे वादी का अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान हो जाता है। इसी प्रकार प्रतिवादी के द्वारा तीन बार कहने पर वादी और सभासदों के समझ में नहीं आता है तो प्रतिवादी का अविज्ञातार्थ नामक निग्रह स्थान हो जाता है। जब सभासद और प्रतिवादी मंद बुद्धि के धारक हैं, तब तो सत्य वचन बोलने वाले वादी में (वा वादी के) भी निग्रहस्थान प्राप्त करा देंगे; वादी की पराजय करा देंगे। अर्थात् मूर्ख लोगों की सभा में विद्वान् भी पराजय को प्राप्त हो जाता है। महापंडित भी मूर्खों के द्वारा जीत लिया जाता है॥२०२-२०३॥

जब सभासद और प्रतिवादी महाप्राज्ञ (बुद्धिमान) हैं, तब वादी के द्वारा गूढ़ पदों का प्रयोग करने से अथवा शीघ्र उच्चारण करने से उन दोनों को ज्ञान नहीं हो रहा है (वे समझ नहीं पा रहे हैं), तो प्रथम विकल्प में (वादी के द्वारा गूढ़ प्रयोग करने के कारण) तो सज्जन पुरुषों के सम्मुख वादी का निग्रह (पराजय) कैसे युक्त हो सकता है? अर्थात् वादी की पराजय नहीं हो सकती। क्योंकि गूढ़ पद के प्रयोग करने पर प्रतिवादी अर्थ को नहीं समझ पाता है इससे यदि वादी का निग्रह किया जायेगा तो पत्रवाक्य के प्रयोग में भी वक्ता के निग्रह स्थान का प्रसंग आयेगा। परन्तु जहाँ गूढ़ पदों को पत्र में लिख कर शास्त्रार्थ किया जाता है, वहाँ गूढ़ अर्थ प्रतिवादी की समझ में नहीं आता है तो वादी का निग्रहस्थान नहीं हो सकता॥२०४-२०५॥

पत्रवाक्यं स्वयं वादी व्याचष्टेन्यैरनिश्चितम्। यथा तथैव व्याचष्टां गूढोपन्यासमात्मनः ॥२०६॥
अव्याख्याने तु तस्यास्तु जयाभावो न निग्रहः। परस्य पक्षसंसिद्ध्यभावादेतावता ध्रुवम् २०७
द्रुतोच्चारादितस्त्वेताः कथंचिदवगच्छतः। सिद्धांतद्वयतत्त्वज्ञैस्ततो नाज्ञानसंभवः ॥२०८॥
वक्तुः प्रलापमात्रे तु तयोरनवबोधनम्। नाविज्ञातार्थमेतत्स्याद्वर्णानुक्रमवादवत् ॥२०९॥

ततो नेदमविज्ञातार्थं निरर्थकाद्विद्यते नाप्यपार्थकमित्याह–

प्रतिसंबंधहीनानां शब्दानामभिभाषणं। पौर्वापर्येण योगस्य तत्राभावादपार्थकम् ॥२१०॥
दाडिमानि दशेत्यादिशब्दवत्परिकीर्तनम्। ते निरर्थकतो भिन्नं न युक्त्या व्यवतिष्ठते ॥२११॥

यदि वादी अन्य विद्वानों के द्वारा अनिश्चित पत्रवाक्य का जैसे व्याख्यान करता है, उसी प्रकार वादी गूढ़ पदों का व्याख्यान कर देता है। जैनाचार्य कहते हैं कि गूढ़ पद का प्रयोग करके वादी किसी कारणवश उस गूढ़ शब्द का व्याख्यान नहीं करता है तो उस वादी की पराजय हो सकती है, परन्तु इस प्रकार गूढ़ पदों का उच्चारण करने वाले विद्वान् का निग्रहस्थान नहीं हो सकता। क्योंकि गूढ़ अर्थ का उच्चारण करने पर प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि का अभाव है। तथा परपक्ष की सिद्धि के अभाव में वादी का निग्रहस्थान नहीं हो सकता। अर्थात् गूढ़ अर्थ का प्रयोग करने पर यदि प्रतिवादी और सभासदों को समझ में नहीं आता है तो वादी अविज्ञात नामक निग्रहस्थान को प्राप्त नहीं होता है॥२०६-२०७॥

यदि वादी के द्वारा शीघ्र उच्चारण करना वा श ष स एवं ड ल व ब त र आदि का विवेक न करके शकृत् का सकृत उच्चारण करना, दाँत नहीं होने से स्पष्ट नहीं बोल पाना आदि कारणों से यदि प्रतिवादी और सभासद कुछ स्वल्प समझ पाते हैं, पूर्ण रूप से समझ नहीं पाते हैं। क्योंकि सभासद लोग वादी और प्रतिवादी दोनों के सिद्धान्त तत्त्वों के ज्ञाता होते हैं। अतः सभासदों के द्वारा वादी के अभिप्रेत अर्थ का अज्ञान होना संभव नहीं॥२०८॥

वक्ता (वादी) के प्रलाप मात्र (व्यर्थ वचनों का प्रयोग) करने पर प्रतिवादी और सभासदों को वादी के द्वारा कथित अर्थ का ज्ञान नहीं होना अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान नहीं है। जैसे कि ज ब ग ड़ द श आदि वर्णों के अनुक्रम का निर्देश करके व्यर्थ कथन करने वाले वादी का अविज्ञातार्थ नामक निग्रह स्थान नहीं होता है॥२०९॥ इसलिए अविज्ञातार्थ नामक निग्रह स्थान को मानना उपयुक्त नहीं है।

इसलिए अविज्ञातार्थ नामक निग्रह स्थान निरर्थक निग्रहस्थान से भिन्न नहीं है तथा अपार्थक नामक निग्रह स्थान भी निरर्थक निग्रहस्थान से भिन्न नहीं है। उसी को आचार्य कहते हैं -

पूर्वापर के साथ योग का अभाव होने से अर्थ सम्बन्धहीन शब्दों का कथन करना अपार्थक नामक निग्रह स्थान है, जैसे दश अनार हैं, छह रोटी हैं, इत्यादिक शब्द बोलने के समान असंगत शब्दों का उच्चारण करना वादी का अपार्थक नामक निग्रहस्थान है। वह अपार्थक नामक निग्रहस्थान भी युक्तिपूर्वक विचार करने पर निरर्थक निग्रहस्थान से पृथक्भूत व्यवस्थित नहीं हो सकता॥२१०-२११॥

नैरर्थक्यं हि वर्णानां यथा तद्वत्पदादिषु। नाभिद्येतान्यथा वाक्यं नैरर्थक्यं ततोपरम् ॥२१२॥

न हि परस्परमसंगतानि पदान्येव न पुनर्वाक्यानीति शक्यं वक्तुं, तेषामपि पौर्वापर्येणापि प्रयुज्यमानानां बहुलमुपलंभात्। "शंखः कदल्यां कदली च भेर्यां तस्यां च भेर्यां सुमहद्विमानं। तच्छंखभेरी कदली विमानमुन्मत्तगंगाप्रतिमं बभूव ॥" इत्यादिवत्। यदि पुनः पदनैरर्थक्यमेव वाक्यनैरर्थक्यं पदसमुदायत्वाद्वाक्यस्येति मतिस्तदा वर्णनैरर्थक्यमेव पदनैरर्थक्यमस्तु वर्णसमुदायत्वात्पदस्येति मन्यतां, वर्णानां सर्वत्र निरर्थकत्वात्पदस्य निरर्थकत्वप्रसंग इति चेत्, पदस्यापि निरर्थकत्वात्तत्समुदायात्मनो वाक्यस्यापि निरर्थकत्वानुषंगः। पदार्थापेक्षया सार्थकं पदमिति चेत्, वर्णार्थापेक्षया वर्णः सार्थकोस्तु। प्रकृतिप्रत्ययादिवर्णवत् न प्रकृतिः केवला पदं प्रत्ययो वा, नापि तयोरनर्थकत्वमभिव्यक्तार्थाभावादनर्थकत्वे पदस्याप्यनर्थकत्वं। यथैव हि प्रकृत्यर्थः प्रत्ययेनाभिद्यते

जिस प्रकार निरर्थक निग्रहस्थान में ज ब ग ड़ आदि वर्णों का निरर्थकपना है, उसी प्रकार यहाँ पद आदि में भी वर्णों के समुदाय पदों का साध्य उपयोगी अर्थ से रहित है। अतः निरर्थक निग्रहस्थान से पृथक् अपार्थक नामक निग्रहस्थान नहीं है। अन्यथा (वर्णों की निरर्थकता से पदों की निरर्थकता को पृथक् निग्रह स्थान माना जायेगा तब तो) उससे पृथक् वाक्यों का निरर्थकपना स्वरूप वाक्य नैरर्थक्य नामक निग्रह स्थान भी पृथक् मानना पड़ेगा, जो नैयायिकों के सिद्धान्त में पृथक्भूत नहीं माना है, अर्थात् नैयायिकों ने वाक्यनैरर्थक्य नामक निग्रह स्थान नहीं माना है॥२१२॥

परस्पर संगति नहीं रखने वाले पद होते हैं और परस्पर असम्बद्ध वाक्य नहीं होते हैं - ऐसा भी कहना शक्य नहीं है, क्योंकि पूर्वापर सम्बन्ध रहित प्रयोग किये गए बहुत से वाक्यों की उपलब्धि होती है। जैसे शंख केले में है और नगाड़े में केला है। उस भेरी में सुमहद् विमान है। शंख, भेरी, केला, विमान, उन्मत्त, गंगा समान होते हैं। इस प्रकार और भी अनेक वाक्य परस्पर सम्बन्ध रहित होते हैं। यदि कहो कि पदों का निरर्थकपना ही वाक्यों का निरर्थकपना है, क्योंकि पदों का समुदाय ही वाक्य होता है। इसलिए अपार्थक से भिन्न वाक्य निरर्थक नामक निग्रहस्थान नहीं है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो वर्णों का निरर्थकपना ही पद का निरर्थकपना हो जायेगा। क्योंकि वर्णों का समुदाय ही पद है। ऐसा मानना चाहिए। इसलिए निरर्थक निग्रहस्थान से भिन्न अपार्थक निग्रहस्थान नहीं मानना चाहिए।

"क ख" आदि अकेले वर्ण निरर्थक होते हैं, इसलिए निरर्थक वर्णों के समुदाय रूप पद के भी निरर्थक होने का प्रसंग आता है। ऐसा कहने पर तो "वस्त्रं या आनय" आदि पदों के भी निरर्थकपना होने से उन पदों के समुदाय रूप वाक्य को भी निरर्थकपने का प्रसंग आयेगा। "पद के अर्थ की अपेक्षा पद सार्थक है" ऐसा कहने पर तो वर्णार्थ की अपेक्षा वर्ण सार्थक हो सकता है। अर्थात् एकाक्षरी कोश के अनुसार एक वर्ण का भी अर्थ प्रसिद्ध है। जैसे "ई" लक्ष्मी, "अ" ब्रह्मा इत्यादि। तथा जैसे प्रकृति, प्रत्यय आदि वर्णों का अर्थ भिन्न है। अर्थात् - जैसे घट प्रकृति का अर्थ कम्बु ग्रीवादिमान व्यक्ति है और "सि" विभक्ति का अर्थ एकत्व संख्या है। गम्लृ प्रकृति का अर्थ "गमन" है। तिप् का अर्थ एकत्व स्वतंत्र कर्ता है। इसलिए वर्ण भी अपना स्वतंत्र अर्थ रखता है।

प्रत्ययार्थः स्वप्रकृत्या तयोः केवलयोरप्रयोगार्हत्वात्। तथा देवदत्तस्तिष्ठतीत्यादिप्रयोगेषु सुबंतपदार्थस्य तिङंतपदेनाभिव्यक्तेः तिङंतपदार्थस्य च सुबंतपदेनाभिव्यक्तेःकेवलस्याप्रयोगार्हत्वादभिव्यक्तार्थाभावो विभाव्यत एव। पदांतरापेक्षत्वे सार्थकत्वमेवेति तत्प्रकृत्यपेक्षस्य प्रत्ययस्य तदपेक्षस्य च प्रकृत्यादिवत्स्वस्य सार्थकत्वं साधयत्येव सर्वथा विशेषाभावात्। ततो वर्णानां पदानां च संगतार्थानां निरर्थकत्वमिच्छता वाक्यानामप्यसंगतार्थानां निरर्थकत्वमेषितव्यं। तस्य ततः पृथक्त्वेन निगृह्णन् स्थानत्वानिष्टौ वर्णपदनिरर्थकत्वयोरपि तथा निग्रहाधिकरणत्वं मा भूत्। यदप्युक्तं, अवयवविपर्यासं वचनमप्राप्तकालं अवयवानां प्रतिज्ञादीनां विपर्ययेणाभिधानं निग्रहस्थानमिति। तदपि न सुघटमित्याह–

केवल प्रकृति, पद और प्रत्यय का कथन नहीं होता है। अर्थात्-प्रत्यय के प्रयोग बिना अकेली प्रकृति का उच्चारण नहीं हो सकता। तथा प्रकृति निरपेक्ष पद और प्रत्यय का भी उच्चारण नहीं हो सकता। केवल बालकों को समझाने के लिए ही कहा जाता है घट प्रकृति है, 'सि' प्रत्यय है और घटः यह पद है। घटं आनय - यह वाक्य है।

प्रकृति और प्रत्यय का अकेला उच्चारण न होने से इनका कथन निरर्थक भी नहीं है।

यदि अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होने से केवल प्रकृति या प्रत्यय अर्थशून्य है - ऐसा कहोगे तो केवल पद भी अनर्थक हो जायेगा।

जिस प्रकार प्रत्यय के द्वारा प्रकृति का अर्थ प्रकट होता है, और स्वकीय प्रकृति से प्रत्यय का अर्थ व्यक्त होता है। अर्थात् - तिप् प्रत्यय से पठ् धातु का अर्थ पढ़ना प्रकट हो जाता है और पठ् धातु से 'तिप्' प्रत्यय का अर्थ कर्त्ता एकवचन वर्तमान काल यह व्यक्त होता है। इसलिए केवल प्रत्यय या प्रकृति का प्रयोग करना युक्त नहीं है। तथा प्रकृति और प्रत्यय के समान ही देवदत्त बैठा है, वह लिखता है - इत्यादि प्रयोगों में 'सुबन्त' पद के अर्थ की तिङन्त के द्वारा अभिव्यक्ति होने से और ''तिङन्त'' पद के अर्थ की 'सुबन्त' के द्वारा अभिव्यक्ति होने से केवल तिङन्त या केवल अकेले सुबन्त का प्रयोग करना भी योग्य (उचित) नहीं है। केवल 'सुबन्त' या ''तिङन्त'' पद का अर्थ प्रकट नहीं है, यह भी जान लिया जाता है। पद के अभिव्यक्त अर्थ का अभाव है, यह जान लिया जाता है।

यदि कहो कि अन्य पद की अपेक्षा रखने से सार्थक है,तब तो हम भी कह सकते हैं कि इस प्रकार तो प्रकृति की अपेक्षा प्रत्यय को और प्रत्यय की अपेक्षा रखने वाला प्रकृति आदि के समान स्वके ही सार्थकपना सिद्ध कर देता है। इन दोनों में सर्वथा विशेषता का अभाव ही है।

भावार्थ - परस्पर में अपेक्षा रखने वाले प्रत्यय और प्रकृति के समान एक पद को भी दूसरे पद की अपेक्षा रखना अनिवार्य है। इसलिए असंगत वर्ण और पदों को निरर्थक चाहने (कहने) वाले नैयायिकों को असंगत अर्थ वाले (परस्पर निरपेक्ष वर्ण वाले) वाक्यों को भी निरर्थक स्वीकार करना चाहिए। यदि नैयायिक उस असंगत अर्थ वाले वाक्यों के निरर्थकत्व को अपार्थक निग्रहस्थान से भिन्न दूसरा निग्रह स्थान इष्ट नहीं करेंगे, तो वर्णों का निरर्थकपना और पदों के निरर्थकपने के भी अपार्थक से भिन्नत्व निग्रहाधिकरणत्व नहीं हो सकता।

जो भी नैयायिक ने ''प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन रूप अवयवों का विपरीत रूप से कथन करना अवयव विपर्यास वचन अप्राप्त काल निग्रहस्थान है''-ऐसा कहा है, वह भी सुघट नहीं है (घटित नहीं होता है)। इसी को **विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं -

संधाद्यवयवान्यायाद्विपर्यासेन भाषणम्। अप्राप्तकालमाख्यातं तच्चायुक्तं मनीषिणाम्।२१३॥
पदानां क्रमनियमं विनार्थाध्यवसायतः। देवदत्तादिवाक्येषु शास्त्रेष्वेवं विनिर्णयात् ॥२१४॥
यथापशब्दतः शब्दप्रत्ययादर्थनिश्चयः। शब्दादेव तथाश्वादिव्युत्क्रमाच्च क्रमस्य वित् २१५॥
ततो वाक्यार्थनिर्णीतिः पारंपर्येण जायते। विपर्यासात्तु नैवेति केचिदाहुस्तदप्यसत् ॥२१६॥
व्युत्क्रमादर्थनिर्णीतिरपशब्दादिवेत्यपि। वक्तुं शक्तेस्तथा दृष्टेः सर्वथाप्यविशेषतः ॥२१७॥

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि अवयवों के कथन करने के न्याय मार्ग से विपरीत कथन करना अप्राप्त काल नामक निग्रहस्थान कहा था। परन्तु वह निग्रहस्थान न्याय बुद्धि के धारक बुद्धिमानों के सम्मुख अयुक्त है (उचित नहीं है)। क्योंकि पदों के क्रम के नियम के बिना भी अर्थ का निर्णय हो जाता है। जैसे देवदत्तादि लौकिक वाक्यों में पदों का क्रम भंग हो जाने से अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाती है। इसी प्रकार शास्त्रीय वाक्योंमें भी अनुमान के अवयवों के क्रम का भंग होने से अर्थ का निर्णय हो जाता है।

भावार्थ - जैसे लौकिक वाक्य में "राम वन को जाते हैं", "जाते हैं राम वन को" "राम जाते हैं वन को" इत्यादि क्रम को भंग करके (भी) वाक्यों का उच्चारण करने पर भी यह निश्चय होता है कि 'राम वन को जाते हैं।' इसी प्रकार शास्त्रार्थ में भी "पर्वत अग्निवाला है धुआँ वाला होने से", "धुआँ वाला होने से पर्वत अग्नि वाला है" इस प्रकार प्रतिज्ञा हेतु आदि का क्रमभंग हो जाने पर भी अर्थ का विशेष रूप से निर्णय हो जाता है। जैसे पद्यात्मकछन्दों को क्रम वा अक्रम से सुनकर संगत अर्थ की शीघ्र ही प्रतिपत्ति हो जाती है। अतः अप्राप्त काल नामक निग्रहस्थान सिद्ध नहीं होता है॥२१३-२१४॥

जिस प्रकार अप (अशुद्ध या अपभ्रष्ट) शब्द से समीचीन शब्दों का ज्ञान होकर पुनः शुद्ध शब्द प्रत्यय से जो अर्थ का निश्चय होता है, उसे शुद्ध शब्दों से ही वाक्यार्थ का ज्ञान हुआ है - ऐसा मानना चाहिए। अर्थात् जैसे कुक्कुर, गैया आदि अपभ्रंश शब्द सुनकर कुत्ता तथा गाय शब्द की प्रतिपत्ति हो जाती है, उसी प्रकार अश्व, जिनदत्त आदि पदों के अक्रम से उच्चारण करने पर भी पदों के क्रम का ज्ञान हो जाता है और तदनन्तर परम्परा से वाक्य के अर्थ का निर्णय हो जाता है। पदों की विपरीतता से किसी भी वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती है। ऐसा कोई (नैयायिक) कहते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि नैयायिक का यह कथन समीचीन नहीं है॥२१५-२१६॥

जैसे क्रम रहित अपशब्द से असभ्य पुरुषों को अर्थ का निर्णय हो जाता है, उसी प्रकार कर्त्ता, कर्म, या प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन का क्रम से उच्चारण नहीं होने पर अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाती है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा हम कह सकते हैं। क्योंकि उच्चारित किये गये जिस शब्द से जिस अर्थ में प्रतीति होती देखी जाती है, वही शब्द उसका वाचक है, अन्य नहीं। अतः जैसे क्रम से प्रतिज्ञा आदि उच्चारण करने से जैसे अर्थ की प्रतीति होती है, वैसे ही अक्रम उच्चारण करने से होती है। क्योंकि इन दोनों में (क्रम से उच्चारण और अक्रम से उच्चारण) सर्वथा अविशेषता (कोई विशेषता नहीं) है। अथवा शास्त्रीय प्रयोग में और लौकिक प्रयोग में सर्वथा कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् धूमात् वह्निवान् पर्वतः, वह्निवान् पर्वतो धूमात्, खा लो रोटी वा रोटी खा लो - इत्यादि वाक्यों में पदों का क्रम से विन्यास नहीं होते हुए भी अर्थबोध समीचीन होता है॥२१७॥

शब्दाद्व्याख्यानवैयर्थ्यमेवं चेत्तत्त्ववादिनाम्। नापशब्देष्वपि प्रायो व्याख्यानस्योपलक्षणात् ॥२१८॥
यथा च संस्कृताच्छब्दात्सत्याद्धर्मस्तथान्यतः। स्यादसत्यं यदा धर्मः क्व नियमः पुण्यपापयोः ॥२१९॥
वृद्धप्रसिद्धितस्त्वेष व्यवहारः प्रवर्तते। संस्कृतैरिति सर्वापशब्दैर्भाषास्वनैरिव ॥२२०॥
ततोर्थनिश्चयो येन पदेन क्रमशः स्थितः। तद्व्यतिक्रमणाद्दोषो नैरर्थक्यं न चापरम् ॥२२१॥

एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं। यदाहोद्योतकरः, "यथा गौरित्यस्य पदस्यार्थे गौणीति प्रयुज्यमानं पदं न वक्त्रादिमंतमर्थं प्रतिपादयतीति न शब्दाद्व्याख्यानं व्यर्थं अनेनापशब्देनासौ गोशब्दमेव प्रतिपद्यते गोशब्दाद्वक्त्रादिमंतमर्थं तथा प्रतिज्ञाद्यवयवविपर्ययेणानुपूर्वीं प्रतिपद्यते तयानुपूर्व्यार्थमिति। पूर्वं हि तावत्कर्मोपादीयते लोकेततोधिकरणादि मृत्पिंडचक्रादिवत्। तथा नैवायं समयोपि त्वर्थस्यानुपूर्वी।" सोयमर्थानुपूर्वीमन्वाचक्षाणो नाम व्याख्येयात् कस्यायं समय इति। तथा शास्त्रे वाक्यार्थसंग्रहार्थमुपादीयते संगृहीतं त्वर्थं वाक्येन प्रतिपादयिता प्रयोगकाले प्रतिज्ञादिकयानुपूर्व्या प्रतिपादयतीति सर्वथानुपूर्वीप्रतिपादना-

---

नैयायिक कहते हैं कि शब्द आदि से अप शब्द का स्मरण करके अर्थज्ञान कर लेने पर तो तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाले विद्वानों को पुनः समीचीन शब्दों के द्वारा व्याख्या करना, अथवा पुनः पुनः कथन स्वरूप अन्वाख्यान (श्लोक का अन्वयार्थ) करना (क्रम से शब्दों के अर्थ को समझाना आदि) व्यर्थ होंगे। अतः क्रम से ही शब्दों की प्रतिपत्ति होती है। इसके प्रत्युत्तर में जैन आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि अशुद्ध वा अक्रम शब्दों में भी प्रायः करके व्याख्यान (समीचीन अर्थ) का होना देखा जाता है अर्थात् जैसे ग्रामीण जनों को म्लेच्छ भाषा में ही समझाया जाता है॥२१८॥

जिस प्रकार संस्कारयुक्त सत्य शब्दों से धर्म होता है, वैसे ही अन्य ग्रामीण शब्दों से भी पुण्य होता है। जैसे असत्य संस्कृत शब्दों के उच्चारण से पाप होता है वैसे ही असत्य असभ्य ग्रामीण शब्दों के उच्चारण से पाप होता है। अतः संस्कृत शब्द के उच्चारण से पुण्य और असंस्कृत शब्द के उच्चारण से पाप होता है- यह नियम कहाँ रहा? अर्थात् - शब्द पुण्य, पाप के कारण हैं - यह नियम नहीं है। क्योंकि शब्दों से पुण्य, पाप की व्यवस्था मानने पर अनुष्ठान करना व्यर्थ हो जाता है॥२१९॥ तथा वृद्ध पुरुषों की प्रसिद्धि से यह व्यवहार प्रवृत्त होता है कि देशभाषा के द्वारा जैसा अर्थ का निर्णय होता है उसी प्रकार संस्कृत शब्द और सम्पूर्ण अपभ्रष्ट शब्द के द्वारा भी अर्थ की प्रतिपत्ति होती है॥२२०॥ इससे सिद्ध होता है कि जिस पद के द्वारा क्रम से उच्चारण करने पर अर्थ का निश्चय होना व्यवस्थित है, उन पदों का व्यतिक्रमण हो जाने से श्रोताओं को अर्थ का निश्चय नहीं होता है। अतः यह दोष है, परन्तु यह दोष वास्तविक नहीं है, निरर्थक है। इसलिए व्यतिक्रम दोष से भिन्न अप्राप्त काल नामक निग्रह स्थान मानने की आवश्यकता नहीं है॥२२१॥

जैनाचार्य कहते हैं कि इस कथन से **उद्योतकर** के इस कथन का भी खण्डन कर दिया है - जो **उद्योतकर** ने कहा था कि "जैसे गौ - इस संस्कृत पद के अर्थ में यदि गौणी, गाय आदि पदों का प्रयोग कर दिया जाय तो मुख, सींग आदि से सहित (या मुख सींगादिमान) अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता है। इसलिए अशुद्ध शब्द का संस्कृत शब्द से व्याख्यान करना व्यर्थ नहीं है। क्योंकि इन अपशब्दों के द्वारा उस गौ शब्द का ही प्रतिपादन किया जाता है जिससे श्रोता गौ शब्द से वदन (मुख) आदि से युक्त अर्थ को जान लेता है।

भावादेवाप्राप्तकालस्य निग्रहस्थानत्वसमर्थनादन्यथा परचोद्यस्यैवमपि सिद्धेः। समवायानभ्युपगमाद्बहुप्रयोगाच्च नैवावयवविपर्यासवचनं निग्रहस्थानमित्येतस्य परिहर्तुमशक्तेः। सर्वार्थानुपूर्वी प्रतिपादनाभावोऽवयवविपर्यासवचनस्य निरर्थकत्वान्न्याय्यः। ततो नेदं निग्रहस्थानांतरं। यच्चोक्तं हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनं। यस्मिन् वाक्ये प्रतिज्ञादीनामन्यतमावयवो न भवति तद्वाक्यं हीनं वेदितव्यं। तच्च निग्रहस्थानसाधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात् प्रतिज्ञादीनां पंचानामपि साधनत्वात्। प्रतिज्ञान्यूनं नास्तीत्येके। तत्र पर्यनुयोज्याः, प्रतिज्ञान्यूनं वाक्यं यो ब्रूते स किं निगृह्यते? अथवा नेति यदि निगृह्यते कथमनिग्रहस्थानं? न हि तत्र हेत्वादयो न संति

उसी प्रकार प्रतिज्ञा, हेतु आदि अवयवों के विपर्यास के द्वारा जहाँ अक्रम शब्दों का उच्चारण किया गया है, वह श्रोता प्रथम तो पदों का अनुक्रम बनाकर शब्दों की आनुपूर्वी को अन्वित करता हुआ जान लेता है, पश्चात् शाब्द बोध को कराने वाली उस आनुपूर्वी से प्रकृत वाच्य अर्थ को जान लेता है अर्थात् अनुक्रम से ही अर्थ का निर्णय होता है। लोक में भी यही देखा जाता है कि सर्वप्रथम कर्म को कहने वाले शब्द का ग्रहण किया जाता है, पश्चात् अधिकरण, सम्प्रदान आदि का प्रयोग होता है। जैसे घट का निर्माण करने के लिए सर्वप्रथम मिट्टी का ग्रहण होता है, पश्चात् घट के निमित्त चक्र, दंड आदि का। और इस समय भी अर्थ की आनुपूर्वी नहीं है। जैन आचार्य कहते हैं कि "अर्थ की आनुपूर्वी का शब्दों के द्वारा व्याख्यान करने वाला **उद्योतकर** जिस दार्शनिक का नाम कहते हैं, यह किसका शास्त्र है।" जो अर्थ की आनुपूर्वी के साथ ही शब्द योजना को स्वीकार करता है तथा शास्त्र में वाक्य अर्थों का संग्रह करने के लिए शब्दों को ग्रहण किया जाता है और संगृहीत अर्थ को वाक्यों के द्वारा प्रतिपादन करने वाला वक्ता प्रयोग काल में प्रतिज्ञा, हेतु आदि रूप आनुपूर्वी से प्रतिपादन करता है (समझाता है)। इसलिए सभी प्रकारों से आनुपूर्वी के प्रतिपादन का अभाव होने से ही अप्राप्त काल के निग्रह स्थान का समर्थन किया गया है। अन्यथा इस प्रकार दूसरों की शंकाओं की प्रसिद्धि होती है। तथा **शास्त्रों में ऐसा स्वीकार नहीं किया गया है कि क्रम से ही वाक्यों को बोलना चाहिए।** तथा क्रम से बोलने से बहुत शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। इसलिए अवयवों का विपर्यास रूप से कथन करना निग्रहस्थान नहीं है। इस कथन का नैयायिकों के द्वारा परिहार करना शक्य भी नहीं है।

यदि सभी प्रकारों से अर्थ की आनुपूर्वी के प्रतिपादन का अभाव है तब तो अवयवों के विपर्यास कथन के निरर्थकपने से ही वादी का निग्रहस्थान कहना न्याय से अनपेत है। उस निरर्थकपने से अप्राप्तकाल को पृथक् निग्रहस्थान मानना युक्त नहीं है। अतः अप्राप्तकाल नामक निग्रहस्थान पृथक् नहीं है।

जो नैयायिकों ने "अनुमान में नियत किये गये अवयवों में से एक भी अवयव से न्यून कहना, हीन नामक निग्रहस्थान कहा है।" जिस अनुमान वाक्य में प्रतिज्ञा आदि में से कोई भी एक अवयव नहीं कहा जाता है, उस वाक्य को हीन समझना चाहिए और निग्रहस्थान के साधन के अभाव में साध्य की सिद्धि का अभाव हो जाने से प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयवों के साधनत्व की सिद्धि हो जाती है। इसलिए, अनुमान के पाँचों अवयवों में एक अवयव के नहीं बोलने पर भी न्यूनता आ जाती है।

न च हेत्वादिदोषाः संतीति निग्रहं चाभ्युपैति। तस्मात्प्रतिज्ञान्यूनमेवेति। अथ न निग्रहः न्यूनं वाक्यमर्थं साधयतीति साधनाभावे सिद्धिरभ्युपगता भवति। यच्च ब्रवीषि सिद्धांतपरिग्रह एव प्रतिज्ञेति, तदपि न बुद्ध्यामहे। कर्मण उपादानं हि प्रतिज्ञासामान्यं विशेषतोवधारितस्य वस्तुनः परिग्रहः सिद्धांत इति कथमनयोरैक्यं, यतः प्रतिज्ञासाधनविषयतया साधनांगं न स्यादित्युद्योतकरस्याकूतं, तदेतदपि न समीचीनमिति दर्शयति–

हीनमन्यतमेनापि वाक्यं स्वावयवेन यत्। तन्न्यूनमित्यसत्स्वार्थे प्रतीतेस्तादृशादपि ॥२२२॥

यावदवयवं वाक्यं साध्यं साधयति तावदवयवमेव साधनं न च पंचावयवमेव साध्यं साधयति क्वचित्प्रतिज्ञामंतरेणापि साधनवाक्यस्योत्पत्तेर्गम्यमानस्य कर्मणः साधनात्। तथोदाहरणहीनमपि

कोई (नैयायिक) फिर भी कहते हैं कि प्रतिज्ञान्यून नामक निग्रहस्थान नहीं है। उनके प्रति प्रश्न उठता है कि जो विद्वान् प्रतिज्ञान्यून निग्रहस्थान को मानता है (कहता है) वह निग्रहस्थान को प्राप्त होता है कि नहीं? यदि वह निग्रहस्थान को प्राप्त होता है, तो प्रतिज्ञान्यून वाक्य अनिग्रहस्थान कैसे हो सकता है अर्थात् प्रतिज्ञा से न्यून कहना अवश्य वादी का निग्रह स्थान है। प्रतिज्ञा से न्यून वाक्य में हेतु उदाहरण आदि नहीं है ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि उस वाक्य में हेतु आदि प्रतीत होते हैं। इस अनुमान वाक्य में हेतु (हेत्वाभास) आदि दोष पाये जाते हैं। इसलिए वादी निग्रह को प्राप्त हो जाता है। इसलिए प्रतिज्ञान्यून ही निग्रहस्थान मानना चाहिए। यदि प्रतिज्ञान्यून वाक्य के द्वारा वादी का निग्रह नहीं माना जाता है, तो न्यून वाक्य भी अर्थ की सिद्धि कर देता है। इसलिए साधन के अभाव में भी साध्य की सिद्धि स्वीकार करनी पड़ेगी, जो न्याय नियम के विरुद्ध है। अर्थात् वाचक शब्दों के बिना वाच्य अर्थ की और साधन वाक्य के बिना साध्य अर्थ की सिद्धि किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती है। और जो तुम (बौद्ध) कहते हो कि "स्वकीय सिद्धान्त कहने का परिग्रह करना ही प्रतिज्ञा है। अतः उसको पुनःपुनः कहने की क्या आवश्यकता है? यह तुम्हारा कथन हम समझ नहीं पा रहे हैं क्योंकि सिद्धान्त का परिग्रह करना प्रतिज्ञा कैसे हो सकती है? साधने योग्य कर्म का ग्रहण करना तो नियम से प्रतिज्ञा (सामान्य) है और विशेष रूप से निर्णीत वस्तु को ग्रहण करना सिद्धान्त है। अतः इन दोनों (कर्म और सिद्धान्त में) एकत्व कैसे हो सकता है? जिससे साध्य सिद्धि का उपयोगी विषय होने से प्रतिज्ञावाक्य साध्य को साधने का अंग (कारण) भूत नहीं हो सकता। अर्थात् प्रतिज्ञा साध्यसिद्धि का अंग है। उसको नहीं कहने वाला वादी अवश्य ही पराजय को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार **उद्योतकर** विद्वान् ने प्रतिज्ञान्यून को निग्रहस्थान सिद्ध करने की चेष्टा की है।

उद्योतकर की यह चेष्टा प्रशंसनीय नहीं है, उसी को स्वयं वार्त्तिककार दिखाते हैं -

"जो वाक्य प्रतिज्ञा आदिक अवयवों में से एक भी स्वकीय अवयव से हीन होता है, वह न्यून निग्रह स्थान है।" ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार के न्यून वाक्य से भी परिपूर्ण स्वकीय अर्थ में प्रतीति होती है अर्थात् अवयवहीन हेतु से भी अनुमान की सिद्धि हो जाती है॥२२२॥

जितने अवयवों के द्वारा वाक्य प्रकृत साध्य को सिद्ध करता है, उतने ही अवयवों से युक्त वाक्य को साध्य का साधक माना जाता है। ऐसा नियम नहीं है कि पाँच अवयव वाला अनुमान ही साध्य को

साधनवाक्यमुपपन्नं साधर्म्यवैधर्म्योदाहरणविरहेपि हेतोर्गमकत्वसमर्थनात्। तत एवोपनयनिगमनहीनमपि वाक्यं च साधनं प्रतिज्ञाहीनवत् विदुषः प्रति हेतोरेव केवलस्य प्रयोगाभ्युपगमात्। धूमोत्र दृश्यते इत्युक्तेपि कस्यचिदग्निप्रतिपत्तेः प्रवृत्तिदर्शनात्। सामर्थ्याद्गम्यमानास्तत्र प्रतिज्ञादयोपि संतीति चेत्, तर्हि प्रयुज्यमाना न संतीति तैर्विनापि साध्यसिद्धेः न तेषां वचनं साधनं साध्याविनाभाविसाधनमंतरेण साध्यसिद्धेरसंभवात्। तद्वचनमेव साधनमतस्तन्न्यूनं न निग्रहस्थानं परस्य स्वपक्षसिद्धौ सत्यामित्येतदेव श्रेयः प्रतिपद्यामहे। प्रतिज्ञादिवचनं तु प्रतिपाद्याशयानुरोधेन प्रयुज्यमानं न निर्वार्यते तत एवासिद्धो हेतुरित्यादिप्रतिज्ञावचनं हेतुदूषणोद्भावनकाले कस्यचिन्न विरुध्यते तदवचननियमानभ्युपगमात्। तर्हि यथाविधान्यूनादर्थस्यापि सिद्धिस्तथाविधं तन्निग्रहस्थानमित्यपि न घटत इत्याह–

सिद्ध करता है, क्योंकि क्वचित् (कहीं पर) प्रतिज्ञा वाक्य के बिना भी चार अवयव वाले साधन वाक्य के द्वारा (भी) अनुमान वाक्य की उत्पत्ति हो जाने से गम्यमान (साध्यस्वरूप) कर्म की सिद्धि हो जाती है अर्थात् प्रतिज्ञावाक्य कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तथा उदाहरण हीन (रहित) साधन वाक्य भी उपपन्न है, क्योंकि हेतु और साध्य के साथ साधर्म्य धारक अन्वय दृष्टान्त और हेतु एवं साध्य के साथ वैधर्म्य धारक व्यतिरेक दृष्टान्त के बिना भी हेतु के गमकत्व का समर्थन किया गया है अर्थात् - उदाहरण रहित भी हेतु साध्य का गमक हो सकता है। उसी प्रकार उपनय और निगमन से रहित वाक्य भी अनुमान (परार्थानुमान) का साधन हो जाता है। जैसे प्रतिज्ञाहीन वाक्य से साध्य की सिद्धि हो जाती है क्योंकि विद्वानों के प्रति केवल हेतु का प्रयोग करना स्वीकार किया गया है। जैसे यहाँ पर धुआँ दीख रहा है- इतना कहने पर भी किसी विद्वान् को अग्नि की प्रतिपत्ति हो जाती है। ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है।

यदि कहो कि प्रतिज्ञादि से शून्य अनुमान में प्रतिज्ञादि भी गम्यमान होने से विद्यमान हैं अतः पाँचों अवयवों से साध्य का साधन हुआ, न्यून से नहीं, ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि प्रतिज्ञा आदि का यद्यपि कंठोक्त प्रयोग नहीं है, तथापि उनके बिना साध्य की (कंठोक्त उच्चारण किये बिना भी) सिद्धि हो जाती है। क्योंकि उन प्रतिज्ञा आदि का उच्चारण करना साध्य की सिद्धि में प्रयोजक नहीं है। साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले साधन के बिना साध्य की सिद्धि होना असंभव है। इसलिए ज्ञापक हेतु का प्रयोग करना ही अनुमान का प्रधान साधन है। अतः प्रतिज्ञा आदि से न्यून वाक्य निग्रहस्थान का कारण नहीं है। केवल दूसरे के स्वपक्ष की सिद्धि हो जाने पर वादी का निग्रहस्थान हो जाता है। अतः मैं इस सिद्धान्त को ही श्रेष्ठ मानता हूँ और उसी को मैं प्राप्त होता हूँ।

शिष्य के अनुरोध से प्रतिज्ञादि वचन का प्रयोग करने का निवारण नहीं किया जा सकता। इसलिए हेतु के दूषणों के उद्भावन के अवसर में किसी एक विद्वान् का हेतु असिद्ध ही है। यह हेतु विरुद्ध है, इत्यादिक प्रतिज्ञा वाक्य का कथन करना विरुद्ध नहीं है। अर्थात् - धर्म और धर्मी का समुदाय रूप प्रतिज्ञा वाक्य बन जाता है। इसलिए, सभी विद्वानों के प्रति उन पाँचों अवयवों के प्रयोग करने का नियम नहीं है।

नैयायिक कहते हैं कि (यदि) जिस प्रकार न्यून कथन से अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नहीं होती है, उसी प्रकार निग्रहस्थान न्यून कथन में घटित नहीं होता है। जैनाचार्य कहते हैं -

यथा चार्थाप्रतीतिः स्यात्तन्निरर्थकमेव ते। निग्रहांतरतोक्तिस्तु तत्र श्रद्धानुसारिणाम् ॥२२३॥

यच्चोक्तं, हेतूदाहरणादिकमधिकं यस्मिन् वाक्ये द्वौ हेतू द्वौ वा दृष्टांतौ तद्वाक्यमधिकं निग्रहस्थानं आधिक्यादिति तदपि न्यूनेन व्याख्यातमित्याह–

हेतूदाहरणाभ्यां यद्वाक्यं स्यादधिकं परैः। प्रोक्तं तदधिकं नाम तच्च न्यूनेन वर्णितम् ॥२२४॥

तत्त्वापर्यवसानायां कथायां तत्त्वनिर्णयः। यदा स्यादधिकादेव तदा का नाम दुष्टता ॥२२५॥

स्वार्थिके केधिके सर्वं नास्ति वाक्याभिभाषणे। तत्प्रसंगात्ततोर्थस्यानिश्चयात्तन्निरर्थकम् ॥२२६॥

जिस प्रकार न्यून कथन (प्रतिज्ञादि हीन वाक्य) से अर्थ की अप्रतिपत्ति होती है (अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती है), अपितु व्यर्थ ही निग्रहस्थान हो जायेगा। पुनः न्यून अवयवों में निग्रहस्थानान्तरों का कथन करना तो अपने दर्शन की अन्ध श्रद्धा के अनुसार चलने वाले नैयायिकों को ही शोभा देता है, अन्य को नहीं अर्थात् निग्रहस्थान भिन्न नहीं हैं ॥२२३॥

जो नैयायिकों ने कहा था कि जिस वाक्य में हेतु, उदाहरण आदि अधिक कहे जाते हैं, दो दृष्टान्त और दो हेतु कहे जाते हैं वह वाक्य "अधिक" नामक निग्रह स्थान है अर्थात् आधिक्य कथन होने से वक्ता का निग्रहस्थान है। जैनाचार्य कहते हैं - न्यून निग्रहस्थान के खण्डन से अधिक नाम निग्रहस्थान का भी व्याख्यान हो जाता है अर्थात् अधिक नामक निग्रह का खण्डन हो जाता है।

पर नैयायिकों के द्वारा "जो वाक्य हेतु और उदाहरणों से अधिक है", वह अधिक नामक निग्रहस्थान कहा गया है। वा उपलक्षण से उपनय, निगमन से भी अधिक है, वह अधिक नामक निग्रहस्थान है। जैनाचार्य कहते हैं कि वह अधिक नामक निग्रहस्थान न्यून नामक निग्रहस्थान के कथन से वर्णित है। अर्थात् न्यून नामक निग्रहस्थान से उसका कथन हो चुका है।

अथवा, वाद कथा में जब अन्तिम रूप तक तत्त्व का निर्णय होता है, तब अधिक कथन भी करना पड़ता है। तो वह अधिक कथन निग्रहस्थान से दूषित कैसे हो सकता है!

जब किसी को संक्षेप से कहने पर समझ में नहीं आता है तो उसको समझाने के लिए अति अधिक हेतु और उदाहरणों के द्वारा समझाया जाता है। इसलिए अधिक का कथन करना गुण है, दोष नहीं है ॥२२४-२२५॥

स्वार्थ में "अक्" प्रत्यय होता है, उसमें "क" का अधिक उच्चारण होता है। जैसे "भवत्कः" "युष्मत्कः" "जीवकः" इत्यादि। उस "क" प्रत्यय का कोई अधिक अर्थ नहीं होता है। जो अर्थ "युष्मत्" शब्द का है, वही अर्थ "युष्मत्कः" शब्द का होता है। अतः स्वार्थ में किये गये "क" प्रत्यय वाले पदों से समुद्भित वाक्यों के कथन करने पर वक्ता के प्रति उस अधिक निग्रह स्थान की प्राप्ति का प्रसंग आयेगा। परन्तु जिस वाद में अधिक बोलने से तत्त्व का निश्चय नहीं हो रहा है, वहाँ अधिक बोलना निरर्थक है। इसलिए अधिक नामक निग्रहस्थान मानना उपयुक्त नहीं है ॥२२६॥

सोयमुद्योतकरः, साध्यस्यैकेन ज्ञापितत्वाद्व्यर्थमभिधानं द्वितीयस्य, प्रकाशिते प्रदीपांतरोपादानवदनवस्थानं वा, प्रकाशितेपि साधनांतरोपादाने परापरसाधनांतरोपादानप्रसंगादिति ब्रुवाणः प्रमाणसंप्लवं समर्थयत इति कथं स्वस्थः? कस्यचिदर्थस्यैकेन प्रमाणेन निश्चयेपि प्रमाणांतरविषयत्वेपि न दोषो दार्ढ्यादिति चेत्, किमिदं दार्ढ्यं नाम? सुतरां प्रतिपत्तिरितिचेत् किमुक्तं भवति, सुतरामिति सिद्धेः। प्रतिपत्तिर्द्वाभ्यां प्रमाणाभ्यामिति चेत्, तर्ह्याद्येन प्रमाणेन निश्चितेर्थे द्वितीयं प्रमाणं प्रकाशितप्रकाशनवद्व्यर्थमनवस्थानं वा निश्चितेपि परापरप्रमाणान्वेषणात्। इति कथं प्रमाणसंप्लवः? यदि पुनर्बहूपायप्रतिपत्तिः कथं दार्ढ्यमेकत्र भूयसां प्रमाणानां

सो यह **उद्योतकर** अधिक को निग्रहस्थान का समर्थन करने के लिए इस प्रकार कहता है कि दो हेतुओं को कहने वाला वादी अधिक कथन करने से निगृहीत है। क्योंकि एक ही हेतु के द्वारा (जब) साध्य का ज्ञापन (ज्ञान) हो जाता है, साध्य की सिद्धि हो जाती है तो दूसरे हेतु का कथन करना व्यर्थ है। जैसे एक दीपक के द्वारा प्रकाशित पदार्थ को दूसरे दीपक के द्वारा प्रकाशित करना व्यर्थ है। अन्य दीपकों का उपादान करना निष्प्रयोजनीय है। अथवा प्रकाशित को प्रकाशित करने पर अनवस्था दोष भी आता है। क्योंकि हेतु द्वारा या दीपक द्वारा पदार्थ के प्रकाशित (प्रतिभासित) हो जाने पर यदि अन्य साधनों का उपादान किया जायेगा, तो उत्तरोत्तर अन्य साधनों के ग्रहण करने का प्रसंग हो जाने से अनवस्था दोष आता है। इस प्रकार प्रमाण संप्लव का समर्थन करने वाला **उद्योतकर** स्वस्थ कैसे हो सकता है?

भावार्थ - एक ही अर्थ में प्रत्यक्ष आदि बहुत से प्रमाणों की प्रवृत्ति को प्रमाण संप्लव कहते हैं। नैयायिक, मीमांसक, जैन आदि सभी विद्वान् प्रमाण संप्लव को स्वीकार करते हैं। जैसे आगम से जानी हुई वस्तु को युक्ति से (अनुमान) से सिद्ध करते हैं और अनुमानसिद्ध वस्तु को प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा भी जानना चाहते हैं। परन्तु अधिक नामक निग्रह के भय से **उद्योतकर** एक प्रमाण से जानी हुई वस्तु को दूसरे प्रमाण से जानना स्वीकार नहीं करता है, वह **उद्योतकर** स्वस्थ कैसे हो सकता है?

यदि कहो कि दृढ़ता के लिए, एक प्रमाण के द्वारा निश्चित अर्थ को भी अन्य प्रमाणों के द्वारा जानना दोषरूप नहीं है, तो जैनाचार्य कहते हैं कि वह दृढ़ता क्या है जिसके लिए एक प्रमाण के द्वारा जाने हुए पदार्थ में दूसरे प्रमाण की प्रवृत्ति होती है? यदि स्वयं अपने आप बिना परिश्रम के प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो जाने को दृढ़ता कहोगे, तो दूसरे प्रमाण की प्रवृत्ति क्यों मानी जाती है? पदार्थ की प्रतिपत्ति तो स्वयं उक्त प्रकार से सिद्ध हो चुकी है। अतः दूसरे प्रमाणों का उत्थापन करना व्यर्थ हो जाता है।

यदि दो प्रमाणों से प्रतिपत्ति होना दृढ़ता है, तब तो आदि (प्रथम) प्रमाण के द्वारा निश्चित हुए अर्थ में पुनः द्वितीय प्रमाण का उत्थापन करना, प्रकाशित को प्रकाशित करने के समान व्यर्थ है। वा निश्चित पदार्थ का भी निश्चय करने में उत्तरोत्तर प्रमाणों का अन्वेषण करते रहने से अनवस्था दोष आता है। ऐसी दशा में प्रमाण संप्लव को कैसे स्वीकार कर सकते हैं?

यदि पुनः बहुत से उपायों की प्रतिपत्ति होना ही दृढ़पना है तथा एक विषय में बहुत से प्रमाणों की प्रवृत्ति हो जाने पर पूर्व ज्ञान में संवाद की सिद्धि हो जाती है - ऐसी मति है (ऐसा विचार है), तब तो किसी

प्रवृत्तौ संवादसिद्धिश्चेति मतिस्तदा हेतुना दृष्टांतेन वा केनचिद्ज्ञापितेर्थे द्वितीयस्य हेतोर्दृष्टांतस्य वा वचनं कथमनर्थकं तस्य तथाविधदाढर्त्यत्वात्। न चैवमनवस्था, कस्यचित्क्वचिन्निराकांक्षतोपपत्तेः प्रमाणांतरवत्। कथं कृतकत्वादिति हेतुः क्वचिद्वदतः स्वार्थिकस्य कप्रत्ययस्य वचनं यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टमिति व्याप्तिं प्रदर्शयतो यत्तद्वचनमधिकं नाम निग्रहस्थानं न स्यात्, तेन विनापि तदर्थप्रतिपत्तेः। सर्वत्र वृत्तिपदप्रयोगादेव चार्थप्रतिपत्तौ संभाव्यमानायां वाक्यस्य वचनं कमर्थं पुष्णाति ? येनाधिकं न स्यात्। तथाविधवचनस्यापि

हेतु और दृष्टान्त के द्वारा अर्थ की ज्ञप्ति हो जाने पर पुनः दूसरे हेतु अथवा दूसरे दृष्टान्त का कथन करना व्यर्थ कैसे हो सकता है? क्योंकि उस दूसरी, तीसरी बार कथित हेतु या दृष्टान्तों के भी उस प्रकार की दृढ़ प्रतीति करा देना घटित हो जाता है अर्थात् जैसे बहुत से उपायों से अर्थ की प्रतिपत्ति में दृढ़ता आ जाती है, उसी प्रकार अनेक हेतुओं और दृष्टान्तों से पूर्व ज्ञान के संवादों की सिद्धि हो जाती है। अनेक हेतुओं और दृष्टान्तों के प्रयोग से अनवस्था दोष आता है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि किसी के कहीं पर निराकांक्षा की उत्पत्ति हो जाती है अर्थात् स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान आदि के द्वारा वस्तु का स्वरूप समझ में आ जाने पर जानने की जिज्ञासा शांत हो जाती है। जैसे प्रमाणान्तर का प्रयोग करने पर कहीं पर जिज्ञासा शांत हो जाती है। अतः अधिक हेतु और दृष्टान्तों का प्रयोग करने पर अनवस्था दोष नहीं आता है। इसलिए अधिक को निग्रहस्थान मानना उचित प्रतीत नहीं होता है।

यदि अधिक कथन करने को वक्ता का निग्रहस्थान माना जायेगा तो किसी स्थल पर "शब्दोऽनित्यःकृतकत्वात्" - इस अनुमान में कृतत्वात् के स्थान पर स्वार्थ वाचक प्रत्यय को बढ़ाकर "कृतकत्वात्"-इस प्रकार के हेतु को कहने वाले वादी के द्वारा कृत के निज अर्थ को कहने वाले स्वार्थिक "क" प्रत्यय का कथन करना वादी का अधिकनिग्रहस्थान क्यों नहीं माना जायेगा? तथा उक्त अनुमान में जो-जो कृतक होता है, वह-वह पदार्थ अनित्य देखा गया है, इस प्रकार व्याप्ति को दिखाने वाले वादी के द्वारा यत्-यत् और तत्-तत् शब्द का कथन करना (प्रयोग करना) अधिक नामक निग्रहस्थान क्यों नहीं होगा? क्योंकि यत्-यत् (जो-जो) तत्-तत् (वह-वह) - इन शब्दों के प्रयोग के बिना भी व्याप्ति के अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाती है। अर्थात् - "कृतकत्व पदार्थ अनित्य होता है" इतना कहने मात्र से ही व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है।

सर्वत्र कृदन्त, तद्धित, समास आदि वृत्तियों से युक्त पदों के प्रयोग से ही अर्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) होना संभव होने पर खण्ड रूप से वाक्य का वचन किस अर्थ को पुष्ट कर रहा है जिससे कि अधिक निग्रहस्थान नहीं हो सकते। अर्थात् "इत्वरी" इस लघुकृदन्त पद से ज्ञान हो सकता है तो फिर पर-पुरुष-गमन का स्वभाव रखने वाली व्यभिचारिणी के लिए यह अधिक वाक्य क्यों बोला जाता है? 'ईर्या समिति' कहने से ज्ञान हो सकता है, तो फिर चार हाथ जमीन देकर चलना, ऐसा क्यों कहा जाता है? अतः ऐसा कहने वाला वक्ता अधिक निग्रहस्थान को प्राप्त होगा।

यदि कहो कि कृदन्त, तद्धित आदि शब्दों का विस्तारपूर्वक कथन करना प्रतिपत्ति (ज्ञान) का उपाय

प्रतिपत्त्युपायत्वान्न निग्रहस्थानमिति चेत्, कथमनेकस्य हेतोर्दृष्टांतस्य वा प्रतिपत्त्युपायभूतस्य वचनं निग्रहाधिकरणं? निरर्थकस्य तु वचनं निरर्थकमेव निग्रहस्थानं न्यूनवन्न पुनस्ततोन्यत्॥

पुनरुक्तं निग्रहस्थानं विचारयितुकाम आह–

पुनर्वचनमर्थस्य शब्दस्य च निवेदितम्। पुनरुक्तं विचारेन्यत्रानुवादात्परीक्षकैः॥२२७॥
तत्राद्यमेव मन्यंते पुनरुक्तं वचोर्थतः। शब्दसाम्येपि भेदेऽस्यासंभवादित्युदाहृतम्॥२२८॥
हसति हसति स्वामिन्युच्चैरुदत्यतिरोदिति। कृतपरिकरं स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति।
गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिंदति निंदति। धनलव परिक्रीतं यंत्रं प्रनृत्यति नृत्यति॥२२९॥

होने से निग्रहस्थान नहीं है तो प्रतिपत्ति के उपायभूत अनेक हेतुओं और दृष्टान्तों के वचन निग्रहस्थान के अधिकरण कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते। जिस प्रकार न्यून कथन करने से अर्थ का ज्ञान नहीं होता है अत: न्यून निग्रहस्थान न होकर निरर्थक ही है। उसी प्रकार निरर्थक (निष्प्रयोजन) हेतु दृष्टान्त आदि का प्रयोग करना निरर्थक निग्रहस्थान है। अधिक नामक भिन्न निग्रहस्थान नहीं है।

अब नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत पुनरुक्त निग्रहस्थान का विचार करने के इच्छुक जैनाचार्य कहते हैं -

विचार (वस्तु का कथन) करते समय शब्द और अर्थ का पुन: कथन करना पुनरुक्त निग्रहस्थान है। शब्द पुनरुक्त और अर्थ पुनरुक्त के भेद से पुनरुक्त दो प्रकार का है। समान अर्थ वाले शब्दों का निष्प्रयोजन बार-बार उच्चारण करना शब्दपुनरुक्त है जैसे यह घट है, यह घट है, इत्यादि।

घट के द्वारा कथित अर्थ को पुन: कूट शब्द के द्वारा कहना अर्थ पुनरुक्त है। परीक्षक विद्वानों के द्वारा अनुवाद को छोड़कर अन्यत्र शब्द और अर्थ का निष्प्रयोजन कथन करना पुनरुक्त दोष कहा गया है। वस्तु को समझाने के लिए यदि शब्द या अर्थ का पुन:पुन: कथन किया जाता है तो पुनरुक्त दोष नहीं है॥२२७॥

आचार्यदेव कहते हैं कि उस पुनरुक्त के प्रकरण में आदि के अर्थ पुनरुक्त को ही विद्वज्जन दोष मानते हैं अर्थात् जो वचन अर्थ की अपेक्षा पुनरुक्त है, वह पुनरुक्त निग्रहस्थान कहा गया है। क्योंकि शब्दों की समानता होने पर भी अर्थ का भेद हो जाने पर इस पुनरुक्त निग्रहस्थान की असंभवता है। इसका उदाहरण हरिणी छन्द के द्वारा इस प्रकार दिया गया है कि- एक स्वामिभक्ता नायिका स्वामी के हँसने पर जोर से हँसती है, स्वामी के रोने पर जोर से रोती है। परिकरसहित पसीना बहाने वाले स्वामी के दौड़ने पर दौड़ती है, स्वामी के द्वारा निर्दोष गुणी पुरुष की निन्दा करने पर स्वयं निन्दा करने लग जाती है, धनलव (थोड़े से धन) के द्वारा खरीदे हुए खिलौने के समान स्वामी के नाचने पर स्वयं नाचने लग जाती है। इस प्रकार इस उदाहरण में ''हसति, रोदिति, धावति'' इत्यादिक शब्द की पुनरुक्तता है परन्तु अर्थ की पुनरुक्तता नहीं है। क्योंकि प्रथम कथित रोदिति, हसति, प्रधावति, नत्यति, शान्तृ प्रत्ययान्त होने से सति अर्थ में सप्तमी

सभ्यप्रत्यायनं यावत्तावद्वाच्यमतो बुधैः। स्वेष्टार्थवाचिभिः शब्दैस्तैश्चान्यैर्वा निराकुलम् ॥२३०॥
तदप्रत्यायि शब्दस्य वचनं तु निरर्थकम्। सकृदुक्तं पुनर्वेति तात्त्विकाः संप्रचक्षते ॥२३१॥
सकृद्वादे पुनर्वादोनुवादोर्थविशेषतः। पुनरुक्तं यथा नेष्टं क्वचित्तद्वदिहापि तत् ॥२३२॥
अर्थादापद्यमानस्य यच्छब्देन पुनर्वचः। पुनरुक्तं मतं यस्य तस्य स्वेष्टोक्तिबाधनम् ॥२३३॥

योप्याह, शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तमिति च तस्य प्रतिपन्नार्थप्रतिपादकत्वेन वैयर्थ्यान्निग्रहस्थानमिति मतं न पुनरन्यथा। तथा च निरर्थकान्न विशिष्यते,

---

विभक्ति वाले हैं जिसका अर्थ है "हँसने पर, रोने पर इत्यादि। द्वितीय पद में स्थित हसति रोदिति" इत्यादि तिङन्त शब्द लट् लकार के क्रिया रूप है। इस प्रकार श्लोकों के शब्दों में समानता होने पर भी अर्थभेद होने के कारण पुनरुक्त दोष नहीं है। शब्द के समान या भिन्न होने पर भी यदि अर्थभेद नहीं है तो पुनरुक्त दोष आता है॥२२८-२२९॥

विद्वानों को उतने (ही) शब्द बोलने चाहिए जितने से सभासद पुरुषों का व्युत्पादन हो सकता है (उनकी बुद्धि का विकास होता है)। अपने अभीष्ट अर्थ को कहने वाले उन शब्दों के द्वारा वा अन्य शब्दों के द्वारा निराकुल होकर भाषण करना उपयोगी है।

अर्थात् - अर्थ के समझने और समझाने में आकुलता न हो, उस प्रकार से शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। सभासदों को ज्ञान नहीं कराने वाले शब्दों का प्रयोग करना तो निरर्थक है। व्यर्थ कथन पुनःपुनः करना वा एक बार कहना ये सब निग्रहस्थान में अन्तर्भूत हैं। ऐसा तत्त्ववेत्ता निरूपण करते हैं अर्थात् निष्प्रयोजन वचनों का एक बार भी उच्चारण नहीं करना चाहिए॥२३०-२३१॥

जिस प्रकार एक बार वाद कथा कह चुकने पर प्रयोजन की विशेषता होने से पुनः कथन करना रूप अनुवाद कहीं पुनरुक्त दोष से युक्त नहीं कहा जाता है, उसी प्रकार अर्थ की विशेषता होने पर एक से शब्दों का बार-बार उच्चारण करना पुनरुक्त दोष से युक्त नहीं है॥२३२॥

जिस नैयायिक के सिद्धान्त में अर्थप्रकरण से गम्यमान अर्थ का पुनः शब्दों के द्वारा कथन करना पुनरुक्त (माना गया) है, जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाले उन नैयायिकों के अपने अभीष्ट कथन से ही बाधा उपस्थित हो जाती है अर्थात् नैयायिक का कथन स्ववचन बाधित है॥२३३॥

नैयायिक ने जो कहा था कि "अनुवाद करने से अतिरिक्त स्थलों पर शब्द और अर्थ का पुनः कथन करना पुनरुक्त निग्रहस्थान है तथा अर्थापत्ति द्वारा गम्यमान प्रमेय (अर्थ) का स्वकीय पर्यायवाचक शब्दों से पुनः कथन करना भी पुनरुक्त है।" इस सूत्र के अनुयायी नैयायिकों के यहाँ जाने हुए ही अर्थ का प्रतिपादक होने से व्यर्थ हो जाने के कारण पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान माना है। उन्होंने पुनः अन्य प्रकार से निग्रहस्थान स्वीकृत नहीं किया है। तथा इस प्रकार कहने पर पुनरुक्त निग्रहस्थान और निरर्थक निग्रह स्थान में कोई विशेषता नहीं रहती है और नैयायिकों के सिद्धान्त में स्ववचन विरोध आता है अर्थात् उनका कथन अपने वचनों से बाधित हो जाता है। क्योंकि स्वकीय ग्रन्थों में स्वयं नैयायिक ने उद्देश, लक्षणनिर्देश

स्ववचनविरोधश्च। स्वयमुद्देशलक्षणपरीक्षावचनानां पुनरुक्तानां प्रायेणाभ्युपगमादर्थाद्गम्यमानस्य प्रतिज्ञादेर्वचनाच्च। यदप्युक्तं, विज्ञातस्य परिषदा त्रिभिरभिहितस्याप्रत्युच्चारणमननुभाषणं निग्रहस्थानमिति तदनूद्य विचारयन्नाह--

त्रिर्वादिनोदितस्यापि विज्ञातस्यापि संपदा। अप्रत्युच्चारणं प्राह परस्याननुभाषणम् ॥२३४॥

तदेतदुत्तरविषयापरिज्ञानान्निग्रहस्थानमप्रत्युच्चारयतो दूषणवचनविरोधात्। तत्रेदं विचार्यते, किं सर्वस्य वादिनोक्तस्याननुच्चारणं किं वा यन्नांतरीयका साध्यसिद्धिरभिमता तस्य साधनवाक्यस्याननुच्चारणमिति॥

यन्नांतरीयका सिद्धिः साध्यस्य तदभाषणं। परस्य कथ्यते कैश्चित् सर्वथाननुभाषणं ॥२३५॥
प्रागुपन्यस्य निःशेषं परोपन्यस्तमंजसा। प्रत्येकं दूषणे वाच्ये पुनरुच्चार्यते यदि ॥२३६॥

और परीक्षा के पुनरुक्त वचनों को प्रायः करके बाहुल्य से स्वीकार किया है। जैसे शब्द के प्रयोग बिना ही गम्यमान (जाने गये) प्रतिज्ञा, दृष्टान्त आदि का वचनों के द्वारा निरूपण किया है।

भावार्थ - नाममात्र कथन को **उद्देश** कहते हैं। असाधारण धर्म के कथन को **लक्षण** कहते हैं। विरुद्ध नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिए प्रवर्त्तमान विचार को **परीक्षा** कहते हैं। प्रमाण, प्रमेय, संशय आदि सोलह पदार्थों का उद्देश किया है। पुनः उनके लक्षण या भेदों को कहा है। पश्चात् उनकी परीक्षा की गई है। इससे सिद्ध होता है कि पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान उचित नहीं है।

नैयायिक ने जो यह कहा था कि सभासद के द्वारा विशेष रूप से ज्ञात तथा वादी के द्वारा तीन बार कथित वाक्य अर्थ का प्रतिवादी के द्वारा प्रत्युत्तर में पुनः उच्चारण नहीं करना (उसका खण्डन नहीं करना) अननुभाषण नामक निग्रहस्थान है। उसका विचार करते हुए **विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं -

वादी के द्वारा तीन बार कथित और सभासदों के द्वारा विज्ञात पदार्थ का प्रतिवादी के द्वारा प्रत्युत्तर रूप से उच्चारण नहीं करने को प्रतिवादी का अननुभाषण नामक निग्रहस्थान कहा गया है॥२३४॥

तथा, प्रतिवादी को उत्तर विषयक परिज्ञान नहीं होने से प्रतिवादी का अननुभाषण नामक निग्रह स्थान माना गया है। यदि प्रतिवादी कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं देता है, तो प्रतिवादी के दूषण वचन का विरोध होने से यह अननुभाषण नामक निग्रहस्थान है। अब यहाँ पर **विद्यानन्द आचार्य** विचार करते हैं कि क्या वादी के द्वारा कथित सभी वक्तव्य का उच्चारण नहीं करना प्रतिवादी का अननुभाषण नामक निग्रहस्थान है? अथवा जिस उच्चारण के साथ साध्यसिद्धि का अविनाभाव अभीष्ट किया गया है, साध्य को साधने वाले उस वाक्य का उच्चारण नहीं करना प्रतिवादी का अननुभाषण नामक निग्रहस्थान है।

कोई कहते हैं कि - जिसके उच्चारण के बिना प्रकृत साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती, (सभी प्रकार से) उनका उच्चारण नहीं करना दूसरे प्रतिवादी का अननुभाषण नामक निग्रहस्थान है॥२३५॥

वादी के द्वारा कथित सभी वाक्यों का उच्चारण करना प्रतिवादी के लिए उचित समझना युक्त नहीं हैं। क्योंकि पूर्वोक्त वादी के द्वारा कथित सम्पूर्ण वाक्यों का प्रत्युच्चारण नहीं करने वाले प्रतिवादी द्वारा दूषण का वचन उठाने में कोई व्याघात नहीं है॥२३६॥

तदेव स्यात्तदा तस्य पुनरुक्तमसंशयम्। नोच्चार्यते यदा त्वेतत्तदा दोषः क्व गद्यते ॥२३७॥
तस्माद्यदुष्यते यत्तत्कर्मत्वादि परोदितम्। तदुच्चारणमेवेष्टमन्योच्चारो निरर्थकः ॥२३८॥
उक्तं दूषयतावश्यं दर्शनीयोत्र गोचरः। अन्यथा दूषणावृत्तेः सर्वोच्चारस्तु नेत्यपि ॥२३९॥
कस्यचिद्वचनं नेष्टनिग्रहस्थानसाधनं। तस्याप्रतिभयैवोक्तैरुत्तराप्रतिपत्तितः ॥२४०॥

तदेतद्धर्मकीर्तेर्मतमयुक्तमित्याह–

प्रत्युच्चारासमर्थत्वं कथ्यतेऽननुभाषणं। तस्मिन्नुच्चारितेप्यन्यपक्षविक्षिप्त्यवेदनम् ॥२४१॥
ख्याप्यतेऽप्रतिभान्यस्येत्येतयोर्नैकतास्थितिः। साक्षात्संलक्ष्यते लोकैः कीर्तेरन्यत्र दुर्गतेः ॥२४२॥

प्रथम तो प्रतिवादी को वादी के द्वारा कथित सम्पूर्ण अर्थ का तात्त्विक रूप से शीघ्र उपन्यास करना पड़ता है। पुनः प्रत्येक वाक्य में दूषण कथन करने पर प्रतिवादी के द्वारा उच्चारण किया जाता है तो उस प्रतिवादी का वह कथन ही निःसंशय पुनरुक्त निग्रहस्थान हो जाता है और यदि वादी के द्वारा कथित वाक्यों का प्रतिवादी उच्चारण नहीं करता है तो नैयायिक मतानुसार अननुभाषण नामक निग्रहस्थान को प्राप्त होता है। अतः प्रतिवादी को कौनसा दोष कहना चाहिए? इसलिए वादी के सर्व कथन का उच्चारण करना उपयुक्त नहीं है अपितु पर (वादी)-के द्वारा कथित जिस-जिस साध्य हेतु आदि में प्रतिवादी द्वारा दूषण दिया जा सकता है, उसका उच्चारण करना ही प्रतिवादी का कर्त्तव्य है, इष्ट है। यदि प्रतिवादी अन्य (निष्प्रयोजन) वाक्यों का उच्चारण करेगा, तो निरर्थक नामक निग्रहस्थान को प्राप्त होगा ॥२३७-२३८॥

उपर्युक्त अननुभाषण दूषण का कथन करने वाले विद्वानों को यहाँ दूषण के आधार साध्य, हेतु आदि विषय अवश्य दिखलाने चाहिए। अन्यथा दूषणों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वादी के द्वारा प्रतिपादित सर्ववाक्यों का उच्चारण करने की आवश्यकता नहीं है।

इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि यह भी किसी **(धर्मकीर्त्ति)** का कथन स्वकीय अभीष्ट निग्रहस्थान का साधक नहीं हो सकता। क्योंकि प्रतिवादी को स्वकीय वचन के द्वारा उत्तर देने का ज्ञान न होने के कारण अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान के द्वारा प्रतिवादी का निग्रह (पराजय) कर दिया जाता है ॥२३९-२४०॥

इसलिए **धर्मकीर्ति** (बौद्ध अनुयायी) का कथन अयुक्त है। **विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं -

प्रत्युत्तर का उच्चारण करने में असमर्थ प्रतिवादी का अननुभाषण नामक निग्रहस्थान कहा जाता है और प्रत्युत्तर के उच्चारण में परपक्ष के द्वारा दिये गये विक्षेप (प्रतिषेध) का ज्ञान नहीं होना अन्य (प्रतिवादी) का अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान कहा जाता है- इसलिए इन अननुभाषण और अप्रतिभा में एकता की स्थिति नहीं है अर्थात् ये दोनों एक नहीं हैं। वा, उत्तर नहीं देना या उत्तर देने से सभा का क्षोभित हो जाना अननुभाषण निग्रह स्थान है, और उत्तर को नहीं समझाना अप्रतिभा नामक निग्रह स्थान है। दुर्गति वा दुर्मति के कारण धर्मकीर्त्ति को छोड़कर सर्व लौकिक जनों के द्वारा अप्रतिभा और अननुभाषण में भेद दृष्टिगोचर हो रहा है ॥२४१-२४२॥ इसलिए दूषण के विषय मात्र हेतु आदि सर्व अवयवों का उच्चारण नहीं करना प्रतिवादी

ततोऽननुभाषणं सर्वस्य दूषणविषयमात्रस्य वान्यदेवाप्रतिभायाः केवलं तन्निग्रहस्थानमयुक्तं, परोक्तिम-प्रत्युच्चारयतोपि दूषणवचनन्याय्यात्। तद्यथा–सर्वं प्रतिक्षणविनश्वरं सत्त्वादिति केनचिदुक्ते तदुक्ते प्रत्युच्चारयन्नेव परो विरुद्धत्वं हेतोरुद्भावयति, सर्वमनेकांतात्मकं सत्त्वात्। क्षणक्षयाद्येकांते सर्वथार्थक्रियाविरोधात् सत्त्वानुपपत्तेरिति समर्थयते च तावता परोपन्यस्तहेतोर्दूषणात् किं प्रत्युच्चारणेन। अथैवं दूषयितुमसमर्थः शास्त्रार्थज्ञानपरिणतिविशेषरहितत्वात् तदायमुत्तराप्रतिपत्तेरेव तिरस्क्रियते न पुनरप्रत्युच्चारणात्। सर्वस्य पक्षधर्मत्वादेर्वानुवादे पुनरुक्तत्वानिष्टेः प्रत्युच्चारणोपि तत्रोत्तरमप्रकाशयन् न हि न निगृह्यते स्वपक्षं साधयता, यतोऽप्रतिभैव निग्रहस्थानं न स्यात्। यदप्युक्तं, अविज्ञातं चाज्ञानमिति निग्रहस्थानं, तदपि न प्रतिविशिष्टमित्याह–

का अननुभाषण निग्रह स्थान है। वह अप्रतिभा निग्रहस्थान से भिन्न है। **धर्मकीर्ति** के द्वारा दोनों निग्रहस्थानों को एक कहना उचित नहीं है। अतः अननुभाषण को निग्रह स्थान मानना युक्त नहीं है। क्योंकि दूसरे विद्वानों के द्वारा कथित वाक्यों का प्रत्युच्चारण नहीं करने वाले प्रतिवादी के द्वारा दूषण वचन कहा जाना न्यायमार्ग है। जैसे "सर्व पदार्थ क्षणिक हैं सत्त्व होने से"।

इस प्रकार किसी के द्वारा कहने पर उसके प्रतिकूल वाक्यों का उच्चारण नहीं करता हुआ भी दूसरा विरुद्ध हेत्वाभास का उत्थापन कर सकता है कि सभी पदार्थ नित्य अनित्य आदि अनेक धर्मात्मक हैं सत्त्व होने से क्योंकि एक क्षण में सर्वथा नष्ट होने वाले पदार्थों में अर्थक्रिया का विरोध है। अतः उनमें सत्त्वपना नहीं रह सकता। इस प्रकार प्रतिवादी ने सत्त्व हेतु के विपक्ष में बाधक प्रमाण का कथन करके समर्थन भी कर दिया है। इतना कहने मात्र से वादी के द्वारा कथित हेतु दूषित हो जाता है। पुनः प्रत्युच्चारण करने से क्या लाभ है? इसलिए जिसके बिना अपने अभीष्ट साध्य की सिद्धि नहीं होती है, उसका प्रत्युच्चारण नहीं करना ही अननुभाषण नामक निग्रहस्थान है।

इस प्रकार शास्त्रार्थ ज्ञान परिणति विशेष से रहित होने से यदि प्रतिवादी हेतु को दूषित करने के लिए असमर्थ है, तब तो यह प्रतिवादी उत्तर की अप्रतिपत्ति (अज्ञान) रूप अप्रतिभा के द्वारा ही तिरस्कार (निग्रह) करने योग्य है। परन्तु अप्रत्युच्चारण (अननुभाषण) से प्रतिवादी का निग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि सभी वादियों ने पक्षधर्मत्व आदि का कथन नहीं करना ही अननुभाषण माना है। अनुवाद में पुनरुक्त दोष किसी को भी इष्ट नहीं है। यदि प्रत्युच्चारण करने वाला भी वादी साध्यसिद्धि में समीचीन उत्तर का प्रकाशन नहीं कर रहा है (समीचीन उत्तर नहीं दे रहा है) तो वह निग्रह स्थान को प्राप्त नहीं हुआ, ऐसा नहीं है। किन्तु स्वकीय पक्ष को सिद्ध करने वाले वादी के द्वारा वह निग्रहस्थान को प्राप्त हो जाता है जिससे उसके अप्रतिभा निग्रहस्थान नहीं हो अर्थात् अप्रतिभा और अननुभाषण ये स्वतंत्र निग्रहस्थान नहीं हैं।

वादी के कथन का सभासदों को ज्ञान हो जाने पर भी यदि प्रतिवादी उसको समझ नहीं सका है तो वह "अविज्ञात अज्ञान नामक" निग्रहस्थान है। ऐसा नैयायिक ने जो अविज्ञात नामक निग्रहस्थान का लक्षण किया था, वह निग्रहस्थान किसी विशेषता को रखने वाला नहीं है, किसी विशेष अर्थ का वाचक नहीं है। इसी बात को **जैनाचार्य विद्यानन्द स्वामी** कहते हैं -

अज्ञातं च किलाज्ञानं विज्ञातस्यापि संसदा। परस्य निग्रहस्थानं तत्समानं प्रतीयते ॥२४३॥

सर्वेषु हि प्रतिज्ञानहान्यादिषु न वादिनोः। अज्ञानादपरं किंचिन्निग्रहस्थानमांजसम् ॥२४४॥

तेषामेतत्प्रभेदत्वे बहुनिग्रहणं न किम्। अर्धाज्ञानादिभेदानां बहुधात्रावधारणात् ॥२४५॥

उत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभेत्यपि निग्रहस्थानमस्य नाज्ञानादन्यदित्याह–

उत्तराप्रतिपत्तिर्या परैरप्रतिभा मता। साप्येतेन प्रतिव्यूढा भेदेनाज्ञानतः स्फुटम् ॥२४६॥

यदप्युक्तं, निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणं निग्रहस्थानमिति, तदपि न साधीय इत्याह।

यः पुनर्निग्रहप्राप्तेप्यनिग्रह उपेयते। कस्यचित्पर्यनुयोज्योपेक्षणं तदपि कृतम् ॥२४७॥

सभा के द्वारा विज्ञात अर्थ का प्रतिवादी के द्वारा नहीं समझना वा प्रतिवादी के समझ में नहीं आना यह प्रतिवादी का अविज्ञात नामक निग्रहस्थान भी अज्ञान नामक निग्रहस्थान के समान ही प्रतीत हो रहा है अर्थात् अज्ञान नामक निग्रह स्थान अननुभाषण वा अपार्थक नामक निग्रहस्थान के समान ही है; इनमें कोई विशेषता नहीं है ॥२४३॥

तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, पुनरुक्त, अपार्थक, न्यून, अधिक, अननुभाषण आदि सम्पूर्ण निग्रहस्थानों में वादी या प्रतिवादी के अज्ञान से भिन्न कोई दूसरा निग्रहस्थान निर्दोष नहीं है ॥२४४॥

यदि उन प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानों को इस अज्ञान के भेद, प्रभेद स्वरूप मानकर पृथक् निर्देश किया जाता है तो बहुत से निग्रहस्थान क्यों नहीं होंगे? क्योंकि वादी वा प्रतिवादी के द्वारा कथित अर्ध ज्ञान होना (अर्धज्ञान निग्रह स्थान) चतुर्थांश ज्ञान होना, विपरीत ज्ञान होना आदि बहुत से निग्रहस्थानों की अवधारणा हो सकती है। अतः निग्रहस्थानों की संख्या का नियम नहीं हो सकता ॥२४५॥

विद्वान् (के द्वारा) तत्त्व को समझकर भी यदि अवसरकाल में उत्तर नहीं देता है तो वह प्रतिवादी का अप्रतिभा नामक निग्रह स्थान है। जैनाचार्य कहते हैं कि नैयायिक के द्वारा स्वीकृत अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान भी अज्ञान नामक निग्रहस्थान से भिन्न नहीं है। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं -

जो नैयायिकों के द्वारा अवसर काल में उत्तर नहीं देने को अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान माना गया है, उस निग्रहस्थान का इस हेतु से खण्डन कर दिया गया है। क्योंकि अज्ञान निग्रहस्थान से अप्रतिभा का व्यक्त रूप से कोई भेद प्रतीत नहीं होता है अर्थात् अज्ञान और उत्तर की अप्रतिपत्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं है ॥२४६॥

जो नैयायिक ने निग्रहप्राप्त वादी, प्रतिवादी का पुनः निग्रह नहीं करना पर्यनुयोज्योपेक्षण नामक निग्रह स्थान कहा था, वह निग्रह स्थान भी श्रेष्ठ नहीं है। इसी को आचार्य कहते हैं -

निग्रहस्थान को प्राप्त का पुनः निग्रह नहीं करना चाहिए। इसको किसी ने "पर्यनुयोज्योपेक्षण" नाम का निग्रह स्थान स्वीकार किया है परन्तु वह निग्रहस्थान अप्रतिभा या अज्ञान नामक निग्रहस्थान से भिन्न नहीं है। उसी में इसका अन्तर्भाव हो जाता है ॥२४७॥

स्वयं प्रतिभया हि चेत्तदंतर्भावनिर्णयः। सभ्यैरुद्भावनीयत्वात्तस्य भेदो महानहो ॥२४८॥
वादेप्युद्भावयन्नैतन्न हि केनापि धार्यते। स्वं कौपीनं न कोपीह विवृणोतीति चाकुलम् ॥२४९॥
उत्तराप्रतिपत्तिर्हि परस्योद्भावयन्स्वयं। साधनस्य सदोषत्वमाविर्भावयति ध्रुवम् ॥२५०॥
संभवत्युत्तरं यत्र तत्र तस्यानुदीरणम्। युक्तं निग्रहणं नान्यथेति न्यायविदां मतम् ॥२५१॥
निर्दोषसाधनोक्तौ तु तूष्णींभावाद्विनिग्रहः। प्रलापमात्रतो वेति पक्षसिद्धेः स आगतः ॥२५२॥

यदप्यभ्यधायि, स्वपक्षदोषाभ्युपगमात्परपक्षे दोषप्रसंगो मतानुज्ञा। यः परेण चोदितं दोषमनुद्धृत्य भवतोप्ययं दोष इति ब्रवीति सा मतानुज्ञास्य निग्रहस्थानमिति, तदप्यपरीक्षितमेवेति परीक्ष्यते–

नैयायिक कहता है कि अप्रतिभा से निगृहीत पुरुष में प्रतिभा नहीं है और पर्यनुयोज्योपेक्षण से निगृहीत में प्रतिभा विद्यमान है। अथवा, स्वयं वक्ता प्रतिभा से अन्तर्भाव का निर्णय करता है और यह पर्यनुयोज्योपेक्षण तो मध्यस्थ सभासदों के द्वारा उत्थापन करने योग्य है। अतः अप्रतिभा से उस पर्यनुयोज्योपेक्षण का महान् भेद है। क्योंकि किसी के द्वारा वाद में इस निग्रहस्थान को उठाने पर वह अवधारित नहीं होता है अर्थात् वाद में भी वादी, प्रतिवादी के द्वारा उठाया गया निग्रहस्थान किसी के भी द्वारा मनोनुकूल धारण नहीं किया जाता है। निग्रहस्थान को प्राप्त स्वयं अपना निग्रहस्थान नहीं उठाता है।

निग्रहस्थान को प्राप्त हुआ कोई भी पुरुष इस लोक में अपने आप अपनी कौपीन (लंगोटी) को खोलकर नहीं फेंक देता है अर्थात् स्वकीय निग्रहस्थान को स्वयं प्रकट नहीं करता है। क्योंकि पर्यनुयोज्योपेक्षण उठाने के लिए निगृहीत को आकुलता उपस्थित हो जाती है। इसलिए इसका निर्णय माध्यस्थों के ऊपर रख दिया गया है॥२४८-२४९॥

जो पण्डित दूसरे के उत्तर की अप्रतिपत्ति को स्वयं उठा रहा है, वह स्वयं अपने साधन के दोष सहितत्व को निश्चय से प्रगट कर रहा है॥२५०॥

जिस स्थल पर जो उत्तर संभव है, उसका वहाँ कथन नहीं करना अप्रतिभा निग्रहस्थान है। ऐसा कहना युक्त है। अन्य प्रकार से निग्रहस्थान नहीं है। ऐसा न्यायशास्त्रों के जानने वालों का मन्तव्य है॥२५१॥

जैनाचार्य कहते हैं कि वादी द्वारा निर्दोष हेतु का कथन कर चुकने पर प्रतिवादी का चुप रह जाना विशेष रूप से निग्रहस्थान है। अथवा केवल व्यर्थ बकवाद करने से प्रतिवादी का निग्रह होता है। अतः स्वपक्ष की सिद्धि ही दूसरे का निग्रहस्थान (वा पराजय) है। स्वपक्ष की सिद्धि के बिना केवल निग्रहस्थान से कोई निगृहीत नहीं होता है। इसलिए अज्ञान से भिन्न "पर्यनुयोज्योपेक्षण" नाम का निग्रहस्थान नहीं है॥२५२॥

जो नैयायिक ने कहा था कि स्वपक्ष के दोषों को स्वीकार करके परपक्ष में दोषों का प्रसंग देना परपक्ष में दोष उठाना मतानुज्ञा नामक निग्रह स्थान है।

अथवा, जो दूसरों के द्वारा कथित दोषों का उद्धार (निराकरण) नहीं करके "आपके पक्ष में भी ये ही दोष हैं" - ऐसा कहता है वह उसके मतानुज्ञा नामक निग्रह स्थान है। जैनाचार्य कहते हैं कि यह नैयायिकों का कथन अपरीक्षित है (बिना विचारे कहा गया है)। इसलिये उसकी परीक्षा करते हैं -

दूसरे के द्वारा कथित दोषों को स्वकीय पक्ष में स्वीकार करके, उस दोष का निराकरण नहीं करके

स्वपक्षे दोषमुपयन् परपक्षे प्रसंजयन्। मतानुज्ञामवाप्नोति निगृहीतिं न युक्तितः ॥२५३॥
द्वयोरेवं सदोषत्वं तात्त्विकैः स्थाप्यते यतः। पक्षसिद्धिनिरोधस्य समानत्वेन निर्णयात् ॥२५४॥
अनैकांतिकतैवैवं समुद्भाव्येति केचन। हेतोरवचने तच्च नोपपत्तिमदीक्ष्यते ॥२५५॥
तथोत्तराप्रतीतिः स्यादित्यप्याग्रहमात्रकं। सर्वस्याज्ञानमात्रत्वापत्तेर्दोषस्य वादिनोः ॥२५६॥
संक्षेपतोन्यथा क्वायं नियमः सर्ववादिनाम्। हेत्वाभासोत्तराविति कीर्तेः स्यातां यतः स्थितेः ॥२५७॥
ननु चाज्ञानमात्रेपि निग्रहेति प्रसज्यते। सर्वज्ञानस्य सर्वेषां सादृश्यानामसंभवात् ॥२५८॥
सत्यमेतदभिप्रेतवस्तुसिद्धिप्रयोगिनोः। ज्ञानस्य यदि नाभावो दोषोन्यस्यार्थसाधने ॥२५९॥
सत्स्वपक्षप्रसिद्धयैव निग्राह्योन्य इति स्थितम्। समासतोनवद्यत्वादन्यथा तदयोगतः ॥२६०॥

वादी पर पक्ष में भी उसी दोष को उठाता है, वह मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान को प्राप्त होता है। नैयायिकों का यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि इस कथन से तात्त्विक (तत्त्व को जानने वाले) पुरुषों ने वादी और प्रतिवादी दोनों के ही सदोषपना स्वीकार किया है (सदोषत्व स्थापित किया है)। क्योंकि दोनों के ही समान रूप से स्वकीय पक्षसिद्धि के निरोध का निर्णय है। अर्थात् दोनों के ही पक्ष की सिद्धि का अभाव है॥२५३-२५४॥

कोई विद्वान् मतानुज्ञा नामकनिग्रह स्थान में "अनैकान्तिक हेत्वाभास संभव है" - ऐसा कहता है अर्थात् मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान अनैकान्तिक हेत्वाभास है - ऐसा कहता है। अतः मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान का कथन उचित नहीं है। परन्तु इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि हेतु का कथन किये बिना अनैकान्तिक हेत्वाभास कहना युक्तिसंगत नहीं दीखता है। अर्थात् जहाँ हेतु का कथन ही नहीं किया गया है, वहाँ हेत्वाभास का कथन करना उपयुक्त नहीं है तथा उसे उत्तराप्रतिपत्ति (अप्रतिभा नामक निग्रह स्थान) कहना भी उनका दुराग्रह मात्र ही है।

क्योंकि वादी और प्रतिवादियों के प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, अननुभाषण, अप्रतिभा आदि सर्व दोषों की अज्ञान मात्र से ही उपपत्ति है, अर्थात् सर्व दोष अज्ञान निग्रह में गर्भित हो जाते हैं। अतः इनकी पृथक् गणना करना व्यर्थ है। अन्यथा सम्पूर्ण वादियों के यहाँ संक्षेप से यह नियम करना कैसे बनेगा कि दोषों की गणना करने से यश की अपेक्षा हेत्वाभास और उत्तराप्रतिपत्ति ये दो दोष समझने चाहिए जिससे कि उपर्युक्त व्यवस्था हो सके! अर्थात् सभी वादियों के यहाँ संक्षेप से हेत्वाभास और उत्तराप्रतिपत्ति ये दो दोष ही कल्पित किये हैं। अतः मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान सिद्ध नहीं होता॥२५५-२५६-२५७॥

शंका - सभी निग्रहस्थानों को यदि अज्ञानमात्र में ही गर्भित किया जाता है, तो अतिप्रसंग दोष आता है क्योंकि सभी जीवों के सर्वज्ञानों की सदृशताओं की असंभवता है॥२५८॥

समाधान - जैनाचार्य कहते हैं कि यह तुम्हारा कहना सत्य है; किन्तु अभिप्रेत (इच्छित) साध्य वस्तु की सिद्धि करने के लिए प्रयुक्त ज्ञान का यदि अभाव नहीं है, तो स्वकीय अभीष्ट अर्थ के साधन करने पर ही दूसरे सन्मुख स्थित वादी वा प्रतिवादी का दोष कहा जाता है। तभी वह वादी प्रतिवादी समीचीन

तस्करत्वं नरत्वादेरिति हेतुर्यदोच्यते। तदानैकांतिकत्वोक्तित्वमपीति न वार्यते ॥२६१॥
वाचोयुक्तिप्रकाराणां लोकेवैचित्र्यदर्शनात्। नोपालंभस्तथोक्तौ स्याद्विपक्षे हेतुदर्शनम् ॥२६२॥
दोषहेतुमभिगम्य स्वपक्षे परपक्षताम्। दोषमुद्भाव्य पश्चात्त्वे स्वपक्षं साधयेज्जयी ॥२६३॥

यदप्यभिहितमनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगो निग्रहस्थानमिति तदप्यसदित्याह-

यदा त्वनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानमुच्यते। तदा निरनुयोज्यानुयोगाख्यो निग्रहो मतः ॥२६४॥
सोप्यप्रतिभयोक्तः स्यादेवमुत्तरविकृतेः। तत्प्रकारपृथग्भावे किमेतैः स्वल्पभाषितैः ॥२६५॥

स्वपक्ष को सिद्ध करके अन्य वक्ता का निग्रह कर विजय प्राप्त करने वाला कहा जाता है। संक्षेप से यह सिद्धान्त निर्दोष व्यवस्थित है कि प्रमाण द्वारा स्वपक्ष को सिद्ध करके ही वादी या प्रतिवादी दूसरे वक्ता का निग्रह कर सकता है, अन्यथा (अपने पक्ष की सिद्धि किये बिना) दूसरे का निग्रह करने का अयोग है अर्थात् स्वपक्ष की सिद्धि बिना दूसरे का निग्रह नहीं कर सकता ॥२५९-२६० ॥

यह तस्कर (चोर) है मनुष्यत्व होने से, भोजन करने वाला होने से, इत्यादि हेतुओं से तस्करपना सिद्ध किया है अर्थात् यह चोर है मनुष्य होने से, इत्यादि हेतु जब कहे जाते हैं, तो यह हेतु अनैकान्तिक है। इसमें अनैकान्तिक हेत्वाभास की उक्ति का निराकरण नहीं कर सकते। अर्थात् "यह चोर है पुरुष होने से, प्रसिद्ध डाकू के समान" ऐसा कहने पर तू भी तस्कर है, क्योंकि तू भी पुरुष है। इस प्रकार अनैकान्तिक दोषों के उत्थान का प्रवाह रोका नहीं जा सकता। क्योंकि जगत् में वचनों की युक्तियों के प्रकारों का विचित्रपना देखा जाता है। अर्थात् कहीं निषेधमुख से कार्य के विधान की प्रेरणा की जाती है और कहीं विधि मुख से निषेध किया जाता है।

इस प्रकरण में वचनभंगी द्वारा विपक्ष में हेतु को दिखलाते हुए अनैकान्तिक को कहने पर कोई उलाहना (दोष) नहीं है। क्योंकि स्वकीय पक्ष में हेतु के दोषों को समझ कर पुनः परपक्ष दोषों को उठाकर (पश्चात्) यदि वादी स्वकीय पक्ष को सिद्ध कर देता है तो वह विजय को प्राप्त हो जाता है, अन्यथा विजय की संभावना नहीं है। (ऐसा मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान में युक्त नहीं है) ॥२६१-२६२-२६३ ॥

जो अनिग्रह स्थान में निग्रहस्थान का अनुयोग करना "निरनुयोज्यानुयोग" नामक निग्रहस्थान कहा है, वह भी "असत्" असत्य है (समीचीन नहीं है)। इसको आचार्य कहते हैं -

जिस समय अनिग्रह स्थान में निग्रहस्थान कहा जाता है, उस समय निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रह स्थान माना गया है। जैनाचार्य कहते हैं कि नैयायिकों का निग्रहस्थान भी अप्रतिभा के रूप से कहा गया है। उत्तर देने में विकार हो जाना भी एक प्रकार का निग्रहस्थान ही है।

यदि उन अप्रतिभा या अज्ञान के भेद प्रभेद रूप प्रकारों का पृथक्-पृथक् निग्रहस्थान का सद्भाव माना जायेगा तो चौबीस रूप अल्प संख्या से क्या हो सकता है? अपितु असंख्यात निग्रहस्थान मानने पड़ेंगे ॥२६४-२६५ ॥

यथोक्तं कार्यव्यासंगात्कथाविच्छेदो विक्षेपः यत्र कर्त्तव्यं व्यासज्यकथां विच्छिनत्ति प्रतिस्थाय कलामेकां क्षणोति पश्चात्कथयिष्यामीति स विक्षेपो नाम निग्रहस्थानं तथा तेनाज्ञानस्याविष्करणादिति तदपि न सदित्याह-

सभां प्राप्तस्य तस्य स्यात्कार्यव्यासंगतः कथा। विच्छेदस्तस्य निर्दिष्टो विक्षेपो नाम निग्रहः॥२६६॥
सोपि नाप्रतिभातोस्ति भिन्नः कश्चन पूर्ववत्। तदेवं भेदतः सूत्रं नाक्षपादस्य कीर्तिकृत्॥२६७॥

यदप्युक्तं, सिद्धांतमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसंगोपसिद्धान्तः प्रतिज्ञातार्थव्यतिरेकेणाभ्युपेतार्थ-परित्यागान्निग्रहस्थानमिति, तदपि विचारयति--

स्वयं नियतसिद्धांतो नियमेन विना यदा। कथां प्रसंजयेत्तस्यापसिद्धांतस्तथोदितः॥२६८॥
सोप्ययुक्तः स्वपक्षस्यासाधनेनेन तत्त्वतः। असाधनांगवचनाद्दोषोद्भावनमात्रवत्॥२६९॥

तथा नैयायिक ने जो कहा था कि कार्य व्यासंग से वाद कथा का विच्छेद कर देना विक्षेप नामक निग्रहस्थान है। किसी कारणवश मन के विक्षिप्त हो जाने से वादी यदि प्रकरणभूत वाद कथा का जहाँ विच्छेद कर देता है, वा अपने साधने योग्य कार्य को सिद्ध करना अशक्य समझ कर समय बिताने के लिए असत्य कर्त्तव्य का प्रकरण उठाकर उसमें मनोयोग को लगाता है, वाद कथा में विघ्न डालता है, कुछ काल के अन्तर इस वाद को कहूँगा-इस प्रकार यह विक्षेप नामक निग्रहस्थान है। अथवा वक्ता के कोई रोग आदि हो जाने पर विक्षेप नामक निग्रहस्थान नहीं होता है। इसलिए अज्ञान के कारण हेतु के द्वारा वाद कथा का विच्छेद करना दोष है। अतः यह विक्षेप नामक निग्रहस्थान है। इस प्रकार नैयायिक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि नैयायिक के द्वारा स्वीकृत विक्षेप नामक निग्रहस्थान समीचीन नहीं है। उसी का आचार्य स्पष्ट रूप से कथन करते हैं -

शास्त्रार्थ करने के लिए सभा को प्राप्त उस वादी का कार्य में व्याक्षेप हो जाने से जो कथा का विच्छेद कर दिया जाता है, वह वादी का विक्षेप नामक निग्रहस्थान कहा गया है। परन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि यह विक्षेप नामक निग्रहस्थान भी अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान से पृथक् नहीं है। जैसे मतानुज्ञा निरनुयोज्यानुयोग आदि पूर्व कथित निग्रहस्थान अप्रतिभा, अज्ञान निग्रहस्थान से भिन्न नहीं हैं। इसलिए इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप से निग्रहस्थानों के लक्षण सूत्र बनाना **अक्षपाद** के लिए कीर्तिकर नहीं हैं? ॥२६६-२६७॥

स्वकीय सिद्धान्त को स्वीकार करके प्रतिज्ञातार्थ के विपर्यय रूप अनियम से कथा का प्रसंग उठाना अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान है। ऐसा **गौतम** सूत्र में लिखा है तथा प्रतिज्ञातार्थ के व्यतिरेक से स्वीकृत अर्थ का परित्याग हो जाने से यह निग्रह स्थान माना गया है। अर्थात् स्वीकृत प्रतिज्ञा के विरुद्ध अर्थ की सिद्धि करना अपसिद्धान्त नामक निग्रह स्थान है। इसी निग्रह स्थान का आचार्य विचार करते हैं -

वादी के द्वारा स्वयं नियत सिद्धान्त के नियम परिवर्तन बिना अन्य वाद का कथन करना अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान कहा गया है। परन्तु वह अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान युक्तिपूर्ण नहीं है। तत्त्वदृष्टि से देखा जाए तो स्वपक्ष साधन के बिना असाधन अंग वचन से दोषों का उद्भावन मात्र है। अर्थात् **स्वपक्ष की सिद्धि किये बिना केवल दोषों का उद्भावन करने से विजय की प्राप्ति नहीं हो सकती** ॥२६८-२६९॥

तत्राभ्युपेत्य शब्दादीन्नित्यानेव पुनः स्वयम्। ताननित्यान् ब्रुवाणस्य पूर्वसिद्धांतबाधनम् ॥२७०॥
तथैव शून्यमास्थाय तस्य संविदमात्रतः। पूर्वस्योत्तरतो बाधा सिद्धांतस्यान्यथा क्व तत् ॥२७१॥
प्रधानं चैवमासृत्य तद्विकारप्ररूपणम्। तादृगेवान्यथा हेतुस्तत्र न स्यात्समन्वयः ॥२७२॥
ब्रह्मात्माद्वैतमप्येवमुपेत्यागमवर्णनं। कुर्वन्नाम्नायनिर्दिष्टं बाध्योन्योप्यनया दिशा ॥२७३॥
स्वयं प्रवर्तमानाश्च सर्वथैकांतवादिनः। अनेकांताविनाभूतव्यवहारेषु तादृशाः ॥२७४॥

यदप्यवादि, हेत्वाभासाश्च यथोक्ता इति तत्राप्याह--

उस अप सिद्धान्त में निम्नलिखित उदाहरण दिये जा सकते हैं कि मीमांसक सर्वप्रथम शब्द आत्मा आदि को नित्य स्वीकार करता है। पुनः शास्त्रार्थ करते समय शब्द आदि को अनित्य मान लेता है, इस प्रकार नित्य स्वीकार करके पुनः अनित्य कहने वाले मीमांसक के पूर्व सिद्धान्त (शब्द नित्य है इस प्रतिज्ञा) में बाधा उपस्थित हो जाती है। उसी प्रकार शून्यवाद की प्रतिज्ञापूर्वक आस्था (श्रद्धा) करके पुनः उस शून्यवाद के संवेदन का कथन करने से भी पूर्व सिद्धान्त की उत्तर कालवर्त्ती कथन से बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः यह अपसिद्धान्त है। अन्यथा वह विरुद्ध कथन कैसे हो सकता था? अर्थात् शून्य तत्त्व का संवेदन (ज्ञान) मानने पर ज्ञान पदार्थ वस्तुभूत सिद्ध हो जाता है। अतः जगत् शून्य है। यह सिद्धान्त सिद्ध कैसे हो सकता है? ॥२७०-२७१॥

इसी प्रकार, एक प्रधान (प्रकृति) तत्त्व का आश्रय लेकर उस प्रधान के विकारों (महान्, अहंकार, तन्मात्रायें, इन्द्रियाँ, पाँच भूत) का कथन करना भी उसी प्रकार अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान है। अर्थात्- प्रधान को एक स्वीकार करके पुनः भेदकथन करना सिद्धान्त विरुद्ध (अपसिद्धान्त) होता है। अन्यथा वह वहाँ समन्वय रूप हेतु नहीं रह सकता है॥२७२॥

इसी प्रकार परमब्रह्म आत्मा को अद्वैत स्वीकार करके पुनः अनादिकालीन गुरुपरम्परा से प्राप्त आम्नाय से कथित वेद आगम की प्रमाणता का वर्णन करने वाला ब्रह्माद्वैतवादी बाधित हो जाता है। अर्थात् ब्रह्माद्वैतवाद को मानकर उससे भिन्न आगम को स्वीकार करने से ब्रह्माद्वैत का विघात हो जाता है और वादी स्वकीय सिद्धान्त से च्युत हो जाता है।

इसी संकेत से अन्य भी अपसिद्धान्त नामकनिग्रह स्थान समझना चाहिए अर्थात् ज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत या जीव तत्त्व को स्वीकार कर पुनः द्वैतवाद या जड़वाद का निरूपण करने लग जाना अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान है। इस प्रकार अन्य भी अपसिद्धान्त के दृष्टान्त समझना चाहिए।

अनेकान्त के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले व्यवहारों में स्वयं प्रवृत्ति करने वाले सर्वथा एकान्तवादी पुरुष भी वैसे ही एक प्रकार से अपसिद्धान्तवादी हैं। अर्थात् सर्वथा क्षणिकवाद, कूटस्थ नित्यवाद, गुण-गुणी में सर्वथा भेद या अभेद रूप स्वीकार करने पर अर्थक्रिया नहीं होती है। अतः यह क्षणिकवाद आदि सिद्धान्त अपसिद्धान्त हैं॥२७३-२७४॥

जो पूर्व में हेत्वाभास कहा था वही निग्रहस्थान है। उसी को आचार्य कहते हैं -

हेत्वाभासाश्च योगोक्ताः पंच पूर्वमुदाहृताः। सप्तधान्यैः समाख्याता निग्रहाधिकतां गतैः ॥२७५॥

प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के सामान्य रूप से लक्षण करते समय नैयायिकों ने पाँच प्रकार का हेत्वाभास कहा था तथा उसके उदाहरण भी दिये थे, निग्रहस्थानों की अधिकता को प्राप्त अन्य विद्वानों ने हेत्वाभासों की सात प्रकार की संख्या मानी है ॥२७५॥

भावार्थ - अनैकान्तिक हेत्वाभास-जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में जाता है वह अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हेत्वाभास है। इसके साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी ये तीन भेद हैं। जो हेतु सपक्ष और विपक्ष इन दोनों में रहता है वह साधारण अनैकान्तिक है। जैसे शब्द अनित्य है प्रमेय होने से, इसमें यह प्रमेयत्व हेतु अनित्य (पक्ष) नित्य (विपक्ष) दोनों में रहता है।

जो हेतु सपक्ष, विपक्ष दोनों में ही नहीं रहता है, वह हेतु असाधारण हेत्वाभास है। जैसे शब्द अनित्य है शब्दत्व होने से। यह शब्दत्वहेतु अनित्य घटादि सपक्ष में और नित्य आत्मादि विपक्ष दोनों में ही नहीं रहता है। अतः असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है। संदिग्ध और निश्चित के भेद से अनैकान्तिक हेत्वाभास के दो भेद हैं। जो हेतु केवल अन्वयी होकर पक्ष में रहता है वह अनुपसंहारी हेत्वाभास है। जैसे सम्पूर्ण पदार्थ शब्दों के द्वारा कथन करने योग्य हैं प्रमेय होने से। इसमें प्रमेय हेतु व्यतिरेक नहीं है-सर्व प्रमेय पक्ष कोटि में है। अतः यह हेतु अनुपसंहारी हेत्वाभास है।

पक्ष से वा साध्य से विरुद्ध पदार्थ के साथ अविनाभाव रखने वाला विरुद्ध हेत्वाभास है। जैसे यह स्थान अग्निवाला है, क्योंकि सरोवर है। अग्निमान सिद्ध करने के लिए दिया गया सरोवर हेतु विरुद्ध है।

तीसरा हेत्वाभास प्रकरणसम है जिसका दूसरा नाम सिद्ध साधन हेत्वाभास है, जिससे सिद्ध किया हुआ पदार्थ सिद्ध किया जाता है; जैसे अग्नि उष्ण है उष्ण होने से। इसमें उष्ण हेतु सिद्ध साधन होने से हेत्वाभास है।

कार्य (साध्य) को सिद्ध नहीं करने वाला हेतु असिद्ध हेत्वाभास है। साध्यसम, स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध, व्याप्त्वसिद्ध इत्यादि असिद्ध के अनेक प्रकार हैं।

पाँचवाँ हेत्वाभास बाधित विषय है, जिसका दूसरा नाम कालात्ययापदिष्ट है। प्रत्यक्ष बाधित, अनुमान बाधित, आगम बाधित, स्ववचन बाधित आदि अनेक भेद हैं।

अग्नि शीतल होती है, क्योंकि द्रव्य है जो-जो द्रव्य होता है वह शीतल होता है, जैसे पानी।

इसमें अग्नि को शीतल सिद्ध करने के लिए दिया गया द्रव्यत्व हेतु प्रत्यक्ष बाधित है, क्योंकि अग्नि का शीतलपना प्रत्यक्ष बाधित है।

पुण्य दुःख देने वाला है क्योंकि कर्म है। जो-जो कर्म होता है, वह-वह दुःख देने वाला है, जैसे पाप कर्म। परन्तु पुण्य दुःख देने वाला है। यह कथन आगमबाधित है। इस प्रकार पाँच प्रकार के हेत्वाभास समझने चाहिए।

निग्रहस्थानों के आधिक्य को प्राप्त अन्य विद्वानों ने सात प्रकार के भी हेत्वाभास माने हैं॥२७५॥

हेत्वाभासत्रयं तेपि समर्थं नातिवर्तितुं। अन्यथानुपपन्नत्ववैकल्यं तच्च नैककम् ॥२७६॥
यथैकलक्षणो हेतुः समर्थः साध्यसाधने। तथा तद्विकलाशक्तो हेत्वाभासोनुमन्यताम् ॥२७७॥
यो ह्यसिद्धतया साध्यं व्यभिचारितयापि वा। विरुद्धत्वेन वा हेतुः साधयेन्न स तन्निभः ॥२७८॥

पाँच प्रकार के या सात प्रकार के हेत्वाभासों को मानने वाले नैयायिक भी बौद्धों के द्वारा कथित तीन हेत्वाभासों का उल्लंघन करने के लिए समर्थ नहीं हैं और बौद्धों के द्वारा कथित तीन हेत्वाभासों का कथन भी अन्यथानुपपन्नत्व से विकल (रहित) नहीं हो सकता ॥२७६॥

भावार्थ - नैयायिक या वैशेषिक सिद्धान्त में जो सात या पाँच हेत्वाभास माने हैं, वे सर्व बौद्धों के द्वारा स्वीकृत असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक इन तीन हेत्वाभास में गर्भित हो जाते हैं। क्योंकि पक्षवृत्तित्वगुण असिद्ध हेत्वाभास का निराकरण करने के लिए है। सपक्षसत्त्व गुण विरुद्ध हेत्वाभास का निराकरण करने के लिए है और विपक्ष व्यावृत्ति अनेकान्त को दूर करने के लिए है।

बौद्ध के द्वारा स्वीकृत तीन हेत्वाभास और नैयायिकों के पाँच या सात हेत्वाभास भी एक अविनाभाव विकलता नामक हेत्वाभास में गर्भित हो जाते हैं।

क्योंकि साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला एक हेतु लक्षण ही कार्य करने में समर्थ है। अविनाभाव सम्बन्ध रहित पाँच अंग या हीन अंग वाला हेतु कार्य करने में समर्थ नहीं है। हेत्वाभासों की संख्या भी केवल एक अन्यथानुपपत्ति की विकलता ही है। अतः जैन सिद्धान्तानुसार हेत्वाभास का अन्यथानुपपत्ति रहितपना एक ही भेद मानना चाहिए।

जिस प्रकार एक अविनाभाव लक्षण से युक्त हेतु साध्य को साधने में समर्थ है, उसी प्रकार अकेले अविनाभाव से विकल हेतु साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। इसलिए अन्यथानुपपत्ति विकलता नामक एक ही हेत्वाभास स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् यह एक ही हेत्वाभास अनुमिति या उसके कारण व्याप्ति-ज्ञान, परामर्श आदि का विरोध करता हुआ साध्यसिद्धि में प्रतिबन्धक हो जाता है।

जो भी हेतु असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक होने से साध्य को सिद्ध नहीं करता है, वह अविनाभाव विकल (अन्यथानुपपत्ति रहित) होने से हेत्वाभास है। अतः एक अविनाभाव विकलता ही हेत्वाभास है ॥२७७-२७८ ॥

असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचारी हेतु यदि साध्य अविनाभावी नियम लक्षण से युक्त है, तब तो हेत्वाभास होने योग्य नहीं है। परन्तु असिद्ध आदि हेत्वाभासों के इस प्रकार अविनाभाव सम्बन्ध का नियम नहीं है। क्योंकि उन असिद्ध आदि हेत्वाभासों का साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध का योग नहीं है अर्थात् जो अविनाभाव विकल है, वह सद् हेतु नहीं है और जो अविनाभाव सहित है, वह असिद्ध आदि रूप हेत्वाभास नहीं है।

असिद्धादयोपि हेतवो यदि साध्याविनाभावनियमलक्षणयुक्तास्तदा न हेत्वाभासा भवितुमर्हंति। न चैवं, तेषां तदयोगात्। न ह्यसिद्धः साध्याविनाभावनियतस्तस्य स्वयमसत्त्वात्। नाप्यनैकांतिको विपक्षेपि भावात्। न च विरुद्धो विपक्ष एव भावादित्यसिद्धादिप्रकारेणाप्यन्यथानुपपन्नत्ववैकल्यमेव हेतोः समर्थ्यते। ततस्तस्य हेत्वाभासत्वमिति संक्षेपादेक एव हेत्वाभासः प्रतीयते अन्यथानुपपन्नत्वनियमक्षणैकहेतुवत्। अतस्तद्वचनं वादिनो निग्रहस्थानं परस्य पक्षसिद्धाविति प्रतिपत्तव्यं। तथा च संक्षेपतः 'स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोन्यस्य वादिन' इति व्यवतिष्ठते। न पुनर्विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती तद्भावेपि कस्यचित्स्वपक्षसिद्धाभावे परस्य पराजयानुपपत्तेरसाधनांगवचनादोषोद्भावनमात्रवत् छलवद्वा॥

किं पुनश्छलमित्याह–

क्योंकि जो असिद्ध हेत्वाभास ह वह साध्य के साथ अविनाभाव रखना रूप नियम से युक्त नहीं है क्योंकि वह स्वयं पक्ष में विद्यमान नहीं है।

विपक्ष में सद्भाव होने से अनैकान्तिक हेत्वाभास भी साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला नहीं है।

विरुद्ध हेत्वाभास भी साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला नहीं है। क्योंकि विरुद्ध हेत्वाभास का विपक्ष में सद्भाव पाया जाता है। इसलिए असिद्ध आदि हेत्वाभासों के अन्यथानुपपत्ति से विकलता ही हेतु का समर्थन किया है। अतः सिद्ध होता है कि अकेली अन्यथानुपपत्ति के ही हेत्वाभासत्व है। इस प्रकार, संक्षेप से, एक ही हेत्वाभास प्रतीत होता है। जैसे अन्यथानुपपत्ति रूप नियम का धारक समीचीन हेतु एक ही प्रकार का है। अतः एक ही प्रकार के हेत्वाभास का कथन करने से वादी का निग्रह स्थान हो जाता है और दूसरे प्रतिवादी के द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि हो जाने से वादी का निग्रह (पराजय) हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार के सिद्धान्त का निर्णय हो जाने पर, संक्षेप से एक के स्वपक्ष की सिद्धि हो जाने पर दूसरे वादी या प्रतिवादी का निग्रह (पराजय) हो जाता है, यह व्यवस्था है। नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत सामान्य लक्षण विप्रतिपत्ति और अविप्रतिपत्ति, निग्रहस्थान नहीं हैं क्योंकि उन विपरीत प्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के होने पर भी वादी वा प्रतिवादी में किसी एक के स्वपक्ष की सिद्धि के अभाव में दूसरे की पराजय होना संभव नहीं है।

जैसे केवल असाधनांग वचन और अदोषोद्भावन से छल से विजय प्राप्त नहीं हो सकती, पराजय नहीं हो सकती। इसलिए विजय प्राप्त करने के लिए स्वपक्ष की सिद्धि करना परमावश्यक है।

छल किसे कहते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं -

वोर्थारोपोपपत्त्या स्याद्विघातो वचनस्य तत्। छलं सामान्यतः शक्यं नोदाहर्तुं कथंचन ॥२७९॥
विभागेनोदितस्यास्योदाहृतिः स त्रिधा मतः। वाक्सामान्योपचारेषु छलानामुपवर्णनात् ॥२८०॥

अर्थस्यारोपो विकल्पः कल्पनेत्यर्थः तस्योपपत्तिः घटना तया यो वचनस्य विशेषेणाभिहितस्य विघातः प्रतिपादकादभिप्रेतादर्थात् प्रच्यावनं तच्छलमिति लक्षणीयं, 'वचनविघातोर्थविकल्पोपपत्त्या छलं' इति वचनात्। तच्च सामान्यतो लक्षणे कथमपि न शक्यमुदाहर्तुं विभागेनोक्तस्य तच्छलस्योदाहरणानि शक्यंते दर्शयितुं। स च विभागस्त्रिधा मतोऽक्षपादस्य तु त्रिविधमिति वचनात्। वाक्सामान्योपचारेषु छलानां त्रयाणामेवोपवर्णनात्। वाक्छलं, सामान्यछलं, उपचारछलं चेति॥

तत्र किं वाक्छलमित्याह–

तत्राविशेषदिष्टेर्थे वक्तुराकूततोन्यथा। कल्पनार्थांतरस्येष्टं वाक्छलं छलवादिभिः ॥२८१॥

तेषामविशेषेण दिष्टे अभिहितेर्थे वक्तुराकूतादभिप्रायादन्यथा स्वाभिप्रायेणार्थांतरस्य कल्पनमारोपणं वाक्छलमिष्टं, तेषामविशेषाभिहितेर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थांतरकल्पना वाक्छलं इति वचनात्॥

वादी के द्वारा स्वीकृत अर्थ का जो विरुद्ध कल्प है अर्थात् अर्थान्तर की कल्पना है, उसकी उत्पत्ति करके वादी द्वारा कथित अर्थ का प्रतिवादी के द्वारा जो विघात है, वह उस प्रतिवादी का छल है। सामान्य रूप से उस छल का उदाहरण कैसे भी नहीं बन सकता है। परन्तु विभाग करके कथित इस छल का उदाहरण संभव हो सकता है। उन छलों का विभाग तीन प्रकार का कहा गया है- वाक् छल, सामान्य छल और उपचार छल अर्थात् छल तीन प्रकार का कहा गया है॥२७९-२८०॥

वादी के अभीष्ट अर्थ का आरोप विकल्प है। इसका अर्थ है अर्थान्तर की कल्पना करना। उस आरोप की उत्पत्ति (घटना) के द्वारा वादी के विशेषण (अभिप्राय पूर्वक) से कथित वचन का विघात कर देना, प्रतिपादक अभिप्रेत अर्थ से प्रच्युत करा देना छल का लक्षण है। "अर्थ के विकल्प की उत्पत्ति से वचन विघात करना छल है" ऐसा गौतम सूत्र में कहा है। सामान्यतः छल का उदाहरण नहीं दे सकते हैं परन्तु विभाग करके कह दिये गये उस छल के उदाहरण दिखलाये जा सकते हैं। और वह विभाग तो **अक्षपाद गौतम** के यहाँ तीन प्रकार का माना गया है। इस प्रकार गौतम सूत्र में कहा गया है। "तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यछलमुपचारछलं च" इस कथन से वाक्, सामान्य, उपचार-इन भेदों में तीन प्रकार के छलों का ही वर्णन किया गया है। वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल इस प्रकार छल के तीन विभाग हैं।

उन तीन छलों में पहिला वाक्छल क्या है? इसका लक्षण कहते हैं -

"अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलं" - अविशेष रूप से वक्ता द्वारा कहे गये अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से दूसरे अर्थान्तर की कल्पना करना और कल्पना कर उस दूसरे अर्थ का असम्भव दिखाकर निषेध करना छलवादी नैयायिकों ने छल का लक्षण स्थित किया है। जिनका स्वभाव छलपूर्वक कथन करने का हो गया है, उनको इस प्रकार छल का लक्षण करना शोभित होता है॥२८१॥

सामान्य रूप से अभिहित किये गये अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से अपने अभिप्राय से दूसरे प्रकार अर्थान्तर की कल्पना करना, अर्थात् वक्ता के ऊपर विपरीत आरोप धरना उन नैयायिकों के यहाँ वाक्छल अभीष्ट किया गया है। उनके यहाँ **गौतम सूत्र** में इस प्रकार कहा गया है कि विशेष रूपों को उठाकर आक्षेपों

अस्योदाहरणमुपदर्शयति–

आढ्यो वै देवदत्तोयं वर्तते नवकंबलः। इत्युक्ते प्रत्यवस्थानं कुतोस्य नवकंबलाः ॥२८२॥
यस्मादाढ्यत्वसंसिद्धिर्भवेदिति यदा परः। प्रतिब्रूयात्तदा वाचि छलं तेनोपपादितम् ॥२८३॥
नवकंबलशब्दे हि वृत्त्या प्रोक्ते विशेषतः। नवोऽस्य कंबलो जीर्णो नैवेत्याकूतमांजसम् ।२८४।
वक्तुः संभाव्यते तस्मादन्यस्यार्थस्य कल्पना। नवास्य कंबला नाष्टावित्यस्यासंभवात्मनः २८५
प्रत्यवस्थातुरन्यायवादितामानयेद्ध्रुवं। संतस्तत्त्वपरीक्षायां कथं स्युश्छलवादिनः ॥२८६॥

कथं पुनरनियमविशेषाभिहितोर्थः वक्तुरभिप्रायादर्थांतरकल्पना वाक्छलाख्या प्रत्यवस्थातुरन्याय-वादितामानयेदिति चेत्, छलस्यान्यायरूपत्वात्। तथाहि–तस्य प्रत्यवस्थानं सामान्यशब्दस्यानेकार्थत्वे अन्यतराभिधानकल्पनायां विशेषवचनाद्दर्शनीयमेतत् स्यात् विशेषाज्ञानीमोऽयमर्थस्त्वया विवक्षितो नवास्य कंबला इति, न पुनर्नवोस्य कंबल इति। स च विशेषो नास्ति तस्मान्मिथ्याभियोगमात्रमेतदिति। प्रसिद्धश्च

के निराकरण की अपेक्षा नहीं करके सामान्यरूप से वचन व्यवहार में प्रसिद्ध हो रहे अर्थ के वादी द्वारा कह चुकने पर यदि प्रतिवादी वक्ता वादी के अभिप्राय से अन्य अर्थों की कल्पना कर प्रत्यवस्थान देता है, तो यह प्रतिवादी का वाक् छल है। अतः वादी से प्रतिवादी का पराजय हो जाता है। क्योंकि लोक में सामान्यरूप से प्रयोग किये गये शब्द अपने अभीष्ट विशेष अर्थों को कह देते हैं।

श्री विद्यानन्द आचार्य इस वाक् छल के उदाहरण को वार्त्तिक द्वारा दिखलाते हैं -

यह देवदत्त अवश्य ही धनवान है, क्योंकि नवकंबलवाला (नवीन कम्बल वाला) है। इस प्रकार वादी द्वारा कथन कर चुकने पर प्रतिवादी द्वारा प्रत्यवस्थान उठाया जाता है कि इसके पास नौ संख्या वाले कंबल कहाँ हैं? जिससे कि हेतु के पक्ष में धनीपन की सिद्धि हो जाती। इस प्रकार दूसरा प्रतिवादी जब प्रत्युत्तर कहेगा, तब उस प्रतिवादी के वचनों में छल की उपपत्ति होगी। अतः छल दोष से ग्रसित हुआ प्रतिवादी विचारशीलों की दृष्टि में गिर जाता है ॥२८२-२८३॥

यहाँ इस अनुमान में नव और कंबल शब्द का कर्मधारय समास करके विशेष रूप से "नवकंबल" शब्द कहा गया है कि इसके पास नवीन कंबल रहता है। फटा, पुराना कम्बल कभी देखने में नहीं आता है। इस प्रकार का ही वक्ता का अभिप्राय तात्त्विक रूप से संभव है। किन्तु प्रतिवादी कषायवश उस अभिप्रेत अर्थ से अन्य अर्थ की कल्पना कर दोष देने के लिए बैठ जाता है कि नव कंबल शब्द द्वारा इसके नौ संख्या वाले कंबल होने चाहिए, आठ भी नहीं। इस प्रकार असंभव स्वरूप अर्थ की कल्पना कर प्रत्यवस्थान उठा रहे प्रतिवादी पर 'अन्यायपूर्वक बोलता है' तो उसे निश्चय से अन्यायवादी कहना चाहिए अर्थात् उस प्रतिवादी को अन्यायवादी माना जाना चाहिए। तत्त्वों की परीक्षा करने में सज्जन पुरुष अधिकारप्राप्त हैं। छलपूर्वक कहने वाले तत्त्वों की परीक्षा कैसे कर सकेंगे? अथवा जो सज्जन हैं वे स्वभाव से छलपूर्वक वाद करने वाले कैसे हो सकते हैं? अर्थात् कभी नहीं ॥२८४-२८५-२८६॥

कोई प्रश्न करता है कि फिर विशेष नियम किये बिना ही वक्ता के सामान्यरूप से कह दिये गये अर्थ की वक्ता के अभिप्राय से अर्थान्तर की कल्पना करना वाक्छल नाम को धारता हुआ प्रत्यवस्थान

लोके शब्दार्थसंबंधोभिधानाभिधेयनियमनियोगोस्याभिधानस्यायमर्थोभिधेय इति समानार्थः सामान्यशब्दस्य, विशिष्टोर्थो विशेषशब्दस्य। प्रयुक्तपूर्वाश्चामी शब्दाः प्रयुज्यन्तेऽर्थेषु सामर्थ्यान्न प्रयुक्तपूर्वाः प्रयोगश्चार्थः अर्थसम्प्रत्ययाद् व्यवहार इति तत्रैवमर्थवत्यर्थशब्दप्रयोगे सामर्थ्यात्सामान्यशब्दस्य प्रयोगनियमः। अजामानय ग्रामं, सर्पिराहर, ब्राह्मणं भोजयेति सामान्यशब्दाः संतोर्थावयवेषु प्रयुज्यंते सामर्थ्यात्। यत्रार्थे क्रियाचोदना संभवति तत्र वर्तते, न चार्थसामान्ये अजादौ क्रियाचोदना संभवति। ततोजादिविशेषाणामेवानयनादयः क्रियाः प्रतीयंते न पुनस्तत्सामान्यस्यासंभवात्। एवमयं सामान्यशब्दो नवकंबल इति योर्थः संभवति नवः कंबलोस्येति तत्र वर्तते, यस्तु न संभवति नवास्य कंबला इति तत्र न वर्तते प्रत्यक्षादिविरोधात्। सोयमनुपपद्यमानार्थकल्पनया

उठाने वाले प्रतिवादी को अन्यायपूर्वक कहने वाला कैसे कह सकते हैं? इसका आचार्य उत्तर देते हैं कि छल जब अन्यायस्वरूप है तो छलप्रयोक्ता मनुष्य अन्यायवादी अवश्य है। इस बात को और भी स्पष्ट कर कह देते हैं कि इस प्रतिवादी का दूषण उठाना अन्यायरूप है। सामान्य वाचक शब्दों के जब अनेक अर्थ प्रसिद्ध हैं तो उनमें किसी भी एक अर्थ के कथन की कल्पना के विशेष कथन से यह उस वादी का प्रत्यवस्थान दिखलाया गया होना चाहिए। विशेष रूप से हम यह जान पाये हैं कि इसके पास संख्या में नौ कम्बल हैं। यह अर्थ तुम वादी द्वारा विवक्षा प्राप्त है। किन्तु इसका कंबल नवीन है, यह अर्थ विवक्षित नहीं है और वह नौ संख्या वाला विशेष अर्थ यहाँ इस कथन में घटित नहीं होता है। अतः यह झूठा अभियोग आरोप है। इस प्रकार विपरीत समर्थन करना छलवादी को ही सम्भव है। जैनाचार्य **न्यायभाष्य** का अनुवाद कर रहे हैं कि लोक में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध तो अभिधान और अभिधेय के नियम का नियोग करना है। इस शब्द का यह अर्थ अभिधान करने योग्य है। इस प्रकार सामान्य शब्द का अर्थ सामान्य है और विशेष शब्द का अर्थ विशिष्ट है। उन शब्दों का पूर्वकाल में भी लोकव्यवहारार्थ प्रयोग कर चुके हैं। वे ही शब्द अर्थप्रतिपादन में समर्थ होने के कारण इस समय प्रयोग किये जाते हैं। वे शब्द पहिले वचनव्यवहारों में प्रयोग नहीं किये गये हैं। ऐसा नहीं समझना। क्योंकि शब्दों के प्रयोग का व्यवहार तो वाच्य-अर्थ का ज्ञान हो जाने से हो जाता है। अर्थ का ज्ञान कराने के लिए शब्दप्रयोग है और अर्थ का सम्यग्ज्ञान लोकव्यवहार है। इस प्रकार अर्थवान शब्द के होने पर अर्थ में शब्द का प्रयोग करना नियत है। तुम बकरी को गाँव ले जाओ, घृत को लाओ, ब्राह्मण को भोजन कराओ, इत्यादिक शब्द सामान्य के वाचक होते हुए भी सामर्थ्य द्वारा अर्थविशेषों में प्रयुक्त किये जाते हैं। जिस विशेष अर्थ में अर्थक्रिया की प्रेरणा होना सम्भव है, उसी अर्थ में वाचक प्रवृत्ति होती है। अर्थ सामान्य बकरी, ब्राह्मण आदि सामान्यों में किसी भी क्रिया की प्रेरणा सम्भवती नहीं है। विशेषों से रहित बकरी सामान्य या ब्राह्मण सामान्य कुछ पदार्थ नहीं है। बकरी, ब्राह्मण, घोड़ा आदि विशेष पदार्थों की ही लाना, ले जाना, भोजन कराना आदि क्रियायें प्रतीत होती हैं।

किन्तु फिर उनके विशेषरहित केवल सामान्य के किसी भी अर्थक्रिया के हो जाने की सम्भावना नहीं है और न कोई सामान्य का लक्ष्य कर उसमें अर्थक्रिया करने का उपदेश ही देता है। इसी प्रकार यह "नवकंबल" शब्द सामान्य शब्द है। नव सख्या, नवसंख्यावान् और नवीन इन दोनों विशेषों में नवपना

परवाक्योपालंभत्वेन कल्प्यते तत्त्वपरीक्षायां सतां छलेन प्रत्यवस्थानायोगात्। तदिदं छलवचनं परस्य पराजय एवेति मन्यमानं न्यायभाष्यकारं प्रत्याह–

एतेनापि निगृह्णेत जिगीषुर्यदि धीधनैः। पत्रवाक्यमनेकार्थं व्याचक्षाणो निगृह्यताम् ॥२८७॥
तत्र स्वयमभिप्रेतमर्थं स्थापयितुं नयैः। योऽसामर्थ्योपरैः शक्तैः स्वाभिप्रेतार्थसाधने ॥२८८॥
योर्थसंभावयन्नर्थः प्रमाणैरुपपद्यते। वाक्ये स एव युक्तोस्तु नापरोतिप्रसंगतः ॥२८९॥
यत्र पक्षे विवादेन प्रवृत्तिर्वादिनोरभूत्। तत्सिद्ध्यैवास्य धिक्कारोन्यस्य पत्रे स्थितेन चेत् ॥२९०॥
क्वैवं पराजयः सिद्ध्येच्छलमात्रेण ते मते। संधाहान्यादिदोषैश्च दात्राऽऽदात्रोः स पत्रकम् ॥२९१॥

सामान्य अन्वित है। इस प्रकार नव का जो अर्थ यहाँ पक्ष में सम्भव है कि इसका दुशाला नवीन है, उस विशेष अर्थ में यह नव शब्द उपनय है और जो अर्थ यहाँ सम्भव नहीं है कि इसके पास संख्या में नौ कम्बल विद्यमान हैं; इस प्रकार उस अर्थ में यह नव शब्द नहीं रहता है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष अनुमान आदि से विरोध आता है। अतः यह अर्थ की कल्पना करके दूसरों के वाक्यों के ऊपर उलाहना देना, उस छलवादी ने कल्पित किया है। वह सम्भव नहीं है और वह इष्टसिद्धि कराने में समर्थ भी नहीं है। क्योंकि तत्त्वों की परीक्षा करने में सज्जन पुरुषों के द्वारा छल, कपट, करके परपक्ष निषेध करना समुचित नहीं है। इसलिए यह छलपूर्वक कथन करना दूसरे प्रतिवादी की पराजय ही है। इस प्रकार मानने वाले के प्रति आचार्य समाधान वचन कहते हैं -

यदि जीतने की इच्छा रखने वाला विद्वान् केवल अनेक अर्थों का प्रतिपादन करने से ही बुद्धिरूप धन को धारने वालों के द्वारा निग्रहस्थान को प्राप्त हो जायेगा, तब तो अनेक अर्थ वाले पत्रवाक्य का व्याख्यान करने वाला प्रकाण्ड विद्वान् भी निग्रह को प्राप्त हो जायेगा किन्तु इस प्रकार कभी होता नहीं है।

अत्यन्त गूढ़ अर्थवाले कठिन-कठिन वाक्यों को लिखकर जहाँ पत्रों द्वारा लिखित शास्त्रार्थ होता है, वहाँ भी उद्भट विद्वान् के ऊपर छल दोष उठाया जा सकता है क्योंकि पत्र में अनेक अर्थ वाले गूढ़ पदों का विन्यास है। किन्तु ऐसा कभी होता नहीं, वहाँ स्वयं अभीष्ट अर्थ को हेतु स्वरूप नयों के द्वारा स्थापन करने के लिए जो वादी सामर्थ्य युक्त नहीं है, वह अपने अभिप्रेत अर्थ को साधने में समर्थ दूसरे विद्वानों के द्वारा पराजित कर दिया जाता है। अर्थ की सम्भावना से जो अर्थ प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो जाता है, वही अर्थ वाक्य में लगाना युक्त होता है। दूसरा असंभवित अर्थ कल्पित कर नहीं लगाना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने पर दोष आता है अर्थात् गौ शब्द का प्रायः व्यवहार होता है। क्योंकि उसके वाणी, दिशा, पृथिवी आदि अनेक अर्थ माने गये हैं। अतः संभवित अर्थ ही पकड़ना चाहिए। जैसे नव शब्द के नौ और नया ये दोनों अर्थ संभव हैं। वहाँ प्रतिवादी का छल बताना न्यायमार्ग नहीं है॥२८७-२८९॥

नैयायिक कहते हैं कि वादी और प्रतिवादी की पत्र में स्थित विवाद द्वारा जिस पक्ष में प्रवृत्ति हुई है, उस पक्ष की सिद्धि कर देने से ही इसकी जय और दूसरे की पराजय संभव है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मानने पर तुम्हारे मत में केवल छल से ही प्रतिवादी की पराजय कहाँ कैसे सिद्ध हो सकती है? तथा प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर आदि दोषों के द्वारा भी पराजय कहाँ हुई? जब

यत्र पक्षे वादिप्रतिवादिनोर्विप्रतिपत्त्या प्रवृत्तिस्तत्सिद्धिरेवैकस्य जयः पराजयोन्यस्य, न पुनः पत्रवाक्यार्थानवस्थापनमिति ब्रुवाणस्य कथं छलमात्रेण प्रतिज्ञाहान्यादिदोषैश्च स पराजयः स्यात् पत्रं दातुरादातुश्चेति चिंत्यतां। न हि पत्रवाक्यविदर्थे तस्य वृत्तिस्तत्सिद्धिश्च पत्रं दातुर्जय आदातुः पराजयस्तन्निराकरणं वा तदा दातुर्जयोऽदातुः पराजय इति च द्वितीयार्थेपि तस्य वृत्तिसंभवात्, प्रमाणतस्तथापि प्रतीतेः समानप्रकरणादिकत्वाद्विशेषाभावात्। तथाढ्यो वै देवदत्तो नवकंबलत्वात्सोमदत्तवत् इति प्रयोगेपि यदि वक्तुर्नवः कंबलोस्येति नवास्य कंबला इति वार्थद्वयं नवकंबलशब्दस्याभिप्रेतं भवति तदा कुतोस्य नवकंबला इति प्रत्यवतिष्ठमानो हेतोरसिद्धतामेवोद्भावयति न पुनश्छलेन प्रत्यवतिष्ठते। तत्परिहाराय च चेष्टमानस्तदुभयार्थसमर्थनेन

तक अपने पक्ष की सिद्धि नहीं की जाती है तथा गूढ़पदवाले पत्रदाता और पक्ष के गृहीता की वह पराजय कैसी?

अतः यह निश्चित है कि अपने पक्ष की सिद्धि करने पर ही वादी की जय और प्रतिवादी की पराजय होती है, अन्यथा नहीं॥२९०-२९१॥

जिस पक्ष में वादी और प्रतिवादी की विप्रतिपत्ति (विवाद) करके प्रवृत्ति हो रही है, उसकी सिद्धि हो जाने से ही एक की जय और अन्य की पराजय मानी जाती है। किन्तु फिर पत्र में स्थित वाक्य के अर्थ की व्यवस्था नहीं होने देना कोई किसी की जय, पराजय नहीं है। अथवा केवल अनेक अर्थपन का प्रतिपादन कर देना ही जय, पराजय नहीं। इस प्रकार कहने वाले नैयायिक के यहाँ केवल छल कह देने से और प्रतिज्ञाहानि आदि दोषों के द्वारा पत्र देने वाले और लेने वाले की वह पराजय कैसे हो सकती है? इसकी तुम स्वयं चिन्ता (चिन्तन) करो अर्थात् - जब स्वकीय पक्ष की सिद्धि और असिद्धि जय पराजय व्यवस्था का प्राण है, तो केवल प्रतिवादी द्वारा छल या निग्रहस्थान उठा देने से ही गूढ़ अर्थ वाले पत्र को देने वाले वादी की कैसे पराजय हो सकती है?

गूढ़ पत्र द्वारा समझाने योग्य जिस अर्थ में उस वादी की वृत्ति है, उसकी सिद्धि कर देने से गूढ़ पत्र को देने वाले वादी की जय और पत्र का ग्रहण करने वाले प्रतिवादी की पराजय हो जाती है, अथवा उस पत्रलिखित अर्थ का प्रतिवादी द्वारा निराकरण कर देने पर उस पत्र को लेने वाले प्रतिवादी की विजय और पत्र को देने वाले वादी की पराजय हो जाती है। नैयायिकों का ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि गूढ़ पत्र के कई अर्थ सम्भव हैं। अतः दूसरे अर्थ में भी उस वादी की वृत्ति होना सम्भव है। क्योंकि प्रकरणों से उस प्रकार भी प्रतीत होता है। प्रकरण, तात्पर्य, अवसर, आकांक्षा आदि की समानता भी मिल रही है। कोई विशेषता नहीं है कि यही अर्थ पकड़ा जाय, दूसरा नहीं लिया जाय। तथा जो वाक्छल के प्रकरण में अनुमान कहा गया है कि यह देवदत्त अवश्य ही धनवान है, नव कंबलवाला होने से सोमदत्त के समान। इस अनुमान प्रयोग में भी वक्ता को नव कंबल शब्द के दोनों ही अर्थ अभीष्ट हैं कि इसके निकट नवीन कंबल है और इसके यहाँ संख्या में नौ कंबल हैं, तब जो प्रतिवादी के द्वारा दूषण उठाया जा रहा है कि इस देवदत्त के पास एक कम दस कम्बल तो नहीं हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि वह प्रत्यवस्थान करने वाला प्रतिवादी वादी द्वारा प्रयुक्त किये हेतु के असिद्धपन को ही उठा रहा है, किन्तु फिर छल करके तो दूषण नहीं दे रहा है। अतः उस प्रतिवादी को छली बनाकर पराजय देना उचित नहीं। प्रतिवादी द्वारा लगाये गये उस असिद्ध दोष के परिहार के लिए चेष्टा करने वाला वादी उन दोनों अर्थों का समर्थन करके अथवा उन दोनों

तदेकतरार्थसमर्थनेन वा हेतुसिद्धिमुपदर्शयति नवस्तावदेकः कंबलोस्य प्रतीतो भवताऽन्येस्याष्टौ कंबला गृहे तिष्ठंतीत्युभयथा नवकंबलत्वस्य सिद्धेः नासिद्धतोद्भावनीया। नवकंबलयोगित्वस्य वा हेतुत्वेनोपादानात्सिद्ध एव हेतुरिति स्वपक्षसिद्धौ सत्यामेव वादिनो जयः परस्य च पराजयो नान्यथा। तदेवं वाक्छलमपास्य सामान्यछलमनूद्य निरस्यति–

यत्र संभवतोर्थस्यातिनसामान्यस्य योगतः। असद्भूतपदार्थस्य कल्पना क्रियते बलात् ॥२९२॥

में से किसी एक अर्थ का समर्थन करके अपने नव कंबलत्व (नवः कम्बलो यस्य) हेतु की सिद्धि को दिखलाता है। हे प्रतिवादिन्! नवीन एक कंबल तो आपने पास में देखकर निर्णीत ही कर लिया है कि अन्य आठ कम्बल इसके घर में रखे हैं। अतः नवीन और नौ संख्या इन दोनों अर्थों के प्रकार से मेरा नवकंबलत्व हेतु सिद्ध हो जाता है। अतः तुमको असिद्धपना नहीं उठाना चाहिए। बात यह भी है कि हेतुपन सरलता से सिद्ध हो जाता है। नवकंबल का योगीपन कहने से ओढ़े हुए कंबल में नवीनता अर्थ को पुष्टि मिल जाती है। "युज् समाधौ" या युजिर् योगे, किसी भी धातु से योगी शब्द को बनाने पर नूतन कंबल का संयोगीपना हेत्वर्थ हो जाता है जो कि पक्ष में प्रत्यक्ष प्रमाण से दिखता है। योगी शब्द लगा देने से नव का अर्थ नौ संख्या नहीं हो सकता है। अन्त में तत्त्व यही निकलता है कि अपने पक्ष की सिद्धि हो जाने पर ही वादी की जय और दूसरे प्रतिवादी की पराजय होती है। अन्य प्रकारों से जय-पराजय की व्यवस्था नहीं होती है।

इस प्रकार वाक्छल का निराकरण कर अब **श्री विद्यानन्द आचार्य** दूसरे सामान्य छल का अनुवाद कर खण्डन करते हैं -

जहाँ यथायोग्य सम्भव अर्थ का अतिक्रान्त करके सामान्य के योग से अर्थविकल्प उपपत्ति की सामर्थ्य से जो अविद्यमान पदार्थ की कल्पना की जाती है, नैयायिक उसको सामान्य छल कहते हैं। अर्थात् - जो विवक्षित अर्थ को बहुत स्थानों में प्राप्त कर लेता है और कहीं-कहीं उस अर्थ का अतिक्रमण कर जाता है, वह अतिसामान्य है। यह दूसरा सामान्य छल तो सामान्य रूप से प्रयुक्त किये गये अर्थ के विगम को कारण मानकर प्रवृत्ति करता है। जैसे किसी ने जिज्ञासापूर्वक आश्चर्यसहित इस प्रकार कहा कि वह ब्राह्मण है। अतः उसे विद्यासम्पत्ति और आचरण सम्पत्ति से युक्त अवश्य होना चाहिए। अर्थात्-जो ब्राह्मण (ब्रह्म वेत्तीति ब्राह्मणः) है, वह विद्वान् और आचरणवान् होना चाहिए। इस प्रकार किसी के भी द्वारा कहने पर कोई छल को हृदय में धारता हुआ कहता है कि इस प्रकार वह विद्या, आचरण सम्पत्ति तो ब्राह्मण कहे जाने वाले संस्कारहीन व्रात्य में भी क्यों नहीं हो जाएगी? क्योंकि ब्राह्मण माता-पिताओं का तीन चार वर्ष का लड़का भी ब्राह्मण है। उसका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ नहीं है। वह ब्राह्मण का लड़का व्रात्य है, किन्तु उसे कोई व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त आदि विषयों का ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार उस लड़के में अभक्ष्यत्याग, ब्रह्मचर्य, संत्संग, इन्द्रियविजय, अहिंसाभाव, सत्यवाद, विनयसंपत्ति, संसार भीरुता, वैराग्य परिणाम आदि व्रतस्वरूप आचरण भी नहीं पाये जाते हैं। इस प्रकार, अर्थविकल्प की उपपत्ति से असद्भूत अर्थ की कल्पना कर दूषण उठाने वाला प्रतिवादी कपटी है। अतः ऐसी दशा में वक्ता वादी की जय और प्रतिवादी

तत्सामान्यछलं प्राहुः सामान्यविनिबंधनं। विद्याचरणसंपत्तिर्ब्राह्मणे संभवेदिति ॥२९३॥
केनाप्युक्ते यथैवं सा व्रात्येपि ब्राह्मणे न किम्। ब्राह्मणत्वस्य सद्भावाद्भवेदित्यपि भाषणम् ॥२९४॥
तदेतन्न छलं युक्तं सपक्षेतरदर्शनात्। तल्लिंगस्यान्यथा तस्य व्यभिचारोखिलोस्तु तत् ॥२९५॥
क्वचिदेति तथात्येति विद्याचरणसंपदं। ब्राह्मणत्वमिति ख्यातमिति सामान्यमत्र चेत् ॥२९६॥
तथैवास्पर्शवत्त्वादि शब्दे नित्यत्वसाधने। किं न स्यादिति सामान्यं सर्वथाप्यविशेषतः ॥२९७॥
तन्नभस्येति नित्यत्वमत्येति च सुखादिवत्। तेनानैकांतिकं युक्तं सपक्षेतरवृत्तितः ॥२९८॥
विद्याचरणसंपत्तिर्विषयस्य प्रशंसनं। ब्राह्मणस्य यथा शालिगोचरक्षेत्रवर्णनम् ॥२९९॥
यस्येष्टं प्रकृते वाक्ये तस्य ब्राह्मणधर्मिणि। प्रशस्तत्वे स्वयं साध्ये ब्राह्मणत्वेन हेतुना ॥३००॥

की पराजय करा दी जाती है। इस प्रकार नैयायिक अपने छल प्रतिपादक सूत्र का भाष्य करते हुए कथन कर रहे हैं। अब जैनाचार्य कहते हैं कि उनके ग्रन्थ में प्रसिद्ध यह नैयायिकों का छल भी युक्त नहीं है। क्योंकि उस हेतु का सपक्ष और विपक्ष में दर्शन हो जाने से प्रतिवादी द्वारा व्यभिचार दोष दिखलाया गया है। अन्यथा विपक्ष में हेतु के दिखलाने को यदि छलप्रयोग बताया जायेगा तब तो सम्पूर्ण व्यभिचार दोष उस छल स्वरूप हो जाएँगे ॥२९२-२९५॥

यदि नैयायिक यों कहे कि यहाँ सूत्र में अति सामान्य का अर्थ इस प्रकार है। जो ब्राह्मणत्व किन्हीं विद्वानों में तो विद्या, आचरण, संपत्ति को प्राप्त करा देता है और किसी ब्राह्मण के बालक में वह ब्राह्मणपना उस विद्या चारित्र सम्पत्ति का अतिक्रमण करा देता है। अतः इस प्रकरण में सामान्यरूप से ब्राह्मण में विद्या, आचरण सम्पत्तिरूप अर्थ की सम्भावना सामान्य रूप से कही गयी है, तब तो उसी प्रकार "शब्दो नित्यः अस्पर्शवत्त्वात्। शब्दः अनित्यः प्रमेयत्वात्" इत्यादिक अनुमान में छल क्यों नहीं होगा? शब्द में नित्यपन को साधने के निमित्त दिये गये स्पर्शरहितपन गुणपन आदि हेतुओं का प्रयोग भी अति सामान्य क्यों नहीं होंगे? इन दोनों में सभी प्रकारों से कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् छल या व्यभिचार दोष की अपेक्षा ब्राह्मणत्व और अस्पर्शवत्त्व दोनों समान हैं। अर्थात्-ब्राह्मणत्व हेतु के समान अस्पर्शवत्त्व में भी अतिसामान्य घटित हो जाता है। वह अस्पर्शवत्त्व भी कहीं आकाश में नित्यपन को प्राप्त करा देता है। तथा कहीं सुख, बुद्धि, रूप आदिक गुण और चलना, धूमना आदि क्रियाओं में नित्यपन का अतिक्रमण कर देता है। अतः सपक्ष और विपक्ष में वृत्ति हो जाने से अस्पर्शवत्त्व हेतु को व्यभिचारी मानना युक्त है ॥२९६-२९८॥

जैसे कि कलम आदिक शालिधान्यों के प्रवृत्ति विषय खेत की प्रशंसा का वर्णन करना है कि इस खेत में धान्य अच्छा होना चाहिए। इसी प्रकार ब्राह्मण में विद्या, आचरण, संपत्ति रूप विषय की वादी द्वारा प्रशंसा की गयी है।

इस प्रकार नैयायिकों के अभीष्ट करने पर आचार्य कहते हैं कि नैयायिक को प्रकरण प्राप्त वाक्य में यह इष्ट है कि ब्राह्मणपन हेतु द्वारा प्रशस्तपना साध्य करने पर वादी द्वारा स्वयं अनुमान कहा गया माना है। उसके यहाँ हेतु का अनैकान्तिक दोष उठाने योग्य है। यह किसी के द्वारा नहीं सहा जाएगा। जैसे कि

केनानैकांतिको हेतुरुद्भाव्यो न प्रसह्यते। क्षेत्रे क्षेत्रत्ववच्छालियोग्यत्वस्य प्रसाधने ॥३०१॥

यत्र संभवतोर्थस्यातिसामान्यस्य योगादसद्भूतार्थकल्पना हठात् क्रियते तत्सामान्यनिबंधनत्वात् सामान्यछलं प्राहुः। संभवतोर्थस्यातिसामान्यस्य योगादसद्भूतार्थकल्पना सामान्यछलमिति वचनात्। तद्यथा– अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इत्युक्ते केनचित्क्वचिदाह संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति, तं प्रत्यस्य वाक्यस्य विघातोर्थविकल्पोपपत्त्याऽसद्भूतार्थकल्पनया क्रियते। यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपत्संभवति व्रात्येपि संभवात्। व्रात्योपि ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्नोस्तु। तदिदं ब्राह्मणत्वं विवक्षितमर्थं विद्याचरणसंपल्लक्षणं क्वचिद्ब्राह्मणे तादृश्येति क्वचिद्व्रात्येत्येति तद्भावेपि भावादित्यपि सामान्यं तेन योगाद्वक्तुरभिप्रेतादर्थात् सद्भूतादन्यस्यासद्भूतस्यार्थस्य कल्पना सामान्यछलं। तच्च न युक्तं। यस्मादविवक्षिते हेतुकस्य विषयार्थवादः प्रशंसार्थत्वाद्वाक्यस्य तत्रासद्भूतार्थकल्पनानुपपत्तिः। यथा संभवत्यस्मिन् क्षेत्रे शालय इत्यत्राविवक्षितं

खेत में धान्य के योग्यपंन का क्षेत्रत्व हेतु द्वारा प्रशंसनीय साधन करने पर क्षेत्रत्व हेतु का व्यभिचार उठा दिया जाता है। अर्थात्-नैयायिकों द्वारा अनैकान्तिकपन का परिहार करने के प्रयत्न से प्रतीत हो जाता है कि वे ऐसे स्थलों पर व्यभिचार दोष को स्वीकार करते हुए ही न्यायमार्ग का अवलंब करने वाले नैयायिक कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं ॥२९९-३०१॥

जहाँ सम्भव अर्थ के अतिसामान्य का योग हो जाने से असद्भूत अर्थ की कल्पना हठ से की जाती है, उसे नैयायिक सामान्य कथन की कारणता से सामान्यछल कहते हैं। सम्भावनापूर्वक कहे गये अर्थ के अतिसामान्य का योग हो जाने से असम्भूत अर्थ की कल्पना करना सामान्य छल है। यह सूत्र का वचन है। जैसे विस्मयपूर्वक अवधारण सहित यों सम्भावना रूप कल्पना करनी पड़ती है कि वह मनुष्य ब्राह्मण है तो विद्यासम्पत्ति और आचरण सम्पत्ति से युक्त अवश्य होगा। इस प्रकार किसी वक्ता के द्वारा परबोधनार्थ कह चुकने पर कोई एक प्रतिवादी कहता है कि ब्राह्मण के सम्भव होते हुए विद्या, चारित्र, सम्पत्ति है।

इस प्रकार उस वादी के प्रति इस वाक्य का विघात तो अर्थविकल्प की उपपत्तिरूप असद्भूत अर्थ की कल्पना करके यों किया जाता है जो छल का सामान्य लक्षण है कि ब्राह्मण होने के कारण उस पुरुष में विद्या, आचरण सम्पत्ति सम्भव है। ऐसा कहने पर नव संस्कार हीन कृषक ब्राह्मण में भी विद्या आचरण सम्पत्ति की संभावना होगी, क्योंकि वह भी ब्राह्मण है। अतः ब्राह्मणपना (कर्त्ता) विवक्षा प्राप्त विद्या, चारित्र, सम्पत्ति स्वरूप अर्थ को किसी सपक्ष ज्ञान चारित्र वाले ब्राह्मण में प्राप्त करा देता है। और किसी विपक्षरूप व्रात्य में विद्या, आचरण सम्पत्ति को अतिक्रान्त कर जाता है। क्योंकि उस विद्या, आचरण सम्पत्ति के बिना भी वहाँ व्रात्य में ब्राह्मणत्व का सद्भाव है। यह अतिसामान्य का अर्थ है। उस अतिसामान्य के योग करके वक्ता को अभिप्रेत हो रहे सद्भूत अर्थ से अन्य असद्भूत अर्थ की कल्पना करना सामान्य छल है। नैयायिक कहते हैं कि वह छल करना तो प्रतिवादी को उचित नहीं है। जिस कारण से कि हेतु के विशेषों की विवक्षा नहीं कर वादी ने ब्राह्मण रूप विषय के स्तुतिपरक अर्थ का अनुवाद कर दिया है। क्योंकि अनेक वाक्य प्रशंसा के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। असद्भूत अर्थ की कल्पना करना, जैसे कि इस खेत की भूमि में शालि

शालिबीजमनिराकृतं च तत्प्रवृत्तिविषयक्षेत्रं प्रशस्यते। सोयं क्षेत्रार्थवादो नास्मिन् शालयो विधीयंत इति। बीजात्तु शालिनिर्वृत्तिः सती न विवक्षिता। तथा संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति सस्याद्विषयो ब्राह्मणत्वं न संपद्धेतुर्न चात्र तद्धेतुर्विवक्षितस्तद्विषयार्थवादस्त्वयं प्रशंसार्थत्वाद्वाक्यस्य सति ब्राह्मणत्वे संपद्धेतुः समर्थ इति विषयञ्च प्रशंसता वाक्येन यथा हेतुफलान्निवृत्तिर्न प्रत्याख्यायते तदेवं सति वचनविघातोसद्भूतार्थकल्पनया नोपपद्यते इति परस्य पराजयस्तथा वचनादित्येवं न्यायभाष्यकारो ब्रुवन्नायं वेत्ति, तथा छलव्यवहारानुपपत्तेः। हेतुदोषस्यानैकांतिकत्वस्य परेणोद्भावना वा न चानैकांतिकत्वोद्भावनमेव सामान्यछलमिति शक्यं वक्तुं सर्वत्र, तस्य सामान्यछलत्वप्रसंगात्। शब्दो नित्योऽस्पर्शवत्त्वादाकाशवदित्यत्र हि यथा शब्दनित्यत्वे साध्ये अस्पर्शवत्त्वमाकाशे नित्यत्वमेति। सुखादिष्वत्येतीति व्यभिचारित्वादनैकांतिकमुच्यते न पुनः सामान्यछलं,

---

चावल अच्छे होते हैं - यहाँ शालि बीज के जन्म की विवक्षा नहीं की गयी है और उसका निराकरण भी नहीं कर दिया गया, उस शालि के प्रवृत्ति का विषयक्षेत्र प्रशंसित किया जाता है। अतः यहाँ यह क्षेत्र की प्रशंसा को करने वाला वाक्य है। इतने ही से इस खेत में शालि चावलों का विधान नहीं हो जाता है। बीज के कह देने से तो शालियों की निवृत्ति होती है। वह हमको विवक्षित नहीं है। उसी प्रकार प्रकरण में ब्राह्मण की संभावना होने पर विद्या, आचरण, संपत्ति होगी। इस प्रकार से संपत्ति का प्रशंसक ब्राह्मणपना संपत्ति का हेतु नहीं है। केवल उन ब्राह्मणों के विषय में प्रशंसा करने वाले अर्थ का अनुवाद मात्र है। लोक में अनेक वाक्य प्रशंसा के लिए हुआ करते हैं। ब्राह्मण होना, विद्या, आचरण, संपत्ति का समर्थ हेतु संभव है। इस प्रकार विषय की प्रशंसा करने वाले वाक्य के द्वारा जैसे हेतु से साध्य रूप फल की निवृत्ति का निराकरण नहीं किया जाता है और ऐसा होने पर वचन के विघात से असद्भूत अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः ऐसी व्यवस्था होने पर प्रतिवादी असद्भूत अर्थ की कल्पना द्वारा वादी के वचन का विघात नहीं कर सकता। तथा असद्भूत अर्थ की कल्पना के अन्यायपूर्ण कथन करने से दूसरे प्रतिवादी की पराजय हो जाती है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार उक्त कथन को करने वाले **न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ऋषि** यह नहीं समझते हैं कि उस प्रकार से छल का व्यवहार नहीं बनता है, जिस प्रकार वादी की वचनभंगी अनेक प्रकार है उसी के समान प्रतिवादी के प्रतिवचनों का प्रकार अनेक संदर्भों को लिये हुए होता है।

जैनाचार्य कहते हैं कि दूसरे प्रतिवादी के द्वारा वादी के अनुमान में हेतु के अनैकांतिक दोष का उत्थापन किया गया है। हेतु के व्यभिचारीपन दोष का उठाना ही सामान्य छल है-यह तो नहीं कह सकते। क्योंकि ऐसे तो सभी व्यभिचार स्थलों पर उस व्यभिचार दोष के उठाने को सामान्य छलपने का प्रसंग आयेगा। शब्द (पक्ष) नित्य है (साध्य), स्पर्शरहितपना होने से (हेतु) आकाश के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस प्रकार इस अनुमान में जैसे-शब्द का नित्यपन साधने में कहा गया अस्पर्शवत्त्व हेतु कहीं आकाशरूप सपक्ष में नित्यपन को अन्वित कर रहा है, किन्तु कहीं सुख, रूप आदि विपक्षों में नित्यत्व का उल्लंघन करा रहा है। इस कारण व्यभिचारी हो जाने से अस्पर्शत्व हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा जाता है। किन्तु फिर यह प्रतिवादी का हेत्वाभास उठाना सामान्य छल नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त

तथा प्रकृतमपीति न विशेषः कश्चिदस्ति। सोयं ब्राह्मणे धर्मिणि विद्याचरणसंपद्विषये प्रशंसनं ब्राह्मणत्वेन हेतुना साध्यते, यथा शालिविषयक्षेत्रे प्रशंसा क्षेत्रत्वेन साक्षान्न पुनर्विद्याचरणसंपत्सत्ता साध्यते येनातिप्रसज्यत इति स्वयमनैकांतिकत्वं हेतोः परिहरन्नपि तन्नानुमन्यत इति कथं न्यायवित्?

तथोपचारछलमनूद्य विचारयन्नाह–

धर्माध्यारोपनिर्देशे सत्यर्थप्रतिषेधनम्। उपचारछलं मंचाः क्रोशंतीत्यादिगोचरम् ॥३०२॥

मंचाः क्रोशंति गायंतीत्यादिशब्दप्रयोजनम्। आरोप्य स्थानिनां धर्मं स्थानेषु क्रियते जनैः ॥३०३॥

गौणं शब्दार्थमाश्रित्य सामान्यादिषु सत्त्ववत्। तत्र मुख्याभिधानार्थप्रतिषेधश्छलं स्थितम् ॥३०४॥

ब्राह्मणत्व हेतु भी व्यभिचारी है। साध्य के बिना ही व्रात्य में रह जाता है। इस प्रकार अस्पर्शवत्त्व और ब्राह्मणत्व हेतु के व्यभिचारी में कोई विशेषता नहीं है।

नैयायिकों ने प्रथम इस प्रकार कहा था कि ब्राह्मण पक्ष में विद्या, आचरण सम्पत्ति के विषय में ब्राह्मणत्व हेतु करके प्रशंसा करना साधा जा रहा है।

जैसे कि शालि चावलों के विषयभूत खेत में क्षेत्रत्व हेतु से साक्षात् प्रशंसा के गीत गाये जाते हैं, किन्तु, फिर सबसे विद्या, आचरण, सम्पत्ति की सत्ता तो नियम से नहीं साधी जाती है जिससे कि संस्कारहीन ब्राह्मण में अतिप्रसंग दोष आ सके। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार हेतु के अनैकान्तिकपन का स्वयं परिहार करता हुआ भी यह प्रसिद्ध नैयायिक उस प्रतिवादी द्वारा उठाये गये अनैकान्तिकपन को स्वीकार नहीं कर छलप्रयोग बता रहा है। ऐसी दशा में वह न्यायशास्त्र का वेत्ता कैसे कहा जा सकता है?

उसी प्रकार नैयायिकों द्वारा माने गये तीसरे उपचार छल का अनुवाद कर विचार करते हुए श्री **विद्यानन्द आचार्य** वार्तिक कहते हैं -

"**धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थ सद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्**" - यह **न्यायदर्शन** का सूत्र है। धर्म के विकल्प यानी अध्यारोप का सामान्य रूप से कथन करने पर अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध कर देना उपचार छल है। जैसे कि "मंचाः क्रोशंति" "गंगायां घोषः" इत्यादि को विषय करने वाले वाक्य के उच्चारण करने पर अर्थ का निषेध करने वाला पुरुष छल का प्रयोक्ता है। अर्थात् मंच शब्द का अर्थ मचान या खेतों की रक्षा के लिए चार खम्भों पर बाँध लिया गया मैहरा है।

मचान पर बैठे हुए मनुष्य चिल्ला रहे हैं, गा रहे हैं। इस अर्थ में मचान चिल्ला रहा है, गा रहा है। इस शब्द का प्रयोग देखा जाता है। यहाँ स्थानों में रहने वाले आधेय स्थानियों के धर्म का आधारभूत स्थानों में आरोप कर मनुष्यों के द्वारा शब्द व्यवहार कर लिया जाता है। शब्द के गौण अर्थ का आश्रय कर मंच में मंचस्थपने का आरोप है। जैसे कि सामान्य विशेष आदि पदार्थों में गौण रूप से सत्ता मान ली जाती है, अन्यथा उन सामान्य, विशेष, समवाय पदार्थों का सद्भाव ही उठ जाता है- अर्थात् - नैयायिक या वैशेषिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म में तो मुख्य रूप से सत्ता जाति को समवेत माना है और सामान्य, विशेष, समवाय पदार्थों में - गौणरूप से सत्ता (अस्तित्व) धर्म को अभीष्ट किया है। उसी प्रकार मंच का मुख्य

न चेदं वाक्छलं युक्तं किंचित्साधर्म्यमात्रतः। स्वरूपभेदसंसिद्धेरन्यथातिप्रसंगतः ॥३०५॥

कल्पनार्थांतरस्योक्ता वाक्छलस्य हि लक्षणं । सद्भूतार्थनिषेधस्तूपचारछललक्षणम् ॥३०६॥

अत्राभिधानस्य धर्मो यथार्थे प्रयोगस्तस्याध्यारोपो विकल्पः अन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः, मंचाः क्रोशंति गायंतीत्यादौ शब्दप्रयोगवत्। स्थानेषु हि मंचेषु स्थानिनां पुरुषाणां धर्ममाक्रोष्टित्वादिकं समारोप्य

अर्थ तो मचान है और गौण अर्थ मंच पर बैठे हुए मनुष्य हैं। वहाँ वादी द्वारा प्रसिद्ध हो रहे गौण अर्थ को कहने वाला मंच शब्द का मंचस्थ अर्थ में प्रयोग किये जाने पर वहाँ शब्द के मुख्य अर्थ का प्रतिषेध कर देना नैयायिकों के यहाँ उपचार छल व्यवस्थित किया गया है॥३०२-३०३-३०४॥

यह तीसरा उपचारछल केवल कुछ थोड़ा सा समान धर्मापन मिल जाने से पहिले वाक्छल में गर्भित कर लेना चाहिए। यह किसी का कथन युक्तिसहित नहीं है, क्योंकि उनके लक्षण भेद प्रतिपादक भिन्न-भिन्न स्वरूपों की सिद्धि है। अन्यथा (स्वरूप भेद होने पर भी उससे पृथक् नहीं मानोगे तो) अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् तीनों छल एक हो जाते हैं। वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करना वाक्छल का लक्षण है और विद्यमान सद्भूत अर्थ का निषेध कर देना उपचार छल का। अतः ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं ॥३०५-३०६॥

भावार्थ - नैयायिकों ने शक्ति और लक्षणा यों शब्दों की दो वृत्तियाँ मानी हैं। शब्द की वाचक शक्ति से जो अर्थ निकलता है, वह शक्यार्थ है और तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर शक्यार्थ संबंधी अन्य अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं। जैसे कि गंगा का जलप्रवाह अर्थ तो अभिधाशक्ति से प्राप्त होता है और घोष पद का समभिव्यवहार हो जाने पर गंगातीर अर्थ करना लक्षणावृत्ति से निकलता है। जिस शब्द के शक्यार्थ दो हैं, वहाँ एक शक्यार्थ के निर्णय कराने वाले विशेष का अभाव होने से प्रतिवादी द्वारा वादी के अनिष्ट हो रहे शक्यार्थ की कल्पना करके दूषण कथन करना वाक्छल है। जैसे कि नवकंबल का अर्थ नौ संख्या वाले कंबल गढ़ कर प्रत्यवस्थान दिया तथा शक्ति और लक्षणा नामक वृत्तियों में से किसी एक वृत्ति द्वारा शब्द के प्रयोग किये जाने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा जो निषेध किया जाना है, वह उपचार छल है। जैसे कि मचान गा रहे हैं। यहाँ वादी को लक्षणा वृत्ति से मंच का अर्थ मंचस्थ पुरुष अभीष्ट है। शक्यार्थ मचान अर्थ अभीष्ट नहीं है। लोक में भी वही अर्थ प्रसिद्ध है। ऐसी दशा में प्रतिवादी द्वारा मचान अर्थ कर निषेध उठाया जाता है। वहाँ अर्थान्तर की कल्पना है और यहाँ अर्थ सद्भाव का प्रतिषेध किया गया है। **"वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात्"** इस सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष उठाकर **"न तदर्थान्तरभावात्" "अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः"** - इन दो सूत्रों से उत्तर पक्ष को पुष्ट किया है।

न्यायभाष्यकार कहते हैं कि शब्द का धर्म यथार्थ प्रयोग करना है। अर्थात् जैसा अर्थ अभीष्ट हो, उसी के अनुसार शब्द का प्रयोग आवश्यक है। उसका विकल्प करना यानी अन्यत्र देखे गये का दूसरे अन्य स्थानों पर प्रयोग करना - यह आरोप है। उसका निर्देश करने पर अर्थ के सद्भाव का निषेध कर देना उपचार छल है। जैसे कि मचान चिल्ला रहे हैं, गा रहे हैं। इत्यादि प्रकार के श्लेषयुक्त पदों का प्रयोग करने पर भी उपचारछल किया जा सकता है। क्योंकि, यहाँ प्रकरण में अधिकरण या स्थानरूप मचानों में स्थान वाले

जनैस्तथा प्रयोग: क्रियते गौणशब्दार्थश्रयणात् सामान्यादिष्वस्तीति शब्दप्रयोगवत् तस्य धर्माध्यारोपनिर्देशे सत्यर्थस्य प्रतिषेधनं न मंचा: क्रोशंति मंचस्था: पुरुषा: क्रोशंतीति। तदिदमुपचारछलं प्रत्येयं। धर्मविकल्पनिर्देशे अर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारछलं इति वचनात्। का पुनरत्रार्थविकल्पोपपत्तिर्यथा वचनविघातश्छलमिति, अन्यथा प्रयुक्तस्याभिधानस्यान्यथार्थपरिकल्पनं। भक्त्या हि प्रयोगोऽयं मंचा: क्रोशंतीति तात्स्थ्यात्तच्छब्दोपचारात् प्राधान्येन तस्य परिकल्पनं कृत्वा परेण प्रत्यवस्थानं विधीयते। क: पुनरुपचारो नाम? साहचर्यादिना निमित्तेन तदभावेपि तद्वदभिधानमुपचार:। यद्येवं वाक्छलादुपचारछलं न भिद्यते अर्थांतरकल्पनाया अविशेषात्। इहापि

आधेय पुरुषों के धर्म गाना, गाली देना, रोना आदि का आरोप कर व्यवहारी मनुष्यों के द्वारा उस प्रकार शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसे कि द्रव्य,गुण, कर्म, तीन तो सत्ता जाति के समवाय सम्बन्ध वाले हैं। शेष सामान्य , विशेष, समवायों में गौणरूप से अस्ति शब्द का प्रयोग माना गया। उसी प्रकार शब्द के गौण अर्थ का आश्रय कर मंच शब्द कहा गया है। वादी द्वारा उसके धर्म का अध्यारोप कथन करने पर पुन: प्रतिवादी द्वारा शब्द के प्रधान अर्थ का आश्रय कर उस अर्थ का निषेध किया जा रहा है कि मचान तो गाली नहीं दे रहा है, किन्तु मचानों पर बैठे हुए मनुष्य गाली दे रहे हैं। इस प्रकार उपचार छल समझ लेना चाहिए। गौतम ऋषि का इस प्रकार वचन है कि धर्म के विकल्प का कथन करने पर अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध कर देना उपचारछल है।

न्यायभाष्यकार कहते हैं कि यहाँ उपचार छल में फिर अर्थ विकल्प की उपपत्ति क्या है?

जिससे कि वचन का विघात होकर यह छल हो सकता है। अर्थात् - अर्थ के विकल्प से वचन का विघात होना, यह छल का सामान्य लक्षण है। उपचार छल में अर्थ विकल्प की उपपत्ति से वादी के वचन का विघात होना, यह सामान्य कथन अवश्य घटित होना चाहिए। क्योंकि भक्ति से अन्य प्रकारों से प्रयुक्त किये गये शब्द का दूसरे भिन्न प्रकारों से अर्थ की परिकल्पना करना अर्थ विकल्पोपपत्ति है। जब कि मचान गा रहे हैं, यह प्रयोग गौणरूप से किया गया है। क्योंकि तत्र स्थित में तत् को कहने वाले शब्द का उपचार है। इस प्रकार गौण अर्थों में शब्दों की लोकप्रसिद्धि होने पर प्रधानता से उस अर्थ की सब ओर से कल्पना कर दूसरे प्रतिवादी द्वारा दोष उत्थापन किया जाता है। पुन: न्यायभाष्यकार के प्रति किसी का प्रश्न है कि उपचार छल में उपचार का अर्थ क्या है? उत्तर है कि सहचारीपन, कारणता, क्रूरता आदि निमित्तों के कारण उससे रहित अर्थ में भी प्रयोजनवश उस वाले का कथन करना उपचार है। अर्थात् निमित्त और प्रयोजन के अधीन उपचार होता है। जैसे मंचा: क्रोशन्ति, यहाँ मंच का सहचारी होने से मंचस्थ को मंच कह दिया जाता है। "अन्नं वै प्राणा:" प्राण के कारण अन्न को प्राण कह दिया जाता है। "धनं प्राणा:" प्राण के कारण अन्न और अन्न के कारण धन को उपचरितोपचार से प्राण मान लिया जाता है।

न्यायभाष्यकार के प्रति कोई कहता है कि यदि आप इस प्रकार मानेंगे, तब तो वाक्छल, उपचार छल का कोई भेद नहीं रहेगा। क्योंकि अन्य अर्थ की कल्पना करना दोनों में एकसी है। कोई विशेषता नहीं है।

हि स्थान्यर्थो गुणशब्दः प्रधानशब्दः स्थानार्थ इति कल्पयित्वा प्रतिषिध्यते नान्यथेति। नैतत्सारं। अर्थांतरकल्पनातोर्थसद्भावप्रतिषेधस्यान्यथात्वात्, किंचित्साधर्म्यात्तयोरेकत्वे वा त्रयाणामपि छलानामेकत्वप्रसंगः। अथ वाक्छलसामान्यछलयोः किंचित्साधर्म्यं सदपि द्वित्वं न निवर्तयति, तर्हि तयोरुपचारछलस्य च किंचित्साधर्म्यं विद्यमानमपि त्रित्वं तेषां न निवर्तयिष्यति, वचनविघातस्यार्थविकल्पोपपत्त्या त्रिष्वपि भावात्। ततोन्यदेव वाक्छलादुपचारछलं। तदपि परस्य पराजयायावकल्पते यथावक्त्रभिप्रायमप्रतिषेधात्। शब्दस्य हि प्रयोगो लोके प्रधानभावेन गुणभावेन च प्रसिद्धः। तत्र यदि वक्तुर्गुणभूतोर्थोऽभिप्रेतस्तदा तस्यानुज्ञानं प्रतिषेधो वा विधीयते, प्रधानभूतश्चेत्तस्यानुज्ञानप्रतिषेधौ

अर्थात् - वाक्छल में भी प्रतिवादी द्वारा अर्थान्तर की कल्पना की गयी है और उपचार छल में भी प्रतिवादी ने अन्य प्रकार से दूसरे अर्थ की कल्पना कर दोष उठाया है। जैसे - मचान गा रहे हैं, यहाँ भी मंच शब्द का स्थानी (आधेय पुरुष) अर्थ गौण है और स्थान अर्थ (अधिकरण) प्रधान है। इस प्रधान अर्थ प्रतिपादक शब्द की कल्पना कर प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध किया जा रहा है। अन्य प्रकारों से तो निषेध हो नहीं सकता। क्योंकि दोनों में इसके अतिरिक्त कोई दूसरा प्रकार नहीं है। अतः दोनों छलों में कोई भेद नहीं है। उस प्रश्न का न्यायभाष्यकार उत्तर कहते हैं कि यह आक्षेप तो निःसार है। क्योंकि उस अर्थसद्भाव के प्रतिषेध का पृथग्भाव है। इसका अर्थ यह है कि अर्थान्तर की कल्पना करना रूप वाक्छल से अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध कर देना स्वरूप उपचार छल का विभिन्न पना है। दोनों छलों का प्रयोजक धर्म पृथक्-पृथक् है। कुछ थोड़े से समान धर्मापने के कारण यदि उन वाक्छल और उपचार छल को एकपना अभीष्ट किया जायेगा, तब तो तीनों भी छलों के एकपन का प्रसंग आयेगा।

नैयायिक कहते हैं कि वाक्छल और सामान्य छल-इन दोनों में कुछ समानधर्मापन यद्यपि विद्यमान है, तो भी वह उनके दो पन की निवृत्ति नहीं कर पाता। ऐसा किसी का प्रश्न होने पर हम नैयायिक उत्तर देंगे कि तब तो उन सामान्य छल, वाक्छल और उपचार छल का कुछ-कुछ सधर्मापन रहते हुए भी उन छलों के तीनपने की निवृत्ति नहीं करा सकेगा। अर्थविकल्प की उपपत्ति से वादी प्रतिपादित वचन का विघात इन छलों के सामान्य लक्षण का तीनों छलों में सद्भाव पाया जाता है।

भावार्थ - "प्रमिति करणं प्रमाणं"। इस सामान्य लक्षण के सम्पूर्ण प्रमाण के भेद-प्रभेदों में घटित हो जाने पर ही प्रत्यक्ष, अनुमान या इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान, परार्थानुमान आदि में प्रमाणविशेष लक्षणों का समन्वय करने पर उन विशेषों का पृथग्भाव बन पाता है। अतः सिद्ध होता है कि वाक्छल से उपचार छल भिन्न ही है। किन्तु उक्त दो छलों के समान प्रवृत्त किया गया वह उपचार छल भी दूसरे प्रतिवादी की पराजय कराने के लिए समर्थ हो जाता है। क्योंकि प्रतिवादी ने वक्ता के अभिप्रायों के अनुसार प्रतिषेध नहीं किया है। शब्द का प्रयोग करना लोक में प्रधान भाव और गौण भाव दोनों प्रकारों से प्रसिद्ध है, तो वहाँ वक्ता को यदि गौण अर्थ अभीष्ट है, तब तो उसी गौण अर्थ का वादी के विचार अनुसार प्रतिवादी को स्वीकार करना चाहिए और उसी गौण अर्थ का प्रतिवादी को प्रतिषेध करना उचित है, तथा वादी को शब्द का यदि प्रधानभूत अर्थ अभिप्रेत है, तब उस प्रधान अर्थ का ही प्रतिवादी द्वारा अनुज्ञान और प्रतिषेध करना चाहिए, न छन्दतः (अपनी इच्छा अनुसार स्वच्छन्दता से) अनुज्ञान और प्रतिषेध नहीं करना

कर्तव्यौ प्रतिवादिना न छन्दत इति न्यायः। यदात्र गौणमात्रं वक्ताभिप्रैति प्रधानभूतं तु तं परिकल्प्य परः प्रतिषेधति तदा तेन स्वमनीषा प्रतिषिद्धा स्यान्न परस्याभिप्राय इति न तस्यायमुपालंभः स्यात्। तदनुपालंभाच्चासौ पराजीयते तदुपालंभापरिज्ञानादिति नैयायिका मन्यंते॥

तदेतस्मिन् प्रयुक्ते स्यान्निग्रहो यदि कस्यचित्। तदा यौगो निगृह्येत प्रतिषेधात् प्रमादिकम् ॥३०७॥
मुख्यरूपतया शून्यवादिनं प्रति सर्वथा। तेन संव्यवहारेण प्रमादेरुपवर्णनात् ॥३०८॥
सर्वथा शून्यतावादे प्रमाणादेर्विरुध्यते। ततो नायं सतां युक्त इत्यशून्यत्वसाधनात् ॥३०९॥
योगेन निग्रहः प्राप्यः स्वोपचारच्छलेपि चेत्। सिद्धः स्वपक्षसिद्ध्यैव परस्यायमसंशयम् ॥३१०॥

चाहिए-यही न्याय मार्ग है। इस प्रकरण में जिस समय वक्ता शब्द के केवल गौण अर्थ को अभीष्ट कर रहा है, उस समय शब्द के प्रधानभूत अर्थ की परिकल्पना कर यदि दूसरा प्रतिवादी प्रतिषेध करता है, तो समझिए कि उस प्रतिवादी ने अपनी विचारशालिनी बुद्धि का ही प्रतिषेध किया है।

इतने से दूसरे वादी के अभिप्राय का प्रतिषेध नहीं हो सकता। अतः प्रतिवादी का वादी के प्रति उपलंभ नहीं है प्रत्युत प्रतिवादी के प्रति ही उपालंभ है। तथा वादी के प्रति उपालंभ होना नहीं बनने से वह प्रतिवादी पराजित हो जाता है, क्योंकि प्रतिवादी को वादी के प्रति उपालम्भ देने का परिज्ञान नहीं है-ऐसा नैयायिक मानते हैं।

इस प्रकार प्रयुक्त किये जाने पर (गौण अर्थ के अभिप्रेत होने पर मुख्य अर्थ के निषेधमात्र से ही) यदि किसी एक प्रतिवादी का निग्रह होना मान लिया जायेगा, तब तो नैयायिक भी शून्यवादी के प्रति मुख्यरूप से प्रमाण, प्रमेय आदि का सर्वथा प्रतिषेध हो जाने से निग्रह को प्राप्त हो जाएगा। क्योंकि लौकिक समीचीन व्यवहार के द्वारा प्रमाण, प्रमिति आदि पदार्थों को उस शून्यवादी ने स्वीकार किया है। अर्थात्-संवृति (उपचार) से प्रमाण आदिक तत्त्वों को मानने वाले शून्यवादी का प्रतिषेध नैयायिक मुख्य प्रमाण आदि को मनवाने के लिए करते हैं। क्योंकि प्रमाण हेतु आदि को वस्तुभूत माने बिना साधन या दूषण देना नहीं बन सकता है॥३०७-३०८॥

वाद करने में प्रमाण, प्रमाता, द्रव्य, गुण आदि का सभी प्रकारों से शून्यपना विरुद्ध पड़ता है अर्थात्-जो उपचार और मुख्य सभी प्रकारों से प्रमाण, हेतु, वाचकपद, श्रावणप्रत्यक्ष आदि को नहीं मानता है, वह वादी शास्त्रार्थ कैसे कर सकता है? अतः सिद्ध है कि शून्यवादी उपचार से प्रमाण आदि को स्वीकार करता है, तो फिर नैयायिकों को प्रमाण आदि का प्रतिषेध उसके प्रति मुख्यरूप से नहीं करना चाहिए। किन्तु नैयायिक उक्त प्रकार दूषण दे रहे हैं। अतः अशून्यपने की सिद्धि हो जाने से यह नैयायिकों के ऊपर छल उठाना सज्जनों को समुचित नहीं है, नैयायिक स्व के द्वारा उपचार छल प्रवृत्त हो जाने पर भी शून्यवादी द्वारा निग्रह को प्राप्त कर दिये जायेंगे (नैयायिकों के द्वारा निग्रह को प्राप्त हो जायेंगे)। इस प्रकार कहने पर तो हमारा वही पूर्व का सिद्धान्त प्रसिद्ध हो गया कि अपने पक्ष की सिद्धि कर देने से ही दूसरे प्रतिवादी की पराजय होती है। यह सिद्धान्त संशय रहित होकर सिद्ध हो जाता है, तभी तो शून्यवादी का पक्ष पुष्ट हो चुकने पर उस नैयायिक का निग्रह किया जाता है॥३०९-३१०॥

यहाँ तक आचार्य देव ने नैयायिकों के **छल प्रकरण** की परीक्षा कर दी है।

अथ जातिं विचारयितुमारभते–

स्वसाध्यादविनाभावलक्षणे साधने स्थिते। जवनं यत्प्रसंगस्य सा जातिः कैश्चिदीरिता॥३११॥

"प्रयुक्ते हेतौ यः प्रसंगो जायते सा जातिः" इति वचनात्॥

कः पुनः प्रसंगः? इत्याह–

प्रसंगः प्रत्यवस्थानं साधर्म्येणेतरेण वा। वैधर्म्योक्तेऽन्यथोक्ते च साधने स्याद्यथाक्रमम् ॥३१२॥

उदाहरणवैधर्म्येणोक्ते साधने साधर्म्येण प्रत्यवस्थानमुदाहरणसाधर्म्येणोक्ते वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानमुपालंभः प्रतिषेधः प्रसंग इति विज्ञेयं, "साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः" इति वचनात्॥

एतदेवाह–

उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यस्यार्थस्य साधनं। हेतुस्तस्मिन् प्रयुक्तेन्यो यदा प्रत्यवतिष्ठते॥३१३॥
उदाहरणवैधर्म्यात्तत्र व्याप्तिमखंडयत्। तदासौ जातिवादी स्यादूषणाभासवाक्कतः॥३१४॥

अब असत् उत्तर स्वरूप **जातियों का विचार** करने के लिए ग्रन्थकार विशेष प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं -

"अपने साध्य के साथ अविनाभाव रखना" इस हेतु के लक्षण से युक्त ज्ञापक साधन के व्यवस्थित हो जाने पर जो पुनः प्रसंग उत्पन्न करना है, यानी वादी के ऊपर प्रतिवादी द्वारा दूषण दिया जाता है, उसको किन्हीं नैयायिकों ने जाति कहा है॥३११॥ हेतु का प्रयोग कर चुकने पर जो प्रतिवादी द्वारा प्रसंग जना जाता है, वह जाति है।

प्रसंग शब्द का क्या अर्थ है? ऐसी जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द स्वामी** कहते हैं-

उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य को साधने वाले हेतु का कथन कर चुकने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा साधर्म्य करके प्रतिषेध करना अर्थात् दूषण उठाना प्रसंग है। अथवा अन्य प्रकार अर्थात् उदाहरण का साधर्म्य दिखाकर हेतु का कथन कर चुकने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा वैधर्म्य करके प्रत्यवस्थान (उलाहना) देना प्रसंग है। यथाक्रम से ये दो प्रकार के प्रसंग हैं॥३१२॥

वादी द्वारा व्यतिरेक दृष्टान्तरूप उदाहरण के विधर्मत्व से ज्ञापकहेतु का कथन कर चुकने पर प्रतिवादी द्वारा साधर्म्य करके प्रतिषेध किया जाना प्रसंग है और वादी द्वारा अन्वयदृष्टान्तस्वरूप उदाहरण के समान धर्मापन करके ज्ञापक हेतु का कथन किये जाने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा विधर्मत्व के द्वारा प्रत्यवस्थान (उलाहना) देना (अर्थात् वादी के कहे गये का प्रतिषेध कर देना) प्रसंग है। जाति का मूल लक्षण साधर्म्य और वैधर्म्य करके उलाहना उठाना जाति है। ऐसा जातिसूत्र में **गौतम ऋषि** ने कहा है।

इसी सूत्र और भाष्य का अनुवाद करते हुए **श्री विद्यानन्द आचार्य** उक्त कथन को ही वार्तिकों द्वारा उनकी परिभाषा में कहते हैं -

उदाहरण के साधर्म्य से साध्य अर्थ का साधन करने वाला हेतु है। उदाहरण के सधर्मत्व से उस हेतु का प्रयोग किये जाने पर जब अन्य प्रतिवादी उस अनुमान के हेतु में व्याप्ति का खण्डन नहीं कराता हुआ

तथोदाहृतिवैधर्म्यात्साध्यस्यार्थस्य साधनं। हेतुस्तस्मिन् प्रयुक्तेपि परस्य प्रत्यवस्थितिः ॥३१५॥
साधर्म्येणेह दृष्टांते दूषणाभासवादिनः। जायमाना भवेज्जातिरित्यन्वर्थे प्रवक्ष्यते ॥३१६॥

उद्योतकरस्त्वाह–जातिर्नामस्थापनाहेतौ प्रयुक्ते यः प्रतिषेधासमर्थो हेतुरिति सोपि प्रसंगस्य परपक्षप्रतिषेधार्थस्य हेतोर्जननं जातिरित्यन्वर्थसंज्ञामेव जातिं व्याचष्टेऽन्यथा न्यायभाष्यविरोधात्॥

कथमेवं जातिबहुत्वं कल्पनीयमित्याह–

सधर्मत्वविधर्मत्वप्रत्यवस्थाविकल्पतः। कल्प्यं जातिबहुत्वं स्याद्व्यासतोऽनंतशः सताम्॥३१७॥

यथा विपर्ययज्ञानाज्ञाननिग्रहभेदतः। बहुत्वं निग्रहस्थानस्योक्तं पूर्वं सुविस्तरम् ॥३१८॥

यदि उदाहरण के वैधर्म्य से (जब) उलाहना देता है, उस समय वह असत् उत्तर को कहने वाला जातिवादी कहा जाता है, तथा वादी के कहे गये हेतु का प्रत्याख्यान नहीं कर सकता है। उस प्रतिवादी के वचन दूषणाभास है अर्थात् वस्तुतः दूषण नहीं होकर दूषण सदृश है। जब वादी का हेतु अक्षुण्ण बना रहा तो प्रतिवादी का दोष उठाना कुछ भी नहीं॥३१३-३१४॥

उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य अर्थ को साधने वाला हेतु होता है, वादी द्वारा उस हेतु के भी प्रयुक्त किये जाने पर दूसरे प्रतिवादी के द्वारा दृष्टान्त में साधर्म्य से जो यहाँ प्रत्यवस्थान देना है, वह दूषणाभास को कहने वाले प्रतिवादी की प्रसंग को उत्पन्न करने वाली जाति है। इस प्रकार जाति शब्द का निरुक्ति द्वारा धात्वर्थ अनुसार अर्थ करने पर उक्त लक्षण कह दिया जाता है अर्थात् असत् उत्तर को कहने वाले जातिवादी की पराजय हो जाती है और समीचीन को कहने वाले वादी की जीत हो जाती है॥३१५-३१६॥

उद्योतकर कहता है कि जाति का लक्षण तो इस नाम से ही सिद्ध है।

अपने पक्ष की स्थापना करने वाले हेतु के वादी द्वारा प्रयुक्त किये जाने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा उस पक्ष का प्रतिषेध करने में असमर्थ हेतु का उत्पन्न होना (वह) जाति कही जाती है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने वाला **उद्योतकर पण्डित** प्रसंग का यानी परपक्ष का निषेध करने के लिए कहे गये हेतु का उत्पन्न होना जाति है। इस प्रकार, यौगिक अर्थ के अनुसार अन्वर्थ नाम संकीर्तन को धारने वाली जाति का ही कथन कर रहा है। अन्यथा **न्यायभाष्य ग्रन्थ** से विरोध आता है। अतः रूढ़ या योगरूढ़ अर्थ अनुसार जाति का अर्थ मानने पर **उद्योतकर** का कथन नैयायिक के विरुद्ध पड़ता है।

जब साधर्म्य और वैधर्म्य से दूषण उठानेरूप जाति एक ही है, तो फिर इस प्रकार जाति का बहुतपना (चौबीस संख्या) किस प्रकार से कल्पित की गई है? इस प्रकार, जिज्ञासा होने पर नैयायिकों के उत्तर का अनुवाद करते हुए **श्री विद्यानंद स्वामी** कहते हैं-

समान धर्मत्व और विधर्मत्व के द्वारा कथित दोष प्रसंग के विकल्प से जातियों का बहुतपना (चौबीसपना) कल्पित कर लिया जाता है। अधिक विस्तार की अपेक्षा से सज्जनों के यहाँ जातियों के अनन्तशः विकल्प किये जा सकते हैं। जैनों के यहाँ भी अधिक प्रभेदों की विवक्षा होने पर पदार्थों के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हो जाते हैं॥३१७॥

जिस प्रकार विप्रतिपत्ति (विपर्ययज्ञान) और अप्रतिपत्ति (अज्ञानस्वरूप) निग्राहकों के भेद से निग्रहस्थानों का बहुतपना पूर्व प्रकरण में बहुत बार विस्तारपूर्वक कथन किया गया है॥३१८॥ अनेक

तत्र ह्यप्रतिभाज्ञाननुभाषणपर्यनु–। योज्योपेक्षणविक्षेपा लभंतेऽप्रतिपत्तिताम् ॥३१९॥

शेषा विप्रतिपत्तित्वं प्राप्नुवंति समासतः। तद्विभिन्नस्वभावस्य निग्रहस्थानमीक्षणात् ॥३२०॥

तत्रातिविस्तरेणानंतजातयो न शक्या वक्तुमिति विस्तरेण चतुर्विंशतिर्जातयः प्रोक्ता इत्युपदर्शयति–

प्रयुक्ते स्थापनाहेतौ जातयः प्रतिषेधिकाः। चतुर्विंशतिरत्रोक्तास्ताः साधर्म्यसमादयः ॥३२१॥

तथा चाह न्यायभाष्यकारः। साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वमिति संक्षेपोक्तं, तद्विस्तरेण विभिद्यते। ताश्च खल्विमा जातयः स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते चतुर्विंशतिः प्रतिषेधहेतव- "साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसंगप्रतिदृष्टांतानुपपत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः" इति सूत्रकारवचनात् ॥

कल्पनाएँ करना अथवा अनेक प्रकार की कल्पना करना यहाँ विकल्प समझा जाता है। **न्यायभाष्यकार** कहते हैं कि उन निग्रहस्थानों में अप्रतिभा, अज्ञान, अननुभाषण, पर्यनुयोज्योपेक्षण, विक्षेप, मतानुज्ञा ये निग्रहस्थान तो अप्रतिपत्तिपन को प्राप्त हैं, तथा शेष बचे हुए प्रतिज्ञाहानि आदिक निग्रहस्थान विपरीत अथवा कुत्सित प्रतिपत्ति होने रूप विप्रतिपत्तिपन को प्राप्त हो जाते हैं। संक्षेप से विचार किये जाने पर उन विप्रतिपत्ति और अविप्रतिपत्ति इन दो निग्रहस्थानों से विभिन्न स्वभाव वाले तीसरे निग्रहस्थान का किसी को भी कभी अवलोकन नहीं होता है अर्थात् संक्षेप से ये दो निग्रहस्थान ही दृष्टिगोचर होते हैं ॥३१९-३२०॥ जाति के प्रकरण में अत्यन्त विस्तार से कथन करने पर तो अनन्त जातियाँ हैं जो शब्दों द्वारा नहीं कही जा सकती हैं। अतः मध्यम विस्तार से चौबीस जातियाँ न्यायदर्शन में कही हैं। भाष्यकार की इसी बात को ग्रन्थकार दिखलाते हैं -

प्रकृत साध्य की स्थापना करने के लिए वादी द्वारा हेतुके प्रयुक्त किये जाने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध कराने के कारण यहाँ साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, आदिक चौबीस जातियाँ कही गयी हैं॥३२१॥

न्यायभाष्यकार कहते हैं कि साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा प्रत्यवस्थान के भेद से जातियों का बहुत्व हो जाता है। इस प्रकार, संक्षेप से तो एक ही प्रत्यवस्थान रूप जाति कही गयी है, उस साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा प्रत्यवस्थान के विस्तार से जाति के विभाग कर दिये जाते हैं। तथा वे जातियाँ निश्चयपने से हेतु के प्रयुक्त किये जाने पर पुनः प्रतिषेध के कारणभूत चौबीस हैं -

१ साधर्म्यसमा २ वैधर्म्यसमा ३ उत्कर्षसमा ४ अपकर्षसमा ५ वर्ण्यसमा ६ अवर्ण्यसमा ७ विकल्प समा ८ साध्यसमा ९ प्राप्तिसमा १० अप्राप्तिसमा ११ प्रसंगसमा १२ प्रतिदृष्टान्तसमा १३ अनुत्पत्तिसमा १४ संशयसमा १५ प्रकरणसमा १६ अहेतुसमा १७ अर्थापत्तिसमा १८ अविशेषसमा १९ उपपत्तिसमा २० उपलब्धिसमा २१ अनुपलब्धिसमा २२ नित्यसमा २३ अनित्यसमा २४ कार्यसमा। इस प्रकार जातियों के चौबीस भेद कहे हैं। इस प्रकार सूत्रकार का वचन है।

यत्राविशिष्यमाणेन हेतुना प्रत्यवस्थितिः। साधर्म्येण समा जातिः सा साधर्म्यसमा मता ॥३२२॥
निर्वक्तव्यास्तथा शेषास्ता वैधर्म्यसमादयः। लक्षणं पुनरेतासां यथोक्तमभिभाष्यते ॥३२३॥

अत्र जातिषु या साधर्म्येण प्रत्यवस्थितिरविशिष्यमाणस्थापनाहेतुतः सा साधर्म्यसमा जातिः। एवमविशिष्यमाणस्थापनाहेतुतो वैधर्म्येण प्रत्यवस्थितिः वैधर्म्यसमा। तथोत्कर्षादिभिः प्रत्यवस्थितयः उत्कर्षादिसमा इति निर्वक्तव्याः। लक्षणं तु यथोक्तमभिभाष्यते तत्र॥

साधर्म्येणोपसंहारे तद्धर्मस्य विपर्ययात्। यस्तत्र दूषणाभासः स साधर्म्यसमो मतः ॥३२४॥
यथा क्रियाभृदात्मायं क्रियाहेतुगुणाश्रयात्। य ईदृक्षः स ईदृक्षो यथा लोष्टस्तथा च सः ।३२५।

जहाँ विशेषता को नहीं प्राप्त हेतु के द्वारा साधर्म्य से प्रत्यवस्थान दिया जाता है, वह नैयायिकों के यहाँ साधर्म्यसमा जाति मानी गयी है। तथा उसी प्रकार शेष बची हुई उन वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा आदि जातियों की भी शब्दों द्वारा निरुक्ति कर लेना चाहिए। इन साधर्म्यसमा आदिक जातियों का न्याय दर्शन ग्रन्थ के अनुसार कहा गया लक्षण यथावसर कह दिया जाएगा॥३२२-३२३॥

इन जातियों में जो साधर्म्य के द्वारा प्रत्यवस्थान देना है, वह साध्य की स्थापना करने वाले हेतु से अविशिष्ट साधर्म्यसमा जाति है। इसी प्रकार, वैधर्म्य से उपसंहार करने पर स्थापना हेतु से अविशिष्टता रखने वाला जो प्रत्यवस्थान है, वह वैधर्म्यसमा जाति है। तथा स्थापना हेतुओं से उत्कर्ष, अपकर्ष, वर्ण्य, अवर्ण्य आदि करके जो प्रत्यवस्थान देते हैं, वे उत्कर्षसमा, अपकर्ष समा आदिक जातियाँ हैं। इस प्रकार प्रकृति, प्रत्यय आदि के द्वारा जातियों की निरुक्ति कर लेनी चाहिए। उनका लक्षण नैयायिकों के सिद्धान्त अनुसार कहा गया उन-उन प्रकरणों में भाष्य या विवरण से परिपूर्ण कह दिया जाएगा।

उन चौबीस जातियों में पहिली साधर्म्यसमा जाति का लक्षण कहते हैं -

वादी द्वारा साधर्म्य से हेतु का पक्ष में उपसंहार कर चुकने पर उस साध्यधर्म के विपर्यय धर्म की उपपत्ति करने से जो वहाँ दूषणाभास उठाया जाता है, वह साधर्म्यसम प्रतिषेध माना गया है। जैसे यह आत्मा (पक्ष) हलन, चलन आदि क्रियाओं को धारने वाला है (साध्य), क्रियाओं के कारणभूत गुणों का आश्रय होने से (हेतु) जो क्रिया के हेतुभूत गुणों का आधार है, वह क्रियावान अवश्य है। जैसे फेंका गया पत्थर (अन्वय दृष्टान्त)। उसी प्रकार का क्रिया हेतु गुणाश्रय वह आत्मा है (उपनय)। अतः गमन, भ्रमण, उत्पतन, आदि क्रियाओं को यह आत्मा धारण कर रहा है (निगमन)।

भावार्थ - जैसे पत्थर में क्रिया के कारणभूत संयोग, वेग, गुरुत्व आदि गुण विद्यमान हैं और आत्मा में अदृष्ट (धर्म अधर्म) प्रयत्न, संयोग, गुण, क्रिया के कारण हैं। अतः आत्मा में उनका फल क्रिया होनी चाहिए। इस प्रकार उपसंहार कर वादी द्वारा समीचीन हेतु के कहे जाने पर कोई प्रतिवादी इसके विपर्यय में कह रहा है कि जीव (पक्ष) क्रियारहित है (साध्य), व्यापकद्रव्यपना होने से (हेतु)। जैसे आकाश (अन्वयदृष्टान्त)। अतः जैसे व्यापक द्रव्य होने से आकाश निष्क्रिय है, उसी प्रकार व्यापक आत्मा भी क्रियारहित है। अर्थात् जब कोई स्थान ही रीता नहीं बचा है तो व्यापक आत्मा क्रिया कहाँ करे? अर्थात्

तस्मात्क्रियाभृदित्येवमुपसंहारभाषणे। कश्चिदाहाक्रियो जीवो विभुद्रव्यत्वतो यथा ॥३२६॥
व्योम तथा न विज्ञातो विशेषस्य प्रसाधकः। हेतुः पक्षद्वयोप्यस्ति ततोयं दोषसन्निभः ॥३२७॥
साध्यसाधनयोर्व्याप्तेर्विच्छेदस्यासमर्थनात्। तत्समर्थनतंत्रस्य दोषत्वेनोपवर्णनात् ॥३२८॥

नास्त्यात्मनः क्रियावत्त्वे साध्ये क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वस्य साधनस्य स्वसाध्येन व्याप्तिर्विभुत्वान्निष्क्रियत्वसिद्धौ विच्छिद्यते, न च तदविच्छेदे तद्दूषणत्वं साध्यसाधनयोर्व्याप्तिविच्छेदसमर्थनतंत्रस्यैव दोषत्वेनोपवर्णनात्। तथा चोक्तं न्यायभाष्यकारेण। "साधर्म्येणोपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमः प्रतिषेध" इति। निदर्शनं, क्रियावानात्मा द्रव्यस्य क्रियाहेतुगुणयोगात्। द्रव्यं लोष्टः स च क्रियाहेतुगुणयुक्तः क्रियावांस्तथा चात्मा तस्मात्क्रियावानित्येवमुपसंहृत्य परः साधर्म्येणैव प्रत्यवतिष्ठते। निष्क्रिय आत्मा विभुनो द्रव्यस्य निष्क्रियत्वात्। विभ्वाकाशं निष्क्रियं तथा चात्मा तस्मान्निष्क्रिय इति। न

जब स्थान ही रीता नहीं बचा है तो व्यापक आत्मा क्रिया कहाँ कर सकता है। क्रिया को साधने वाले पहिले पक्ष और क्रियारहितपन को साधने वाले दूसरे पक्ष, इन दोनों भी पक्षों में कोई विशेषता को सिद्ध करने वाला हेतु नहीं है। अतः पिछला पक्ष वस्तुतः दोष नहीं होकर दोष के सदृश दूषणाभास है। क्योंकि यह पिछला कथन पहिले कहे गये साध्य और हेतु की व्याप्ति के विच्छेद करने की सामर्थ्य को नहीं रखता है। उस साध्य और साधन की व्याप्ति के विच्छेद का समर्थन करना जिसके अधीन है, उसको लोक और शास्त्र में दोष कहा गया है। अतः यह प्रतिवादी का कथन साधर्म्यसमा जाति स्वरूप दोषाभास है॥३२४-३२८॥

आत्मा को क्रिया सहितपना साध्य करने पर क्रियाहेतुगुणाश्रयत्व हेतु की अपने नियत साध्य के साथ जो व्याप्ति है, वह व्यापकपन हेतु से आत्मा का क्रियारहितपना साधने पर नष्ट नहीं हो सकती है। और जब तक उस पहिली व्याप्ति का विच्छेद नहीं होगा, तबतक वह उत्तरवर्ती कथन उस पूर्व कथन का दूषण नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि साध्य और साधन की व्याप्ति के विच्छेद का समर्थन करना जिसका अधीन कार्य है, उसको (का) दोषपने के द्वारा निरूपण किया जाता है। और उसी प्रकार **न्यायभाष्य** को करने वाले **वात्स्यायन ऋषि** ने स्वकीय भाष्य में कहा है कि अन्वय दृष्टान्त के साधर्म्य के द्वारा हेतु का पक्ष में उपसंहार करने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा साध्यधर्म के विपरीत हो रहे धर्म की उपपत्ति करने से साधर्म्य के द्वारा दूषण उठाना साधर्म्यसम नाम का प्रतिषेध है। इस साधर्म्यसम का यह उदाहरण है कि आत्मा (पक्ष) क्रियावान् है। (साध्य) द्रव्य के उचित क्रिया के हेतु गुणों का समवाय सम्बन्धवाला होने से (हेतु) जैसे मिट्टी का डेल या कंकड़, पत्थर द्रव्य क्रिया के हेतु गुणों से समवेत क्रियावान् है, उस प्रकार अदृष्ट या संयोग, प्रयत्न इन क्रिया के हेतु गुणों का धारक आत्मा है। यों वादी पण्डित द्वारा उपसंहार कर चुकने पर दूसरा प्रतिवादी साधर्म्य करके ही दूषण उठा रहा है कि आत्मा निष्क्रिय है। क्योंकि विभुद्रव्य क्रियारहित हुआ करते हैं। जैसे व्यापक आकाश द्रव्य क्रियारहित है, उसी प्रकार व्यापक द्रव्य यह आत्मा है। अतः - आत्मा क्रिया रहित है।

चास्ति विशेषः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यं, न पुनर्निष्क्रियसाधर्म्यात् अक्रियेणेति विशेषहेत्वभावात्साधर्म्यसमदूषणाभासो भवतीत्यत्र वार्तिककार एवमाह–साधर्म्येणोपसंहारे तद्विपरीतसाधर्म्येणोपसंहारे तत्साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमः। यथा अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्। उत्पत्तिधर्मकं कुंभाद्यनित्यं दृष्टमिति वादिनोपसंहृते परः प्रत्यवतिष्ठते। यद्यनित्यघटसाधर्म्यादयमनित्यो नित्येनाप्यस्याकाशेन साधर्म्यममूर्तत्वमस्तीति नित्यप्राप्तः, तथा अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात् यत्पुनरनित्यं न भवति तन्नोत्पत्तिधर्मकं यथाकाशमिति प्रतिपादिते परः प्रत्यवतिष्ठते। यदि नित्याकाशवैधर्म्यादनित्यः शब्दस्तदा साधर्म्यमप्यस्याकाशेनास्त्यमूर्तत्वमतो नित्यः प्राप्तः। अथ सत्यप्येतस्मिन् साधर्म्ये न नित्यो भवति, न तर्हि वक्तव्यमनित्यघटसाधर्म्यान्नित्याकाशवैधर्म्याद्वा अनित्यः शब्द इति। सेयं जातिः विशेषहेत्वभावं दर्शयति

इस प्रकार उक्त दोनों सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं है, जिससे कि क्रियावान् डेल के सद्धर्मापन क्रियाहेतुगुणाश्रयत्व से आत्मा क्रियावान् तो हो जाय, किन्तु फिर क्रियारहित आकाश के साधर्म्य हो रहे विभुत्व से निष्क्रिय नहीं हो सके। इस प्रकार कोई विशेष हेतु के नहीं होने से यह **साधर्म्य सम नामक दूषणाभास** हो जाता है। साधर्म्यसमा जाति के विषय में यहाँ **न्यायवार्तिककारक पण्डित गौतम सूत्र** का अर्थ इस प्रकार कहते हैं कि अन्वय दृष्टान्त की सामर्थ्य से साधर्म्य के द्वारा उपसंहार करने पर अथवा व्यतिरेक दृष्टान्त की सामर्थ्य से उस साध्यधर्म के विपरीत अर्थ का समान धर्मापन करके उपसंहार कर चुकने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा उस साधर्म्य करके दूषण उठाना **साधर्म्यसम** नाम का प्रतिषेध है। जैसे कि शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य) उत्पत्तिनामक धर्म को धारण करने वाला होने से (हेतु) जैसे-उत्पत्ति नामके धर्म के धारक घड़ा आदि पदार्थ अनित्य हैं। इस प्रकार वादी के द्वारा स्वकीय प्रतिज्ञा का उपसंहार किये जाने पर दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान दे रहा है कि अनित्य घट के साधर्म्य से यदि यह शब्द अनित्य है, तब तो नित्य आकाश के साथ भी इस शब्द का साधर्म्य अमूर्त्तपना है। अपकृष्ट परिणाम धारक द्रव्यों को मूर्त द्रव्य कहते हैं। वैशेषिकों के यहाँ पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन ये पाँच द्रव्य ही मूर्त माने गये हैं। शेष आकाश, काल; दिशा, आत्मा ये चार द्रव्य अमूर्त हैं। गुणों में गुण नहीं रहते हैं। शब्द नामक गुण में परिमाण या रूप आदिक दूसरे गुण नहीं पाये जाते हैं। अतः शब्द और आकाश दोनों अमूर्त हैं। अतः अमूर्तपना होने से आकाश के समान शब्द को नित्यपना प्राप्त होता है।

यह साधर्म्य से उपसंहार किये जाने पर साधर्म्यसम का एक प्रकार हुआ तथा दूसरा प्रकार विपरीत साधर्म्य के द्वारा उपसंहार किये जाने पर होता है। जैसे शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा) उत्पत्तिमान धर्म वाला होने से (हेतु) जो पदार्थ अनित्य नहीं है, वह उत्पत्ति धर्म वाला नहीं हो सकता। जैसे आकाश (व्यतिरेक दृष्टान्त)। इस प्रकार वादी द्वारा प्रतिपादन किया जाने पर दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान (उलाहना) देता है कि नित्य आकाश के साथ वैधर्म्य होने से यदि शब्द अनित्य माना जाता है, तब तो आकाश के साथ भी इस शब्द का अमूर्तपना साधर्म्य है। अतः शब्द को नित्यपना प्राप्त हो जाता है। फिर भी यदि कोई इस प्रकार कहे कि इस अमूर्तत्व साधर्म्य के होने पर भी शब्द नित्य नहीं होता है, तब तो हम कहेंगे कि यों तो अनित्य हो रहे घट के साधर्म्य से अथवा नित्य आकाश के वैधर्म्य से शब्द का अनित्यपना भी नहीं कहना चाहिए।

विशेषहेत्वभावाच्चानैकांतिकचोदनाभासो गोत्वाद्गोसिद्धिवदुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यत्वसिद्धिः। साधर्म्यं हि यदन्वयव्यतिरेकि गोत्वं तस्मादेव गौः सिद्ध्यति न सत्त्वादेस्तस्य गोरित्यत्राश्वादावपि भावादव्यतिरेकित्वात्। एवमगोवैधर्म्यमपि गौः साधनं नैकशफत्वादित्यस्याव्यतिरेकित्वादेव पुरुषादावपि भावात्। गोत्वं पुनर्गवि दृश्यमानमन्वयव्यतिरेकि गोः साधनमुपपद्यते तद्वदुत्पत्तिधर्मकत्वं घटादावनित्यत्वे सति भावादाकाशादौ

इस प्रकार वह असत् उत्तर स्वरूप जाति (कर्ता) परीक्षकों के सन्मुख विशेष हेतु के अभाव को दिखलाती है। अर्थात् इस प्रकार असमीचीन उत्तर को कहने वाले प्रतिवादी के यहाँ अपने निजपक्ष का साधक कोई विशेष हेतु नहीं है और विशेष हेतु के नहीं होने से यह प्रतिवादी का कथन व्यभिचार की देशना का आभास है। अर्थात् जब क्रिया हेतु गुणाश्रयत्व हेतु से आत्मा में क्रिया सिद्ध हो जाती है, तो विभुत्व हेतु निष्क्रियत्व को साध नहीं सकता है। अथवा उत्पत्ति धर्मकत्व हेतु से शब्द का अनित्यपना सिद्ध हो जाने पर तो अमूर्तत्व हेतु से शब्दों में नित्यपना साधा जाना व्यभिचारदोषग्रस्त है। उक्त दोनों अनुमान के हेतुओं में सत्प्रतिपक्ष दोष नहीं है।

फिर भी प्रतिवादी द्वारा सत्प्रतिपक्ष दोष दिया जा रहा है। अतः यह सत्प्रतिपक्ष दूषण का आभास है। गोत्वहेतु से गौ की सिद्धि के समान उत्पत्तिधर्म सहितत्व हेतु से अनित्यपन साध्य की सिद्धि हो जाती है। अन्वय और व्यतिरेक के धारक गोत्व से ही गाय की सिद्धि होती है। किन्तु अन्वय व्यतिरेकों को नहीं धारण करने वाले सत्त्व, प्रमेयत्व, कृतकत्व आदि व्यभिचारी हेतुओं से गौ की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि उन सत्त्व आदि हेतुओं का जिस प्रकार यहाँ गौ (बैलों) में सद्भाव है वैसे ही घोड़ा आदि विपक्षों में भी सद्भाव पाया जाता है। अतः सत्त्व आदि हेतुओं में व्यतिरेकीपना नहीं बनता है। इसी प्रकार गोभिन्न पदार्थों का विधर्मापन भी गौ का ज्ञापक हेतु हो जाता है। सींग और सास्ना दोनों से सहितपना गोभिन्न का वैधर्म्य है। अतः सींग, सास्ना, सहितपने से भी गोत्व की सिद्धि हो सकती है। किन्तु एक खुरसहितपना तो गोभिन्न का वैधर्म्य नहीं है। गो भिन्न अश्व, गधा, मनुष्य इनमें भी एकशफसहितपना विद्यमान है। अर्थात् गाय, भैंस बकरी के दो खुर होते हैं। घोड़े, गधे के एक खुर होता है। अतः पुरुष,[१] घोड़ा, गधा, हाथी आदि विपक्षों में भी एक खुर सहितपन के ठहर जाने से वह हेतु व्यतिरेक को धारने वाला नहीं है। इसी कारण एक खुरसहितपना, पशुपना, जीवत्व आदि हेतु गौ के साधक नहीं हैं। जिस हेतु में गौ का साधर्म्य और अगौ (गौ भिन्न) का वैधर्म्य घटित हो जायेगा, वह साधर्म्य वैधर्म्य प्रयुक्त गौ का साधक होगा। इसी दृष्टान्त के अनुसार प्रकरण में वादी के यहाँ साधर्म्य और वैधर्म्य से उपसंहार कर दिया जाता है।

गौपना तो गाय बैलों में ही देखा जाता है। अतः उसके होने पर होना, उसके नहीं होने पर नहीं होना, इस प्रकार अन्वय व्यतिरेकों को धारण करने वाले गोत्व गाय (बैल) का ज्ञापक हेतु हो जाता है। बस, उसी के समान उत्पत्ति धर्मसहितपन हेतु भी घट, पत्र आदि सपक्षों में भी अनित्यपने के कारण विद्यमान

१. यहाँ (पुरुषादौ) मनुष्य में नख की अपेक्षा एक खुर कहा है। जिस प्रकार गाय भैंस के एक पैर में दो खुर होते हैं वैसे घोड़े, गधे के नहीं होते; उनके एक ही खुर होता है।

चाऽनित्यत्वाभावे अभावादन्वयव्यतिरेकि शब्दे समुपलभ्यमानमनित्यत्वस्य साधनं, न पुनरनित्यघटसाधर्म्यमात्रसत्त्वादिनाप्याकाशवैधर्म्यमात्रममूर्तत्वादि तस्यान्वयव्यतिरेकित्वाभावात्। ततस्तेन प्रत्यवस्थानमयुक्तं दूषणाभासत्वादिति। एतेनात्मनः क्रियावत्साधर्म्यमात्रं निष्क्रियवैधर्म्यमात्रं वा क्रियावत्त्वसाधनं प्रत्याख्यातमनन्वयव्यतिरेकित्वात्, अन्वयव्यतिरेकिण एव साधनस्य साध्यसाधनसामर्थ्यात्॥

तत्रैव प्रत्यवस्थानं वैधर्म्येणोपदर्श्यते। यः क्रियावान्स दृष्टोत्र क्रियाहेतुगुणाश्रयः ॥३२९॥
यथा लोष्ठो न वात्मैवं तस्मान्निष्क्रिय एव सः। पूर्ववद्दूषणाभासो वैधर्म्यसम ईक्ष्यताम् ॥३३०॥

क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वाल्लोष्ठवदित्यत्र वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं, यः क्रियाहेतुगुणाश्रयो लोष्टः

रहता है। परन्तु नित्य आकाश परम महापरिमाण आदि विपक्षों में उत्पत्ति सहितपन हेतु का अभाव होने से उनमें अनित्यत्व का अभाव है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेकों को धारने वाला उत्पत्तिधर्म सहितपन हेतु शब्द में देखा जाता है। अतः अनित्यत्व का साधक है। किन्तु फिर अनित्य घट के साथ साधर्म्यमात्र को धारने वाले सत्त्व, प्रमेयत्व, आदिक व्यभिचारी हेतुओं के द्वारा शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि नहीं होती है। अन्वय घट जाने पर भी उनमें व्यतिरेक नहीं घटित होता है। विधर्मपने को प्राप्त आकाश के साथ शब्द का अमूर्तत्व आदि से साधर्म्य है। किन्तु सर्वदा, सर्वत्र, व्यतिरेक के नहीं घटित होने पर अमूर्तत्व, अचेतनत्व आदि हेतु शब्द के नित्यपने को साध नहीं सकते हैं। अतः उस अन्वय व्यतिरेक सहित के नहीं घटित हो जाने से प्रतिवादी द्वारा यह दूषण उठाना युक्त नहीं है। क्योंकि अन्वय व्यतिरेकों को नहीं धारण करने वाले हेतुओं का साधर्म्य वैधर्म्य नहीं बन पाता है। अतः प्रतिवादी के आक्षेपमात्र दूषणाभास हैं।

इस उक्त कथन से इसका भी प्रत्याख्यान कर दिया है कि जो विद्वान् केवल क्रियावान् पदार्थों के साथ समान धर्मत्व होने से आत्मा के क्रियावत्त्व का साधक मानते हैं, अथवा क्रियारहित पदार्थों के केवल विधर्मत्व को आत्मा के क्रियावत्त्व का ज्ञापक हेतु मानते हैं। परन्तु इन क्रियावत्साधर्म्य और निष्क्रिय वैधर्म्य में अन्वय व्यतिरेकों का सद्भाव नहीं पाया जाता है। सिद्धान्त में अन्वय व्यतिरेक वाले हेतु को ही साध्य को साधने में समर्थ माना है।

आत्मा क्रियावान् है, क्रिया के हेतुभूत गुण का आश्रय होने से, जैसे पत्थर। इस अनुमान में ही साध्य के विधर्मत्व से प्रतिवादी द्वारा दूषण दिखलाया गया है। जो क्रिया के कारणभूत गुण का आश्रय देखा गया है, वह क्रियावान् अवश्य है, जैसे कि फेंका जा रहा पत्थर। किन्तु आत्मा तो इस प्रकार क्रिया के कारणभूत गुण का आश्रय नहीं है। अतः वह आत्मा क्रियारहित ही है। नैयायिक कहते हैं कि यह प्रतिवादी का कथन भी पूर्व साधर्म्यसम जाति के समान वैधर्म्यसम नाम का दोषाभास ही है। क्योंकि क्रियावान् के साधर्म्य से आत्मा क्रियावान् पदार्थ के वैधर्म्य से आत्मा क्रियारहित नहीं है। इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है- यह प्रतिवादी का वैधर्म्यसम प्रतिषेध है॥३२९-३३०॥

आत्मा चलना, मर कर अन्यत्र स्थान में जाकर जन्म लेना आदि क्रियाओं से युक्त है। क्योंकि वह क्रिया के प्रेरक हेतु प्रयत्न, पुण्य, पाप, संयोग इन गुणों का धारक है।

स क्रियावान् परिच्छिन्नो दृष्टो न च तथात्मा तस्मान्न लोष्ठवत्क्रियावानिति निष्क्रिय एवेत्यर्थः। सोऽयं साधर्म्येणोपसंहारे वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानात् वैधर्म्यसमः प्रतिषेधः पूर्ववद्दूषणाभासो वेदितव्यः॥ का पुनर्वैधर्म्यसमा जातिरित्याह–

वैधर्म्येणोपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययात्। वैधर्म्येणेतरेणापि प्रत्यवस्थानमिष्यते॥३३१॥
या वैधर्म्यसमा जातिरिदं तस्या निदर्शनम्। नरो निष्क्रिय एवायं विभुत्वात्सक्रियं पुनः॥३३२॥
विभुत्वरहितं दृष्टं लोष्ठादि न तथा नरः। तस्मान्निष्क्रिय इत्युक्ते प्रत्यवस्था विधीयते॥३३३॥
वैधर्म्येणैव सा तावत्कैश्चिन्निग्रहभीरुभिः। कर्मबंधक्रियाहेतुर्गुणादीनां समीक्षितं॥३३४॥

जैसे कि फेंका हुआ पत्थर क्रिया के कारण संयोग, वेग, गुरुत्व गुणों का धारक होने से क्रियावान् है। इस अनुमान में वैधर्म्य के द्वारा असत् दूषण उठाया जाता है कि जो क्रियाहेतुगुण का आश्रय पत्थर है, वह क्रियावान् होता हुआ अपकृष्ट परिमाणवाला परिमित देखा गया है। उस प्रकार आत्मा मध्यपरिमाण वाला नहीं है। अतः लोष्ठ के समान क्रियावान् आत्मा नहीं है; आत्मा क्रियारहित ही है, यह अर्थ प्राप्त हो जाता है। नैयायिक कहते हैं कि यह प्रत्यवस्थान भी साधर्म्य से वादी द्वारा उपसंहार किये जाने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा वैधर्म्य करके प्रत्यवस्थान उठा देने से वैधर्म्यसम नामका प्रतिषेध है। यह भी पूर्व के समान दूषणाभास समझ लेना चाहिए। अर्थात् - जो दोष साध्य और साधन की व्याप्ति का विच्छेद नहीं कर सकता है, वह दोष नहीं है, अपितु दोषाभास है।

न्यायभाष्य के अनुसार दूसरे प्रकार की वैधर्म्यसमा जाति फिर क्या है? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं कि वादी द्वारा वैधर्म्य से पक्ष में साध्य व्याप्त हेतु का उपसंहार कर देने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा साध्य धर्म के विपर्यय की उपपत्ति हो जाने से वैधर्म्य और उससे दूसरे हो रहे साधर्म्य से भी जो प्रत्यवस्थान दिया जाता है वह वैधर्म्यसमा जाति इष्ट की गयी है। उसका दृष्टान्त यह है कि यह आत्मा (पक्ष) क्रियारहित ही है (साध्य), क्योंकि आत्मा सर्वत्र व्यापक है (हेतु)।

जो भी कोई पदार्थ क्रियासहित होता है, वह व्यापक नहीं होता है। जैसे पत्थर आदि पदार्थ मध्यम परिमाण वाले अव्यापक हैं। उस प्रकार का अव्यापक आत्मा नहीं है। अतः आत्मा क्रियारहित है। इस प्रकार वादी द्वारा वैधर्म्य से उपसंहार कह चुकने पर निग्रह स्थान से भयभीत किन्हीं प्रतिवादियों के द्वारा वैधर्म्य से ही जो दूषण देना रूप क्रिया की जाती है कि आकाश द्रव्य क्रियाहेतुगुणों से रहित देखा गया है। इस प्रकार का आत्मा द्रव्य क्रियाहेतु गुणरहित नहीं है। अतः यह आत्मा क्रियारहित नहीं है, इस प्रकार की प्रतीति होती है। क्रियावान् के वैधर्म्य से आत्मा निष्क्रिय तो हो सकती है किन्तु क्रियारहित के वैधर्म्य से आत्मा क्रियावान् नहीं हो सकती। इसका नियामक वादी के पास कोई विशेष हेतु नहीं है। इस प्रकार वादी द्वारा वैधर्म्य से आत्मा के क्रियारहितपन का विभुत्व हेतु से उपसंहार कर देने पर प्रतिवादी द्वारा वैधर्म्य से आत्मा को सक्रिय साधने वाले वैधर्म्य सम का उदाहरण है। अब साधर्म्य से प्रतिवादी द्वारा प्रत्यवस्थान उठाये जाने का उदाहरण कहा जाता है कि उस ही वादी के अनुमान में यानी आत्मा क्रियारहित है व्यापक

नैवमात्मा ततो नायं निष्क्रियः संप्रतीयते। साधर्म्येणापि तत्रैवं प्रत्यवस्थानमुच्यते ॥३३५॥
क्रियावानेव लोष्टादिः क्रियाहेतुगुणाश्रयः। दृष्टास्तादृक्स जीवोपि तस्मात्सक्रिय एव सः ॥३३६॥
इति साधर्म्यवैधर्म्यसमयोर्दूषणोद्भवात्। सधर्मत्वविधर्मत्वमात्रात्साध्यप्रसिद्धितः ॥३३७॥

अथोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमा साभासा विधीयंते–

साध्यदृष्टांतयोर्धर्मविकल्पाद्द्वयसाध्यता। सद्भावाच्च मता जातिरुत्कर्षेणापकर्षतः ॥३३८॥
वर्ण्यावर्ण्यविकल्पैश्च साध्येन च समाः पृथक्। तस्याः प्रतीयतामेतल्लक्षणं सन्निदर्शनम् ॥३३९॥

होने से-यहाँ प्रतिवादी द्वारा साधर्म्य से भी इस प्रकार प्रत्यवस्थान कहा जाता है, क्रियावान् पत्थर आदि पदार्थ क्रियाहेतुगुणों के आधार देखे जाते हैं, उसी प्रकार वह प्रसिद्ध आत्मा भी क्रिया हेतु गुणों का आश्रय है। अतः वह आत्मा क्रियावान् ही है। इसमें कोई विशेषता नहीं है कि वादी के द्वारा कहे गये क्रियावान् के वैधर्म्य विभुत्व से आत्मा आकाश के समान निष्क्रिय तो हो जाय, किन्तु फिर प्रतिवादी के द्वारा कहे गये क्रियावान् के साधर्म्य क्रिया हेतुगुणाश्रयत्व से आत्मा पत्थर के समान क्रियावान नहीं हो, इस पक्षपात ग्रस्त नियम को बनाने के लिए वादी के पास कोई विशेष हेतु नहीं है। यह सूत्र और भाष्य के अनुसार पहिले साधर्म्यसमा और अब वैधर्म्यसमा जाति का उदाहरण सहित लक्षण कह दिया गया है। नैयायिक इन दोनों जातियों में अनेक दूषणों के उत्पन्न हो जाने से इनको असत् उत्तर मानते हैं। क्योंकि किसी के केवल सदृश धर्मापन या विसदृश धर्मापन से ही किसी साध्य की सिद्धि नहीं हो जाती है। अतः प्रतिवादी का उत्तर प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता है ॥३३१-३३७॥

इन दो जातियों के निरूपण अनन्तर अब **गौतमसूत्र** के अनुसार दोष आभास सहित उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा-इन छह जातियों का कथन किया जाता है।

साध्य और दृष्टान्त के विकल्प से अर्थात् पक्ष और दृष्टान्त में से किसी भी एक में धर्म की विचित्रता से तथा उभय के साध्यपन का सद्भाव हो जाने से उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा ये छह जातियाँ पृथक्-पृथक् मान ली गयी हैं। अर्थात् पक्ष और दृष्टान्त के धर्म विकल्प से पहली पाँच जातियाँ होती हैं और पक्ष, दृष्टान्त दोनों के हेतु आदि धर्मों को साध्यपना करने से छट्ठी साध्य समाजाति होती है। प्रकृत में साध्य और साधन में से किसी भी एक विकल्प के सद्भाव से अविद्यमान हो रहे धर्मपक्ष में आरोप करना उत्कर्षसमा है।

अपकर्षसमा जाति में साध्य और दृष्टान्त के सहचरित धर्म का विकल्प यानी असत्त्व दिखाया जाता है। हेतु और साध्य में से अन्यतर के अभाव का प्रसंग देना अपकर्षसमा जाति है। दृष्टान्त में साध्य धर्म की विकलता और साधन धर्म की विकलतारूप देशनाभास जाति है। इस प्रकार साध्य धर्म का संदेह हो जाने से साध्य और दृष्टान्त में धर्म के विकल्प से यह पाँच जातियों का मूल लक्षण यहाँ भी घटित हो जाता है। साध्य के वर्ण्यत्व को (पक्ष के संदिग्ध साध्यकत्व को) दृष्टान्त में आपादन करना **वर्ण्यसमा जाति** है। अवर्ण्यसमा में जैसे घट आदि ख्यापनीय नहीं हैं वैसे ही शब्द भी अवर्ण्य है। कोई विशेषता नहीं है। इस

यदाह, साध्यदृष्टांतयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमा इति॥

तत्रोत्कर्षसमा तावल्लक्षणतो निदर्शनतश्चापि विधीयते–

दृष्टांतधर्मं साध्यार्थे समासंजयतः स्मृता। तत्रोत्कर्षसमा यद्वत्क्रियावज्जीवसाधने॥३४०॥
क्रियाहेतुगुणासंगी यद्यात्मा लोष्टवत्तदा। तद्वदेव भवेदेष स्पर्शवानन्यथा न सः॥३४१॥

दृष्टांतधर्मं साध्ये समासंजयतः स्मृतोत्कर्षसमा जातिः स्वयं, यथा क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगाल्लोष्टवत् इत्यत्र क्रियावज्जीवसाधने प्रोक्ते सति परः प्रत्यवतिष्ठते। यदि क्रियाहेतुगुणासंगी पुमांल्लोष्ठवत्तदा लोष्टवदेव स्पर्शवान् भवेत्। अथ न स्पर्शवांल्लोष्टवदात्मा क्रियावानपि न स स्यादिति विपर्यये वा विशेषो वाच्य इति॥

प्रकार साध्य (शब्द आदि पक्ष) में दृष्टान्त वृत्ति हेतु का सर्वथा सादृश्य आपादन किया जाता है, वह अवर्ण्य समा जाति है। इसी प्रकार पाँचवीं सातवीं (पहिली से) विकल्प समा जाति में तो मूल लक्षण यों घटाना चाहिए कि पक्ष और दृष्टान्त में जो धर्म उसका विकल्प यानी विरुद्ध कल्प व्यभिचारीपन आदि से प्रसंग देना है, वह विकल्पसमा के उत्थान का बीज है। चाहे जिस किसी भी धर्म का कहीं भी व्यभिचार दिखला करके धर्मपन की अविशेषता से प्रकरण प्राप्त हेतु का भी प्रकरणप्राप्त साध्य के साथ व्यभिचार दिखला देना विकल्पसमा है। छट्ठी या आठवीं साध्यसमा जाति के साध्यधर्म का दृष्टान्त में प्रसंग देने से अथवा पक्ष और दृष्टान्त दोनों के धर्म हेतु आदि के साध्यपन से उठा दी जाती है। उसका उदाहरण इस प्रकार है कि जैसे घट है, वैसा शब्द है, तब तो जैसा यह शब्द है, तैसा घट भी अनित्य हो जाए। इस प्रकार नैयायिकों के यहाँ उत्कर्ष, अपकर्ष, वर्ण्य, अवर्ण्य, विकल्प और साध्य सम पृथक्-पृथक् छह जातियाँ हैं। उनका लक्षण दृष्टान्त सहित समझ लेना चाहिए॥३३८-३३९॥

न्याय सूत्रकार गौतम ने उत्कर्षसमा आदि छह जातियों के विषय में जो सूत्र कहा है कि साध्य और दृष्टान्त में धर्म का विकल्प करने से अथवा उभय को साध्यपना करने से उत्कर्षसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा-इस प्रकार छह जातियों का लक्षण बन जाता है।

उन छह में प्रथम उत्कर्षसमा जाति का लक्षण और दृष्टान्त से भी अब विधान किया जाता है।

न्यायभाष्यकार उत्कर्षसमा का लक्षण दृष्टान्त सहित कहते हैं कि दृष्टान्त के धर्म को साध्यरूप अर्थ में प्रसंग कराना उत्कर्षसमा जाति कही गयी है। जैसे जीव को क्रियावान् साधने पर यह प्रसंग उठाया जाता है कि हेतु गुणों का सम्बन्धी आत्मा यदि लोष्ट समान क्रियावान् है, तो उसी लोष्ट के समान यह आत्मा स्पर्श गुण वाला भी प्राप्त हो जाता है। अन्यथा आत्मा लोष्ट के समान यदि स्पर्शवान् नहीं है, तो वह आत्मा लोष्ट के समान क्रियावान् भी नहीं हो सकेगा। यह **उत्कर्षसमा जाति** है॥३४०-३४१॥

दृष्टान्त के अतिरिक्त धर्म का साध्य में प्रसंग देने वाले प्रतिवादी के ऊपर स्वयं उत्कर्षसमा जाति है। जैसे कि आत्मा (पक्ष) क्रियावान् है (साध्य)। क्रिया के सम्पादक कारण गुणों का संसर्गी होने से (हेतु) उछलते, गिरते हुए, लोष्ट के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार यहाँ अनुमान में वादी द्वारा जीव के

का पुनरपकर्षसमेत्याह–

साध्यधर्मिणि धर्मस्याभावं दृष्टांततो वदन्। अपकर्षसमां वक्ति जातिं तत्रैव साधने ॥३४२॥
लोष्टः क्रियाश्रयो दृष्टोऽविभुः कामं तथास्तु ना। तद्विपर्ययपक्षे वा वाच्यो हेतुर्विशेषकृत् ॥३४३॥

तत्रैव क्रियावज्जीवसाधने प्रयुक्ते सति साध्यधर्मिणि धर्मस्याभावं दृष्टांतात् समासंजयन् यो वक्ति सोपकर्षसमाजातिं वदति। यथा लोष्टः क्रियाश्रयोऽसर्वगतो दृष्टस्तद्वदात्मा सदाप्यसर्वगतोस्तु विपर्ययैर्वा विशेषकृद्धेतुर्वाच्य इति॥

वर्ण्यावर्ण्यसमौ प्रतिषेधौ कावित्याह–

क्रियासहितपन का साधन कह चुकने पर दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान उठाता है कि क्रिया हेतु गुणों का सम्बन्धी आत्मा यदि लोष्ट के समान क्रियावान् है, तो लोष्ट के समान ही स्पर्शवान् होना चाहिए। अब वादी यदि आत्मा को पत्थर के समान स्पर्शवान् नहीं मानता है, तब तो वह आत्मा उसी प्रकार क्रियावान् भी नहीं हो सकेगा।

ऐसी दशा में भी यदि वादी आत्मा को क्रियावान् तो स्वीकार करे परन्तु स्पर्शवान् स्वीकार नहीं करे तो इस विपरीत मार्ग के अवलम्ब लेने वाले उस वादी को कोई विशेष हेतु कहना चाहिए।

फिर यह **अपकर्षसमा जाति** क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं -

साधने योग्य साध्यविशिष्ट धर्मी में दृष्टान्त की सामर्थ्य से अविद्यमान धर्म के अभाव को कहने वाला प्रतिवादी अपकर्षसमा नाम की जाति को कह रहा है। जैसे उसी प्रसिद्ध अनुमान में आत्मा का क्रियासहितपना वादी द्वारा सिद्ध करने पर दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान उठाता है कि क्रिया का आश्रय पत्थर अव्यापक (अविभु) देखा गया है। उसी प्रकार आत्मा भी तुम्हारे मनोनुकूल अव्यापक हो जायेगा। यदि तुमको विपरीत पक्ष अभीष्ट है, अर्थात् पत्थर दृष्टान्त की सामर्थ्य से आत्मा में अकेली क्रिया तो मानी जाए, किन्तु अव्यापकपना नहीं माना जाए, इसमें विशेषता को करने वाला कोई हेतु कहना चाहिए। विशेषक हेतु के नहीं कहने पर आत्मा का अव्यापकपना मिट नहीं सकेगा॥३४२-३४३॥

परार्थानुमान में वादी द्वारा समीचीन या असमीचीन हेतु के द्वारा क्रियावान जीव के साधने का प्रयोग प्राप्त होने पर जो प्रतिवादी साध्य धर्मी में धर्म के अभाव को दृष्टान्त से प्रसंग कर कह रहा है, वह अपकर्ष समाजाति को कहता है। जैसे लोष्ट क्रियावान् है, इसलिए अव्यापक है, उसी के समान आत्मा भी सर्वदा असर्वगत होगा। अथवा विपरीत मानने पर कोई विशेषता को करने वाला कारण बतलाना पड़ेगा जिससे कि पत्थर का एक धर्म तो आत्मा में मिलता रहे, और (पत्थर का) दूसरा (धर्म) आत्मा में नहीं ठहर सके।

अब **वर्ण्यसम** और **अवर्ण्यसम** प्रतिषेध कौन है? ऐसी जिज्ञासा होने पर इन दो प्रतिषेधों (जाति) को आचार्य कहते हैं -

ख्यापनीयो मतो वर्ण्यः स्यादवर्ण्यो विपर्ययात्। तत्समा साध्यदृष्टांतधर्मयोरत्र साधने ॥३४४॥
विपर्यासनतो जातिर्विज्ञेया तद्विलक्षणा। भिन्नलक्षणतायोगात्कथंचित्पूर्वजातिवत् ॥३४५॥

ख्यापनीयो वर्ण्यस्तद्विपर्ययादख्यापनीयः पुनरवर्ण्यस्तेन वर्ण्येनावर्ण्येन च समा जातिर्वर्ण्यसमावर्ण्यसमा च विज्ञेया। अत्रैव साधने साध्यदृष्टांतधर्मयोर्विपर्यासनात्। उत्कर्षापकर्षसमाभ्यां कुतोनयोर्भेद इति चेत्, लक्षणभेदात्। तथाहि–अविद्यमानधर्मव्यापक उत्कर्षः विद्यमानधर्मापनयोऽकर्षः। वर्ण्यस्तु साध्योऽवर्ण्योऽसाध्य इति, तत्प्रयोगाज्जातयो विभिन्नलक्षणाः साधर्म्यवैधर्म्यसमवत्॥

चतुरंगवाद में कथन करने योग्य को वर्ण्य कहा जाता है और ख्यापनीय के विपर्यय से जो अवर्णनीय धर्म है, वह अवर्ण्य माना जाता है।

जैसे कि यहाँ अनुमान में जीव का क्रियासहितपना साधने पर साध्य और दृष्टान्त के धर्मों का विपर्यास कर देने से उस वर्ण्य के और अवर्ण्य के सम यानी प्रतिषेध को प्राप्त हो रही वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जाति समझनी चाहिए। ये दोनों जातियाँ उस उत्कर्षसमा और अपकर्षसमा से विभिन्न विलक्षण हैं। क्योंकि कथंचित् भिन्न-भिन्न लक्षणों का सम्बन्ध हो जाने से पूर्व की साध्यसमा वैधर्म्यसमा जातियाँ इन उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा से विभिन्न हैं॥३४४-३४५॥

ख्यापनीय को वर्ण्य कहते हैं और उसके विपरीत होने से अख्यापनीय अवर्ण्य कहा गया है। उस वर्ण्य और अवर्ण्य के द्वारा जो समीकरण करने के लिए प्रयोग है, वह वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जाति जान लेनी चाहिए। यहाँ आत्मा क्रियावान् है, ऐसा साधन करने पर साध्य और दृष्टान्त के धर्म के विपरीत उक्त जातियाँ हो जाती हैं। इन जातियों का पहिले उत्कर्षसमा और अपकर्षसमा से भेद किस कारण से है? इस प्रकार पूछने पर नैयायिक उत्तर देते हैं कि लक्षणों का भेद होने से इनमें भेद प्रसिद्ध है। जैसे, पक्ष में अविद्यमान धर्म को पक्ष में व्याप्त करने का प्रसंग देना उत्कर्ष है। और विद्यमान धर्म का पक्ष में से अलग कर देना अपकर्ष है। किन्तु वर्ण्य साधने योग्य होता है और अवर्ण्य असाध्य है। अर्थात् दृष्टान्त में संदिग्धसाध्य सहितपने का आपादन करना **वर्ण्यसमा है**।

और पक्ष में असंदिग्ध साध्यसहितपने का प्रसंग देना **अवर्ण्यसमा** है। इस प्रकार इनमें अंतर है। उन भिन्न लक्षणों का प्रकृष्ट सम्बन्ध हो जाने से जातियाँ भी भिन्न-भिन्न अनेक लक्षणों की धारक हुई साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम के समान पृथक्-पृथक् मानी जाती हैं।

साधन धर्म से युक्त दृष्टान्त में धर्मान्तर के विकल्प से साध्यधर्म के विकल्प का प्रसंग देना विद्वानों ने **विकल्पसमा** जाति कही है। उसका दृष्टान्त-क्रियाहेतु गुणों से युक्त कोई एक गुरु (भारी) पदार्थ देखा जाता है, जैसे पत्थर तथा क्रियाहेतु गुण के आश्रय कोई-कोई पदार्थ गुरु नहीं देखा जाता है, अपितु लघु (हल्का) देखा जाता है जैसे वायु, उसी के समान कोई पदार्थ क्रियाहेतुगुणाश्रय होने से क्रियावान हो जायेंगे, जैसे कि लोष्ट आदि हैं। और कोई क्रियाहेतुगुणाश्रय होते हुए भी क्रियारहित बन जायेगा, जैसे कि आत्मा। यह युक्त प्रतीत होता है। यदि इसमें कोई विशेषता है तो उस विशेष हेतु का निवेदन करना चाहिए। अन्यथा उसकी बात नहीं मानी जा सकेगी।

साध्यधर्मविकल्पं तु धर्मांतरविकल्पतः। प्रसंजयत इष्येत विकल्पेन समा बुधैः ॥३४६॥

क्रियाहेतुगुणोपेतं किंचिदुरु समीक्ष्यते। परं लघु यथा लोष्टो वायुश्चेति क्रियाश्रयं ॥३४७॥

किंचित्तदेव युज्येत यथा लोष्ठादि निष्क्रियं। किंचिन्न स्याद्यथात्मेति विशेषो वा निवेद्यताम्॥३४८॥

विशेषो विकल्पो साध्यधर्मस्य विकल्पः साध्यधर्मविकल्पस्तं धर्मांतरविकल्पात्प्रसंजयतस्तु विकल्पसमा जातिः तत्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते। क्रियाहेतुगुणोपेतं किंचिदुरु दृश्यते यथा लोष्ठादि, किंचित्तु लघु समीक्ष्यते यथा वायुरिति। तथा क्रियाहेतुगुणोपेतमपि किंचित्क्रियाश्रयं युज्यते यथा लोष्ठादि, किंचित्तु निष्क्रियं यथात्मेति वर्ण्यावर्ण्यसमाभ्यामियं भिन्ना तत्रैवं प्रत्यवस्थानाभावात् वर्ण्यावर्ण्यसमयोर्ह्येवं प्रत्यवस्थानं, यद्यात्मा क्रियावान् वर्ण्यः साध्यस्तदा लोष्ठादिरपि साध्योस्तु। अथ लोष्ठादिरवर्ण्यस्तर्ह्यात्माप्यवर्ण्योस्तु, विशेषो वा वक्तव्य इति। विकल्पसमायां तु क्रियाहेतुगुणाश्रयस्य गुरुलघुविकल्पवत्सक्रियनिष्क्रियत्वविकल्पोस्त्विति प्रत्यवस्थानं। अतोसौ भिन्ना॥

वायु और पत्थर का हल्के, भारीपन से द्वैविध्य मानने वाले को पत्थर और आत्मा का सक्रिय, निष्क्रियपने से द्वैविध्य मानना स्वतःप्राप्त हो जाता है॥३४६-३४८॥

विकल्पसमा जाति में स्थित विकल्प शब्द का अर्थ विशेष है। साध्यधर्म का जो विकल्प है, वह साध्य धर्म विकल्प कहा जाता है, उस साध्यधर्म विकल्प को अन्य धर्म के विकल्प से प्रसंग कर प्रत्यवस्थान उठाने वाले प्रतिवादी के विकल्पसमा जाति लागू हो जाती है।

जैसे वहीं आत्मा के क्रियावत्त्व को साधने के लिए हेतु का प्रयोग किये जाने पर दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान देता है कि क्रियाहेतु गुण से युक्त कोई पदार्थ तो भारी देखा जाता है, जैसे पत्थर आदि और, क्रियाहेतु गुणों से युक्त कोई-कोई पदार्थ हल्का देखा जा रहा है जैसे वायु। उसी प्रकार क्रियाहेतुगुणों से सहित कोई पदार्थ तो क्रियावान् है, जैसे कि पत्थर आदि तथा क्रियाहेतुगुण से उपेत होता हुआ भी कोई पदार्थ क्रियारहित है, जैसे आत्मा। यह विकल्पसमा जाति हुई। यह विकल्पसमा जाति पूर्व रचित वर्ण्यसमा और अवर्ण्य समा जातियों से पृथक् ही है। क्योंकि वहाँ इस प्रकार के प्रत्यवस्थान का अभाव पाया जाता है। वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा में भिन्न प्रकार का प्रत्ययस्थान है कि आत्मा क्रियावान् है, क्योंकि वर्णनीय है। इस प्रकार यदि साध्य बनाया गया है तो पत्थर आदि दृष्टान्त भी साध्य बना लेना चाहिए। अब लोष्ट आदि तो वर्णनीय नहीं हैं, तो आत्मा भी अख्यापनीय होगा। अथवा आत्मा और पत्थर में कोई विपरीतपन की विशेषता है तो उस विशेष को सबके सन्मुख कहना चाहिए, किन्तु इस विकल्प समा में तो क्रियाहेतुगुणों के अधिकरण हो रहे द्रव्यों के भारीपन, हल्कापन विकल्पों के समान क्रियासहितपन और क्रिया रहितपन विकल्प होता है। इस प्रकार प्रत्यवस्थान (प्रश्न) उठाया गया है। इस कारण से यह विकल्पसमा जाति वर्ण्यसमा से भिन्न ही है।

साध्यसमा जाति फिर क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं -

का पुनः साध्यसमेत्याह–

हेत्वादिकांगसामर्थ्ययोगी धर्मोवधार्यते। साध्यस्तमेव दृष्टांते प्रसंजयति यो नरः ॥३४९॥
तस्य साध्यसमा जातिरुद्भाव्या तत्त्ववित्तकैः। यथा लोष्टस्तथा चात्मा यथात्मायं तथा न किम् ॥३५०॥
लोष्टः स्यात्सक्रियश्चात्मा साध्यो लोष्टोपि तादृशः। साध्योस्तु नेति चेल्लोष्टो यथात्मापि तथा कथं॥३५१॥

हेत्वाद्यवयवसामर्थ्ययोगी धर्मः साध्योऽवधार्यते तमेव दृष्टांते प्रसंजयति यो वादी तस्य साध्यसमा जातिस्तत्त्वपरीक्षकैरुद्भावनीया। तद्यथा–तत्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवस्थानं करोति यदि यथा लोष्टस्तथात्मा, तदा यथात्मा तथायं लोष्टः स्यात् सक्रिय इति, साध्यश्चात्मा लोष्टोपि साध्योस्तु सक्रियः इति। अथ लोष्टः क्रियावान् न साध्यस्तर्ह्यात्मापि क्रियावान् साध्यो मा भूत्, विशेषो वा वक्तव्य इति॥

कथमासां दूषणाभासत्वमित्याह–

साध्य में साध्य का अर्थ हेतु, पक्ष आदि अनुमानांगों की सामर्थ्य से युक्त धर्म निर्णीत किया जाता है। उसी साध्य को जो प्रतिवादी मनुष्य दृष्टान्त में प्रसंग देने की प्रेरणा करता है, जिनके विद्या ही धन है, उन मनुष्य के द्वारा अथवा जो प्रकाण्ड तत्त्ववेत्ता विद्वान् हैं, उन करके साध्यसमा जाति उठानी चाहिए। वह मनुष्य कहता है कि यदि जिस प्रकार का लोष्ट है, उस प्रकार की आत्मा है तो जैसा आत्मा है वैसा लोष्ट क्यों नहीं होगा? यदि आत्मा क्रियावान् होता हुआ साध्य हो रहा है, तो पत्थर भी उस प्रकार का क्रियावान् सिद्ध क्यों नहीं कर लिया जाता है॥३४९-३५०॥

जिस प्रकार यदि लोष्ट को क्रियावान् साधने योग्य नहीं कहोगे, तब तो उसी प्रकार आत्मा भी कैसे क्रियावान् साधने योग्य हो सकेगा? अर्थात्-नहीं। पत्थर तो सक्रिय हो और आत्मा सक्रिय नहीं हो, ऐसा कैसे हो सकता है॥३५१॥

न्यायभाष्यकार साध्य का अर्थ यों निर्णीत करते हैं कि अनुमान के हेतु, व्याप्ति आदि अवयवों या उपाङ्गों की सामर्थ्य का सम्बन्धी हो रहा धर्म साध्य है। उसका सम यानी उसी साध्य का जो वादी दृष्टान्त में प्रसंग दे रहा है तो तत्त्वों की परीक्षा करने वाले विद्वानों के द्वारा उस वादी के ऊपर साध्यसमा जाति उठानी चाहिए। उसका दृष्टान्त इस प्रकार है कि वहाँ ही प्रसिद्ध अनुमान में आत्मा के क्रियासहितपने को साध्य करने के लिए हेतु का प्रयोग कर चुकने पर उससे पृथक् दूसरा वादी प्रत्यवस्थान का विधान करता है कि जिस प्रकार का लोष्ट है उसी प्रकार का यदि आत्मा है, तब तो जैसा आत्मा है वैसा यह पत्थर क्रियासहित हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि यदि आत्मा साध्य है तो पत्थर भी यथेच्छ क्रियासहित साध्य हो जायेगा। अब यदि पत्थर क्रियावान् साध्य नहीं है, तो आत्मा भी क्रियावान् साधने योग्य नहीं होवे। आत्मा या पत्थर में कोई विशेषता है तो वह तुमको यहाँ कहनी चाहिए।

साध्यसमा और वैधर्म्यसमा जातियाँ दूषणाभास हैं, यह पहिले ही समझा दिया गया था। अब इन उत्कर्षसमा आदि छल जातियों का दूषणाभासपना किस प्रकार है? ऐसी शिष्य की जिज्ञासा होने पर आचार्यश्री कहते हैं -

दूषणाभासता त्वत्र दृष्टांतादिसमर्थना। युक्ते साधनधर्मेपि प्रतिषेधमलब्धितः ॥३५२॥
साध्यदृष्टांतयोर्धर्मविकल्पादुपवर्णितात्। वैधर्म्यं गवि सादृश्ये गवयेन यथा स्थिते ॥३५३॥
साध्यातिदेशमात्रेण दृष्टांतस्योपपत्तितः। साध्यत्वासंभवाच्योक्तं दृष्टांतस्य न दूषणं ॥३५४॥

क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वाल्लोष्ठवदित्यादौ दृष्टांतादिसमर्थनयुक्ते साधनधर्मे प्रयुक्ते सत्यपि साध्यदृष्टांतयोर्धर्मविकल्पादुपवर्णिताद्वैधर्म्येण प्रतिषेधस्य कर्तुमलब्धेः किंचित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेः। तदाह न्यायभाष्यकारः - "अलभ्यः सिद्धस्य निह्नवः सिद्धं च किंचित्साधर्म्यादुपमानं यथा गौस्तथा गवय" इति।

दूषणसदृश दीखना दूषणाभास है। इनमें दृष्टान्त आदि की सामर्थ्य से युक्त अथवा विपक्ष में हेतु की व्यावृत्ति रूप से पक्ष में हेतु के रहने रूप समर्थन और दृष्टान्त आदि से युक्त समीचीन हेतुरूप धर्म को वादी द्वारा प्रयुक्त किये जाने पर भी पुनः साध्य और दृष्टान्त के व्याख्यान में केवल धर्मविकल्प से तो प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है। (**गौतमसूत्र** है कि कुछ थोड़ा सा दृष्टान्त और पक्ष का व्याप्ति सहित साधर्म्य मिल जाने से वादी द्वारा उपसंहार की सिद्धि हो जाने से पुनः प्रतिवादी द्वारा व्याप्ति निरपेक्ष उसके वैधर्म्य से ही निषेध नहीं किया जा सकता है।) जैसे कि गाय में गवय (रोझ) के साथ सादृश्य व्यवस्थित हो जाने पर पुनः किसी सास्ना धर्म के द्वारा विधर्मपना तो धर्मविकल्प का कुचोद्य उठा नहीं सकते हैं। अतः उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा ये उठाये गये दूषण समीचीन नहीं हैं। वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, साध्यसमा, इन तीन जातियों के असत् उत्तरपन को पुष्ट करने वाला दूसरा समाधान भी है। केवल साध्य के अतिदेश मात्र से ही दृष्टान्त का दृष्टान्तपना सिद्ध हो चुका है अतः दृष्टान्त को पुनः साध्यपना असम्भव है। अतः प्रतिवादी द्वारा कहा गया दृष्टान्त का दूषण उचित नहीं है। दृष्टान्त के सभी धर्म पक्ष में नहीं मिलते हैं। वृत्तिकार के अनुसार इन दो सूत्रों को छहों जातियों में या तीन जातियों में घटा लेना चाहिए ॥३५२-३५४॥

आत्मा क्रियावान् है, क्रिया के हेतु हो रहे गुणों का आश्रय होने से, पत्थर के समान या शब्द अनित्य है, कृतक होने से इत्यादि अनुमान वाक्यों में दृष्टान्त आदि सम्बन्धी समर्थन से युक्त साधन धर्म के प्रयुक्त होने पर भी साध्य और दृष्टान्त के उक्त वर्णन किये गये विकल्प से वैधर्म्य कर के प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध का करना प्राप्त नहीं है। क्योंकि कुछ एक सधर्मापन के मिल जाने से उपसंहार पूर्वक साध्य की सिद्धि हो चुकी है। उसी बात को **न्यायभाष्यकार वात्स्यायन** ने कहा है - "किंचित्साधर्म्यादुपसंहार सिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः" इस सूत्र के भाष्य में अलभ्य से प्रारम्भ कर वक्तुमिति तक इस प्रकार स्पष्ट कहते हैं कि सिद्धि प्राप्त पदार्थ का अपलाप या अविश्वास करना अलभ्य है, जब कि कुछ थोड़े से साधर्म्य से उपमान सिद्ध हो चुका है। जैसे गौ है वैसा गवय (रोझ) है। इस प्रकार उपमान उपमेय भाव बन चुकने पर और गवय के धर्मों का विकल्प उठाकर पुनः कुचोद्य किसी के ऊपर नहीं धकेल दिया जाता है। इसी प्रकार दृष्टान्त, व्याप्ति, पक्षधर्मता आदि की सामर्थ्य से युक्त हो रहे साध्य, ज्ञापक हेतु, स्वरूप धर्म के प्रयुक्त हो चुकने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा साध्य और दृष्टान्त के धर्मविकल्प से वैधर्म्य के द्वारा प्रतिषेध को कह नहीं सकते।

तत्र न लभ्यो गोगवययोर्धर्मविकल्पश्चोदयितुं। एवं साधनधर्मे दृष्टांतादिसामर्थ्ययुक्ते सति न लभ्यः साध्यदृष्टांतयोर्धर्मविकलाद्वैधर्म्यात् प्रतिषेधो वक्तुमिति। साध्यातिदेशमात्राच्च दृष्टांतस्योपपत्तेः साध्यत्वासंभवात्। यत्र हि लौकिकपरीक्षकाणां बुद्धेरभेदस्तेनाविपरीतोर्थः साध्येऽतिदिश्यते प्रज्ञापनार्थं। एवं च साध्यातिदेशाद् दृष्टांते क्वचिदुपपद्यमाने साध्यत्वमनुपपन्नमिति। तथोद्योतकरोप्याह। दृष्टांतः साध्य इति वचनासम्भवात्तावता भवता न दृष्टांतलक्षणं व्यज्ञायि। दृष्टांतो हि नाम दर्शनयोर्विहितयोर्विषयः। तथा च साध्यमनुपपन्नं। अथ दर्शनं विहन्यते तर्हि नासौ दृष्टांतो लक्षणाभावादिति॥

प्राप्त्या यत्प्रत्यवस्थानं जातिः प्राप्तिसमैव सा। अप्राप्त्या पुनरप्राप्तिसमा सत्साधनेरणे।३५५।
यथायं साधयेद्धेतुः साध्यप्राप्त्यान्यथापि वा। प्राप्त्या चेद्युगपद्भावात्साध्यसाधनधर्मयोः।३५६।
प्राप्तयोः कथमेकस्य हेतुतान्यस्य साध्यता। युक्तेति प्रत्यवस्थानं प्राप्त्या तावदुदाहृतम्।३५७।

साध्य के अतिदेश मात्र से दृष्टान्त का दृष्टान्तत्व बन जाता है। उपमान प्रमाण से जानने योग्य पदार्थ की ज्ञप्ति करने में अतिदेशवाक्य साधक होता है। प्रकरणप्राप्त सूत्र में अतिदेश शब्द है, सामान्य रूप से साध्य का अतिदेश कर देना दृष्टान्त में पर्याप्त है। एतावता दृष्टान्त का साध्यपना असम्भव है। क्योंकि जिस पदार्थ में लौकिक और परीक्षक पुरुषों की बुद्धि का अभेद यानी साम्य दिखलाया जाता है, वह दृष्टान्त है।

उससे अविपरीत अर्थ समझाने के लिए साध्य में अतिदेश कर दिया जाता है और ऐसा होने पर साध्य के अतिदेश से किसी एक व्यक्ति का दृष्टान्तपना बन चुकने पर पुनः उस दृष्टान्त को साध्यपना नहीं बन सकता है। इसी बात को उस प्रकार **उद्योतकर** भी कहते हैं कि जो आप प्रतिवादी साध्यसमा में दृष्टान्त को ही साध्य कह रहे हैं, यह आपका कथन करना असम्भव है। उस प्रकार के कथन से आप दृष्टान्त का लक्षण ही नहीं समझ पाये हैं। दृष्टान्त नाम उसका निश्चय किया गया है जो प्रत्यक्ष आत्मक दर्शनों का विषय होता है, वह दृष्टान्त है - "दृष्टः अन्तो यत्र स दृष्टान्तः।" जबकि दर्शनों द्वारा वादी, प्रतिवादी, सभ्य पुरुषों के दृष्टान्त प्रत्यक्षित हो गया है, उसको साध्य कोटि में लाना असिद्ध है। यदि दृष्टान्त बनाने के लिए दर्शन का विघात किया जायेगा, तब तो दृष्टान्त नहीं माना जा सकता है।

हेतु की साध्य के साथ प्राप्ति करके जो प्रत्यवस्थान (उलाहना) दिया जाता है, वह **प्राप्तिसमा जाति** है और अप्राप्ति करके जो फिर प्रत्यवस्थान दिया जाता है, वह **अप्राप्तिसमा जाति** है। समीचीन हेतु का वादी द्वारा कथन किये जा चुकने पर प्रतिवादी दोष उठाता है कि यह हेतु क्या साध्य को प्राप्त होकर साध्य की सिद्धि करायेगा? अथवा दूसरे प्रकार से भी? यानी साध्य को नहीं प्राप्त होकर हेतु साध्य की सिद्धि करा देगा? प्रथम पक्ष अनुसार साध्य के साथ सम्बन्ध हो जाने रूप प्राप्ति से यदि साध्य की सिद्धि मानी जायेगी, तब तो साध्य और हेतु इन दोनों धर्मों का काल एक साथ ही सद्भाव हो जाने से उनमें हेतुत्व और साध्यत्व के नियामक की विशेषता कैसे रहेगी? साध्य और हेतु जब दोनों ही एक स्थान में प्राप्त हैं, तो उनमें से एक को हेतुपना और दूसरे को साध्यपना कैसे युक्त हो सकेगा?

अप्राप्य साधयेत्साध्यं हेतुश्चेत्सर्वसाधनः। सोस्तु दीपो हि नाप्राप्तपदार्थस्य प्रकाशकः ॥३५८॥
इत्यप्राप्त्यावबोद्धव्यं प्रत्यवस्थानिदर्शनम्। तावेतौ दूषणाभासौ निषेधस्यैवमत्ययात् ॥३५९॥
प्राप्तस्यापि दंडादेः कुंभसाधकतेक्ष्यते। तथाभिचारमंत्रस्या प्राप्तस्यासातकारिता ॥३६०॥

नन्वत्र कारकस्य हेतोः प्राप्तस्याप्राप्तस्य च दंडादेरभिचारमंत्रादेश्च स्वकार्यकारितोपदर्शिता ज्ञापकस्य तु हेतोः प्राप्तस्याप्राप्तस्य वा स्वसाध्या प्रकाशिता चोदितेति न संगतिरस्तीति कश्चित्। तदसत्। कारकस्य ज्ञापकस्य वाऽविशेषेण प्रतिक्षेपोयमित्येवं ज्ञापनार्थत्वात्कारकहेतुव्यवस्थापनस्य। तेन ज्ञापकोपि हेतुः कश्चित्प्राप्तः

इस प्रकार प्रतिवादी द्वारा प्राप्ति करके दिये गये पहिले प्रत्यवस्थान का उदाहरण यहाँ तक दिया जा चुका। अब द्वितीय विकल्प अनुसार अप्राप्तिसमा का उदाहरण कहते हैं।

वादी का हेतु यदि साध्य को नहीं प्राप्त होकर साध्य का साधक होगा तब तो सभी हेतु प्रकृत साध्य के साधक हो जायेंगे अर्थात् वह प्रकृतहेतु अकेला ही सभी साध्य को सिद्ध कर लेगा। इस प्रसंग को दूर करना वादी द्वारा अप्राप्ति का पक्ष लेने पर असम्भव है। लोक में भी देखा जाता है कि अप्राप्त पदार्थों का दीपक प्रकाशक नहीं है। इस प्रकार अप्राप्ति करके प्रत्यवस्थान देना यह अप्राप्तिसमा जाति का उदाहरण समझ लेना चाहिए। किन्तु यह प्रतिवादी का उत्तर समीचीन नहीं है। नैयायिक कहते हैं कि वस्तुतः विचारने पर ये प्राप्तिसमा और अप्राप्तिसमा दोनों ही दूषणाभास हैं। क्योंकि इस प्रकार प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध करने का भी अभाव हो जाता है, अथवा प्रतिवादी द्वारा किये गये प्रतिषेध में भी प्राप्ति और अप्राप्ति का विकल्प उठाकर उस प्रतिषेध की असिद्धि करना शक्य हो सकता है तथा इस प्रकार प्रतिपक्ष को साधने वाले प्रतिवादी का हेतु भी असाधक हो जायेगा। साधनीय के साथ प्राप्त दण्ड, चक्र, कुलाल आदि को घट का साधकपना देखा जाता है। तथा मारण, उच्चाटन आदि हिंसा कर्म कराने वाले अभिचार मंत्रों को अप्राप्त होकर भी शत्रु के लिए असाता का कारकपना देखा जाता है। अर्थात् यहाँ बैठे-बैठे हजारों कोस दूर के कार्यों को मंत्रों द्वारा साध्य कर लिया जाता है। इस प्रकार प्राप्त और अप्राप्त सभी पदार्थों का अन्वय व्यतिरेक द्वारा कार्यकारण भाव नियत है। अतः प्राप्ति करके प्रतिषेध देना प्रतिवादी का अनुचित प्रयास है॥३५५-३६०॥

शंका - इस सूत्र में प्राप्त दण्ड आदि और अप्राप्त उच्चाटक, मारक, पीड़क, अभिचार मंत्र आदि इन कारक हेतुओं का स्वकार्य साधकपना दिखलाया गया है। किन्तु प्रतिवादी ने तो स्वकीय साध्य के साथ प्राप्त अथवा अप्राप्त ज्ञापक हेतुओं की स्वकीय साध्य की ज्ञापकता का प्रतिषेधरूप प्रत्यवस्थान देने की प्रेरणा की थी। इस कारण दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की संगति नहीं है। इस प्रकार कोई कह रहा है। **समाधान** - नैयायिक कहते हैं कि यह उनका कहना सत्य नहीं है। क्योंकि प्राक् असत् कार्यों को बनाने वाला कारक हेतु हो अथवा सत् की ज्ञप्ति कराने वाला ज्ञापक हेतु हो, दोनों में कोई विशेषता नहीं करके हमने यह प्रतिवादी के ऊपर आक्षेप किया है। इस बात को समझाने के लिए यहाँ दृष्टान्त देकर कारक हेतु की व्यवस्था की गयी है। कारक हेतु भी व्यवस्था के ज्ञापक हो जाते हैं। और ज्ञापक हेतु भी ज्ञप्ति के कारक बन जाते हैं।

स्वसाध्यस्य ज्ञापको दृष्टो यथा संयोगी धूमादिः पावकादेः। कश्चिदप्राप्तो विश्लेषे, यथा कृत्तिकोदयः शकटोदयस्येत्यपि विज्ञायते। अथायं सर्वोपि पक्षीकृतस्तर्हि येन हेतुना प्रतिषिध्यते सोपि प्रतिषेधको न स्यादुभयथोक्तदूषणप्रसंगादित्यप्रतिषेधस्ततो दूषणाभासाविमौ प्रतिपत्तव्यौ॥

वक्तव्यं साधनस्यापि साधनं वादिनेति तु। प्रसंगवचनं जातिः प्रसंगसमतां गता॥३६१॥
क्रियाहेतुगुणोपेतः क्रियावांल्लोष्ट इष्यते। कुतो हेतोर्विना तेन कस्यचिन्न व्यवस्थितिः॥३६२॥
एवं हि प्रत्यवस्थानं न युक्तं न्यायवादिनां। वादिनोर्यत्र वा साम्यं तस्य दृष्टांततास्थितिः।३६३।

अतः कोई-कोई ज्ञापक हेतु भी प्राप्त होकर अपने नियत साध्य का ज्ञापक देखा जाता है। जैसे अग्नि के साथ संयोग सम्बन्ध का धारक धूम हेतु या रूप के साथ एकार्थसमवाय का धारक रस हेतु आदि भी अग्नि, रूप आदि के ज्ञापक हैं। तथा दैशिक या कालिक विभाग हो जाने पर कोई-कोई हेतु अप्राप्त होकर भी स्वकीय साध्य का ज्ञापक जाना जाता है। जैसे कि कृत्तिका का उदय। यह हेतु मुहूर्त पीछे शकट के उदय का साधक हो जाता है। इस ज्ञापक हेतुओं की प्राप्ति और अप्राप्ति से स्वसाध्य के प्रति साधकता भी समझ लेनी चाहिए।

क्योंकि अब तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्त सर्वथा विषम नहीं रहे। यदि प्रतिवादी का पक्षपात करने वाला कोई विद्वान् यह कहे कि यह सब भी पक्ष कोटि में कर लिया जाएगा। अर्थात् धूम प्राप्त होकर यदि अग्नि का प्रकाशक है, तो धूम और अग्नि दोनों में से एक का साध्यपन और दूसरे का हेतुपन कैसे युक्त हो सकता है? तथा अप्राप्त कृतिकोदय यदि रोहिणी उदय को साध देगा, तो सभी अप्राप्तों का वह साधक बन जायेगा, इस प्रकार यहाँ भी प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा जातियाँ उठायी जा सकती हैं और जिस हेतु से वादी को अभिप्रेत साध्य का प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध किया जायेगा, वह प्रतिवादी का हेतु भी प्रतिषेध करने वाला नहीं हो सकेगा। क्योंकि यहाँ भी प्राप्ति और अप्राप्ति के विकल्प उठाकर दोनों प्रकार से वैसे ही दूषण उठा देने का प्रसंग आयेगा। इस कारण प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध नहीं हो सकेगा। अतः सिद्ध हुआ कि ये प्राप्तिसमा और अप्राप्तिसमा दोनों दूषणाभास हैं। ऐसा समझ लेना चाहिए।

अब **प्रसंगसमा** जाति का लक्षण कहते हैं -

वादी ने जिस प्रकार साध्य का साधन कहा है, वैसे ही साधन का भी साधन करना या दृष्टान्त की भी सिद्धि करना वादी को कहना चाहिए। इस प्रकार प्रतिवादी द्वारा जो प्रसंग का कथन किया जाता है वह प्रसंगपने को प्राप्त **प्रसंगसमा जाति** है॥३६१॥ क्रिया के हेतुभूत गुणों का सम्बन्ध रखने वाला पत्थर क्रियावान् किस हेतु से माना जाता है? उस हेतु के बिना तो किसी भी प्रमेय की व्यवस्था नहीं हो सकती है॥३६२॥ न्याय पूर्वक कथन करने वाले पण्डितों को इस प्रकार दूषण उठाना युक्त नहीं है।

क्योंकि जिस पदार्थ में वादी अथवा प्रतिवादियों के विचार सम होते हैं, उसका दृष्टान्तपना प्रतिष्ठित किया जाता है और प्रसिद्ध दृष्टान्त की सामर्थ्य से वादी द्वारा प्रतिवादी के प्रति असिद्ध साध्य की ज्ञप्ति करा दी जाती है। जैसे कि रूप या रूपवान् को देखना चाहने वाले पुरुषों के दीपक, आलोक आदि का ग्रहण करना प्रतीत होता है। किन्तु स्वयं प्रकाशित प्रदीप आदि का देखना चाहने वाले पुरुषों को पुनः उसके लिए

यथारूपं दिदृक्षूणां दीपादानं प्रतीयते। स्वयं प्रकाशमानं तु दीपं दीपांतराग्रहात् ॥३६४॥
तथा साध्यप्रसिद्ध्यर्थं दृष्टांतग्रहणं मतं। प्रज्ञातात्मनि दृष्टांते त्वफलं साधनांतरम् ॥३६५॥
प्रतिदृष्टांतरूपेण प्रत्यवस्थानमिष्यते। प्रतिदृष्टांततुल्येति जातिस्तत्रैव साधने ॥३६६॥
क्रियाहेतुगुणोपेतं दृष्टमाकाशमक्रियं। क्रियाहेतुर्गुणो व्योम्नि संयोगो वायुना सह ॥३६७॥
संस्कारापेक्षणो यद्वत्संयोगस्तेन पादपे। स चायं दूषणाभासः साधनाप्रतिबंधकः ॥३६८॥
साधकः प्रतिदृष्टांतो दृष्टांतोपि हि हेतुना। तेन तद्वचनाभावात् सदृष्टांतोस्तु हेतुकः ॥३६९॥

अन्य दीपकों का ग्रहण करना नहीं देखा गया है; उसी प्रकार अज्ञात साध्य की प्रसिद्धि के लिए दृष्टान्त का ग्रहण माना गया है। किन्तु जिस दृष्टान्त का आत्मस्वरूप सबको ज्ञात हो चुका है, उसको अन्य साधनों से साधना व्यर्थ है, यहाँ आत्मा के क्रियासहितपन साध्य की सिद्धि कराने के लिए प्रसिद्ध पत्थर को दृष्टान्त रूप से ग्रहण किया था। किन्तु फिर उस पत्थर की सिद्धि के लिए ही तो अन्य ज्ञापक हेतुओं का कथन करना आवश्यक नहीं है। वादी प्रतिवादी दोनों के समान रूप से अविवादास्पद दृष्टान्त को दृष्टान्तपना उचित है। उसके लिए अन्य हेतु उठाना निष्फल है॥३६३-३६४-३६५॥

वादी द्वारा कहे गये दृष्टान्त के प्रतिकूल दृष्टान्तस्वरूप से प्रतिवादी द्वारा जो दूषण उठाया जाता है, वह **प्रतिदृष्टान्तसमा जाति** कही गयी है। उस ही आत्मा के क्रियावत्त्व साधने में प्रयुक्त किये गये दृष्टान्त के प्रतिकूल दृष्टान्त से दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान देता है कि क्रिया के हेतुभूत गुण से युक्त आकाश तो निष्क्रिय देखा गया है। उस ही के समान आत्मा भी क्रियारहित होगा। वायु के साथ आकाश का जो संयोग है, वह क्रिया का कारण गुण है। जैसे कि वेग नामक संस्कार की अपेक्षा रखता हुआ, वृक्ष में वायु का संयोग क्रिया का कारण है, उसी "वायु वनस्पतिसंयोग" के समान वायु आकाश का संयोग है। संयोग द्विष्ठ होता है। अतः आकाश के समान आत्मा क्रिया हेतु गुण के सद्भाव होने पर भी क्रियारहित है। अब सिद्धान्ती कहते हैं कि यह प्रतिवादी का कथन दूषणाभास है। क्योंकि वादी के क्रियावत्त्व साधने का कोई प्रतिबन्धक नहीं है। प्रतिदृष्टान्त को कहने वाले प्रतिवादी ने भी कोई विशेष हेतु नहीं कहा है कि मेरा प्रतिदृष्टान्त तो निष्क्रियत्व का साधक है और वादी का दृष्टान्त सक्रियत्व का साधक नहीं है। प्रतिदृष्टान्तभूत आकाश यदि निष्क्रियत्व का साधक माना जायेगा, तो वादी का पत्थर दृष्टान्त भी उस क्रिया हेतु गुणाश्रयत्व हेतु से सक्रियत्व का साधक होगा। ऐसी दशा में प्रतिदृष्टान्त के निरूपण का अभाव हो जाने से वह पत्थर दृष्टान्त ही हेतुरहित हो जायेगा।

अर्थात्-प्रतिदृष्टान्त जैसे हेतु के बिना ही स्वपक्ष का साधक है, अन्यथा अनवस्था होगी, वैसे दृष्टान्त पत्थर भी क्रियावत्त्व का स्वतः साधक है। अतः वह पत्थर ही प्रतिवादी का भी दृष्टान्त हो सकता है और आत्मा के क्रियावत्त्व का स्वतः साधक है। अतः यह प्रतिदृष्टान्तसमा जाति असमीचीन दूषण है॥३६६-३६७-३६८-३६९॥

एवं ह्याह, दृष्टांतस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टांतेन प्रसंगप्रतिदृष्टांतसमौ। तत्र साधनस्यापि दृष्टांतस्य साधनं कारणं प्रतिपत्तौ वाच्यप्रसंगेन प्रत्यवस्थानं प्रसंगसमः प्रतिषेधः तत्रैव साधने क्रियाहेतुगुणयोगात् क्रियावांल्लोष्ट इति हेतुर्नापदिश्यते, न च हेतुमंतरेण कस्यचित्सिद्धिरस्तीति। सोयमेव वददूषणाभासवादी न्यायवादिनामेवं प्रत्यवस्थानस्यायुक्तत्वात्। यत्र वादिप्रतिवादिनोः बुद्धिसाम्यं तस्य दृष्टांतत्वव्यवस्थितेः। यथा हि रूपं दिदृक्षूणां प्रदीपोपादान प्रतीयते न पुनः स्वयं प्रकाशमानं प्रदीपं दिदृक्षूणां तेषां तदग्रहणात्। तथा साध्यस्यात्मनः क्रियावत्त्वस्य प्रसिद्ध्यर्थं दृष्टांतस्य लोष्ठस्य ग्रहणमभिप्रेतं न पुनर्दृष्टांतस्यैव प्रसिद्ध्यर्थं साधनांतरस्योपादानं प्रज्ञातस्वभावदृष्टांतत्वोपपत्तेः तत्र साधनांतरस्याफलत्वात्। तथा प्रतिदृष्टांतरूपेण प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टांतसमा जातिस्तत्रैव साधने प्रयुक्ते क्वचित् प्रतिदृष्टांतेन प्रत्यवतिष्ठते क्रियाहेतुगुणाश्रयमाकाशं निष्क्रियं दृष्टमिति। कः पुनराकाशस्य क्रियाहेतुर्गुणसंयोगो वायुना सह, स च संस्कारापेक्षो दृष्टो यथा पादपे

इसी प्रकार **गौतम ऋषि** ने **न्यायदर्शन** में सूत्र कहा है कि "साध्यसिद्धि में उपयोगी दृष्टान्त के कारण का विशेष कथने नहीं करने से प्रत्यवस्थान देने की अपेक्षा प्रसंगसम प्रतिषेध हो जाता है और प्रतिकूल दृष्टान्त के उपादान से प्रतिदृष्टान्तसम प्रतिषेध हो जाता है। उस सूत्र के भाष्य में **वात्स्यायन** ने कहा है कि साध्य के साधक दृष्टान्त की प्रतिपत्ति के निमित्त साधन (कारण) कहना चाहिए। इस प्रकार प्रसंग करके प्रतिवादी द्वारा प्रत्यवस्थान (दूषण) उठाया जाना प्रसंगसम नाम का प्रतिषेध है।

जैसे कि अनुमान में क्रिया हेतुगुण के योग से आत्मा का क्रियावत्त्व साधन करने पर लोष्ट दृष्टान्त दिया था। किन्तु पत्थर को क्रियावान् साधने में तो कोई इस प्रकार हेतु नहीं कहा गया है। और हेतु के बिना किसी भी साध्य की सिद्धि नहीं हो पाती है। इस प्रकार प्रतिवादी का दूषण है। अब सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकार कहने वाला प्रतिवादी प्रसिद्ध रूप से दूषणभास को कहने की टेव रखने वाला है। न्यायपूर्वक कहने का स्वभाव रखने वाले विद्वानों को इस प्रकार प्रत्यवस्थान देना समुचित नहीं है। यहाँ सिद्धान्त में जहाँ वादी प्रतिवादियों की या लौकिक जन और परीक्षक विद्वानों की बुद्धि सम हो रही है उस अर्थ को दृष्टान्तपना व्यवस्थित है। जिस प्रकार रूप को देखना चाहने वाले पुरुषों को दीपक ग्रहण करना प्रतीत हो रहा है। किन्तु फिर स्वयं प्रकाशमान प्रदीप को देखना चाहने वाले उन मनुष्यों को अन्य दीपकों का ग्रहण करना आवश्यक नहीं है, उसी प्रकार आत्मा के साध्य स्वरूप क्रियावत्त्व की प्रसिद्धि के लिए लोष्ट दृष्टान्त का ग्रहण करना अभीष्ट किया गया है। किन्तु फिर दृष्टान्त के लिए अन्य हेतुओं का उपादान करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि प्रायः सभी के यहाँ प्रसिद्ध रूप से जान लिये गये स्वभावों को धारने वाले अर्थ का दृष्टान्तपना माना जाता है। उस दृष्टान्त में भी पुनः अन्य साधनों का कथन करना निष्फल है।

तथा साध्य के प्रतिकूल को साधने वाले दूसरे प्रतिदृष्टान्त के द्वारा प्रत्यवस्थान देना प्रतिदृष्टान्त समा जाति है। जैसे कि वहाँ ही अनुमान में आत्मा के क्रियावत्त्व को साधने में हेतु प्रयुक्त कर देने पर कोई प्रतिवादी प्रतिकूल दृष्टान्त के द्वारा प्रत्यवस्थान उठा रहा है कि क्रिया हेतुगुण का आश्रय हो रहा आकाश क्रियारहित देखा गया है।

वायुना संयोगः कालत्रयेप्यसंभवादाकाशे क्रियायाः। कथं क्रियाहेतुर्वायुना संयोग इति न शंकनीयं, वायुना संयोगेन वनस्पतौ क्रियाकारणेन प्रसिद्धेन समानधर्मत्वादाकाशे वायुसंयोगस्य, यत्त्वसौ तथाभूतः क्रियां न करोति तन्नाकारणत्वादपि तु प्रतिबंधनान्महापरिमाणेन। यथा मंदवायुनानंतानां लोष्ठादीनामिति। यदि च क्रिया दृष्टा क्रियाकारणं वायुसंयोग इति मन्यसे तदा सर्वकारणं क्रियानुमेयं भवतः प्राप्तं। ततश्च कस्यचित्कारणस्योपादानं न प्राप्नोति क्रियार्थिनां किमिदं करिष्यति किं वा न करिष्यतीति संदेहात्। यस्य पुनः क्रियासमर्थत्वादुपादानं

इस प्रत्यवस्थाता प्रतिवादी का तात्पर्य यह है कि क्रियाहेतु गुण का आश्रय आकाश जैसे निष्क्रिय है, वैसे ही क्रियाहेतुगुण का आश्रय हो रहा आत्मा भी निष्क्रिय रहे। **प्रश्न** - तुम्हारे द्वारा स्वीकृत प्रतिकूल दृष्टान्त आकाश में कौनसी क्रिया का हेतुगुण है? **उत्तर** - वायु के साथ आकाश का संयोग हो रहा है और वह संस्कार की अपेक्षा रखता हुआ क्रियाहेतुगुण देखा गया है। जैसे कि वायु के साथ वृक्ष में हो रहा संयोग नामक गुण उस वृक्ष के कम्पन का कारण है, उसी वायुवृक्ष संयोग के समान धर्मवाला वायु आकाश संयोग है। संयोग गुण दो में रहता है। वृक्षवायु का संयोग जैसे वृक्ष में क्रिया उत्पन्न करता है उसी के समान वायु आकाश संयोग भी आकाश में क्रिया को उत्पन्न कराने की योग्यता रखता है परन्तु तीनों कालों में भी आकाश में क्रिया का होना असम्भव है। अतः वायु के साथ वृक्ष के संयोग को वृक्ष में क्रिया सम्पादन का कारण कैसे कहा जा सकता है? यह शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वायु के साथ वनस्पति का संयोग तो वृक्ष में क्रिया का कारण होता हुआ प्रसिद्ध है। आकाश में वायु के साथ संयोग भी उस वृक्ष वायु के संयोग का समानधर्मा है। अर्थात्-समानधर्म वाले वृक्ष वायु संयोग और आकाश वायु संयोग के द्वारा वृक्ष में जैसे क्रिया हो जाती है, उसी प्रकार आकाश में (उस) संयोग करके देश से देशान्तर हो जाना रूप क्रिया क्यों नहीं होती है? यदि कारण है तो कार्य अवश्य होना चाहिए।

इसका समाधान प्रतिवादी की ओर से ऐसा दिया जाता है कि जो वह वायु आकाश संयोग इस प्रकार क्रिया का कारण होने पर भी वहाँ आकाश में क्रिया को नहीं कर रहा है, वह अकारणपन से क्रिया का असम्पादक है, यह नहीं समझना चाहिए, किन्तु महापरिमाण के द्वारा आकाश में क्रिया उत्पन्न होने का प्रतिबन्ध हो जाता है। जैसे कि मन्दवायु के द्वारा अनन्त पत्थर आदि में क्रिया नहीं हो पाती है। परन्तु आकाश में क्रिया का कारण यदि वायु संयोग माना जाता है, तो वहाँ क्रिया हो जाना दिख जाना चाहिए। सिद्धान्ती कहते हैं कि तब तो यहाँ सभी कारण अपनी-अपनी क्रिया के द्वारा ही अनुमान करने योग्य हो सकेंगे। यहाँ प्रसंग प्राप्त होता है और ऐसा हो जाने से अर्थक्रिया के अभिलाषी जीवों के किसी एक विशेष कारण का ही उपादान करना प्राप्त नहीं होता है। चाहे कोई भी सामान्य कारण हमारी अभीष्ट क्रिया को साध देगा। तुम्हारे मतानुसार सभी कारण अपनी क्रियाओं को करते ही हैं, तो फिर लौकिक जनों को अनेक कारणों में इस प्रकार जो संशय हो जाता है कि न जाने यह कारण हमारी अभीष्ट क्रिया को करेगा? अथवा नहीं करेगा? यह सन्देह क्यों हुआ? जिस शंकाकार के यहाँ सभी समर्थ कारण या असमर्थ कारण आवश्यक

कारणस्य युक्तं तस्य सर्वमाभाति। अथ क्रियाकारणवायुवनस्पतिसंयोगसदृशो वा प्रकाशसंयोगोन्यश्चान्यत् क्रियाकारणमिति मन्यसे, तर्हि न कश्चिद्धेतुरनैकांतिकः स्यात्। तथाहि। अनित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्सुखादिवदित्यत्रामूर्तत्वहेतुः शब्दोऽन्योन्यश्चाकाशे तत्सदृश इति कथमस्याकाशेनानैकांतिकत्वं सर्वानुमानाभावप्रसंगश्च भवेत्, अनुमानस्यान्येन दृष्टस्यान्यत्र दृश्यादेव प्रवर्तनात्। न हि ये धूमधर्माः क्वचिद्धूमे दृष्टास्त एव, धूमांतरेष्वपि दृश्यंते तत्सदृशानां दर्शनात्। ततोऽनेन कस्यचिद्धेतोरनैकांतिकत्वमिच्छता

रूप से यदि क्रिया को करने में समर्थ हैं, तब तो चाहे किसी भी कारण को ग्रहण किया जा सकता है। क्योंकि उसके यहाँ सभी कारण स्वयोग्य क्रियाओं को करने के लिए उचित प्रतीत होते हैं अथवा जिस विचारशील प्रतिवादी के यहाँ पुनः क्रिया को करने में समर्थ होने से उसी विशेष कारण का उपादान करना माना जाता है, उसके यहाँ तो सभी सिद्धान्त उचित हो सकते हैं।

वायु का आकाश के साथ संयोग केवल क्रिया के कारण वायु वनस्पति संयोग से सादृश्य रखता है। वस्तुतः भिन्न है अर्थात् क्रिया का कारण रूप संयोग पृथक् है और क्रिया को नहीं करने वाला संयोग भिन्न है। इन दोनों संयोगों की एक जाति नहीं है। अतः प्रतिवादी द्वारा प्रतिकूल दृष्टांतभूत निष्क्रिय आकाश के द्वारा प्रत्यवस्थान देना उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार मानोगे तो कोई भी हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं हो सकता। इसी बात को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं कि शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य), अमूर्त होने से (हेतु), सुख, घट, इच्छा आदि के समान (अन्वय दृष्टान्त) इस अनुमान में दिये गये अमूर्त्तत्व हेतु का व्यभिचार स्थल आकाश माना गया है। किन्तु तुम्हारे विचारानुसार कहा जा सकता है कि शब्द में रहने वाला अमूर्त्तत्व हेतु भिन्न है और आकाश में उस अमूर्त्तत्व के सदृश दूसरा भिन्न अमूर्तत्व है। ऐसी दशा में इस अमूर्त्तत्व हेतु का आकाश के द्वारा व्यभिचारीपना कैसे बताया जा सकता है?

वही शब्दनिष्ठ अमूर्त्तत्व यदि आकाश में रह जाता, तब तो व्यभिचार दिया जा सकता था। तुमने जैसे वायुवृक्ष संयोग और वायु आकाश संयोग इनकी भिन्न-भिन्न जाति कर दी है, वैसे ही अमूर्त्तत्व भी भिन्न-भिन्न है, तो फिर केवल शब्द में ही रहने वाला वह अमूर्त्तत्व विपक्ष में नहीं रहता है। अतः व्यभिचार हेत्वाभास ही नहीं रह सकता। तुम्हारे यहाँ सभी अनुमानों के अभाव का प्रसंग हो जाएगा। अनुमान तो सादृश्य से ही होता है। अन्य के साथ व्याप्ति युक्त देखे हुए पदार्थों का अन्यत्र दर्शनीय हो जाने से ही अनुमान का प्रवर्तन माना गया है। रसोईघर में अग्नि और धूम भिन्न हैं। तथा पर्वत में वे भिन्न हैं फिर भी सादृश्य की शक्ति से पर्वत में स्थित धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है। जो धूंए के तृणसम्बन्धी पन आदि धर्म कहीं रसोईघर, आदि में स्थित धूम में देखे जाते हैं, वे ही धूम के धर्म तो दूसरे धूमों में यानी पक्षभूत पर्वत आदि के धूमों में भी नहीं देखे जाते हैं।

उन महानस धूम धर्मों के समान हो रहे अन्य धर्मों का ही पर्वत आदि के धूमों में दर्शन हो रहा है। यदि यह या तुम किसी एक प्रमेयत्व, अग्नि, आदि हेतुओं के अनैकान्तिकपन को चाहते हो और कहीं अग्नि आदि में अनुमान ज्ञान से प्रवृत्ति होने को स्वीकार करते हो तो सिद्धान्ती कहते हैं कि तब इस पण्डित

क्वचिदनुमानात्प्रवृत्तिं च स्वीकुर्वता तद्धर्मसदृशस्तद्धर्मोनुमंतव्य इति क्रियाकारणवायुवनस्पतिसंयोगसदृशो वाय्वाकाशसंयोगोपि क्रियाकारणमेव। तथा च प्रतिदृष्टांतेनाकाशेन प्रत्यवस्थानमिति प्रतिदृष्टांतसमप्रतिषेधवादिनोभिप्रायः। स चायुक्तः। प्रतिदृष्टांतसमस्य दूषणाभासत्वात् प्रकृतसाधनाप्रतिबंधित्वात्तस्य, प्रतिदृष्टांतो हि स्वयं हेतुः साधकः साध्यस्य न पुनरन्येन हेतुना तस्यापि दृष्टांतांतरापेक्षायां दृष्टान्तान्तरस्य वा परेण हेतुना साधकत्वे परापरदृष्टान्त हेतु परिकल्पनायामनवस्थाप्रसंगात्। तथा दृष्टान्तोपि न परेण हेतुना साधकः प्रोक्तानवस्थानुषंगसमानत्वात्ततो दृष्टान्तेऽपि प्रतिदृष्टान्त इव हेतुवचनाभावाद्भवतो दृष्टांतोस्तु हेतुक एव। तदाहोद्योतकरः। प्रतिदृष्टांतस्य हेतुभावं प्रतिपद्यमानेन दृष्टांतस्यापि हेतुभावोभ्युपगंतव्यः। हेतुभावश्च साधकत्वं स च कथमहेतुर्न स्यात्। यद्यप्रतिषिद्धः स्यात् अप्रतिसिद्धश्चायं

के द्वारा उस सजातीय पदार्थ के धर्मों के सदृश ही अन्य उन सजातीय पदार्थों के धर्म स्वीकार करने पड़ेंगे। और ऐसा होने पर क्रिया के कारणभूत वायु वनस्पति संयोग के समान जाति वाला ही वायु आकाश संयोग भी क्रिया का कारण होगा ही। वैसा होने पर प्रतिकूल दृष्टांत आकाश से प्रतिवादी द्वारा वादी के ऊपर प्रत्यवस्थान उठाया जा सकता है। ऐसा प्रतिदृष्टांत समप्रतिषेध को कहने वाले जाति वादी का अभिप्राय है।

प्रतिवादी द्वारा वह प्रति दृष्टांतसम प्रतिषेध उठाना समुचित नहीं है। क्योंकि प्रतिदृष्टांतसम जाति समीचीन दूषण नहीं होकर दूषण सदृश दीखने से दूषणाभास है। वह प्रकरण प्राप्त साधन की प्रतिबंधिका नहीं हो सकती है। प्रकृत के साधन को बिगाड़ती नहीं है। वह दूषण नहीं है (किसी मनुष्य की सुन्दरता को अन्य पुरुष का काणापन नहीं बिगाड़ देता है)। प्रतिवादी द्वारा दिया गया प्रतिदृष्टांत आकाश तो दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं कर स्वयं ही नित्यत्व साध्य का साधक माना जाता है। पुनः अन्य हेतु के द्वारा तो वह प्रतिदृष्टांत साध्य का साधक नहीं है।

अन्यथा उस अन्य साध्यसाधक दृष्टांतरूप हेतु को भी दृष्टांतों की अपेक्षा हो जाने पर, उस अन्य दृष्टांत को भी तीसरे, चौथे आदि भिन्न-भिन्न दृष्टांतरूप हेतुओं करके साधकपना मानते-मानते उत्तरोत्तर दृष्टांतस्वरूप हेतुओं की कल्पना करने से अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। अतः प्रतिदृष्टांत स्वतः ही साध्य का साधक है और दृष्टान्त पत्थर भी दूसरे हेतु या दृष्टांत के द्वारा साध्य का साधक नहीं है। किन्तु स्वतः सामर्थ्य से अनित्यत्व का साधक है। अन्यथा पूर्व प्रकार से कथित अनवस्था का प्रसंग समान रूप से लागू हो जायेगा। अतः प्रतिवादी के द्वारा कहे गये आकाश दृष्टांत में जैसे उसके समर्थक हेतु का कथन करना आवश्यक नहीं है उसी प्रकार वादी के दृष्टांत में भी हेतु वचन की आवश्यकता नहीं है। अतः आपके यहाँ पत्थर भी साधक का हेतु दृष्टांत हो सकता है। जब प्रतिवादी ने पत्थर को दृष्टांत स्वीकार कर लिया तो प्रतिवादी आकाश को अब प्रतिदृष्टांत नहीं बना सकता है।

उसी बात को **उद्योतकर** पण्डित यों कह रहे हैं कि स्वकीय प्रतिदृष्टांत को साध्य की हेतुतारूप से समझने वाले प्रतिवादी के द्वारा वादी के दृष्टांत को भी स्व साध्य की हेतुता स्वीकार कर लेनी चाहिए।

साधकः। किं च, यदि तावदेवं ब्रूते यथायं त्वदीयो दृष्टांतो लोष्टादिस्तथा मदीयोप्याकाशादिरिति तदा दृष्टांतस्य लोष्टादेरभ्युपगमान्न दृष्टांतत्वं व्याघातत्वात्। अथैवं ब्रूते यथायं मदीयो दृष्टांतस्तथा त्वदीय इति तथापि न दृष्टांतः कश्चित् व्याघातादेव दृष्टांतप्रतिदृष्टांतत्वैः परस्परं व्याघातः समानबलत्वात्। तयोरदृष्टांतत्वे तु। प्रतिदृष्टान्तस्य ह्यदृष्टान्तत्वे दृष्टांतस्यादृष्टांतत्वव्याघातः प्रतिदृष्टांताभावे तस्य दृष्टांतत्वोपपत्तेः दृष्टांतस्य चादृष्टांतत्वे प्रतिदृष्टांतस्यादृष्टांतत्वव्याघातः दृष्टांताभावे तस्य प्रतिदृष्टांततोपपत्तेः। न चोभयोर्दृष्टांतत्वं व्याघातादिति न प्रतिदृष्टांतेन प्रत्यवस्थानं युक्तम्॥

हेतुभाव ही तो साध्य का साधकपन है। वह अन्य कारणों की अपेक्षा रखे बिना ही अहेतु क्यों नहीं होगा? अर्थात् वादी का दृष्टांत या हेतु की अपेक्षा नहीं रखता हुआ प्रकृत साध्य का साधक हो जाता है। यदि वह प्रतिवादी के दृष्टांत से प्रतिषिद्ध नहीं हुआ है, तो अप्रतिषिद्ध हो रहा यह आत्मा के सक्रियत्व का साधक होता है। ऐसी दशा में प्रतिवादी का उत्तर समीचीन नहीं है।

प्रतिदृष्टांत सम के दूषणाभासपन में दूसरी उपपत्ति यह भी है कि यह जातिवादी यदि पहले ही इस प्रकार स्पष्ट कहे कि जिस प्रकार यह तेरा पत्थर आदि दृष्टांत है, उसी प्रकार मेरा भी आकाश, चुम्बक पाषाण आदि दृष्टांत है। इसके प्रत्युत्तर में सिद्धांती कहते हैं कि तब तो प्रतिवादी ने लोष्ट, गोला आदि दृष्टांतों को समीचीन दृष्टांतपने से स्वीकार कर लिया है। ऐसी दशा में आकाश आदि को प्रतिपक्ष का साधक दृष्टांतपना नहीं बन सकता है, क्योंकि इसमें व्याघात दोष आता है।

अथवा, जातिवादी यदि ऐसा कहता है कि जैसा तेरा यह लोष्ट आदि दृष्टान्त है, वैसा ही मेरा आकाशादि दृष्टान्त है। इसके प्रत्युत्तर में सिद्धान्तवादी कहता है कि तब तो प्रतिवादी ने लोष्ट आदि को दृष्टान्त स्वीकार कर लिया है। अतः आकाश आदि को प्रतिपक्ष का साधक दृष्टान्तपना नहीं बन सकता। क्योंकि इसमें व्याघात दोष आता है अर्थात् जैसे पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करने के लिए दिया गया सरोवर का दृष्टान्त व्याघात दोष से युक्त है।

"यदि वादी कहे कि जैसा मेरा दृष्टान्त है वैसा ही तेरा दृष्टान्त है"- इसमें भी व्याघात दोष आता है। अतः इन दोनों में कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता। क्योंकि दोनों के दृष्टान्त में समान बल होने से परस्पर व्याघात है। अतः दोनों के दृष्टान्तपना नहीं है। क्योंकि प्रतिदृष्टान्त (आकाश) को अदृष्टान्त स्वीकार करने पर उसी समय लोष्ट (पत्थर) के दृष्टान्तपने का व्याघात (निराकरण) हो जाता है। क्योंकि प्रतिदृष्टान्त के अभाव में दृष्टान्त की सरलतया सिद्धि हो जाती है अर्थात् जैसे घट रहितपने का निषेध करने पर घट सहितपना सुलभता से सिद्ध हो जाता है। तथा दृष्टान्त (लोष्ट) को अदृष्टान्त मानने पर प्रतिदृष्टान्त (आकाश) के अदृष्टान्त का व्याघात हो जाता है। अर्थात् प्रतिदृष्टान्त को अदृष्टान्त नहीं कह सकते। क्योंकि दृष्टान्त के अभाव में उस आकाश को प्रतिदृष्टान्तपना युक्तिसिद्ध हो जाता है। आकाश और लोष्ट दोनों के दृष्टान्तपना सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि परस्पर व्याघात दोष से युक्त हैं। इसलिए प्रतिवादी को प्रतिदृष्टान्त (आकाश) के द्वारा प्रत्यवस्थान उठाना (प्रतिदृष्टान्तसमा जाति कहना) समुचित नहीं है।

कारणाभावतः पूर्वमुत्पत्तेः प्रत्यवस्थितिः। यानुत्पत्त्या परस्योक्ता सानुत्पत्तिसमा भवेत् ।३७०।
शब्दो विनश्वरात्सैवमुपपन्नो भवत्वतः। कदंबादिवदित्युक्ते साधने प्राह कश्चन ॥३७१॥
प्रागुत्पत्तेरनुत्पन्ने शब्देऽनित्यत्वकारणं। प्रयत्नानंतरोत्थत्वं नास्तीत्येषोऽविनश्वरः ॥३७२॥
शाश्वतस्य च शब्दस्य नोत्पत्तिः स्यात्प्रयत्नतः। प्रत्यवस्थेत्यनुत्पत्त्या जातिर्न्यायातिलंघनात् ।३७३।
उत्पन्नस्यैव शब्दस्य तथाभावप्रसिद्धितः। प्रागुत्पत्तेर्न शब्दोस्तीत्युपालंभः किमाश्रयः ।३७४।
सत एव तु शब्दस्य प्रयत्नानंतरोत्थता। कारणं नश्वरत्वेस्ति तन्निषेधस्ततः कथम् ॥३७५॥

उत्पत्तेः पूर्वं कारणाभावतो या प्रत्यवस्थितिः परस्यानुत्पत्तिसमा जातिरुक्ता भवेत्। "प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसम" इति वचनात्। तद्यथा–विनश्वरः शब्दः पुरुषप्रयत्नोद्भवात् कदंबादिवदित्युक्ते साधने

उत्पत्ति के पूर्व तालु आदि कारणों के अभाव में अनुत्पत्ति के द्वारा प्रत्यवस्थापन उठाया जाता है। वह दूसरे प्रतिवादी की अनुत्पत्तिसमा नाम की जाति कही गयी है। ऐसा समझना चाहिए। जैसे शब्द (पक्ष) विनाश स्वभाव वाला है (साध्य), मनुष्य के प्रयत्न द्वारा अव्यवहित उत्तर काल में उत्पत्ति वाला होने से (हेतु) कदम्ब आदि के समान। (अन्वय दृष्टान्त)। इस प्रकार वादी के द्वारा सिद्ध करने पर कोई प्रतिवादी कहता है कि उत्पत्ति के पूर्व नहीं स्थित (अनुत्पन्न) शब्द में अनित्यत्व का कारण प्रयत्नान्तर से उत्पन्न होता नहीं है। इसलिए शब्द अविनश्वर (नित्य) है। अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व जब शब्द का उत्पादक कारण ही नहीं है, तो अकारणवान होने से शब्द नित्य है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि -

शाश्वत शब्द की उत्पत्ति प्रयत्नों से नहीं होती है। इसलिए अनुत्पत्ति के द्वारा दूषण देना **अनुत्पत्ति समा जाति है।** ऐसा कहने पर न्याय का उल्लंघन होता है अर्थात् शब्द कारणों से उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि शब्द कारणों से उत्पन्न होते हैं, ऐसी प्रसिद्धि है। अतः जब उत्पत्ति के पूर्व शब्द विद्यमान ही नहीं है, तब प्रतिवादी के द्वारा "शब्द की उत्पत्ति कारणों से नहीं होती है" यह उलाहना देना किसके आश्रय रह सकता है? विद्यमान शब्द के नश्वरता का कारण प्रयत्नानन्तर से उत्पन्न होना हेतु सिद्ध ही है। अतः शब्द की नश्वरता का निषेध प्रतिवादी के द्वारा कैसे किया जा सकता है? ॥३७०-३७५॥

साधन के अंग स्वरूप पक्ष, हेतु और दृष्टान्तों की उत्पत्ति के पूर्व साध्य के ज्ञापक कारणों का अभाव होने से प्रतिवादी के द्वारा प्रत्यवस्थान (प्रश्न या दूषण) उठाया जाता है। वही **अनुत्पत्तिसमा जाति** कही जाती है।

सो ही **गौतम ऋषि** ने **न्याय दर्शन** में कहा है - "उत्पत्ति के पूर्व कारण का अभाव होने से अनुत्पत्तिसम कहलाता है" इसी के **न्यायभाष्य** अनुसार सिद्ध करते हैं कि "शब्द विनाश स्वभाव (अनित्य) है, क्योंकि पुरुष के कण्ठ, तालु, जिह्वा आदि के प्रयत्नों से उत्पन्न होते हैं जैसे कदम्ब, कटक आदि प्रयत्नों से उत्पन्न होते हैं, अतः अनित्य हैं।" इस प्रकार वादी के द्वारा साध्य का साधन कर देने पर

सति पर एवं ब्रवीति प्रागुत्पत्तेरनुत्पन्ने शब्दविनश्वरत्वस्य कारणं यत्प्रयत्नानंतरीयकत्वं तन्नास्ति ततोयमविनश्वरः, शाश्वतस्य च शब्दस्य न प्रयत्नानंतरं जन्मेति सेयमनुत्पत्त्या प्रत्यवस्था दूषणाभासो न्यायातिलंघनात् उत्पन्नस्यैव हि शब्दधर्मिणः प्रयत्नानंतरीयकत्वमुत्पत्तिधर्मकत्वं वा भवति, नानुत्पन्नस्य प्रागुत्पत्तेः शब्दस्य चासत्त्वे किमाश्रयोयमुपालंभः। न ह्ययमनुत्पन्नोऽसन्नेव शब्द इति वा प्रयत्नानंतरीयक इति वा अनित्य इति वा व्यपदेष्टुं शक्यः। शब्दे तु सिद्धमेव प्रयत्नानंतरीयकत्वं कारणं नश्वरत्वे साध्ये। ततः कथमस्य प्रतिषेधः। किं वायं हेतुर्ज्ञापको न पुनः कारको, ज्ञापके च कारकवत्प्रत्यवस्थानमसंबद्धमेव। ज्ञापकस्यापि किंचित्कुर्वतः कारकत्वमेवेति चेत् न, क्रियाहेतोरेव कारकत्वोपपत्तेरन्यथानुपपत्तिरिति हेतोर्ज्ञापकत्वात्। कारकता हि वस्तूत्पादयति ज्ञापकस्तूत्पन्नं वस्तु ज्ञापयतीत्यस्ति विशेषः। कारकविशेषे वा ज्ञापके कारकसामान्यवत्प्रत्यवस्थानमयुक्तं। किं च–प्रागुत्पत्तेरप्रयत्नानंतरीयको अनुत्पत्तिधर्मको वा शब्द इति ब्रुवाणः

प्रतिवादी इस प्रकार कहता है कि उत्पत्ति के पूर्व शब्द के अनुत्पन्न होने पर विनश्वरत्व का कारण प्रयत्नान्तर से उत्पन्न होना नहीं है, इसलिए शब्द अविनश्वर है। शाश्वत शब्द का कारणान्तरों से (प्रयत्नान्तरों से) उत्पाद नहीं होता है, इस प्रकार अनुत्पत्ति के द्वारा दूषण देना **अनुत्पत्ति प्रतिषेध** है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना न्यायमार्ग का उल्लंघन करने वाला होने से दूषणाभास है। क्योंकि उत्पन्न हुए शब्दरूप धर्मी के प्रयत्नान्तरीयकत्व अथवा उत्पत्ति धर्मकत्व धर्म संभव होता है। अर्थात् धर्मी के रहने पर ही धर्म की मीमांसा होती है। जब उत्पत्ति के पूर्व शब्द विद्यमान ही नहीं है तो अविद्यमान शब्द में प्रतिवादी के द्वारा उपालंभ (उलाहना) किसका आश्रय लेकर दिया जा सकता है?

यह शब्द अनुत्पन्न (किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ) है। अतः असत् (अविद्यमान) है। प्रयत्नान्तरीयक है जो प्रयत्नों से उत्पन्न होता है वह अनित्य है। इस प्रकार कथन करना भी योग्य नहीं है। क्योंकि शब्द के उत्पन्न होने में और नश्वरत्व साध्य में ज्ञापक हेतु प्रयत्नान्तरीयकत्व (तालु आदि का प्रयत्न) सिद्ध ही है। अर्थात् शब्द पुरुष के तालु आदि की चेष्टा से उत्पन्न होता है, यह अबाधित सिद्ध है। अतः शब्द का निषेध कैसे किया जा सकता है? अथवा शब्द की उत्पत्ति में प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु ज्ञापक है, कारक हेतु नहीं है। इसलिए ज्ञापक हेतु में कारक हेतु के समान कारक साधनों में होने वाले दूषण को उठाना सुसंगत नहीं है। अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व जब शब्द ही नहीं है तो उन शब्दों में प्रयत्नजन्य भाव कैसे हो सकते हैं?

"साध्य को सिद्ध करना, हेतु का ज्ञान करना, अनुमान ज्ञान को उत्पन्न करना आदि कुछ-न-कुछ करने वाला होने से ज्ञापक हेतु के भी कारकत्व सिद्ध है" ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि क्रियाओं के संपादक हेतु को ही कारकत्व सिद्ध है (कारकत्व की उत्पत्ति है)। अन्यथा अनुपपत्ति होने से (साध्य के अभाव में हेतु के सद्भाव की असिद्धि होने से) हेतु का ज्ञापकपना व्यवस्थित है। क्योंकि, कारकता (कारक हेतु) पूर्व में अविद्यमान वस्तु को उत्पन्न कराता है और ज्ञापक हेतु कारणों से उत्पन्न वस्तु का ज्ञान कराता है। यह दोनों में विशेषता है अर्थात् एक वस्तु का उत्पादक है और दूसरा वस्तु का ज्ञापक निर्णय कराने वाला, वा ज्ञान कराने वाला है।

शब्दमभ्युपैति नासतो प्रयत्नानंतरीयकत्वादिधर्म इति तत्त्वस्य विशेषणमनर्थकं प्रागुत्पत्तौ इति। अपरे तु प्राहुः, प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादित्युक्ते अर्थापत्तिसमैवेयमिति प्रागुत्पत्तेः प्रयत्नानंतरीयकत्वस्याभावादप्रयत्नानंतरीयकत्वाच्च इति कृतेऽसत्प्रत्युत्तरं ब्रूते। नायं नियमो अप्रयत्नानंतरीयकत्वं नित्यमिति तु, न हि तस्य गतिः किंचिन्नित्यमाकाशाद्येव, केषांचिदनित्यं विद्युदादि, किंचिदसदेवाकाशपुष्पादीति। एतत्तु नापरेषां युक्तमिति पश्यामः। कथमिति? यत्तावदसत्तदप्रयत्नानंतरीयकत्वं वाजन्मविशेषणत्वात्। यस्याप्रयत्नानंतरं जन्म तदप्रयत्नानंतरीयंक न चाभावो विद्यते अतो न तस्य जन्म यच्चासत् किं तस्य विशेषमस्ति।

ज्ञप्ति आदि कुछ क्रिया को करने वाला होने से ज्ञापक हेतु को कारक विशेष स्वीकार करके सामान्य कारकों के समान प्रत्यवस्थान उठाना उचित नहीं है।

अथवा शब्द उत्पत्ति के पूर्व प्रयत्नान्तरीयक नहीं है और उत्पत्ति धर्म वाला अनित्य भी नहीं है। इस प्रकार कहने वाले के प्रति जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा प्रतिवादी शब्द को अवश्य स्वीकार करता है। क्योंकि असत् (अविद्यमान) पदार्थ के प्रयत्नानंतरीयकत्व आदि धर्म नहीं हो सकते। इसलिए शब्द के प्राग् उत्पत्ति विशेषण लगाना व्यर्थ है।

कोई दूसरे वादी कहते हैं कि उत्पत्ति के पूर्व ज्ञापक कारण के अभाव हो जाने से प्रत्यवस्थान देना **अनुत्पत्तिसमा** जाती है। ऐसा कहने पर यह अर्थापत्तिसमा नाम की जाति है। (जिस प्रकार अर्थापत्तिसमा जाति है, उसी प्रकार) उत्पत्ति के पूर्व शब्द में प्रयत्न अनन्तर का अभाव होने से नित्यत्व प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रतिवादी जातिस्वरूप असत् (असमीचीन) प्रत्युत्तर कहता है। क्योंकि यह नियम नहीं है कि जो बिना प्रयत्न होता है वह नित्य ही होता है। अप्रयत्नान्तरीयत्व से पदार्थ के नित्यत्व की ज्ञप्ति नहीं होती है। क्योंकि कोई पदार्थ अप्रयत्नानन्तरीयकत्व होने से नित्य होते हैं जैसे आकाश किसी प्रयत्न से उत्पन्न नहीं हुआ है और नित्य है।

कोई पदार्थ पुरुष प्रयत्न से अजन्य होकर भी अनित्य है, जैसे बिजली, बादल, इन्द्रधनुष आदि नित्य नहीं हैं।

कोई पुरुष प्रयत्न से अजन्य आकाशपुष्प अश्वविषाण आदि असत् हैं। इसके प्रत्युत्तर में न्याय सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकार दूसरे विद्वानों का यह कहना तो युक्तिपूर्ण नहीं है, ऐसा हम देखते हैं।

प्रश्न - यह कथन युक्तिसंगत क्यों नहीं है?

उत्तर - पूर्व कथन में जो आकाशपुष्प आदि असत् पदार्थ को पुरुषप्रयत्न अजन्य कहा था वह उचित नहीं है। क्योंकि अप्रयत्नानंतरीयकत्व (पुरुष के प्रयत्न बिना उत्पन्न होना) यह विशेषण जन्म (उत्पत्ति) का है। पुरुष के प्रयत्न बिना अन्य कारण स्वरूप अप्रयत्नों के अनंतर काल में जिस पदार्थ का जन्म (उत्पाद) होता है, वह अप्रयत्नान्तरीयक माना जाता है। परन्तु तुच्छाभाव रूप असत् आकाशपुष्प आदि का उत्पाद ही नहीं है। अतः उसका अप्रयत्नानन्तरीयत्व नहीं हो सकता। आकाश पुष्प सर्वथा असत् है। उसका विशेष्य कैसे हो सकता है? विशेष्य, विशेषण भाव सत्पदार्थ का ही होता है।

एतेन नित्यं प्रयुक्तं, न हि नित्यमप्रयत्नानंतरीयकमिति युक्तं वक्तुं, तस्य जन्माभावादिति जातिलक्षणाभावान्नेयमनुत्पत्तिसमा जातिरितिचेत् नानुत्पत्तेरहेतुभिः साधर्म्यात् पटोऽनुत्पन्नैस्तन्तुभिस्तद्यथानुत्पन्नास्तंतवो न पटस्य कारणमिति॥

सामान्यघटयोस्तुल्य ऐंद्रियत्वे व्यवस्थिते। नित्यानित्यत्वसाधर्म्यात् संशयेन समा मता।३७६।
तत्रैव साधने प्रोक्ते संशयेन स्वयं परः। प्रत्यवस्थानमाधत्तेऽपश्यन् सद्भूतदूषणम्॥३७७॥
प्रयत्नानंतरोत्थेपि शब्दे साधर्म्यमैंद्रिये। सामान्येनास्ति नित्येन घटेन च विनाशिना॥३७८॥

इस कथन से "जो पुरुष प्रयत्न से रहित होता है वह नित्य होता है"- इसका भी खण्डन कर दिया गया है, क्योंकि नित्य पुरुष के प्रयत्न बिना उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि नित्य पदार्थ के जन्म का अभाव है अर्थात् प्रयत्न के बिना अन्य कारणों से उत्पन्न हुए पदार्थों में ही प्रयत्नानन्तरीयकत्व (पुरुष के प्रयत्न बिना उत्पन्न होना) संभव हो सकता है।

जाति के लक्षण का अभाव होने से **अनुत्पत्ति समा जाति** नहीं है। ऐसा भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व शब्द की अनुत्पत्ति होने से हेतु रहित नित्य आकाश आदि पदार्थों के साथ साधर्म्य मिल जाने से शब्द के नित्यपने की प्राप्ति का प्रसंग इस अनुत्पत्तिसमा में प्रतिवादी द्वारा उठाया जा सकता है। अनुत्पन्न तन्तुओं के द्वारा नहीं उत्पन्न पट नित्य नहीं होता है। उसी प्रकार अनुत्पन्न तंतु पट के कारण नहीं हैं।

यहाँ तक अनुत्पत्तिसमा जाति का विचार किया गया है। पर अपर सामान्य और घट दृष्टान्त का इन्द्रियज्ञान के द्वारा ग्राह्यपना तुल्य रूप से व्यवस्थित हो जाने पर नित्य और अनित्य के साधर्म्य से **संशयसमा** जाति नैयायिकों ने मानी है॥३७६॥

उसी प्रकार वहाँ ही प्रयत्नरहित हेतु से घट के समान शब्द में अनित्यपने का शाब्द बोध हो जाने पर दूसरा प्रतिवादी स्वयं सद्भूत (समीचीन) दूषण को नहीं देखता हुआ संशय के द्वारा प्रत्यवस्थान (निर्णय) करता है कि पुरुष प्रयत्न व्यापार के बिना उत्पन्न इन्द्रिय जन्य ज्ञान ग्राह्य शब्द में नित्य माने गये घट के साथ सामान्य धर्म की अपेक्षा साधर्म्य है।

भावार्थ - जिस इन्द्रिय का जो पदार्थ विषय है, उस पदार्थ में रहने वाला सामान्य और सामान्य का अभाव भी उसी इन्द्रिय का विषय होता है, अर्थात् उसी इन्द्रिय के द्वारा जाना जाता है। इस नियम के अनुसार घट और घटत्व दोनों ही चक्षु और स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा जाने जाते हैं। शब्द गुण और शब्दत्व जाति ये दोनों कर्ण इन्द्रिय के विषय हो जाते हैं।

अतः शब्द का नित्य सामान्य के साथ ऐन्द्रियकत्व साधर्म्य है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्यत्व शब्द और घट में समान है। इस प्रकार पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न विनाशी (अनित्य) घट के साथ समान धर्मत्व विद्यमान है॥३७७-३७८॥

तादृशेनेति संदेहो नित्यानित्यत्वधर्मयोः। स चायुक्तो विशेषेण शब्दानित्यत्वसिद्धितः।३७९।
यथा पुंसि विनिर्णीते शिरःसंयमनादिना। पुरुषस्थाणुसाधर्म्योर्द्धत्वतो नास्ति संशयः॥३८०॥
तथा प्रयत्नजत्वेनानित्ये शब्दे विनिश्चिते। घटसामान्यसाधर्म्यादैंद्रियत्वान्न संशयः॥३८१॥
संदेहेत्यंतसंदेहः साधर्म्यस्याविनाशतः। पुंसित्वादिगतस्येति निर्णयः क्वास्पदं व्रजेत्॥३८२॥

ननु चैषा संशयसमा साधर्म्यसमातो न भिद्यते एवोदाहरणसाधर्म्यात् तस्याप्रवर्तनादिति न चोद्यं, संशयसमानोभयसाधर्म्यात्प्रवृत्तेः। साधर्म्यसमाया एकसाधर्म्यादुपदेशात्। ततो जात्यंतरमेव संशयसमा। तथाहि– अनित्यः शब्दः प्रयत्नानंतरीयकत्वात् घटवदिति, अत्र च साधने प्रयुक्ते सति परः स्वयं संशयेन प्रत्यवस्थानं

इस प्रकार शब्द के नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म में सन्देह हो जाता है। अतः यह संशयसमा जाति है। अब सिद्धान्ती संशयसमा जाति का खण्डन करते हुए कहते हैं कि - संशयसमा जाति को कहने वाले प्रतिवादी का संशय उठाकर प्रत्यवस्थान (उलाहना) देना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि विशेष रूप से प्रयत्नानन्तरीयकत्व (पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं इस) हेतु के द्वारा शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि हो जाती है। जैसे सिर को बाँधना, चलना, केशों को बाँधना आदि क्रियाओं के द्वारा पुरुष के विशेष रूप से निर्णय हो जाने पर पुनः पुरुष और स्थाणु (ठूंठ) के साधर्म्य रूप ऊर्ध्वता धर्म के संशय नहीं रहता है॥३७९-३८०॥

उसी प्रकार प्रयत्नजन्यत्व हेतु द्वारा शब्द के अनित्यपन का विशेष रूप से निश्चय हो चुकने पर पुनः घट और सामान्य के साधर्म्य ऐन्द्रियकत्व धर्म से संशय नहीं हो सकता है। यदि निर्णय हो जाने पर भी केवल ऊर्ध्वता या ऐन्द्रियकत्व मात्र से संदेह स्वीकार करोगे, तो अत्यन्त संशय होता रहेगा अर्थात् संशय का अन्त नहीं होगा। क्योंकि पुरुष और शब्दत्व आदि में प्राप्त ऊर्ध्वता तथा ऐन्द्रियकत्व आदि साधर्म्य का कभी विनाश नहीं हो पाता है। इसलिए पुरुष और स्थाणु आदि में होने वाला निर्णय कहाँ स्थान को प्राप्त होगा।

अर्थात् पदार्थों में अन्य पदार्थ के साथ किसी न किसी प्रकार से सदा साधर्म्य रहता ही है। अतः संशय बना ही रहेगा। निश्चयात्मक ज्ञान किसी का भी कभी नहीं होगा॥३८१-३८२॥

शंका - यह संशयसमा जाति साधर्म्यसमा जाति से विभिन्न नहीं है। क्योंकि उस साधर्म्यसमा की प्रवृत्ति भी उदाहरण के साधर्म्य से ही मानी गई है।

समाधान - ऐसी शंका नहीं करना चाहिए। क्योंकि दोनों के साधर्म्य से संशयसमा जाति की प्रवृत्ति होती है और एक के साधर्म्य से साधर्म्यसमा जाति की प्रवृत्ति का उपदेश दिया गया है।

भावार्थ - क्रियावान् गुण पुद्गल और जीव दोनों में है। अतः क्रियावत्त्व की अपेक्षा साधर्म्य है। अमूर्त्त आत्मा है और आकाश भी है; इन दोनों में साधर्म्य है। इनमें किसी कारण से संशय भी हो सकता है। अतः साधर्म्य और संशयसमा समान हैं। इनमें कोई विशेषता नहीं है। परन्तु ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि संशयसमा में संशय रहता है, और साधर्म्य समा में एकत्व रहता है। इन दोनों में यह विशेषता है। इसलिए साधर्म्य समा से संशयसमा भिन्न जाति वाली है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए जैनाचार्य कहते हैं "घट के समान पुरुष प्रयत्न के अव्यवहित उत्तर काल में उत्पन्न होने के कारण शब्द अनित्य है"। इस प्रकार

करोति सद्भूतं दूषणमप्यसत्, प्रयत्नानांतरीयकेपि शब्दे सामान्येन साधर्म्यमैंद्रियकत्वं नित्ये नास्ति घटेन वानित्येनेति संशयः। शब्दे नित्यानित्यत्वधर्माधर्मयोरित्येषा संशयसमा जातिः। सामान्यघटयोरैंद्रियकत्वे सामान्ये स्थिते नित्यानित्यसाधर्म्यान्न पुनरेकसाधर्म्यात्। सामान्यदृष्टांतयोरैंद्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसम इति वचनात्। अत्र संशयो न युक्तो विशेषेण शब्दानित्यत्वसिद्धेः। तथाहि-पुरुषे शिरःसंयमनादिना विशेषेण निर्णीतेसति न पुरुषस्थाणुसाधर्म्यादूर्द्धत्वात्संशयस्तथा प्रयत्नानंतरीयकत्वेन विशेषेणानित्ये शब्दे निश्चिते सति न घटसामान्यसाधर्म्यादैन्द्रियकत्वात्संशयः अत्यन्तसंशयः।

वादी के द्वारा साध्य सिद्धि के निमित्त हेतु का प्रयोग कर देने पर दूसरा प्रतिवादी वास्तविक दूषण को नहीं देखता हुआ स्वयं संशय के द्वारा प्रत्यवस्थान (उलाहना) करता है कि पुरुष प्रयत्न के उत्तर काल में उत्पन्न हुए शब्द में नित्य सामान्य के साथ इन्द्रियजन्य ज्ञान ग्राह्यत्व साधर्म्य है और अनित्य घट के साथ पुरुष के प्रयत्न का साधर्म्य है। इसलिए शब्द में नित्यत्व और अनित्यत्व धर्मों का संशय हो जाता है। अर्थात्- घट के समान शब्द अनित्य है कि इन्द्रियग्राह्यत्व होने से नित्य है। इस प्रकार शब्द में नित्य और अनित्य इन धर्मों की अपेक्षा यह संशयसमा जाति है। अतः संशयसमा जाति के सामान्य और घट के ऐन्द्रियकत्व साधारणत्व (सामान्य) की व्यवस्थिति हो जाने पर नित्य और अनित्य के सधर्मत्व से प्रतिवादी के द्वारा संशय उठाया जाता है। फिर भी एक ही सामान्य के साधर्म्य से संशयसमा जाति नहीं उठायी जा सकती।

गौतमऋषिसूत्र में इस प्रकार कहा है कि सामान्य (शब्दत्व) और दृष्टान्त दोनों के ऐन्द्रियकत्व समान होने पर नित्य और अनित्यों के साधर्म्य से संशयसम प्रतिषेध उठाया जाता है। अतः दोनों जातियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

यहाँ प्रतिवादी द्वारा संशय उठाना युक्त नहीं है। क्योंकि विशेष रूप से शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि कर दी गयी है। तथाहि-सिर की चोटी बाँधना, हाथ पाँव का कम्पन आदि विशेष कारणों के द्वारा मनुष्य का निश्चय (निर्णय) हो जाने पर पुनः स्थाणु और पुरुष के ऊर्ध्वता मात्र सामान्य से संशय नहीं होता है। वैसे ही प्रयत्न उत्तर जन्य के द्वारा विशेष रूप से शब्द के अनित्यत्व का निश्चय हो जाने पर घट और सामान्य के साधर्म्य रूप केवल ऐन्द्रियकत्व से संशय नहीं हो सकता। यदि साधर्म्य की अपेक्षा संशय मानेंगे तो संशय का विनाश भी नहीं होगा। अनन्त काल तक संशय बना रहेगा। क्योंकि पुरुष, स्थाणु आदि में रहने वाले संशय का कारणभूत ऊर्ध्वता आदि साधर्म्य का कभी भी विनाश न होने के कारण निर्णय कहाँ स्थान पा सकता है? क्योंकि केवल साधर्म्य मात्र से संशय स्वीकार करने पर क्वचित् वैधर्म्य दृष्टिगोचर होने से निर्णय होना युक्त नहीं होगा। पुनः केवल वैधर्म्य, अथवा साधर्म्य तथा साधर्म्य वैधर्म्य दोनों के द्वारा यदि संशय होना माना जायेगा तो अत्यन्त (अनन्तकाल तक) संशय होता ही रहेगा। परन्तु यह अत्यन्त संशय प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि सामान्य के देखने से संशय होता है, और विशेष के दर्शन से संशय की निवृत्ति सिद्ध हो जाती है। इसलिए संशय समा जाति का उत्थापन करना प्रतिवादी का समुचित कर्त्तव्य नहीं है।

साधर्म्यस्याविनाशित्वात् पुरुषस्थाण्वादिगतस्येति निर्णयः क्वास्पदं प्राप्नुयात्। साधर्म्यमात्राद्धि संशये क्वचिद्वैधर्म्यदर्शनान्निर्णयो युक्तो न पुनर्वैधर्म्यात्साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां वा संशये तथात्यंतसंशयात्। न चात्यंतसंशयो ज्यायान् सामान्यात् संशयाद्विशेषदर्शनात् संशयनिवृत्तिसिद्धेः॥

अथानित्येन नित्येन साधर्म्यादुभयेन या। प्रक्रियायाः प्रसिद्धिः स्यात्ततः प्रकरणे समा।३८३।

उभाभ्यां नित्यानित्याभ्यां साधर्म्याद्या प्रक्रियासिद्धिस्ततः प्रकरणसमा जातिरवसेया, "उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमा" इति वचनात्॥

किमुदाहरणमेतस्या इत्याह–

तत्रानित्येन साधर्म्यान्नुःप्रयत्नोद्भवत्वतः। शब्दस्यानित्यतां कश्चित्साधयेदपरः पुनः॥३८४॥
तस्य नित्येन गोत्वादिसामान्येन हि नित्यता। ततः पक्षे विपक्षे च समाना प्रक्रिया स्थिता।३८५।

तत्र हि प्रकरणसमायां जातौ कश्चिदनित्यः शब्दः प्रयत्नानांतरीयकत्वाद्घटवदित्यनित्यसाधर्म्यात् पुरुषप्रयत्नोद्भवत्वाच्छब्दस्यानित्यत्वं साधयति। परः पुनर्गोत्वादिना सामान्येन साधर्म्यात्तस्य नित्यतां साधयेत्।

अब **प्रकरणसमा जाति** के कहने का प्रारंभ करते हैं -

नित्य, अनित्य और उभय (दोनों) के सधर्मपना होने से पक्ष और प्रतिपक्ष की प्रवृत्ति होने रूप जो क्रिया की प्रसिद्धि होती है उसको प्रकरणसम जाति कहते हैं॥३८३॥

नित्य और अनित्य के साधर्म्य से जो प्रक्रिया की प्रसिद्धि है, उससे प्रकरणसमा जाति जानना चाहिए। उभय के साधर्म्य से प्रक्रिया की सिद्धि हो जाने से प्रकरणसमा जाति है - ऐसा सूत्र का वचन है।

इस प्रकरणसमा जाति का उदाहरण क्या है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं -

कोई वादी तो - "घट के समान पुरुष के प्रयत्नजन्य होने से शब्द अनित्य है"- इस प्रकार अनित्य के साथ शब्द का साधर्म्य होने से शब्द की अनित्यता को सिद्ध कर रहा है। और पुनः कोई वादी नित्य गोत्व आदि सामान्य के साथ तथा इन्द्रिय ग्राह्यत्व आदि के साथ साधर्म्य होने से शब्द की नित्यता को सिद्ध कर रहा है। इसलिये अनित्यत्व साधक पक्ष में और नित्यत्व साधक विपक्ष में समान प्रक्रिया होने से यह प्रकरणसमा जाति है॥३८४-३८५॥

इस प्रकरणसमा जाति में कोई विद्वान् कहते हैं कि घट के समान पुरुष प्रयत्न से उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है। इस प्रकार अनित्य साधर्म्य से पुरुषप्रयत्न से उत्पन्न होने से शब्द को अनित्य सिद्ध करता है। दूसरा कोई विद्वान् गोत्व आदि सामान्य के साथ साधर्म्य होने से शब्द को नित्य सिद्ध कर रहा है। अर्थात् जैसे गोत्व आदि सामान्य इन्द्रियग्राह्य है, परन्तु नित्य है, उसी प्रकार शब्द भी इन्द्रियग्राह्य है इसलिए नित्य है। इस प्रकार शब्द की नित्य के साथ व्याप्ति सिद्ध करते हैं। इस प्रकरण में नित्य और अनित्य को सिद्ध करने वाले वादी और प्रतिवादी के उभय पक्ष को ग्रहण करने से पक्ष और विपक्ष में प्रक्रिया समान है। यह

ततः पक्षे विपक्षे च प्रक्रिया समानेत्युभयपक्षपरिग्रहेण वादिप्रतिवादिनोर्नित्यत्वानित्यत्वे साधयतः। साधर्म्यसमायां संशयसमायां च नैवमिति ताभ्यां भिन्नेयं प्रकरणसमा जातिः॥

कथमीदृशं प्रत्यवस्थानमयुक्तमित्याह–

प्रक्रियांतनिवृत्त्या च प्रत्यवस्थानमीदृशं। विपक्षे प्रक्रियासिद्धौ न युक्तं तद्विरोधतः॥३८६॥
प्रतिपक्षोपपत्तौ हि प्रतिषेधो न युज्यते। प्रतिषेधोपपत्तौ च प्रतिपक्षकृतिर्ध्रुवम्॥३८७॥
तत्त्वावधारणे चैतत्सिद्धं प्रकरणं भवेत्। तदभावेन तत्सिद्धिर्येनेयं प्रत्यवस्थितिः॥३८८॥

प्रक्रियांतनिवृत्त्या प्रत्यवस्थानमीदृशमयुक्तं, विपक्षे प्रक्रियासिद्धौ तयोर्विरोधात्। प्रतिपक्षप्रक्रियासिद्धौ हि प्रतिषेधो विरुध्यते, प्रतिषेधोपपत्तौ च प्रतिपक्षप्रक्रियासिद्धिर्व्याहन्यते इति विरुद्धस्तयोरेव संभवी। किं च,

---

प्रक्रिया साध्यसमा जाति में और संशयसमा जाति में नहीं है। अर्थात् साधर्म्य समा जाति में साधर्म्य के द्वारा प्रतिपक्ष सिद्धि की संभावना है और संशयसमा जाति में उभय साधर्म्य से पक्ष, प्रतिपक्षों के संशय बना रहता है। इसलिए संशयसमा और साधर्म्यसमा जाति से प्रकरणसमा जाति भिन्न ही है।

प्रतिवादी के द्वारा यह प्रकरणसमा नामक प्रत्यवस्थान उठाना अयुक्त क्यों है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं -

प्रकरण के अवसान (समाप्ति) में तत्त्वों का अवधारण करने पर प्रक्रिया की निवृत्ति से इस प्रकार प्रत्यवस्थान (उलाहना) देना प्रतिवादी का युक्तिपूर्ण कार्य नहीं है। क्योंकि प्रतिवादी के विपक्ष और वादी को इष्ट अनित्यत्व में प्रक्रिया की सिद्धि हो जाने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा अपने पक्ष की सिद्धि मानना उससे विरोध होने का कारण होने से उचित नहीं है। वादी को अभीष्ट और प्रतिवादी के प्रतिकूल पक्ष की सिद्धि हो जाने पर नियम से प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध करना उचित नहीं जान पड़ता है। प्रतिवादी के प्रतिषेध की सिद्धि हो जाने पर भी निश्चय करके वादी के निज प्रतिपक्ष की सिद्धि करना नहीं हो सकता।

यहाँ पर प्रतिवादी के द्वारा तत्त्व की अवधारणा हो जाने पर प्रतिवादी का प्रकरण सिद्ध हो सकता था। जब पुरुष के प्रयत्नजन्य रूप हेतु से वादी के अनित्यत्व पक्ष की सिद्धि हो जाने से नित्यत्व प्रतिपक्ष की सिद्धि का अभाव हो जाता है। इसलिए दोनों प्रक्रियाओं की सिद्धि नहीं हो सकती। जिससे यह प्रकरण समा जाति नामक प्रत्यवस्थान समीचीन उत्तर नहीं है।

जब दोनों विरुद्ध पक्षों की प्रक्रिया सिद्ध नहीं हो सकती है, तब लक्षण सूत्र के नहीं घटने पर यह प्रकरणसमा प्रतिषेध अयुक्त प्रतीत होता है। जाति का स्वयं कियागया लक्षण वहाँ नहीं है॥३८६-३८७-३८८॥

पक्ष और विपक्ष दोनों में से किसी एक के सिद्ध हो जाने पर उसके अन्त में विपरीत पक्ष की निवृत्ति कर देने से ऐसा प्रकरणसमा प्रत्यवस्थान उठाना अयुक्त है। क्योंकि एक विपक्ष में प्रक्रिया की सिद्धि हो जाने पर दोनों की (पक्ष, विपक्ष की) सिद्धि कहना विरुद्ध है। प्रतिपक्ष की प्रक्रिया के सिद्ध हो जाने पर प्रतिपक्ष का प्रतिषेध करना नियमविरुद्ध है। और प्रतिपक्ष के निषेध की सिद्धि हो चुकने पर प्रतिपक्ष की प्रक्रिया साधने का व्याघात हो जाता है। क्योंकि विपक्ष, पक्ष का एक स्थान में रहना विरुद्ध है।

तत्त्वावधारणे सत्येवैतत्प्रकरणं सिद्धं भवेन्नान्यथा। न चात्र तत्त्वावधारणं ततोऽसिद्धं प्रकरणं, तदसिद्धौ च नैवेयं प्रत्यवस्थितिः संभवति॥

का पुनरहेतुसमा जातिरित्याह--

त्रैकाल्यानुपपत्तेस्तु हेतोः साध्यार्थसाधने। स्यादहेतुसमा जातिः प्रयुक्ते साधने क्वचित्।३८९।
पूर्वं वा साधनं साध्यादुत्तरं वा सहापि वा। पूर्वं तावदसत्यर्थे कस्य साधनमिष्यते॥३९०॥
पश्चाच्चेत् किं नु तत्साध्यं साधनेऽसति कथ्यतां। युगपद्वा क्वचित्साध्यसाधनत्वं न युज्यते॥३९१॥
स्वतंत्रयोस्तथाभावासिद्धेर्विन्ध्यहिमाद्रिवत्। तथा चाहेतुना हेतुर्न कथंचिद्विशिष्यते॥३९२॥
इत्यहेतुसमत्वेन प्रत्यवस्थाप्यऽयुक्तिता। हेतोः प्रत्यक्षतः सिद्धेः कारकस्य घटादिषु॥३९३॥

किंच तत्त्व की अवधारणा होने पर (दोनों पक्षों का तात्त्विक निर्णय हो जाने पर) यह प्रकरणसमा जाति सिद्ध हो सकती है। अन्यथा उभय साध्य धर्म्य से होने वाली प्रक्रिया कैसे भी सिद्ध नहीं हो सकती। परन्तु यहाँ तो विप्रतिषेध होने के कारण दोनों का तात्त्विकपना निर्णीत ही नहीं हो सकता। अतः यह प्रकरण सिद्ध नहीं है और उस प्रक्रिया की सिद्धि नहीं होने पर प्रकरणसमा जाति संभव नहीं है।

अहेतुसमा जाति क्या है? - ऐसा पूछने पर जैनाचार्य कहते हैं -

साध्यस्वरूप अर्थ के साधन करने में हेतु का तीनों काल में नहीं रहना अहेतुसमा जाति है। जैसे किसी वादी के द्वारा समीचीन साधन का प्रयोग करने पर दूसरा प्रतिवादी समीचीन दूषणों को नहीं देखता; यह प्रश्न उठाता है कि "ज्ञापक हेतु क्या साध्य से पूर्व काल में रहता है, अथवा साध्य के पश्चात् उत्तर काल में रहता है अथवा क्या साध्य और साधन दोनों भी समान काल में साथ-साथ रहते हैं? यदि कहो कि साध्य के पूर्व काल में ज्ञापक हेतु रहता है, यह तो सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि साध्य रूप अर्थ के नहीं होने पर साधन (हेतु) किसका कहा जायेगा? अर्थात् किसी का भी नहीं। यदि साध्य के पश्चात् साधन की प्रवृत्ति मानेंगे, तो उसके साध्यपना नहीं हो सकता, क्योंकि साधन के नहीं होने पर साध्य कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् साधन के होने पर ही किसी को साध्य कहा जा सकता है। साधन के द्वारा साधने योग्य पदार्थ को ही साध्य कहते हैं।

यदि साध्य और साधन को युगपत् सहभाव मानेंगे तो किसी एक विवक्षित में ही साध्य और साधन युक्त नहीं हो सकता।

स्वतंत्रता से प्रसिद्ध सहकालभावी दोनों में किसी एक के उस प्रकार का साध्यपना और शेष के साधनपना असिद्ध है। जैसे एक साथ स्थित विन्ध्याचल और हिमाचल में साध्य और साधनपना असिद्ध है। तथा ऐसा होने पर वादी के द्वारा कथित हेतु अहेतु (हेत्वाभास) के साथ किसी भी प्रकार से अन्तर रखने वाला नहीं हो सकेगा। अर्थात् अहेतु से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार अहेतु समत्व से प्रत्यवस्थान (उलाहना) देना भी युक्तिया से रहित है। क्योंकि घट, पट आदि कार्यों में

कार्येषु कुंभकारस्य तन्निवृत्तेस्ततो ग्रहात्। ज्ञापकस्य च धूमादेरग्न्यादौ ज्ञप्तिकारिणः ॥३९४॥
स्वज्ञेये परसंताने वागादेरपि निश्चयात्। त्रैकाल्यानुपपत्तेश्च प्रतिषेधे क्वचित्तथा ॥३९५॥

समा न कार्यासौ प्रतिषेधः स्याद्वादविद्भिः, कथं पुनस्त्रैकाल्यासिद्धिर्हेतोरहेतुसमा जातिरभिधीयते? अहेतुसामान्यप्रत्यवस्थानात्। यथा ह्यहेतुः साध्यस्यासाधकस्तथा हेतुरपि त्रिकालत्वेनाप्रसिद्ध इति स्पष्टत्वादहेतुसमा जातेर्लक्षणोदाहरणप्रतिविधानानामलं व्याख्यानेन ॥

प्रयत्नानंतरोत्थत्वाद्धेतोः पक्षे प्रसाधिते। प्रतिपक्षप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्त्या विधीयते ॥३९६॥
या प्रत्यवस्थितिः सात्र मता जातिविदांवरैः। अर्थापत्तिः समैवोक्ता साधनाप्रतिवेदिनी ।३९७।

कुम्भकार, जुलाहा आदि कारकों के प्रत्यक्ष प्रमाण से हेतुपना सिद्ध हो जाने से प्रतिवादी के प्रसंग की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् प्रतिवादी के द्वारा जो कहा गया था कि साध्य के पूर्व साधन नहीं हो सकता, साध्य के पश्चात् नहीं हो सकता और साध्य के साथ भी साधन नहीं हो सकता इसकी निवृत्ति हो जाती है और ज्ञापक हेतु का ग्रहण हो जाता है ॥३८९-३९४॥

निज ज्ञेय में अग्नि आदि साध्यों में ज्ञप्ति के कारणभूत धूम आदि ज्ञापक हेतुओं का निश्चय हो रहा है। और परज्ञेय में ज्ञप्ति के कारणभूत मानव के वचन व्यापार आदि के द्वारा परसंतान का निश्चय हो जाता है। अतः स्वतः अनुमान में धूम आदि को देखकर अग्नि का ज्ञान हो जाता है। परतः अनुमान में दूसरे वचनादि साधन से साध्य को जान लिया जाता है। इसलिए प्रतिषेध में त्रिकाल की अनुपपत्ति है। क्वचित् उसी प्रकार है अर्थात् हेतु पूर्वकाल में रहता है कि उत्तर काल में रहता है कि दोनों समकाल में रहते हैं, यह प्रश्न नहीं उठता। क्योंकि कारक हेतु कार्य के पूर्वकाल में अवश्य रहता है परन्तु ज्ञापक हेतु के लिए कोई समय नियत नहीं है। साध्य के साथ साधन का अविनाभाव होना ही साधन का वास्तविक लक्षण है ॥३९५॥

जैनाचार्य कहते हैं कि स्याद्वाद के ज्ञाताओं को यह अहेतु नामक प्रतिषेध कभी नहीं करना चाहिए।

प्रश्न - "त्रैकाल में हेतु की असिद्धि होने से अहेतुसमा जाति कही जाती है" ऐसा न्यायशास्त्रों में कहा है। उसका कथन सिद्ध कैसे हो सकता है?

उत्तर - प्रतिवादी ने अहेतुपन सामान्य से प्रत्यवस्थान (उलाहना) दिया है कि जिस प्रकार विवक्षित पदार्थ का जो हेतु नहीं है, वह साध्य का असाधक है, उसी प्रकार त्रिकाल में असिद्ध हेतु भी साध्य का साधक नहीं है। इस प्रकार, अहेतुसमा जाति का लक्षण, उदाहरण और असदुत्तररूप जाति का खण्डन करने वाले प्रतिविधानों की स्पष्टता दृष्टिगोचर होती है। अतः अधिक विवरण से कोई प्रयोजन नहीं है।

घट के समान पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है। इस प्रकार प्रयत्नानन्तर उत्पन्न हेतु से शब्द के अनित्यत्व पक्ष के सिद्ध हो जाने पर प्रतिवादी के द्वारा प्रतिपक्ष नित्यत्व की प्रसिद्धि करने के लिए अर्थापत्ति के द्वारा जो प्रत्यवस्थान किया जाता है, वह यहाँ पर जातिवेत्ता विद्वानों में श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा अर्थापत्तिसमा जाति मानी गयी है, जो साधन को नहीं जानने वाले के प्रतिकूल पक्ष में कही गयी है ॥३९६-३९७॥

यदि प्रयत्नजत्वेन शब्दस्यानित्यताभवत्। तदार्थापत्तितो नित्यसाधर्म्यादस्तु नित्यता ॥३९८॥
यथैवास्पर्शनत्वादेर्नित्ये दृष्टा तथा ध्वनौ। इत्यत्र विद्यमानत्वात्समाधानस्य तत्त्वतः ॥३९९॥
शब्दोऽनित्योस्ति तत्रैव पक्षे हेतोरसंशयम्। एष नास्तीति पक्षस्य हानिरर्थात्प्रतीयते ॥४००॥
यया च प्रत्यवस्थानमर्थापत्त्या विधीयते। नानैकांतिकता दृष्टा समत्वादुभयोरपि ॥४०१॥
ग्राव्णो घनस्य पातः स्यादित्युक्तेर्थान्न सिद्ध्यति। द्रवात्मनामपां पाताभावोर्थापत्तितो यथा ॥४०२॥
तस्याः साध्याविनाभावशून्यत्वं तद्वदेव हि। शब्दानित्यत्वसंसिद्धौ नार्थानित्यत्वसाधनं।४०३॥

यदि प्रयत्नजत्व (प्रयत्न से उत्पन्न) हेतु के द्वारा शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है, तब तो अर्थापत्ति न्याय से नित्य के साथ साधर्म्य होने से शब्द के नित्यता भी सिद्ध होती है। जैसे नित्य आकाश में अस्पर्शत्व है, उसी प्रकार शब्द में भी अस्पर्शत्व विद्यमान है। इस प्रकार किसी के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि तत्त्वत: समाधान का कथन किया जाए तो यह अर्थापत्ति नहीं है; अर्थापत्तिभास है। क्योंकि इससे शब्द के अनित्यत्व का खण्डन नहीं होता है॥३९८-३९९॥

"शब्द अनित्य है किया हुआ होने से"। इस अनित्य पक्ष में हेतु की असंशयता है अर्थात् इस हेतु में कोई संशय नहीं है।

इसलिए "शब्द अनित्य नहीं है, आकाश के समान स्पर्श गुण रहित होने से" इस पक्ष (शब्द को नित्य मानना) की हेतु से अर्थापत्ति न्याय से हानि प्रतीत होती है।

अर्थात् यदि नित्य पदार्थ के साधर्म्य स्पर्श रहितत्व से आकाश के समान शब्द नित्य है तो कथन के बिना ही अर्थापत्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि अनित्य पदार्थ के साधर्म्य प्रयत्नजन्यत्व हेतु से घट के समान शब्द अनित्य है॥४००॥

किंच-जिस अर्थापत्ति से प्रतिवादी के द्वारा प्रत्यवस्थान (दोष) किया जाता है; वह अर्थापत्ति पक्ष और विपक्ष दोनों में समान होने से अनैकान्तिक (व्यभिचार) दोष से युक्त देखी जा रही है। अत: इस अर्थापत्ति से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थात् किसी विशेष पदार्थ की विधि कर देने पर शेष पदार्थों का निषेध सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे "कठिन पाषाण का नियम से पतन होता है" - ऐसा कहने पर अर्थापत्ति न्याय से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि द्रवात्मक पदार्थों (गीले और कोमल जल पदार्थों) के भी पात का अभाव सिद्ध नहीं होता है। उसी प्रकार उस अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ का साध्य के साथ अविनाभाव की शून्यता है। तथा शब्द के अनित्य की सिद्धि हो जाने पर अनैकान्तिक अर्थापत्ति के द्वारा शब्द के नित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती॥४०१ से ४०२॥

अर्थात् शब्द को अनित्य सिद्ध करने वाले हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव सिद्ध है। परन्तु शब्द को नित्य सिद्ध करने वाला अस्पर्शत्व हेतु अविनाभाव से विकल है, रहित है।

न ह्यर्थापत्त्यानैकांतिक्या प्रतिपक्षः सिद्ध्यति येन प्रयत्नानंतरीयकत्वात् शब्दस्यानित्यत्वे साधितेपि अस्पर्शवत्त्वान्यथानुपपत्त्या तस्य नित्यत्वं सिद्ध्येत्। सुखादिनानैकांतिकी चेयमर्थापत्तिरतो न प्रतिपक्षस्य सिद्धिस्तदसिद्धौ च नार्थापत्तिरताएव उपपद्यते, स चायुक्तार्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसम इति वचनात्॥

का पुनरविशेषसमा जातिरित्याह--

क्वचिदेकस्य धर्मस्य घटनादुररीकृते। अविशेषोत्र सद्भावघटनात्सर्ववस्तुनः॥४०४॥
अविशेषः प्रसंगः स्यादविशेषसमा स्फुटं। जातिरेवंविधं न्यायप्राप्तदोषासमीक्षणात्॥४०५॥

एको धर्मः प्रयत्नानंतरीयकत्वं तस्य क्वचिच्छब्दघटयोर्घटनादविशेषे समानत्वे सत्यनित्यत्वे वादिनोररीकृते पुनः सद्भावः सर्वस्य सत्त्वधर्मस्य वस्तुषु घटनादविशेषस्यानित्यत्वप्रसंजनमविशेषसमा जातिः स्फुटं,

---

अनैकान्तिक अर्थापत्याभास से प्रतिपक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि वादी के द्वारा प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु से शब्द का अनित्यपना सिद्ध हो जाने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा अस्पर्शत्व हेतु रूप अन्यथानुपपत्ति से शब्द का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् अस्पर्शत्व का नित्य के साथ अविनाभाव नहीं है।

क्योंकि यह अर्थापत्ति सुख आदि के द्वारा अनैकान्तिक है अर्थात् सुखादि स्पर्श रहित है तथापि नित्य नहीं है। अतः जो स्पर्श गुण रहित है, वह नित्य है। यह अर्थापत्ति अनैकान्तिक है। इसलिए अर्थापत्ति से प्रतिवादी के स्व प्रतिपक्ष की सिद्धि नहीं होती॥ और उस प्रतिपक्ष की सिद्धि नहीं होने पर अर्थापत्तिसमा जाति नहीं बन सकती।

"अर्थापत्ति के द्वारा प्रतिपक्ष की सिद्धि हो जाने से अर्थापत्तिसमा जाति मानी गई है।" यह **न्याय सूत्र** का कथन है। इसलिए अर्थापत्तिसमा जाति उत्थापन करना प्रतिवादी का अनुचित कार्य है।

अविशेषसमा जाति किसको कहते हैं? उसका लक्षण क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर जैनाचार्य कहते हैं -

"कहीं भी शब्द और घट में एक धर्म की घटना हो जाने से दोनों को विशेषता रहित स्वीकार करने पर पुनः प्रतिवादी के द्वारा सम्पूर्ण वस्तुओं को समान सद्भाव की घटना से अन्तर रहित प्रसंग देना व्यक्त रूप से अविशेषसमा जाति कही जाती है।" परन्तु ऐसा कहना असदुत्तर जाति है। क्योंकि वादी के द्वारा सिद्ध किये गए निर्दोष पक्ष में प्रतिवादी द्वारा झूठे दोष दिखाना न्यायप्राप्त दोषों को दिखलाना नहीं है अर्थात् जो प्रतिवादी ने दोष दिखलाया है, वह न्यायमार्ग का अनुसरण करने वाला नहीं है॥४०४-४०५॥

"यहाँ एक धर्म प्रयत्नान्तरीयकत्व है"- कहीं पक्ष किये गये शब्द और घट के दृष्टान्त से अविशेष की समानता होने पर वादी के द्वारा शब्द और घट के अनित्यपना स्वीकार करने पर पुनः प्रतिवादी द्वारा सद्भाव की उत्पत्ति होने से (सम्पूर्ण वस्तुओं में सत्त्व धर्म के घटित हो जाने से) सर्व सत्त्व धर्म के सद्भाव को कहकर अनित्यपन का प्रसंग दिया जाना अविशेषसमा जाति है।

एवंविधस्य न्यायप्राप्तस्य दोषस्यासमीक्षणात्। ''एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसंगात् सद्भावोपपत्तेरविशेष-सम'' इत्येवंविधो हि प्रतिषेधो न न्यायप्राप्तः॥

कुत इत्याह–

प्रयत्नानंतरीयत्वधर्मस्यैकस्य संभवात्। अविशेषे ह्यनित्यत्वे सिद्धेपि घटशब्दयोः॥४०६॥
न सर्वस्याविशेषः स्यात्सत्त्वधर्मोपपत्तितः। धर्मांतरस्य सद्भावनिमित्तस्य निरीक्षणात्॥४०७॥
प्रयत्नानंतरीयत्वे निमित्तस्य च दर्शनात्। न समोयमुपन्यासः प्रतिभातीति मुच्यताम्॥४०८॥
सर्वार्थेष्वविशेषस्य प्रसंगात् प्रत्यवस्थितिः। विषमोयमुपन्यासः सर्वार्थेषूपपद्यतां॥४०९॥

न हि यथा प्रयत्नानंतरीयकत्वं साधनधर्मः साध्यमनित्यत्वं साधयति शब्दे तथा सर्ववस्तुनिःसत्त्वं यतः सर्वस्याविशेषः स्यात् सत्त्वधर्मोपपत्तितयैव धर्मांतरस्यापि नित्यत्वस्याकाशादौ सद्भावनिमित्तस्य दर्शनात्

सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकार कहना न्यायप्राप्त दोषों का असमीक्षण है अर्थात् इस प्रकार के न्यायप्राप्त दोषों का समीक्षण नहीं होने से यह प्रतिवादी का जाति रूप उत्तर स्पष्ट रूप से असत् उत्तर है।

''**न्याय सूत्र** में अविशेषसमा यह लक्षण है कि विवक्षित पक्ष दृष्टान्त व्यक्तियों में एक धर्म की उत्पत्ति हो जाने से अविशेष हो जाने पर पुनः सद्भाव की उत्पत्ति होने से सम्पूर्ण वस्तुओं के अविशेष का प्रसंग देने से प्रतिवादी द्वारा अविशेषसमा प्रतिषेध उठाया जाता है। परन्तु इस प्रकार का प्रतिषेध न्यायप्राप्त नहीं है।''

यह न्यायप्राप्त क्यों नहीं है? ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं -

एक प्रयत्नानन्तरीयकत्व धर्म के संभव हो जाने से घट और शब्द के विशेषता रहित अनित्यपना सिद्ध हो जाने पर भी सर्व पदार्थों के सत्त्व धर्म की विशेषता रहित उत्पत्ति होती है। क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों के निमित्तभूत धर्मान्तर का दर्शन पाया जाता है। धर्मान्तर दृष्टिगोचर होता है। इसलिए जातिवाद का सम्पूर्ण पदार्थों में सत्त्व होने से विशेषता रहित का प्रसंग आता है। अतः यह उपन्यास सम (समान) है - यह प्रतिभासित नहीं होता है। अतः प्रत्यवस्थान (प्रसंग) उठाना छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार का विषम उपन्यास (उदाहरण) तो सभी पदार्थों में प्रसंगवश प्राप्त हो सकता है। अर्थात् सामान्य मनुष्यपन के सद्भाव होने से सभी विद्यार्थी, विद्वान् या सभी व्यापारी धनाढ्य हो जायेंगे। तथा गोत्व सामान्य का सद्भाव होने से सभी गायें दूध देने वाली हो जाएंगी। इसलिए प्रतिवादी के द्वारा अविशेषत्व का प्रसंग उठाना दूषणाभास है॥४०६-४०९॥

जिस प्रकार हेतु धर्म प्रयत्नानन्तरीयकत्व शब्द में अनित्य साध्य को सिद्ध करता है, उसी प्रकार सर्व पदार्थों में रहने वाला सत्त्व धर्म सर्व पदार्थों में अनित्यत्व को सिद्ध नहीं करता है। क्योंकि केवल सत्त्व धर्म की उत्पत्ति कर देने से ही सर्व वस्तुओं का विशेष रहितपना सिद्ध हो सकता है। क्योंकि यदि सद्भाव का व्यापक रूप से निमित्त अनित्यपना होता, तब तो प्रतिवादी प्रत्यवस्थान (प्रश्न) चल सकता था। परन्तु, आकाश आत्मा आदि में सद्भाव का निमित्त धर्म (सत्त्व) नित्य पदार्थों में दृष्टिगोचर हो रहा है, और

प्रयत्नानंतरीयकत्वनिमित्तस्य वाऽनित्यत्वस्य घटादौ दर्शनात्। ततो विषमोयमुपन्यासः इति त्यज्यतां सर्वार्थेष्वविशेषप्रसंगात् प्रत्यवस्थानं। यदि तु सर्वेषामर्थानामनित्यता सत्वस्य निमित्तमिष्यते तदापि प्रत्यवस्थानादनित्याः सर्वे भावाः सत्त्वादिति पक्षः प्राप्नोति तत्र च प्रतिज्ञार्थव्यतिरिक्तं क्वोदाहरणं सम्भवेन्न चानुदाहरणो हेतुरस्तु। उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनत्वं हेतुरिति समर्थनात्। पक्षैकदेशस्य प्रदीपज्वालादेरुदाहरणत्वे साध्यत्वविरोधः साध्यत्वे तूदाहरणं विरुध्यते। न च सर्वेषां सत्त्वमनित्यत्वं साधयति नित्यत्वेपि केषांचित्सत्त्वप्रतीतेः। संप्रति सिद्धार्थानां सर्वेषामनित्यतायां कथं शब्दानित्यत्वं प्रतिषिध्यते सत्त्वैरिति परीक्ष्यतां। सोयं सर्वस्यानित्यत्वं साधयन्नैव शब्दानित्यत्वं प्रतिषेधतीति कथं स्वस्थः?॥

प्रयत्नानन्तरीयकत्व निमित्त अनित्य का घट, पट आदि अनित्य पदार्थों में भी दर्शन हो रहा है (दृष्टिगोचर हो रहा है), अतः प्रतिवादी का अविशेषसम जाति निरूपक उपन्यास (उदाहरण) विषम पड़ता है। इसलिए प्रतिवादी को सम्पूर्ण पदार्थों में अविशेषता के प्रसंग से प्रत्यवस्थान (दूषण) देने का विचार छोड़ देना चाहिए। अर्थात् कहीं कृतकत्व, प्रयत्नानन्तरीयकत्व आदि में हेतु के धर्मव्याप्ति, पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व आदि का अस्तित्व है। और कहीं सत्त्व, प्रमेयत्व आदि हेतुओं में अनित्यपन साध्य के उपयोगी व्याप्ति पक्षवृत्तित्व आदि हेतु धर्म नहीं पाये जाते हैं। अतः प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध होने की असंभवता है।

यदि सर्व पदार्थों के सद्भाव की उत्पत्ति का निमित्त कारण अनित्य धर्म माना जाता है, तो "सर्व पदार्थ अनित्य हैं सत्त्व होने से"- यह पक्ष प्राप्त होता हैं। परन्तु इस पक्ष में प्रतिज्ञा अर्थ से व्यतिरेक उदाहरण कहाँ संभव हो सकता है?

अर्थात् सत्त्व हेतु से सम्पूर्ण पदार्थों में अविशेष रूप से अनित्यपना सिद्ध करने पर अन्वय दृष्टान्त या व्यतिरेक दृष्टान्त बनाने के लिए कोई पदार्थ शेष नहीं रहता है। और उदाहरण रहित हेतु समीचीन नहीं होता है। क्योंकि उदाहरण के साधर्म्य से (सामर्थ्य से) ही साध्य का अविनाभावी साधन (कारण) हेतु है, ऐसा समर्थन किया जाता है।

पक्ष के एकदेश में स्थित प्रदीप की ज्वाला आदि को उदाहरण स्वीकार करने पर साध्यत्व का विरोध आता है। और 'सर्व अनित्य है', इस साध्य को स्वीकार करने पर उदाहरण विरुद्ध पड़ता है।

भावार्थ - जब पदार्थ अनित्य हैं सत्त्व होने से, इसमें सर्व पदार्थों को पक्ष बना लेने पर उदाहरण के लिए कोई पदार्थ नहीं रहता है। यदि दीपक की कलिका या बिजली आदि का उदाहरण देते हैं, तो दीप आदि भी पदार्थ होने से पक्ष कोटि में है। अतः "सर्व अनित्य है" - इस साध्यत्व में विरोध आता है। तथा दीपक की कलिका को यदि साध्य मानते हैं, तो वह उदाहरण नहीं बन सकता। इसलिए "सत्त्वत्वात्" यह हेतु सभी पदार्थों के अनित्यत्व को सिद्ध नहीं कर सकता है। क्योंकि 'सत्त्व' नित्य आकाश आदि में भी पाया जाता है। अर्थात् आकाश, आत्मा आदि नित्य पदार्थों में भी सत्त्व प्रतीत होता है। अतः नित्य या अनित्य को सिद्ध करने के लिए दिया गया सत्त्व हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि सत्त्व हेतु नित्य और अनित्य दोनों में पाया जाता है।

कारणस्योपपत्तेः स्यादुभयोः पक्षयोरपि। उपपत्तिसमा जातिः प्रयुक्ते सत्यसाधने ॥४१०॥

उभयोरपि पक्षयोः कारणस्योभयोरुपपत्तिः प्रत्येया उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसम इति वचनात्॥

एतदुदाहरणमाह–

कारणं यद्यनित्यत्वे प्रयत्नोत्थत्वमित्ययं। शब्दोऽनित्यस्तदा तस्य नित्यत्वेऽस्पर्शनास्ति तत्॥४११॥
ततो नित्योप्यसावस्तु साधनं नोपपद्यते। कारणस्याभ्यनुज्ञाना न नित्यः कथमन्यथा ॥४१२॥

यद्यनित्यत्वं कारणं प्रयत्नांतरीयकत्वं शब्दस्यास्तीत्यनित्यः शब्दस्तदा नित्यत्वेपि तस्य कारणमस्पर्शत्वमुपपद्यते। ततो नित्योप्यस्तु कथमनित्योन्यथा स्यादित्युभयस्य नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य च कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमो दूषणाभासः॥

वर्तमान काल में सिद्ध सम्पूर्ण पदार्थों का अनित्यपना सिद्ध हो जाने पर सत्त्व के द्वारा शब्द में अनित्यत्व का निषेध कैसे किया जा सकता है? प्रतिवादी को इसकी परीक्षा करनी चाहिए।

सत्त्व की सिद्धि से सर्व पदार्थों के अनित्यपना सिद्ध हो जाने पर शब्द के भी अनित्यपना सिद्ध हो जाता है। अतः सर्व पदार्थों को अनित्य मानकर के भी शब्द को अनित्य नहीं मानने वाला स्वस्थ कैसे हो सकता है?

यहाँ तक विशेषसमा जाति का विचार किया गया है। वादी के द्वारा समीचीन हेतु के प्रयोग से उभय पक्ष (पक्ष विपक्ष) के कारण (प्रमाण) की उत्पत्ति हो जाने से उपपत्तिसमा जाति होती है॥४१०॥

दोनों ही पक्ष-विपक्षों के कारण की दोनों वादी प्रतिवादियों के यहाँ सिद्धि हो जाना, उत्पत्तिसमा समझ लेना चाहिए। ऐसा **न्याय दर्शन** में निरूपण किया है।

इस **उत्पत्तिसमा** का उदाहरण कहते हैं -

शब्द के अनित्यत्व साधन में कारण प्रयत्नजन्यत्व होने से शब्द यदि अनित्य कहा जाता है तब तो उस शब्द के नित्यपने में ज्ञापक कारण स्पर्श रहितपना भी विद्यमान है, इसलिए यह शब्द नित्य भी होना चाहिए। अन्यथा (यदि स्पर्श रहित होने पर भी नित्य सिद्ध नहीं किया जायेगा तो) शब्द अनित्य सिद्ध कैसे हो सकेगा? अर्थात् वहाँ भी प्रयत्नजन्य होते हुए भी अनित्यपन का साधन नहीं बनेगा। यदि कारण के होने से शब्द का अनित्यपना सिद्ध करोगे तो स्पर्शरहितत्व कारण से शब्द नित्य क्यों नहीं सिद्ध होगा॥४११-४१२॥

यदि शब्द के अनित्यत्व में ज्ञापक कारण प्रयत्नानन्तरीयकपना है, इसलिए इस शब्द के अनित्यत्व है, तब तो शब्द के नित्यत्व सिद्ध करने में भी उसका कारण स्पर्शरहितत्व है। इसलिए शब्द नित्य भी होना चाहिए। अन्यथा शब्द अनित्य कैसे हो सकता है?

इस प्रकार शब्द को नित्य और अनित्य दोनों के कारणों की उत्पत्ति हो जाने पर प्रत्यवस्थान (शंका) उठाना उत्पत्तिसमा नामक दूषणाभास है। वस्तुतः दूषण न होकर दूषण सदृश है।

इत्येष हि न युक्तोऽत्र प्रतिषेधः कथंचन। कारणस्याभ्यनुज्ञादि यादृशं ब्रुवतां स्वयं ॥४१३॥
शब्दानित्यत्वसिद्धिश्चोपपत्तेरविगानतः। व्याघातस्तु द्वयोस्तुल्यः सपक्षप्रतिपक्षयोः ॥४१४॥
साधनादिति नैवासौ तयोरेकस्य साधकः। एवं ह्येष न युक्तोत्र प्रतिषेधः कथं मतिः ॥४१५॥

कारणस्याभ्यनुज्ञानात् उभयकारणोपपत्तेरिति ब्रुवता स्वयमेवानित्यत्वे कारणं प्रयत्नानंतरीयकत्वं तावदभ्यनुज्ञातमनेनाभ्यनुज्ञानान्नानुपपन्नस्तत्प्रतिषेधः। शब्दानित्यत्वसिद्ध्या उपपत्तेरविवादात्। यदि पुनर्नित्यत्वकारणोपपत्तौ सत्यामनित्यत्वकारणोपपत्तेर्व्याघातादनित्यत्वादसिद्धेर्युक्तः प्रतिषेध इति मतिस्तदास्त्यनित्यत्वकारणोपपत्तौ सत्यां नित्यत्वकारणोपपत्तिरपि व्याघातान्न नित्यत्वसिद्धिरपीति नित्यत्वानित्यत्वयोरेकतरस्यापि न साधकस्तुल्यत्वादुभयोर्व्याघातस्य॥

"उपपत्ति कारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः" - इस सूत्र के अनुसार सिद्धान्ती उसका उत्तर कहते हैं कि प्रतिवादी के द्वारा यह प्रतिषेध करना कैसे भी युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि जैसे कारणों की अभ्यनुज्ञादि कहने वाले के द्वारा स्वयं (दोनों कारणों की उत्पत्ति कहने वाले के) चारों ओर से निर्दोष शब्द के अनित्यपने को स्वीकार कर लिया गया है। स्वपक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के तुल्य होने पर व्याघात दोष आता है अर्थात् स्वकीय पक्ष नित्यत्व प्रतिवादी के अनित्य पक्ष से बाधित है। इसलिए वह प्रतिवादी उन दोनों में से एक पक्ष का भी साधने वाला नहीं है। इस प्रकार प्रतिवादी के द्वारा किया गया प्रतिषेध कैसे भी समुचित नहीं है॥४१३-४१४-४१५॥

कारण के अभ्यनुज्ञान की (नित्य और अनित्य) दोनों कारणों से उत्पत्ति होती है। इस प्रकार कहने वाले प्रतिवादी ने स्वयमेव शब्द के अनित्यत्व में प्रयत्नानन्तरीयकत्व (पुरुष का प्रयोग रूप) कारण को तो स्वीकार कर ही लिया है। इसलिए पुनः (अनित्यपना स्वीकार करने के बाद) शब्द के अनित्यत्व का निषेध करना शक्य नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द के अनित्यत्व की उत्पत्ति में प्रतिवादी का विवाद नहीं है। इसलिए शब्द के अनित्यता का निषेध नहीं किया जा सकता। यदि पुनः प्रतिवादी कहे कि शब्द के नित्यत्व का कारण स्पर्शरहितत्व की पूर्व में उत्पत्ति हो जाने पर अनित्यत्व के कारण (पुरुष प्रयत्न) का व्याघात हो जाता है। इसलिए शब्द अनित्य है यह असिद्ध होने से शब्द को अनित्य सिद्ध करना युक्तिसंगत नहीं है। अर्थात् अनित्य का निषेध करना ही ठीक है। जिस प्रकार शब्द को नित्य सिद्ध करने पर पुरुष प्रयोग हेतु से व्याघात दोष आता है, उसी प्रकार शब्द को अनित्य सिद्ध करने पर अस्पर्शत्व हेतु से व्याघात होता है। इसलिए शब्द के अनित्यत्व का निषेध करना युक्तिसंगत है - यह मेरा विचार है। इसके प्रत्युत्तर में सिद्धान्तवादी कहते हैं कि पूर्व में वादी के द्वारा शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध कर देने पर पुनः व्याघात दोषयुक्त होने से प्रतिवादी के द्वारा शब्द के नित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि प्रथम बोलने का अधिकार वादी का है। इस प्रकार पक्ष और विपक्ष दोनों में एक को सिद्ध करने वाला प्रतिवादी वस्तु का साधक नहीं है (अर्थात् विपक्ष का निराकरण करके स्वपक्ष की स्थापना करने वाला ही साधक होता है)। क्योंकि दोनों ही पक्षों में व्याघात दोष तुल्य रूप से स्थित है। इसलिए प्रतिवादी के द्वारा प्रतिषेध करना युक्त नहीं है। अतः उत्पत्तिसमा जाति सिद्ध नहीं है।

का पुनरुपलब्धिसमा जातिरित्याह–

साध्यधर्मनिमित्तस्याभावेप्युक्तस्य यत्पुनः। साध्यधर्मोपलब्ध्या स्यात् प्रत्यवस्थानमात्रकम् ।४१६।
सोपलब्धिसमा जातिर्यथा शाखादिभंगजे। शब्देस्त्यनित्यता यत्नजत्वाभावेप्यसाविति ।४१७।

साध्यधर्मस्तावदनित्यत्वं तस्य निमित्तकारणं प्रयत्नानंतरीयकत्वं ज्ञापकं तस्योक्तस्य वादिना क्वचिदभावेपि पुनः साध्यधर्मस्योपलब्ध्या यत्प्रत्यवस्थानमात्रकं सोपलब्धिसमा जातिर्विज्ञेया, "निर्दिष्टकारणाभावेप्युपलंभादुपलब्धिसम" इति वचनात्। तद्यथा–शाखादिभंगजे शब्दे प्रयत्नानंतरीयकत्वाभावेप्यनित्यत्वमस्ति साध्यधर्मोसाविति॥

स चायं प्रतिषेधो न युक्त इत्याह–

कारणांतरतोप्यत्र साध्यधर्मस्य सिद्धितः। न युक्तः प्रतिषेधोऽयं कारणानियमोक्तितः ॥४१८॥

उपलब्धिसमा जाति कौनसी है? उसका लक्षण क्या है? ऐसा पूछने पर जैनाचार्य कहते हैं -

घट के समान पुरुष प्रयोगजन्य होने से शब्द अनित्य है। इस अनुमान में शब्द में निष्ठ अनित्यत्व की ज्ञप्ति कराने का निमित्त कारण प्रयत्नजन्यत्व हेतु का कथन कर देने पर भी पुनः प्रतिवादी द्वारा साध्य धर्म की उपलब्धि करके जो केवल प्रत्यवस्थान मात्र (प्रश्नमात्र) उठाना, वह **उपलब्धिसमा** जाति है। यथा वृक्ष की शाखा के टूटने पर उत्पन्न शब्द पुरुष के प्रयत्न बिना ही होता है। तथापि उसमें अनित्यपना साध्य धर्म विद्यमान है। अतः उस शब्द में पुरुष प्रयत्नजन्यत्व का अभाव होने पर भी साध्य धर्म की अनित्यता विद्यमान होने से पुरुष प्रयोग जन्यत्व हेतु साध्य का साधन नहीं है॥४१६-४१७॥

इस प्रकरण में साधने योग्य धर्म तो अनित्यपना है। उसका ज्ञापक निमित्त कारण प्रयत्नानंतरीयकत्व हेतु है। वादी द्वारा कथित हेतु का अभाव होने पर भी पुनः साध्य धर्म की उपलब्धि के द्वारा जो सर्वव्यापक साध्य की अपेक्षा मात्र प्रत्यवस्थान उठाया जाता है, उसे उपलब्धिसमा जाति समझना चाहिए। गौतम सूत्र में कहा है 'निर्दिष्ट कारण का अभाव होने पर भी साध्य धर्म का उपलंभ हो जाना उपलब्धिसम प्रतिषेध है (उपलब्धिसमा जाति है)। उसका उदाहरण इस प्रकार है। जैसे वृक्ष की शाखा के टूटने पर होने वाले शब्द में (तथा बादल की गर्जना समुद्रघोष आदि शब्द में) पुरुष प्रयत्न जन्यत्व का अभाव होने पर भी साध्य धर्म शब्द की अनित्यता का उसमें सद्भाव पाया जाता है। सिद्धान्तवादी कहते हैं कि यह प्रतिवादी के द्वारा कहा गया प्रतिषेध युक्त नहीं है। इसके प्रति जैनाचार्य कहते हैं-

अन्य कारणों से भी यहाँ साध्य धर्म की सिद्धि हो सकती है। अतः प्रतिवादी के द्वारा किया गया प्रतिषेध उचित नहीं है। क्योंकि सामान्य कार्यों के लिए नियत कारणों का नियम कहा गया है। अर्थात् कार्य कारण के बिना नहीं होता है, शब्द कार्य है अतः कारणजन्य हैं॥४१८॥

प्रयत्नानंतरीयकत्वात् कारणादन्यदुत्पत्तिधर्मकत्वादिकारणांतरमनित्यत्वस्य साध्यधर्म्यस्य, ततोपि सिद्धिर्न युक्तः प्रतिषेधोयं तत्र कारणानियमवचनात्। नाभिज्ञापकमंतरेण ज्ञाप्यं न भवतीति नियमोस्ति, साध्याभावे साधनस्यानियमव्यवस्थितेः इति॥

तस्मान्न विद्यमानस्यानुपलब्धेः प्रसाधने। निषेध्यानुपलब्धेश्चाभावस्य साधने कृते॥४१९॥
अभावस्य विपर्यासादुपपत्तिः प्रकीर्तिता। प्रस्तुतार्थविघातायानुपलब्धिसमानघैः॥४२०॥

भावार्थ - साध्य व्यापक होता है और हेतु व्याप्य होता है। हेतु में अविनाभाव सम्बन्ध रहता है- जैसे आत्मा के बिना जीव में श्वासोच्छ्वास चलना नहीं होता, परन्तु साध्य का कारण के साथ अविनाभाव नहीं है। कार्य हो सकता है कारण नहीं भी हो। जैसे आत्मा रूप कार्य में श्वासोच्छ्वास नहीं भी रहता है जैसे धूम के बिना अग्नि रह सकती है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि धूम के होने पर ही अग्नि होती है। बिना धूम भी अग्नि रहती है। आचार्य ऐसी अवधारणा नहीं करते हैं कि "शब्द अनित्य है, प्रयत्नजन्य होने से", किन्तु संशय को प्राप्त अनित्यत्व आदि की सिद्धि के लिए अनुमान वाक्य रचते हैं। अन्यथा प्रतिवादी के द्वारा कथित पक्ष की असाधकता का साधन भी नहीं बन सकता। क्योंकि असाधकता को सिद्ध करने वाला साधन ही है।

अनित्यपन साध्यधर्म का हेतु प्रयत्नजन्यत्व, इस ज्ञापक कारण के भिन्न उत्पत्तिधर्मकत्व, कृतकत्व आदि दूसरे कारण भी विद्यमान हैं। उन कारणान्तरों से भी अनित्यत्व साध्य धर्म की सिद्धि हो सकती है। इसलिए प्रतिवादी के द्वारा उठाया गया यह प्रतिषेध युक्त नहीं है। क्योंकि इसमें कारणों के नियम का वचन नहीं दिया गया है। अर्थात् कारण के होने पर कार्य होगा ही ऐसा नियम नहीं है। अभिज्ञापक (ज्ञप्ति को कराने वाले हेतु) के बिना ज्ञाप्य (जानने योग्य साध्य) नहीं हो सकता, ऐसा कोई नियम नहीं है। साध्य के अभाव में साधन के नहीं रहने का नियम व्यवस्थित है। अर्थात् साध्य के अभाव में साधन नहीं रह सकता। यह नियम है। यहाँ तक **उपलब्धिसमा** जाति का विचार किया गया है।

(न्याय सिद्धान्त के अनुसार लौकिक, वैदिक या अभाषात्मक, घनगर्जन आदिक सभी शब्द अनित्य माने गये हैं परन्तु मीमांसक शब्दों को नित्य मानते हैं। मीमांसक का कथन है कि उच्चारण के पूर्व काल में भी शब्द अक्षुण्ण रूप से विद्यमान हैं। अभिव्यंजक कारणों के अभाव में उनका श्रावण प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस मत का नैयायिक खण्डन करते हैं)

विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि नहीं है अर्थात् - उच्चारण के पूर्व काल में शब्दों का अस्तित्व होने पर भी अनुपलब्धि है। इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि अनुपलब्धि को सिद्ध करने में निषेध करने योग्य शब्द की अनुपलब्धि से पूर्वकालीन शब्द के अभाव का साधन करने पर (अभाव को सिद्ध कर चुकने पर अथवा उस आवरण की अनुपलब्धि के अनुपलम्भ से अभाव को साधने पर) उस अभाव के विपर्यय (विपरीतता) से प्रस्तावित अर्थ का विघात करने के लिए उपपत्ति उठाना निर्दोष विद्वानों के द्वारा **अनुपलब्धिसमा** जाति कही गई है॥४१९-४२०॥

कश्चिदाह, न प्रागुच्चारणाद्विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिः तदावरणश्चानुपलब्धेरुत्पत्तेः प्राग्घटादेरिव। यस्य तु दर्शनात् प्राग्विद्यमानस्यानुपलब्धिस्तस्य नावरणाद्यनुपलब्धिः यथा भूम्यावृत्तस्योदकादेर्नावरणाद्यनुपलब्धिश्च श्रवणात् प्राक् शब्दस्य। तस्मान्न विद्यमानस्यानुपलब्धिरित्यविद्यमानः शब्दश्रवणात्पूर्वमनुपलब्धिरिति निषेधस्य शब्दस्यानुपलब्धिर्या तस्याश्चानुपलब्धेरभावस्य साधने कृते सति विपर्यासादभावेऽस्योपपत्तिरनुपलब्धिसमा जातिः प्रकीर्तितानधैः, प्रस्तुतार्थविघाताय तस्याः प्रयोगात्। तदुक्तं। "तदनुपलब्धेरनुपलंभादभावसिद्धौ विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसम" इति॥

कथमिति श्लोकैरुपदर्शयति–

कोई कहता है कि विद्यमान शब्द की उच्चारण के पूर्व अनुपलब्धि नहीं है। क्योंकि उस शब्द के आवरण (भूमि, भीत, आदि के समान), असन्निकर्ष (इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नहीं होना), इन्द्रियघात (इन्द्रियों का विकल हो जाना), सूक्ष्मता (परमाणु के समान इन्द्रियगोचर नहीं होना), मनोऽनवस्थान (मन का स्थिर नहीं होना), अतिदूरत्व (अत्यधिक दूर देश में स्थित रहना), अभिभव (शब्द का तिरोभूत होना) समानाभिहार (शब्द का समान गुण वाले में मिश्रण हो जाना) आदि के द्वारा अनुपलब्धि होने से उत्पत्ति के पूर्व घटादि के समान शब्द की अनुपलब्धि नहीं है। दर्शन के पूर्व विद्यमान जिस पदार्थ की अनुपलब्धि है, उसके आवरण, असन्निकर्ष, व्यवधान आदि अनुपलब्धि नहीं है। जैसे भूमि से आच्छादित जल आदि की अनुपलब्धि नहीं है। उसी प्रकार कर्णगोचर के पूर्व शब्द आदि की भी अनुपलब्धि नहीं है अर्थात् उपलब्धि है। अतः विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि नहीं है अपितु सुनने के पूर्वकाल में शब्द विद्यमान ही नहीं है अर्थात् श्रवणगोचर होने के पूर्व शब्द की उपलब्धि ही नहीं है।

इसलिए, निषेध करने योग्य जो शब्द की अनुपलब्धि है, उसकी भी अनुपलब्धि हो जाने से अभाव का साधन करने पर विपरीतता से उस अनुपलब्धि के अभाव की उपपत्ति करना निष्पाप विद्वानों के द्वारा प्रतिवादी की अनुपलब्धिसमा जाति कही गयी है। वादी के प्रस्तावप्राप्त अर्थ का विघात करने के लिए प्रतिवादी ने उस जाति का प्रयोग किया है। सो ही न्याय ग्रन्थ में लिखा है कि आवरण आदि बाधक कारणों की अनुपलब्धि के अनुपलंभ से अनुपलब्धि का अभाव सिद्ध हो जाने पर उसके विपरीत आवरण आदिकों का अस्तित्व जान लिया जाता है अर्थात् इसलिए वादी ने जो कहा था कि उच्चारण के पूर्व शब्द विद्यमान नहीं है इसलिए उसकी उपलब्धि नहीं होती है। यह वादी का कथन सिद्ध नहीं हो सकता। जिस प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होने वाले आवरणों की अनुपलब्धि से उनका अभाव मान लिया जाता है, उसी प्रकार अनुपलभ्यमान आवरणानुपलब्धि का अभाव भी जान लिया जाता है। इसलिए शब्द को नित्य अभिप्रेत करने वाले प्रतिवादी का यह अनुपलब्धिसम नाम का प्रतिषेध है।

उस अनुपलब्धिसम प्रतिषेध का उदाहरण किस प्रकार है? ऐसी जिज्ञासा होने पर जैनाचार्य कहते हैं -

यथा न विद्यमानस्य शब्दस्य प्रागुदीरणात्। अश्रुतिः स्यात्तदावृत्या वा दृष्टेरिति भाषिते ।४२१।
कश्चिदावरणादीनामदृष्टेरप्यदृष्टितः। सैव मा भूत्ततः शब्दे सत्ये वाऽश्रवणात्तदा ॥४२२॥
वृत्त्या स्वभावसंसिद्धेरभावादिति जल्पति। प्रस्तुतार्थविधावेव नैव संवर्णितः स्वयं ॥४२३॥

तदीदृशं प्रत्यवस्थानमसंगतमित्यावेदयति–

तदसंबंधमेवास्यानुपलब्धेः स्वयं सदा-। नुपलब्धिस्वभावेनोपलब्धिविषयत्वतः ॥४२४॥
नैवोपलब्ध्यभावेनाभावो यस्मात्प्रसिद्ध्यति। विपरीतोपपत्तिश्च नास्पदं प्रतिपद्यते ॥४२५॥
शब्दस्यावरणादीनि प्रागुच्चारणतो न वै। सर्वत्रोपलभे हंत इत्याबालमनाकुलम् ॥४२६॥
ततश्चावरणादीनामदृष्टेरप्यदृष्टितः। सिद्ध्यत्यभाव इत्येष नोपालंभः प्रमान्वितः ॥४२७॥

जिस प्रकार उदीरणा (उच्चारण) के पूर्व काल में विद्यमान नहीं होने वाले (अविद्यमान) शब्द की अश्रुति है, वह श्रुतिगोचर नहीं है। क्योंकि उस दृश्य शब्द की अनुपलब्धि के कारण आवरण, असन्निकर्ष आदि भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं। इस प्रकार वादी के द्वारा कहने पर कोई प्रतिवादी कहता है कि आवरण आदिकों के अनुपलम्भ का भी अनुपलंभ है। आवरणों का भी अदर्शन का अदर्शन है अर्थात् जब शब्द का अस्तित्व ही नहीं है तो आवरण किसका हो सकता है? इसलिए वह आवरणों का अनुपलंभ भी नहीं मानना चाहिए। ऐसी दशा में आवरणों का सद्भाव हो जाने से पूर्व काल में शब्द के होने पर उन आवारकों से आवृत हो जाने के कारण उस समय पूर्व काल में शब्द का सुनना नहीं हो सका है। वस्तुतः शब्द उस समय विद्यमान था। उन शब्दों के आवरण आदि के अभाव की सिद्धि होने का अभाव है। अतः वादी का हेतु प्रस्ताव प्राप्त अनित्य अर्थ की विधि करने में ही स्वयं वर्णनायुक्त नहीं है अर्थात् वादी ने जो यह प्रतिज्ञा की थी कि शब्दोच्चारण के पूर्व विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि नहीं होती है। इसलिए शब्द के नित्यपन में कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार जाति को कहने वाला प्रतिवादी जल्प कर रहा है, कह रहा है॥४२१-४२२-४२३॥

इस प्रकार प्रतिवादी का प्रत्यवस्थान उठाना संगतिशून्य है। इस कथन को जैनाचार्य निवेदन करते हैं -

वह प्रतिवादी का कहना पूर्वापर सम्बन्ध से रहित है क्योंकि आवरण आदिकों की स्वयं अनुपलब्धि है।

अनुपलब्धि स्वरूप स्वभाव के द्वारा सदा अनुपलब्धि स्वयं उपलब्धि का विषय हो रही है। इसलिए उपलब्धि स्वरूप आवरण आदिकों की अनुपलब्धि के अभाव से आवरणानुपलब्धि का अभाव सिद्ध नहीं है। और उसकी सिद्धि नहीं होने पर विपरीत आवरण सद्भाव की सिद्धि हो जाना कैसे भी प्रतिष्ठा स्थान को प्राप्त नहीं कर सकता॥४२४-४२५॥

उच्चारण के पूर्व शब्द को या उसके आवरण आदिकों को मैं नियम से सर्वत्र नहीं देख रहा हूँ, इस प्रकार का आकुलता रहित अनुभव बाल गोपाल सभी को हो रहा है। इसलिए आवरण आदिकों की अनुपलब्धि को भी अनुपलब्धि से आवरण अनुपलब्धि का अभाव सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार यह प्रतिवादी के द्वारा उपालंभ देना प्रमा बुद्धि से अन्वित कार्य नहीं है॥४२६-४२७॥

न विद्यमानस्य शब्दस्य प्रागुच्चारणानुपलब्धिरावरणाद्यनुपलब्धेरित्युपपत्तेर्यत्कस्यचित्प्रत्यवस्थानं तदावरणादीनामनु-पलब्धेरप्यनुपलंभात्। सैवावरणाद्यनुपलब्धिर्मा भूत् ततः शब्दस्य प्रागुच्चारणात् सत एवाश्रवणं तदावरणाद्यभावसिद्धेरभावादावरणादिसद्भावादिति संबंधरहितमेवानुपलब्धेः सर्वदा स्वयमेवानुपलंभस्वभावत्वादुपलब्धिविषयत्वात्। यथैव ह्युपलब्धिर्विषयस्तथानुपलब्धिरपि। कथमन्यथास्ति मे घटोपलब्धिर्नास्ति मे घटोपलब्धिरिति संवेदनमुपपद्यते यतश्चैवमावरणाद्यनुपलब्धिरनुपलंभान्नैवाभावः सिद्ध्यति तदसिद्धौ च विपरीतस्यावरणादिसद्भावस्योपपत्तिश्च नास्पदं प्रतिपद्यते। यतश्च प्रागुच्चारणाच्छब्दस्यावरणादीनि सोहं नैवोपलभे, तदनुपलब्धिमुपलभे सर्वत्रेत्याबालमनाकुलं संवेदनमस्ति। तस्मादावरणादीनामदृष्टेर्न सिद्ध्यत्यभाव इत्ययमुपालंभो न प्रमाणान्वितः,

---

उच्चारण के पूर्व अविद्यमान शब्द की अनुपलब्धि है (अदर्शन) है। विद्यमान शब्द का अदर्शन नहीं है। क्योंकि आवरण आदि की अनुपलब्धि है। इस प्रकार उपपत्ति मानने वाले वादी के प्रति, जिस किसी भी प्रतिवादी की ओर से प्रत्यवस्थान उठाया जाता है कि उस शब्द के आवरण, अन्तराल आदिकों की अनुपलब्धि होने से अनुपलंभ है। इसलिए उस आवरण आदि की अनुपलब्धि नहीं हो सकती है। इसलिए उच्चारण के पूर्व विद्यमान शब्द का अश्रवण (सुनने का अभाव) उसके आवरण के कारण है। अर्थात् शब्द के ऊपर आवरण होने से शब्द के उच्चारण के पूर्व विद्यमान शब्द सुनाई नहीं देता है। इसलिए शब्द अनादि काल से प्रवाह रूप से सर्वदा सर्वत्र विद्यमान है।

तथा उसके आवरण आदिकों के अभाव की सिद्धि का अभाव हो जाने से आवरणों के सद्भाव की सिद्धि हो जाती है। अब सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकार शब्द के नित्यत्व की सिद्धि करना उपलब्धि रहित होने से सम्बन्ध रहित है। यह अनुपलब्धि स्वयं अनुपलंभ स्वभाव वाली है। तथा वह अनुपलब्धि उस स्वभाव के द्वारा सदा उपलब्धि का विषय है। जिस प्रकार उपलब्धि ज्ञान का विषय है, उसी प्रकार अनुपलब्धि भी ज्ञान का विषय है। अन्यथा (यदि अनुपलब्धि ज्ञान का विषय नहीं है तो) मुझे घट की उपलब्धि है, पट की उपलब्धि नहीं है। अर्थात् वहाँ पर घट है - पट नहीं है। इस प्रकार का ज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है? जिससे "इस प्रकार आवरण आदिकों की अनुपलब्धि के अनुपलंभ से आवरण आदिकों का अभाव सिद्ध नहीं हो पाता है। और आवरण की असिद्धि होने पर आवरण के अभाव के विपरीत आवरण आदि के सद्भाव की सिद्धि स्थान (प्रतिष्ठा) को प्राप्त नहीं हो सकती। अर्थात् नित्य शब्द के अभाव में आवरण के सद्भाव की सिद्धि भी नहीं हो सकती।

जिस कारण से उच्चारण के पूर्व शब्द के आवरण आदिकों को मैं प्रत्यक्ष नहीं कर रहा हूँ, देख नहीं रहा हूँ, तथा उन आवरणादि के अनुपलब्धि का उपलंभ कर रहा हूँ अर्थात् उनकी अनुपलब्धि प्रत्यक्ष दीख रही है - इस प्रकार सभी स्थानों पर सभी बाल गोपाल को आकुलता रहित संवेदन हो रहा है। इसलिए प्रतिवादी के द्वारा आवरणादिकों के अदृष्टि (अदर्शन) होने से शब्द के आवरणों का अभाव सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार का यह उपालंभ प्रमाण ज्ञान से युक्त नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर तो सभी स्थलों पर उपलंभ और अनुपलंभ की व्यवस्था के अभाव का प्रसंग आता है। इसलिए अनुपलब्धि की भी समय की

सर्वत्रोपलंभानुपलंभव्यवस्थित्यभावप्रसंगात्। ततोनुपलब्धेरपि समयानुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमो दूषणाभास एवेति प्रतिपत्तव्यं॥

का पुनरनित्यसमा जातिरित्याह–

कृतकत्वादिना साम्यं घटेन यदि साधयेत्। शब्दस्यानित्यतां सर्वं वस्त्वनित्यं तदा न किम्।४२८।
अनित्येन घटेनास्य साधर्म्यं गमयेत्स्वयं। सत्त्वेन साम्यमात्रस्य विशेषाप्रतिवेदनात्॥४२९॥
इत्यनित्येन या नाम प्रत्यवस्था विधीयते। सात्रानित्यसमा जातिर्विज्ञेया न्यायबाधनात्। ४३०।

अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद्घटवदिति प्रयुक्ते साधने यदा कश्चित्प्रत्यवतिष्ठते यदि शब्दस्य घटेन साधर्म्यात् कृतकत्वादिना कृत्वा साधयेदनित्यत्वं तदा सर्वं वस्तु अनित्यं किं न गम्येत्? सत्त्वेन कृत्वा साधर्म्यं, अनित्येन घटेन साधर्म्यमात्रस्य विशेषाप्रवेदादिति। तदेवमनित्यसमा जातिर्विज्ञेया न्यायेन बाध्यमानत्वात्। तदुक्तं। "साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसंगादनित्यसमा" इति॥

अनुपलब्धि से उलाहना देकर आवरणों का अभाव सिद्ध करना **अनुपलब्धिसमा** दूषणाभास है, ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ - मुझे यहाँ पर घट उपलब्ध नहीं हो रहा है। इस अनुपलब्धि का ज्ञान के द्वारा संवेदन हो रहा है। अतः उपलब्धि के समान अनुपलब्धि भी ज्ञान का विषय है। इसलिए अनुपलब्धि जाति का कथन करना दूषणाभास है।

बाईसवीं **अनित्यसमा जाति** का लक्षण क्या है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं -

यदि कृतकत्व प्रयत्नजन्यत्व आदि हेतुओं के द्वारा घट के साथ शब्द की अनित्यता का साधर्म्य सिद्ध किया जाता है तो सर्व वस्तु अनित्य क्यों नहीं होंगी? क्योंकि अनित्य घट के साथ सत्त्व के द्वारा केवल साधर्म्य हो जाने से सर्व वस्तुओं का साधर्म्य समझा जायेगा। क्योंकि सभी वस्तु सत्त्व की अपेक्षा साधर्म्य है। साम्यमात्र की (सत्त्व मात्र की) अपेक्षा से विशेषता का वेदन नहीं होता है। अर्थात् सत्त्व सामान्य की अपेक्षा किसी भी पदार्थ में विशेषता नहीं है। जिससे इस प्रकार "अनित्येन समा" नामक प्रत्यवस्थान (उलाहना) दिया जाता है। ऐसा अनित्यसमा जाति का लक्षण कहने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि यहाँ पर यह अनित्यसमा जाति न्याय ग्रन्थ से बाधित है। ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् न्याय ग्रन्थों में वस्तु को सिद्ध करने के लिए अनित्यसमा जाति का प्रयोग करना प्रतिवादी का असत् उत्तर है॥४२८-४२९-४३०॥

"घट के समान कृतकत्व (किसी का किया हुआ होने) से शब्द अनित्य हैं।" इस प्रकार समीचीन हेतु का प्रयोग करने पर कोई प्रतिवादी शंका उठाता है कि यदि शब्द का घट के साथ कृतकत्व आदि के साथ साधर्म्य हो जाने से शब्द का अनित्यपना सिद्ध किया जायेगा तो साधर्म्य के द्वारा सभी वस्तुएँ अनित्य क्यों नहीं समझी जायेंगी? क्योंकि अनित्य घट के साथ सत्त्व द्वारा साधर्म्य को मुख्य करके केवल साधर्म्य सर्वत्र पाया जाता है। घट के सत्त्व में तथा अन्य वस्तुओं के सत्त्व में विशेषता का प्रतिभास नहीं हो रहा है। अतः सर्व वस्तुओं को अनित्य क्यों नहीं सिद्ध किया जाता है? सिद्धान्तवादी इसके प्रत्युत्तर में कहते

एतच्च सर्वमसमंजसमित्याह–

निषेधस्य तथोक्तस्यासिद्धिप्राप्तेः समत्वतः। पक्षेणासिद्धिमाप्तेनेत्यशेषमसमंजसं ॥४३१॥
पक्षस्य हि निषेध्यस्य प्रतिपक्षोभिलप्यते। निषेधो धीधनैरत्र तस्यैव विनिवर्तकः ॥४३२॥
प्रतिज्ञानादियोगस्तु तयोः साधर्म्यमिष्यते। सर्वत्रासंभवात्तेन विना पक्षविपक्षयोः ॥४३३॥
ततोसिद्धिर्यथा पक्षे विपक्षेपि तथास्तु सा। नोचेदनित्यता शब्दे घटवन्नाखिलार्थगा ॥४३४॥

हैं कि यह अनित्यसमा जाति न्याय के द्वारा बाधित है - ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् अनित्यसमा जाति दूषणाभास है। सो ही **न्याय दर्शन** में कहा है कि साधर्म्य से (घट दृष्टान्त का साधर्म्य कृतकत्व से) तुल्यधर्म (अनित्यत्व) की उपपत्ति (उपलब्धि) होने से सर्व पदार्थों के अनित्यत्व का प्रसंग आने से अनित्यसमा जाति होती है। अर्थात् सर्व वस्तु को अनित्य मानने पर वादी के हेतु में व्यतिरेक दृष्टान्त घटित नहीं होता। अतः अनित्यसमा जाति सिद्ध नहीं होती।

प्रतिवादी के द्वारा कथित अनित्यसमा जाति असमंजस है (नीति मार्ग से विरुद्ध है)। इसी को जैनाचार्य कहते हैं :-

असिद्धि को प्राप्त प्रतिषेध्य पक्ष के साधर्म्य से प्रतिवादी द्वारा कथित निषेध की भी असिद्धि होना समान रूप से प्राप्त है अर्थात् जिस किसी भी साधर्म्य से सबको साध्यसहितत्व को स्वीकार करने पर शब्द सम्बन्धी अनित्यत्व के प्रतिषेध की असिद्धि हो जायेगी। इसलिये प्रतिवादी का अनित्य सम जाति उठाना अशेष असमंजस है। अर्थात् न्यायसंगत नहीं है॥४३१॥ यह प्रतिवादी का प्रयास स्वपक्ष का घातक है।

प्रतिवादी के द्वारा निषेध करने योग्य वादी के पक्ष का निषेध करना धीधनों (बुद्धि रूपी धन के धनी विद्वानों) के द्वारा प्रतिपक्ष माना गया है, कहा गया है। जो कि उस प्रतिवादी के पक्ष की विशेष रूप से निवृत्ति करने वाला है॥४३२॥

उन दोनों पक्ष प्रतिपक्षों का साधर्म्य तो प्रतिज्ञा, हेतु आदि अवयवों का योग होना कहलाता है। अर्थात् वादी और प्रतिवादी दोनों के ही अनुमान में प्रतिज्ञा आदि अनुमान के अंग विद्यमान हैं। अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु आदि अवयव के बिना सर्वत्र पक्ष और विपक्ष का होना असंभव है। इसलिए जिस प्रकार प्रतिवादी के विचारानुसार वादी के पक्ष में प्रतिज्ञा आदि की असिद्धि है, उसी प्रकार प्रतिवादी के विपक्ष में भी प्रतिज्ञा आदि की असिद्धि है। क्योंकि प्रतिषेध्य का साधर्म्य प्रतिज्ञादियुक्तता का सद्भाव प्रतिवादी के प्रतिषेध में भी समान रूप से पाया जाता है।

यदि प्रतिवादी स्वकीय इष्ट की असिद्धि होने को नहीं मानता है तो हम कहेंगे कि घट के साथ साधर्म्य को प्राप्त कृतकत्व आदि हेतुओं से शब्द में अनित्यपना है। परन्तु सत्त्व के साथ साधर्म्य होने से सम्पूर्ण पदार्थों में प्राप्त अनित्यता नहीं है। इसलिए यह अनित्यसमा जाति दूषणाभास है॥४३३-४३४॥

दृष्टांतेपि च यो धर्मः साध्यसाधनभावतः। प्रज्ञायते स एवात्र हेतुरुक्तोर्थसाधनः ॥४३५॥
तस्य केनचिदर्थेन समानत्वात्सधर्मता। केनचित्तु विशेषात्स्याद्वैधर्म्यमिति निश्चयः ॥४३६॥
हेतुर्विशिष्टसाधर्म्यं न तु साधर्म्यमात्रकं। साध्यसाधनसामर्थ्यभागयं न च सर्वगः ॥४३७॥
सत्त्वेन च सधर्मत्वात् सर्वस्यानित्यतेरणे। दोषः पूर्वोदितो वाच्यः साविशेषः समाश्रयः ४३८।

तेन प्रकारेणोक्तो यो निषेधस्तस्याप्यसिद्धिप्रसक्तेरसमंजसमशेषं स्यादित्यनित्यसमवादिनः कुत इति चेत्, पक्षेणासिद्धिं प्राप्तेन समानत्वात्प्रतिषेधस्येति। निषेध्यो ह्यत्र पक्षः प्रतिषेधस्तस्य प्रतिषेधकः कथ्यते धीमद्भिः प्रतिपक्ष इति प्रसिद्धिः तयोश्च पक्षप्रतिपक्षयोः साधर्म्यं प्रतिज्ञादिभिर्योग इष्यते तेन विना तयोः सर्वत्रासंभवात्। ततः प्रतिज्ञादियोगाद्यथा पक्षस्यासिद्धिस्तथा प्रतिपक्षस्याप्यस्तु। अथ सत्यपि साधर्म्यं

किंच, जो धर्म दृष्टान्त में साध्य और साधन भाव से जाना जा रहा है, वही धर्म यहाँ पर साध्य रूप अर्थ को सिद्ध करने वाला हेतु कहा गया है। उस हेतु की दृष्टान्त के किसी अर्थ (धर्म) के साथ समानता होने से सधर्मता बन जाती है (साधर्म्य कहा जाता है)। और दृष्टान्त के किसी-किसी अर्थ के साथ विशेषता हो जाने से वैधर्म्य कहलाता है - यह निश्चय है। इसलिए विशिष्ट रूप से स्थित साधर्म्य ही हेतु की ज्ञापकता का कारण है। केवल साधर्म्य मात्र (विशेषता रहित केवल साधर्म्य) हेतु का सामर्थ्य नहीं है। अतः साध्य को साधने (सिद्ध करने) के सामर्थ्य का विभाग करने वाला विशिष्ट साधर्म्य है। वह हेतु का प्राण है और वह विशिष्ट साधर्म्य हेतु सत्त्व के साधर्म्य मात्र से सम्पूर्ण पदार्थों में प्राप्त नहीं है। अतः सत्त्व के साथ सधर्मता होने से सर्व पदार्थों की अनित्यता (सर्व पदार्थों को अनित्य) कहने में समर्थ नहीं है। तथा पूर्व में अनित्यसमा जाति में कही गयी अविशेषसमा जाति के आश्रय से होने वाले सर्व दोष यहाँ भी कथन करने योग्य हैं। अर्थात् अविशेषसमा जाति में संभव दोषों का सद्भाव अनित्यसमा जाति में भी पाया जाता है ॥४३५-४३८॥

सिद्धान्तवादी ने अनित्यसमा जाति को दूषणाभास कहा था। क्योंकि प्रतिवादी के द्वारा जो प्रतिषेध कहा गया है, उस प्रतिषेध की भी असिद्धि का प्रसंग आता है। इसलिए प्रतिवादी का सर्व कथन असमंजस (अनीतिपूर्ण) है।

शंका - इस प्रकार अनित्यसमा जाति को कहने वाले का कथन (अनित्य नित्य समवादी का कथन) असमंजस क्यों है?

समाधान - प्रतिवादी के द्वारा किया गया प्रतिषेध तो असिद्धि को प्राप्त पक्ष के समान है अर्थात् पक्ष की असिद्धि के समान प्रतिषेध की भी असिद्धि हो जाती है।

निषेध करने योग्य प्रतिषेध्य हो रहा अनित्यत्व तो वादी का इष्ट पक्ष माना गया है। और बुद्धिमानों के द्वारा उसका प्रतिषेध करने वाला निषेध प्रतिवादी का अभीष्ट प्रतिपक्ष कहा जाता है। इस प्रकार पक्ष और प्रतिपक्ष प्रसिद्ध हैं। उन पक्ष और प्रतिपक्षों का सधर्मपना प्रतिज्ञा, हेतु आदि के साथ योग होना इष्ट किया गया है। उन प्रतिज्ञा आदि अनुमान के अंगों के बिना पक्ष और प्रतिपक्ष की सर्वत्र असंभवता है। इसलिए जिस प्रकार प्रतिज्ञादि के योग से वादी के पक्ष की असिद्धि है, उसी प्रकार प्रतिवादी के अभिमत प्रतिपक्ष

पक्षप्रतिपक्षयोः पक्षस्यैवासिद्धिर्न प्रतिपक्षस्येति मन्यते तर्हि घटेन साधर्म्यात्कृतकत्वादेः शब्दस्यानित्यतास्तु। सकलार्थगत्व नित्यता तेन साधर्म्यमात्रात् मा भूदिति समंजसं। अपि च, दृष्टांते घटादौ यो धर्मः साध्यसाधनभावेन प्रज्ञायते कृतकत्वादिः स एवात्र सिद्धिहेतुः साध्यसाधनोरभिहितस्तस्य च केनचिदर्थेन सपक्षेण समानत्वात्साधर्म्यं केनचिद्विपक्षेणासमानत्वाद्वैधर्म्यमिति निश्चयो न्यायविदां। ततो विशिष्टसाधर्म्यमेव हेतुः साध्यसाधनसामर्थ्यभाक्। स च न सर्वार्थेष्वनित्यत्वे साध्ये संभवतीति न सर्वगतः। सर्वे भावाः क्षणिकाः सत्त्वादिति संभवत्येवेति चेत् न, अन्वयासंभवाद्व्यतिरेकानिश्चयात्। किं च, न सत्त्वेन साधर्म्यात्सर्वस्य पदार्थस्यानित्यत्वसाधने सर्वो अविशेषसमाश्रयो दोषः पूर्वोदितो वाच्यः। सर्वस्यानित्यत्वं साधयन्नेव शब्दस्यानित्यत्वं प्रतिषेधतीति कथं स्वस्थ इत्यादिः। तन्नेयमनित्यसमा जातिरविशेषसमातो भिद्यमानापि कथंचिदुपपत्तिमतीति॥

की भी असिद्धि होगी। तथा साधर्म्य के होने पर भी पक्ष, प्रतिपक्ष में पक्ष की ही असिद्धि होगी परन्तु प्रतिपक्ष की असिद्धि नहीं हो सकती। इसके प्रत्युत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि - इस प्रकार घट के साथ साधर्म्य भूत कृतकपन, प्रयत्नजन्यत्व आदि हेतुओं से शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है और सम्पूर्ण पदार्थों में रहने वाले उस तत्त्व धर्म के केवल साधर्म्य से सकल अर्थों में प्रसंग प्राप्त हो जाने वाली अनित्यता नहीं हो सकती। इसलिए अनित्यसमा जाति असमंजस है।

किंच, घट आदि दृष्टान्तों में कृतकत्व आदि जो धर्म साध्य साधन के द्वारा जाना जाता है, वही धर्म यहाँ पक्ष में साध्य की साधन द्वारा सिद्धि होने का हेतु कहा गया है। उसका किसी सपक्ष अर्थ के साथ समानपना होने से साधर्म्य है। और किसी विपक्ष अर्थ के साथ असमानता होने से वैधर्म्य है। यह न्याय वेत्ता विद्वानों का निश्चय है। इसलिए विशिष्ट अर्थ के साथ होने वाला सधर्मापन ही हेतु की शक्ति है। तथा साध्य के साधने की सामर्थ्य का धारक समीचीन हेतु होता है। वह समर्थ हेतु सम्पूर्ण अर्थों में सत्ता द्वारा अनित्यत्व को साध्य करने पर संभव नही है। इसलिए हेतु सर्वगत नहीं है अर्थात् हेतु सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञापक नहीं है।

बौद्ध कहते हैं कि - "सर्व पदार्थ क्षणिक हैं, सत्त्व होने से" इस अनुमान में सर्व पदार्थों को अनित्य सिद्ध करने वाला सत्त्व हेतु सम्पूर्ण पदार्थों में है ही। इसके प्रत्युत्तर में न्याय सिद्धान्तवेदी कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि सर्व पदार्थों को पक्ष मान लेने पर अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त की असंभवता और अनिश्चयता है।

अथवा - सत्त्व के साथ साधर्म्य हो जाने से सम्पूर्ण पदार्थों के अनित्यत्व साधन में सर्व पूर्व कथित अविशेष समाश्रय दोष वाच्य (कहने योग्य) होते हैं। सर्व पदार्थों के अनित्यत्व को सिद्ध करता हुआ यह प्रतिवादी शब्द के अनित्यत्व का प्रतिषेध कर रहा है। ऐसी दशा में वह स्वस्थ कैसे कहा जा सकता है अर्थात् सर्व पदार्थों को तो अनित्य कहता है- परन्तु शब्द को अनित्य नहीं मानता है, वह स्वस्थ कैसे हो सकता है? इसलिये अनित्यसमा जाति अविशेषसमा जाति से कथञ्चित् भेद को प्राप्त होकर कैसे उत्पन्न हो सकती

अनित्यः शब्द इत्युक्ते नित्यत्वप्रत्यवस्थितिः। जातिर्नित्यसमा वक्तुरज्ञानात्संप्रवर्तते ॥४३९॥
शब्दाश्रयमनित्यत्वं नित्यं वानित्यमेव वा। नित्ये शब्दोपि नित्यं स्यात्तदाधारोऽन्यथा क्व तत्।४४०।
तत्रानित्येप्ययं दोषः स्यादनित्यत्वविच्युतौ। नित्यं शब्दस्य सद्भावादित्येतद्धि न संगतम्।४४१।
अनित्यत्वप्रतिज्ञाने तन्निषेधविरोधतः। स्वयं तदप्रतिज्ञानेप्येष तस्य निराश्रयः ॥४४२॥
सर्वदा किमनित्यत्वमिति प्रश्नोप्यसंभवी। प्रादुर्भूतस्य भावस्य निरोधिश्च तदिष्यते ॥४४३॥
नाश्रयाश्रयिभावोपि व्याघातादनयोः सदा। नित्यानित्यत्वयोरेकवस्तुनीष्टौ विरोधतः ॥४४४॥
ततो नानित्यता शब्दे नित्यत्वप्रत्यवस्थितिः। परैः शक्या निराकर्तुं वाचालैर्जयलोलुपैः ४४५।

है। अर्थात् किसी भी प्रकार से उत्पन्न नहीं हो सकती। कृतक होने से शब्द अनित्य है ऐसा कहने पर जो शब्द के नित्यत्व का प्रत्यवस्थान उठाता है वह नित्यसमा जाति वक्ता के अज्ञान से प्रवर्त्त होती है॥४३९॥ अर्थात् नित्यसमा जाति कहना वक्ता का अज्ञान है।

शब्द के आश्रय रहने वाला अनित्यत्व क्या सर्वदा रहने वाला होने से नित्य है? या सर्वदा नहीं रहने वाला होने से अनित्य है? यदि शब्दाश्रित रहने वाला अनित्यत्व धर्म नित्य है तब तो नित्य का आधार शब्द भी नित्य है। अर्थात् नित्य धर्म का आधार शब्द भी नित्य होना चाहिए। अन्यथा (यदि शब्द को अनित्य माना जायेगा तो) वह शब्द का अनित्य धर्म किसके आधार पर रहेगा? अर्थात् शब्द को नित्य मानने पर ही अनित्यपन धर्म सदा काल रह सकता है। अन्यथा नहीं॥४४०॥

शब्द में रहने वाले अनित्य धर्म को क्षणभंगुर माना जायेगा तो भी यह दोष आयेगा। क्योंकि जब शब्द में रहने वाला अनित्य धर्म हमेशा रहने वाला नहीं है तो अनित्य धर्म का नाश हो जाने पर शब्द के नित्यपने का सद्भाव हो जाने से शब्द की नित्यता सिद्ध हो जाती है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहना न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि इस प्रकार कहने वाले प्रतिवादी ने शब्द का अनित्यपना स्वीकार कर लिया है। तभी तो कहता है कि शब्द का अनित्य धर्म नित्य है कि अनित्य है।

इसलिए शब्द के अनित्य धर्म को स्वीकार कर लेने पर फिर उसको नित्य कहना अनित्य का निषेध करना प्रतिज्ञा के विरुद्ध पड़ता है। अर्थात् स्वयं अनित्य स्वीकार करके उसका निषेध नहीं कर सकते। अतः प्रतिवादी का कथन पूर्वापर संगतिरहित है। तथा यदि प्रतिवादी शब्द को स्वयं अनित्य स्वीकार नहीं करता है तो उसका अनित्यपने का निषेध करना आश्रय रहित होगा। अर्थात् यदि शब्द को अनित्य नहीं मानता है- तो यह विकल्प किसके आश्रय उठाये जा सकते हैं कि शब्द का अनित्यपना अनित्य है कि नित्य है? इसलिए प्रतिवादी के द्वारा शब्द के अनित्यत्व का खण्डन नहीं हो सकता॥४४१-४४२॥

प्रकट रूप से उत्पन्न हुए पदार्थ का नष्ट हो जाना ही अनित्यपना है। ऐसी दशा में शब्द का धर्म अनित्यत्व 'यह नित्य है कि अनित्य है,' इस प्रकार का प्रश्न उठाना भी असंभव दोष युक्त है॥४४३॥

तथा-जातिवादी के यहाँ आधार आधेय भाव भी नहीं बन सकता है। क्योंकि नित्य वस्तु में अनित्यपने का व्याघात है - और अनित्य वस्तु में नित्यपने का व्याघात है। किंच-एक ही वस्तु में नित्य

अथ कार्यसमा जातिरभिधीयते–

प्रयत्नानेककार्यत्वाज्जातिः कार्यसमोदिता। नूप्रयत्नोद्भवत्वेन शब्दानित्यत्वसाधने ॥४४६॥
प्रयत्नानंतरं तावदात्मलाभः समीक्षितः। कुंभादीनां तथा व्यक्तिर्व्यवधानेप्यपोहनात् ॥४४७॥
तद्बुद्धिलक्षणात् पूर्वं सतामेवेत्यनित्यता। प्रयत्नानंतरं भावान्न शब्दस्याविशेषतः ॥४४८॥
तत्रोत्तरमिदं शब्दः प्रयत्नानंतरोद्भवः। प्रागदृष्टिनिमित्तस्याभावेप्यनुपलब्धितः ॥४४९॥
सत्त्वाभावादभूत्वास्य भावो जन्मैव गम्यते। नाभिव्यक्तिः सतः पूर्वं व्यवधानाव्यपोहनात् ।४५०।

और अनित्य दोनों धर्म मानना न्याय सिद्धान्त (मीमांसक मत) के अनुसार विरुद्ध है। अर्थात् "अनित्य धर्म का नित्य अवस्थान रहने से शब्द नित्य है"- यह जातिवाद का कथन दूषणाभास है। इसलिए जीतने की अधिक तृष्णा रखने वाले अत्यधिक वाचाल दूसरे जातिवादियों के द्वारा शब्द में प्रतिष्ठित अनित्य धर्म का नित्यत्व के प्रत्यवस्थान (प्रश्न) उठाकर निराकरण करना शक्य नहीं है। अर्थात् असंगत, विरुद्ध, व्याघातयुक्त और असदुत्तर ऐसे अवाच्य वचनों का कथन करने से किसी को जय प्राप्त नहीं हो सकती है ॥४४४-४४५॥

नित्यसमा जाति के अनन्तर न्यायसिद्धान्त के अनुसार **कार्यसमा** जाति का कथन किया जा रहा है -

जीव के प्रयत्न से सम्पादन करने योग्य कार्य अनेक प्रकार के होते हैं - इस प्रकार प्रतिषेध उठाना (या कथन करना) कार्यसमा जाति है। जैसे शब्द को अनित्य सिद्ध करने में मनुष्य के प्रयत्न से उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है ऐसा कहा जाता है ॥४४६॥

शब्द का उच्चारण के पूर्व काल में सद्भाव नहीं था। पुनः जीव प्रयत्न के अनन्तर शब्द का आत्मलाभ देखा जाता है। जैसे घटादिक पूर्व काल में नहीं थे। घटादिक की व्यक्ति (उत्पत्ति) व्यवहित पदार्थों के व्यवधायक अर्थ को प्रयत्न द्वारा पृथक् कर देने पर ही होती है ॥४४७॥

द्वितीय विचार अनुसार सम्भव है कि शब्द भी पुरुष प्रयत्न से उत्पन्न किया गया नहीं होकर नित्य सत् हो रहा व्यक्त कर दिया गया हो। प्रयत्न द्वारा शब्द की उत्पत्ति हुई अथवा अभिव्यक्ति हुई है- इन दोनों मन्तव्यों में से एक अनित्यपने के आग्रह को ही रक्षित रखने में कोई विशेष हेतु नहीं है। उन शब्दों का श्रावणप्रत्यक्ष होना इस स्वरूप से पहले भी विद्यमान हो रहे शब्दों का सद्भाव ही था। इस प्रकार प्रयत्नानन्तर से शब्द की उत्पत्ति हो जाने से अनित्यपना कहना ठीक नहीं है क्योंकि सद्भाव रूप से स्थित शब्द कारणान्तरों से अभिव्यक्त होते हैं, प्रकट होते हैं ऐसा कहना इसमें शब्द की कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् शब्द के उत्पादक और अभिव्यंजक कारणों से शब्द की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति में कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। इस प्रकार दोनों कार्यसमान होने से कार्यसमा जाति कहलाती है। इस प्रकार **विपर्यय समा, भेद-अभेद समा, आकांक्षा समा, विभाव समा** आदि अनेक जातियाँ चौबीस जातियों में ही गर्भित हो जाती हैं ॥४४८॥

अब सिद्धान्तवादी कार्यसमा जाति का असत् उत्तरपना साधते हैं। इस सम्बन्ध में **विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं- कि शब्द (पक्ष) प्रयत्न के अन्तर उत्पन्न होता है (साध्य) क्योंकि उच्चारण के पूर्व में

अनैकांतिकता हेतोरेवं चेदुपपद्यते। प्रतिषेधोपि सा तुल्या ततोऽसाधक एव सः ॥४५१॥
विधाविव निषेधेपि समा हि व्यभिचारिता। विशेषस्योक्तिरश्चायं हेतोर्दोषो निवारितः ॥४५२॥
एवं भेदेन निर्दिष्टा ज्ञातयो दिष्टये तथा। चतुर्विंशतिरन्याश्चानंता बोध्यास्तथा बुधैः ॥४५३॥
नैताभिर्निग्रहो वादे सत्यसाधनवादिनः। साधनाभं ब्रुवाणस्तु तत एव निगृह्यते ॥४५४॥

शब्द की अनुपलब्धि के निमित्त का अभाव होने पर भी उस समय शब्द की अनुपलब्धि है (हेतु)। जैसे घट की उत्पत्ति के पूर्व समय में घट की अनुपलब्धि होने से घट का उत्पन्न होना माना जाता है। (अन्वय दृष्टान्त) जो पूर्व में नहीं था, पुनः कारणों से उत्पन्न हुआ है, वही पदार्थ का जन्म कहलाता है। अर्थात् उच्चारण के पूर्व शब्द का सद्भाव नहीं था, तालु ओष्ठ आदि कारणों से उत्पन्न हुआ है। कारणों के द्वारा किसी व्यवधायक (व्याघातक) पदार्थ का निराकरण करके पूर्व में विद्यमान शब्द की अभिव्यक्ति नहीं की जाती है। अर्थात् जैसे बादलों के हट जाने से सूर्य प्रकट होता है। वैसे बाधक कारणों के हट जाने से शब्द उत्पन्न होता है ऐसा कहना उचित नहीं है॥४४९-४५०॥

पुरुष के प्रयत्न के द्वारा आधारको (शब्द के व्याघात कारणों के) दूर हो जाने से पूर्व काल में विद्यमान पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है। और बहुत से पदार्थों की प्रयत्न से नवीन उत्पत्ति भी होती है। इसलिए शब्द का अनित्यपना सिद्ध करने में दिया गया हेतु व्यभिचारी (अनैकान्तिक हेत्वाभास) है। इस प्रकार हेतु की अनैकान्तिकता उत्पन्न होती है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने पर तो निषेध में भी अनैकांतिक दोष समान रूप से लागू होता है। इसलिए तुम्हारा कार्य सम जाति भी स्वपक्ष की साधक नहीं है, अपितु असाधक ही है॥४५१॥

तथा विधि के समान निषेध में भी समान व्यभिचार दोष है। विशेष को कहने वाले हेतु के कथन से यह दोष निवारित हो सकता है अर्थात् प्रतिवादी कहता है कि प्रयत्न के द्वारा शब्द उत्पन्न होता है, अभिव्यक्त नहीं होता है।

नैयायिक के पास इसका निर्णायक कोई विशेष हेतु नहीं है। नैयायिक भी इसके प्रत्युत्तर में कहता है - प्रयत्न के द्वारा शब्द उत्पन्न नहीं होता है अभिव्यक्त होता है। इसके निर्णय में भी शब्द को अनित्य कहने वाले के पास कोई विशेष हेतु नहीं है (इसलिए) दोनों पक्षों में विशेष हेतु नहीं होने से यह हेतु अनैकान्तिक हो जाता है॥४५२॥

इस प्रकार भेद रूप से शिष्यों को समझाने के लिए चतुर्विंशति (२४) जातियों का दिङ्मात्र (इशारा रूप से) कथन किया है। इसी प्रकार बुद्धिमानों को अनन्त जातियाँ जान लेनी चाहिए। अर्थात् जितने भी संगतिहीन, प्रसंगरहित, अनुपयोगी असत् उत्तर हैं, वे सब न्यायसिद्धान्त अनुसार जातियों में परिगणित हैं॥४५३॥

जैनाचार्य कहते हैं कि इन चौबीस या अनन्त जातियों के द्वारा वाद में सत्य हेतु का कथन करने वाले वादी का निग्रह (पराजय) नहीं हो सकता। क्योंकि दूसरों को पराजित करने के लिए और स्वपक्ष की

निग्रहाय प्रकल्प्यंते त्वेता जल्पवितंडयोः। जिगीषया प्रवृत्तानामिति यौगाः प्रचक्षते।४५५।
तत्रेदं दुर्घटं तावज्जातेः सामान्यलक्षणं। साधर्म्येणेतरेणापि प्रत्यवस्थानमीरितम्॥४५६॥
साधनाभप्रयोगेपि तज्जातित्वप्रसंगतः। दूषणाभासरूपस्य जातित्वेन प्रकीर्तने॥४५७॥
अस्तु मिथ्योत्तरं जातिरकलंकोक्तलक्षणा। साधनाभासवादे च नयस्यासम्भवाद् वरे॥४५८॥

युक्तं तावदिह यदनंता जातय इति वचनं तथेष्टत्वादसदुत्तराणामानंत्यप्रसिद्धेः। संक्षेपतस्तु विशेषतस्तु विशेषेण चतुर्विंशतिरित्ययुक्तं, जात्यंतराणामपि भावात्। तेषामास्वेवांतर्भावाददोष इति चेत् न,

---

सिद्धि के लिए हेत्वाभास को कहने वादी वा प्रतिवादी स्वयं हेत्वाभास के द्वारा निगृहीत हो जाता है। इसलिए जातियों का उत्थान करना उपयुक्त नहीं है॥४५४॥

नैयायिकों ने वीतराग पुरुषों की कथा (संभाषण) को वाद स्वीकार किया है। उस वाद में प्रमाण और तर्क से साधन और उलाहने दिये जाते हैं। जल्प और वितण्डा रूप भाषण में जातियों का प्रयोग किया जाता है। इसलिए परस्पर में जीतने की इच्छा से प्रवर्त्त रहे वादी, प्रतिवादियों के जल्प और वितण्डा नामक शास्त्रार्थ में उक्त जातियों को निग्रह कराने के लिए समर्थ माना है। इस प्रकार योगा (नैयायिक) स्वकीय सिद्धान्त का कथन करते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि उसका यह कथन दुर्घट है अर्थात् अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोष से रहित लक्षण अपने लक्ष्यों में घटित नहीं होता है। इस लक्षण के अनुसार हेत्वाभास का प्रयोग करने में वादी को जातिपने का प्रसंग आता है, क्योंकि, साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा उलाहना देना, जाति का सामान्य लक्षण है। जाति में भी साधर्म्य और वैधर्म्य का प्रसंग उठाया जाता है। इसलिए जाति का लक्षण अतिव्याप्ति दोष से युक्त है॥४५५-४५६॥

भावार्थ - नैयायिकों ने हेत्वाभासों की सोलह मूल पदार्थों में गणना की है तथा निग्रहस्थानों में भी हेत्वाभास का पाठ है। परन्तु जाति का लक्षण करते समय वे मूल स्थान और निग्रह स्थान लक्ष्य नहीं हैं (अलक्ष्य हैं)। इसलिए अलक्ष्य में लक्षण का जाना ही अतिव्याप्ति है।

यदि जाति का दूसरा निर्दोष लक्षण दूषणाभास रूप कथन करेंगे तो हेत्वाभास में पूर्व कथित लक्षण के रहने से अतिव्याप्ति का निवारण हो जाता है, क्योंकि हेत्वाभास तो समीचीन दूषण हैं। वस्तुतः दूषण न होकर दूषण सदृश दिखता है वह दूषणाभास नहीं है। अतः इस लक्षण में अतिव्याप्ति नहीं है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। दूषणाभास को जातित्व कहने पर भी अव्याप्ति दोष आता है। अस्तु, उसका कथन ग्रन्थकार स्वयमेव करेंगे॥४५७॥

अकलंक देव ने "मिथ्या उत्तर देना जाति है" - यह जाति का निर्दोष लक्षण कहा है। क्योंकि स्वपक्ष की सिद्धि के लिए वादी के द्वारा हेत्वाभास का कथन करने पर भी वादी को जयप्राप्ति होना असंभव है॥४५८॥

तथा नैयायिकों ने उपलक्षण मानकर जो अनेक जातियाँ स्वीकार की हैं, उनका यह कथन युक्त (ठीक) है, अनन्त मिथ्या उत्तरों को देने वाली जातियाँ हम (जैनाचार्यों) को भी इष्ट है।

जातिसामान्यलक्षणस्य तत्र दुर्घटत्वात्। साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिरित्येतद्धि सामान्यलक्षणं जातेरुदीरितं यौगैरेतच्च न सुघटं, साधनाभासप्रयोगेपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य जातित्वप्रसंगात्। तथेष्टत्वान्न दोष इत्येके। तथाहि–असाधौ साधने प्रयुक्ते यो जातीनां प्रयोगः सोनभिज्ञतया वा साधनदोषः स्यात्, तद्दोषप्रदर्शनार्थत्वाप्रसंगव्याजेनेति। तदप्ययुक्तं। स्वयमुद्योतकरेण साधनाभासे प्रयुक्ते जातिप्रयोगस्य

क्योंकि असत् उत्तरों का अनन्तपना प्रसिद्ध है। अर्थात् जय प्राप्त न होने पर अनुपयोगी चर्चा करना, गाली देना आदि असमीचीन असत् उत्तर प्रसिद्ध ही हैं। परन्तु नैयायिकों ने संक्षेप से या विशेषतः विशेष रूप से गणना करके चौबीस जातियाँ कही हैं, यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि जात्यन्तर असंख्यात जातियों का भी सद्भाव पाया जाता है।

इन चौबीस जातियों में ही असंख्यात जातियों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए इसमें अतिव्याप्ति आदि कोई दोष नहीं है - ऐसा भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि नैयायिकों के सिद्धान्त में जाति का सामान्य लक्षण घटित नहीं हो रहा है। अतः सामान्य लक्षण के घटित नहीं होने से चौबीस अन्तर्जातियों में असंख्यात अन्तर्जातियों का अन्तर्भाव होना असंभव है।

साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा प्रत्यवस्थान (उलाहना) देना जाति है। नैयायिकों ने यही जाति का सामान्य लक्षण **न्याय सूत्रा** में कहा है। परन्तु यह जाति का लक्षण सुघट (समीचीन) नहीं है (अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव दोष से युक्त है)। तथा हेत्वाभास के प्रयोग भी साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा प्रत्यवस्थान की संभवता होने से हेत्वाभास में भी जातित्व का प्रसंग आयेगा। इसलिए नैयायिकों के द्वारा कथित जाति का सामान्य लक्षण प्रशस्त नहीं है।

कोई प्रतिवादी कहता है कि हेत्वाभास के प्रयोग में भी साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा प्रत्यवस्थापना रूप जातिपना इष्ट होने से कोई दोष नहीं है। क्योंकि असाधु में प्रयुक्त साधन में जो जातियों का (असत् उलाहनों) का प्रयोग है, वह अनभिज्ञ होने से साधन का दोष होता है। अर्थात् असमीचीन हेतु (हेत्वाभास) के प्रयोग करने पर जो जातियों का प्रयोग किया गया है, वह हेतु के दोषों की अनभिज्ञता से किया गया है।

इसलिए जातियों का प्रयोग हेतु का दोष समझा जाता है। अथवा प्रसंग के बहाने से उस हेतु के दोषों का प्रदर्शन करने के लिए जातियों का प्रयोग किया गया है। अर्थात् मूर्खता से वा अपने जीतने के चातुर्य से छल-कपट करके जातियों का प्रयोग करना संभव है? इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना युक्तिरहित है। क्योंकि नैयायिकों के सिद्धान्त को जानने वाले **उद्योतकर** नामक पंडित ने हेत्वाभास का प्रयोग करने के पश्चात् पुनः जाति का प्रयोग करने का निराकरण किया है (निषेध किया) है। अर्थात् वादी के पक्ष का खण्डन करने के लिए विष प्रयोग के समान हेत्वाभास का प्रयोग कर देने पर थप्पड़ मारना, गाली गलोज देने के समान जाति का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं है।

निराकरणात्। जातिवादी हि साधनाभासमेतदिति प्रतिपद्यते वा न वा? यदि प्रतिपद्यते य एवास्य साधनाभासत्वहेतुर्दोषोनेन प्रतिपन्नः स एव वक्तव्यो न जातिः, प्रयोजनाभावात्। प्रसंगव्याजेन दोषप्रदर्शनत्वमिति चायुक्तं, अनर्थसंशयात्। यदि हि परेण प्रयुक्तायां जातौ साधनाभासवादी स्वप्रयुक्तसाधनदोषं पश्यन् सभायामेवं ब्रूयात् मया प्रयुक्ते साधने अयं दोषः स च परेण नोद्भावितः किं तु जातिरुद्भावितेति, तदापि न जातिवादिनो जयः प्रयोजनं स्यात्, उभयोरज्ञानसिद्धेः। नापि साम्यं प्रयोजनं सर्वथा जयस्यासंभवे तस्याभिप्रेतत्वादेकांतपराजयाद्वरं संदेह इति वचनात्। यदा तु साधनाभासवादी स्वसाधनदोषं प्रच्छाद्य परप्रयुक्तां जातिमेवोद्भावयति तदापि न तस्य जयः प्रयोजनं साम्यं वा पराजयस्यैव तथा संभवात्। अथ साधनदोषमनवबुध्यमानो जातिं प्रयुक्ते तदा निःप्रयोजनो जातिप्रयोगः स्यात्। यत्किंचन वदतोपि तूष्णींभवतोपि

अथवा, जाति का प्रयोग करने वाला प्रतिवादी (जातिवादी) वादी के द्वारा प्रयुक्त हेतु को "यह हेत्वाभास है" - ऐसा समझता है या नहीं? समझता है।

यदि प्रतिवादी वादी के द्वारा प्रयुक्त हेतु के हेत्वाभास (दोषों) को जानता है, तब तो इस वादी ने इस दोषरूप हेत्वाभास का प्रयोग किया है - ऐसा ही कहना चाहिए। जाति (मिथ्या उत्तर) का प्रयोग नहीं कहना चाहिए, क्योंकि हेत्वाभास के खण्डन करने में जाति के प्रयोग के प्रयोजन का अभाव है। अर्थात् जाति का प्रयोग करने का कोई प्रयोजन नहीं है। जब हेत्वाभास का खण्डन करने से ही जय प्राप्त हो सकती है तब व्यर्थ में जाति का प्रयोग करने से क्या लाभ है?

"प्रसंग के छल (बहाने से) के द्वारा दोषों का प्रदर्शन कराने के लिए जाति का प्रयोग किया जाता है" - ऐसा भी कहना उचित नहीं है, अयुक्त है। क्योंकि इस प्रकार कथन करने पर अनर्थ होने की शंका है या संभावना है।

क्योंकि यदि दूसरे (प्रतिवादी) के द्वारा प्रयुक्त जाति में हेत्वाभास वादी अपने प्रयुक्त हेतु के दोष को देखता (जानता) हुआ सभा में इस प्रकार कहता है कि - "मेरे द्वारा प्रयुक्त हेतु में यह दोष है।" प्रतिवादी ने उस हेतु के दोषों का उद्भावन तो नहीं किया है। अपितु व्यर्थ में जाति का प्रयोग किया है। ऐसी दशा में अनर्थ होने का संशय है। तथा प्रतिवादी की जय के स्थान में पराजय हो सकती है। इस अवसर पर भी जाति को कहने वाले प्रतिवादी की जीत हो जाना प्रयोजन नहीं है। क्योंकि वादी और प्रतिवादी इन दोनों के अज्ञान की सिद्धि है। अर्थात् वादी को स्वकीय पक्ष की सिद्धि के लिए समीचीन हेतु का ज्ञान नहीं है और प्रतिवादी को दोष के प्रयोग करने का परिज्ञान नहीं है।

जब हेत्वाभासों को कहने वाला वादी, स्वकीय हेतु के दोष को छिपाकर दूसरे के द्वारा प्रयुक्त जाति का ही उत्थापन कर देता है, तब भी उस वादी का जय होना वा दोनों का समान बने रहना सिद्ध नहीं हो पाता है। उस प्रकार प्रयत्न करने पर तो वादी का पराजय होना ही संभवता है।

अथवा - वादी के द्वारा प्रयुक्त हेतु के दोषों को नहीं जानने वाला प्रतिवादी यदि वादी के प्रति जाति (छल) का प्रयोग करता है तो वह जाति का प्रयोग निष्फल होता है। क्योंकि प्रतिभा बुद्धि के धारक विद्वानों

वा साम्यं प्रतिभैर्व्यवस्थापनाद्द्वयोरज्ञानस्य निश्चयात्। एवं तर्हि साधुसाधने प्रयुक्ते यत्परस्य साधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं दूषणाभासरूपं तज्जातेः सामान्यलक्षणमस्तु निरवद्यत्वादिति चेत्, मिथ्योत्तरं जातिरित्येतावदेव जातिलक्षणमकलंकप्रणीतमस्तु किमपरेण। "तत्र मिथ्योत्तरं जातिर्यथानेकांतविद्विषाम्" इति वचनात्॥

तथा सति अव्याप्तिदोषस्यासंभवान्निरवद्यमेतदेवेत्याह–

सांकर्यात् प्रत्यवस्थानं यथानेकांतसाधने। तथा वैयधिकर्येण विरोधेनानवस्थया॥४५९॥
भिन्नाधारतयाभाभ्यां दोषाभ्यां संशयेन च। अप्रतीत्या तथाऽभावेनान्यथा वा यथेच्छया।४६०।
वस्तुतस्तादृशैर्दोषैः साधनाप्रतिघाततः। सिद्धं मिथ्योत्तरत्वं नो निरवद्यं हि लक्षणम्॥४६१॥

के द्वारा जो कुछ भी कहने वाले वा चुप होकर बैठ जाने वाले दोनों के ही समानता की व्यवस्था होने से, दोनों के ही अज्ञान का निश्चय है। अर्थात् दोनों की ही अज्ञानता प्रगट हो रही है। अतः जाति का प्रयोग करना उचित नहीं है।

कोई (नैयायिक) कहता है कि इस प्रकार व्यवस्था होने पर तो वादी के द्वारा समीचीन हेतु का प्रयोग करने पर दूसरे प्रतिवादी का साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा प्रत्यवस्थान उठाना दूषणाभासरूप होते हुए वह जाति का सामान्य लक्षण है क्योंकि दूषणाभास जाति है। जाति का यह लक्षण निर्दोष है। इस प्रकार किसी के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि अकलंकदेव के द्वारा कथित "मिथ्योत्तरं" यह जाति का लक्षण समीचीन है। दूसरों के द्वारा कथित जाति के लक्षण से क्या प्रयोजन है। क्योंकि वह लक्षण निर्दोष नहीं है। अकलंक देव ने कहा भी है कि "मिथ्या उत्तर देना ही जाति है।" जैसा स्याद्वाद सिद्धान्त से द्वेष रखने वाले नैयायिकों ने स्वीकार किया है। इसलिए मिथ्योत्तर देना ही जाति का समीचीन लक्षण है।

अकलंकदेव के सिद्धान्तानुसार "मिथ्योत्तर" जाति के लक्षण में अव्याप्ति दोष की असंभवता होने से यह लक्षण निर्दोष है, इसको कहते हैं -

जिस प्रकार जैन सिद्धान्त के अनुसार अनेकान्त की सिद्धि हो जाने पर प्रतिवादी के द्वारा सांकर्य से प्रत्यवस्थान उठाया जाना तथा व्यतिकरपने से दूषणाभास उठाया जाना जाति है, उसी प्रकार विरोध दोष, अनवस्था दोष, भिन्न अधिकरण दोष, उभय दोष, संशय दोष, अप्रतीति दोष, अभाव दोष अथवा अपनी इच्छानुसार अन्य प्रकार के चक्रक दोष अन्योऽन्याश्रय दोष, आत्माश्रय दोष, व्याघात दोष आदि दोषों का कथन करके प्रतिषेध रूप उपालंभ देना भी जातियाँ हैं। वास्तविक रूप से विचार करने पर प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और आगम प्रमाण के द्वारा अनेक धर्मों के साथ तदात्मक सम्बन्ध रखने वाले वस्तु की सिद्धि हो जाने पर उन सांकर्य आदि दोषों के द्वारा अक्षुण्ण अनेकान्त की सिद्धि का प्रतिघात नहीं होता है। इसलिए हमारे जैन सिद्धान्त में स्वीकृत 'मिथ्योत्तर' ही जाति का लक्षण निर्दोष सिद्ध है॥४५९-४६१॥

भावार्थ - सर्व पदार्थों की एक साथ प्राप्ति होना संकर दोष है। अथवा परस्पर अत्यन्त अभाव समान अधिकरण धर्म में एकत्र समावेश होना संकर दोष है।

न चैवं परलक्षणस्याव्याप्तिदोषाभाव इत्याह;-

परोक्तं पुनरव्याप्तिप्रोक्तेष्वेतेष्वसंभवात्। ततो न निग्रहस्थानं युक्तमेतदिति स्थितम्॥४६२॥

परोक्तं पुनर्जातिसामान्यलक्षणमयुक्तमेव, संकरव्यतिकरविरोधानवस्थावैयधिकरण्योभयदोषसंशयाप्रतीत्यभावादिभिः प्रत्यवस्थानेषु तस्यासंभवात्। ततो न निग्रहस्थानमेतद्युक्तं तात्त्विके वादे, प्रतिज्ञाहान्यादिवच्छलवदसाधनांगदोषोद्भावनवच्चेति॥

तथा च तात्त्विको वादः स्वेष्टसिद्ध्यवसानभाक्। पक्षेयत्तात्वयुक्त्यैव नियमानुपपत्तितः॥४६३॥

परस्पर में एक दूसरे के विषय में गमन करना व्यतिकर दोष है। उत्तरोत्तर धर्म की अपेक्षा विश्रान्ति (विराम) का अभाव होना अनवस्था दोष है।

विधि और निषेध इन दो विरोधी धर्मों का एक साथ रहना विरोध दोष है। इस प्रकार परस्पर विरोधी धर्मों का कथन करके जिन सिद्धान्त के प्रति दूषण देना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में यह दोष प्राप्त नहीं हो सकता। अनेकान्त सिद्धान्त में अस्ति-नास्ति आदि एक वस्तु में रहने का कोई विरोध नहीं है। अतः अनेकान्त में दोष उठाना मिथ्या उत्तर है। इसलिए 'मिथ्योत्तर' ही जाति का लक्षण समीचीन है।

इस प्रकार नैयायिक के द्वारा कथित जाति के लक्षण में अव्याप्ति दोष का अभाव नहीं है। उसी को कहते हैं -

नैयायिकों के द्वारा कथित जाति का लक्षण अव्याप्ति दोष से युक्त है। क्योंकि उपरि उक्त संकर व्यतिकर आदि दोषों में जाति के लक्षण का घटित होना संभव नही है। इसलिए जाति का उत्थापन करके निग्रह स्थान करना युक्त नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वपक्ष सिद्धि और परपक्ष निराकरण से ही दूसरे का निग्रह हो जाना न्यायसंगत है॥४६२॥

नैयायिकों के द्वारा कथित जाति का सामान्य लक्षण युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि संकर, व्यतिकर, विरोध, अनवस्था, वैयधिकरण्य, उभय दोष, संशय, अप्रतिपत्ति, अभाव आदि के द्वारा उत्थापित प्रत्यवस्थानों (उलाहनों) में उस लक्षण का घटना असंभव है। इसलिए तात्त्विक वाद में जाति के द्वारा वादी का निग्रह हुआ, यह मानना उचित नहीं है। जैसे-प्रतिज्ञा हानि, प्रतिज्ञान्तर आदि और असाधनांगवचन, अदोषोद्भावन, छल इनके द्वारा निग्रह करना युक्त नहीं है अर्थात् परपक्ष के निराकरण पूर्वक स्वपक्ष को सिद्ध करना ही सभ्य पुरुषों में दूसरे का निग्रह होना माना है।

उस प्रकार व्यवस्था करने पर तत्त्वों को विषय करने वाला वाद अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए है। संसार में अनेक वादी, प्रतिवादियों के विवाद को प्राप्त पक्ष असंख्य हैं। परन्तु आठ दस आदि की संख्या का नियम नहीं है॥४६३॥

एवं तावत्तात्त्विको वादः स्वाभिप्रेतपक्षसिद्धिपर्यंतभावावस्थितः पक्षेयत्तायाः कर्तुमशक्तेर्नियमानुपपत्तितश्च न सकलपक्षसिद्धिपर्यंतः कस्यचिज्जयो व्यवस्थितः॥

सांप्रतं प्रातिभे वादे निग्रहव्यवस्थां दर्शयति–

यस्तूक्तः प्रातिभो वादः संप्रातिभपरीक्षणः।
निग्रहस्तत्र विज्ञेयः स्वप्रतिज्ञाव्यतिक्रमः॥४६४॥

यथा पद्यं मया वाच्यमाप्रस्तुतविनिश्चयात्।
सालंकारं तथा गद्यमस्खलद्रूपमित्यपि॥४६५॥

पंचावयववाक्यं वा त्रिरूपं वान्यथापि वा।
निर्दोषमिति वा संधास्थलभेदं मयोद्यते॥४६६॥

जिस प्रकार विवादप्राप्त वस्तु की प्राप्ति तक लौकिक वाद रहता है, उसी प्रकार तत्त्व निर्णय सम्बन्धी वाद भी स्वकीय अभीष्ट पक्ष की सिद्धि होने पर्यन्त व्यवस्थित है। इसलिए पक्षों की इयत्ता का निर्णय करना शक्य नहीं है जैसे नियम की अनुपपत्ति है अर्थात् इतने ही पक्ष हैं- ऐसा नियम नहीं हो सकता।

भावार्थ - जैसे शब्द नित्य है, अनित्य है, एक है, अनेक है, आकाश का गुण है, पुद्गल की पर्याय है इत्यादि अनेक पक्ष संभव हैं। इसलिए सकल पक्षसिद्धि पर्यन्त किसी की जय की व्यवस्थिति नहीं है।

इस प्रकार अभिमान प्रयुक्त वाद का प्रकरण समाप्त हुआ।

इस समय प्रतिभा वाद में निग्रह व्यवस्था को दिखाते हैं। नवीन, नवीन उन्मेषशालिनी बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं।

सम्यक् प्रकार से प्रतिभा सम्बन्धी चातुर्य का परीक्षण करने वाला वाद प्रातिभ कहा जाता है। उस प्रतिभागोचर वाद में स्वकीय स्वीकृत प्रतिज्ञा का उल्लंघन करना ही निग्रह है, ऐसा समझना चाहिए॥४६४॥

प्रातिभ शास्त्रार्थ के प्रारंभ के पूर्व यह प्रतिज्ञा कर ली जाती है कि जिस प्रकार का पद्य, इन्द्रवज्रा, बसन्ततिलका आदि छन्द प्रस्ताव प्राप्त अर्थ का विशेष निश्चय होने तक मेरे द्वारा वाच्य (कहने योग्य) है, उसी प्रकार अलंकार सहित छंद तुमको भी कहने होंगे॥४६५॥

जैसा अस्खलित स्वरूप धारावाही रूप से ध्वनि, लक्षणा, व्यंजना, अलंकार आदि से युक्त गद्य को कहूँगा, उसी प्रकार का गद्य तुमको कहना पड़ेगा।

अथवा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन इन पाँच अवयव युक्त वाक्यों को कहूँगा- वैसा ही वाक्य तुम को भी कहना पड़ेगा॥४६६॥

जैसा निर्दोष प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण स्वरूप वाक्य मेरे द्वारा कहा जायेगा, वैसा ही प्रतिज्ञावाक्य स्थलके भेद को लिये हुए निर्दोष वाक्य तुमको कहना पड़ेगा।

यथा संगरहान्यादिनिग्रहस्थानतोप्यसौ।
छलोक्त्या जातिवाच्यत्वात्तथा संधाव्यतिक्रमा ॥४६७॥

यथा द्यूतविशेषादौ स्वप्रतिज्ञाक्षतेर्जयः।
लोके तथैव शास्त्रेषु वादे प्रातिभगोचरे ॥४६८॥

द्विप्रकारस्ततो जल्पस्तत्त्वप्रातिभगोचरात्।
नान्यभेदप्रतिष्ठानं प्रक्रियामात्रघोषणात् ॥४६९॥

सोऽयं जिगीषुबोधाय वादन्यायः सतां मतः।
प्रकर्तव्यो ब्रुवाणेन नयवाक्यैर्यथोदितैः ॥४७०॥

जिस प्रकार प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानों से भी निग्रह माना जाता है, अथवा छलपूर्वक कथन करने से या जाति द्वारा वाच्यता प्राप्त हो जाने से वह निग्रह माना जाता है, उसी प्रकार अपनी की गयी प्रतिज्ञा का व्यतिक्रमण कर देने से भी निग्रह हो जाता है। जिस प्रकार लोक में द्यूतविशेष आदि से अपनी स्वीकृत प्रतिज्ञा की क्षति हो जाने से दूसरे वादी की विजय हो जाती है, उसी प्रकार शास्त्रों में भी प्रतिभा प्राप्त पदार्थों का विषय करने वाले वाद में अपनी प्रतिज्ञा की हानि कर देने से स्वकीय पराजय और दूसरों की विजय हो जाती है ॥४६७-४६८॥

अतः तत्त्व और प्रतिभा में प्राप्त पदार्थों का विषय करने वाला होने से जल्प नामक शास्त्रार्थ दो प्रकार का है। भिन्न-भिन्न प्रकारों से केवल प्रक्रिया की घोषणा कर देने मात्र से अन्य भेदों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती अर्थात् तात्त्विक और प्रातिभ यह दो प्रकार का जल्प ही यथार्थ है ॥४६९॥

श्री विद्यानन्द आचार्य प्रारम्भ किये गये **तत्त्वार्थाधिगम प्रकरण** का उपसंहार करते हैं कि (वह) यह उक्त प्रकार का कहा गया न्यायपूर्वक वाद तो जीतने की इच्छा रखने वाले विद्वानों के प्रबोध के लिए सज्जन पुरुषों के द्वारा मान्य है। तथा सर्वज्ञ की आम्नाय अनुसार यथायोग्य पूर्व में कहे गए नयप्रतिपादक वाक्यों द्वारा कथन करने वाले विद्वानों के द्वारा जल्प स्वरूप शास्त्रार्थ करना चाहिए ॥४७०॥

एवं प्रपंचेन प्रथमाध्यायं व्याख्याय संगृह्णन्नाह–

समुद्दिष्टो मार्गस्त्रिवपुरभवत्वस्य नियमा-
द्विनिर्दिष्टा दृष्टिर्निखिलविधिना ज्ञानममलम्।
प्रमाणं संक्षेपाद्विविधनयसंपच्च मुनिना
सुगृह्याद्येऽध्यायेऽधिगमनपथः स्वान्यविषयः ॥४७१॥

इति प्रथमाध्यायस्य पंचममाह्निकं समाप्तम् ॥५॥

इति **श्रीविद्यानंद**–आचार्यविरचिते **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारे**
प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥१॥

इस प्रकार विस्तारपूर्वक प्रथम अध्याय का व्याख्यान करके **श्री विद्यानन्द आचार्य संक्षेप से प्रथम अध्याय के संगृहीत अर्थ को कहते हैं -**

उमास्वामी आचार्य देव ने इस प्रथम अध्याय में नियम से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन स्वरूप शरीर वाले को अभव (मोक्ष) का मार्ग कहा अर्थात् सर्वप्रथम मोक्षमार्ग का उपदेश दिया। उसके बाद सम्पूर्ण विधि से सम्यग्दर्शन का कथन किया। अर्थात् सम्यग्दर्शन का लक्षण और उसकी उत्पत्ति के कारणों का निरूपण किया।

तदनन्तर संक्षेप से निर्मल ज्ञान का तथा ज्ञान ही प्रमाण है, अतः प्रमाण का वर्णन किया। उसके अनन्तर संक्षेप से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद रूप दो प्रकार के नय की सम्पत्ति रूप सात नयों का विशेष रूप से कथन किया है। इस प्रकार प्रथम अध्याय में रत्नत्रय और प्रमाण एवं नयों को ग्रहण करके संक्षेप से कथन किया है। जगत् में समीचीन ज्ञप्ति कराने का मार्ग स्वयं को और अन्य को विषय करने वाला प्रमाण ज्ञान ही है ॥४७१॥

इस प्रकार इस श्लोक में विद्यानन्द आचार्य ने अन्तिम उपसंहार करते हुए प्रथम अध्याय के सम्पूर्ण विषय का कथन किया है।

इस प्रकार प्रथम अध्याय का पाँचवाँ आह्निक पूर्ण हुआ।

इस प्रकार सम्पूर्ण दर्शनशास्त्रों की ज्ञप्ति को धारने वाले श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा विशेष रूप से विरचित **तत्त्वार्थ श्लोक वार्त्तिक अलंकार में प्रथम अध्याय का विवरण पूर्ण हुआ ॥१॥**

श्री जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों में अनुरक्त चित्त वाली, **श्री वीर सागर आचार्य** के द्वारा दीक्षित, **इन्दुमती आर्यिका की शिष्या सुपार्श्वमती आर्यिका** ने इस श्लोकवार्त्तिक का हिन्दी अनुवाद किया।

♦ ♦ ♦

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारांतर्गत श्लोकसूची

- चतुर्थ खंड -

श्लोक	पृष्ठ सं.
(अ)	
अक्रमं करणातीतं	४३
अत्र यद्यक्षविज्ञानं	४३
अत्र प्रचक्ष्महे ज्ञान-	४४
अत्रोत्पादव्ययध्रौव्य	६८
अत्रान्ये प्राहुरिष्टं नः	२०३
अथाद्यज्ञानयोरर्थ-	१९
अथ ज्ञानानि पंचानि	६१
अथानित्येन नित्येन	३०१
अर्थापत्तिपरिच्छेद्यं	८१
अर्थपर्याययोस्तावत्	१३६
अर्थव्यंजनपर्यायौ	१३७
अर्थादापद्यमानस्य	२४३
अनिवर्तितकायादि	१२
अनेकांतात्मकं वस्तु	२७
अनयोः कारणं तस्मात्	४०
अनुमानांतराद्धेतु	८०
अनुस्यूतमनीषादि	८२
अन्योन्यशक्तिनिर्घाता	२०४
अनैकांतिकतैवैवं	२४९
अनित्येन घटेनास्य	३१६
अनित्यः शब्द इत्युक्ते	३२०
अनित्यत्वप्रतिज्ञाने	३२०
अनैकांतिकता हेतोः	३२२
अप्राप्य साधयेत्साध्यं	२८७
अभावस्य विपर्यासा	३१२
अभिन्नं व्यक्तिभेदेभ्यः	१४०
अमुष्यानंतभागेषु	३४
अवस्थितोऽवधिः शुद्धेः	१०
अविशेषस्तयोः सद्भिः	६८
अविशेषोदिते हेतौ	२२६
अव्याख्याने तु तस्यास्तु	२३१
अविशेषः प्रसंगः स्यात्	३०६
असंख्यातैः क्षणैः पद्म	५७
असाधनांगवचनं	१९७
असाधनांगवचनं	२०७
असमर्थे तु तन्न स्यात्	२२८
अस्तु मिथ्योत्तरं जातिः	३२३
अक्षज्ञानं बहिर्वस्तु	२७
अज्ञातं च किलाज्ञानं	२४७
(आ)	
आचतुर्भ्य इति व्याप्त	५१
आत्मप्रसत्तिरत्रोक्ता	१५
आत्मद्रव्यं ज्ञ एवेष्टः	३८
आढ्यो वै देवदत्तोयं	२५७
(इ)	
इत्ययुक्तं विशेषस्य	१६
इत्येतच्च व्यवच्छिन्नं	३९
इति मोहाभिभूतानां	४०
इति साध्यमनिच्छंतं	४४
इति व्याचक्षते ये तु	५३
इत्याश्रयोपयोगायाः	५९
इत्यचोद्यं दृशस्तत्र	५९
इत्यत्र ज्ञापकं हेतुं	६७
इति केचित्तदयुक्तं	८५
इति प्रमाणात्म- विबोधसंविधौ	११९
इत्यसद्बहिरर्थेषु	१३४
इंद्रः पुरन्दरः शक्रः	१५५
इत्याभिमानिकः प्रोक्तः	१९३
इत्ययुक्तं द्वयोरेक-	१९८
इत्येतद्दुर्विदग्धत्वे	२०४
इत्येतच्च न युक्तं स्यात्	२१०

श्लोक	पृष्ठ सं.
इति साधर्म्यवैधर्म्य-	२७९
इत्यप्राप्त्यावबोद्धव्यं	२८७
इत्यहेतुसमत्वेन	३०३
इत्येष हि न युक्तेत्र	३१०
इत्यनित्येन या नाम	३१६
(उ)	
उक्तं दूषयतावश्यं	२४५
उत्पादव्ययवादश्च	७१
उत्तराप्रतिपत्तिर्या	२४७
उत्तराप्रतिपत्तिं हि	२४८
उत्पन्नस्यैव शब्दस्य	२९५
उदाहरणसामर्थ्यात्	२७०
उदाहरणवैधर्म्यात्	२७०
उपेक्षणीयतत्त्वस्य	३९
उपेक्ष्यं तु पुनः सर्वं	४०
(ऋ)	
ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि	१४४
(ए)	
एकत्रात्मनि विज्ञानं	४९
एकत्वेन विशेषाणां	१३९
एकतः कारयेत्सभ्यान्	१९१
एक एव महान् नित्यः	२२५
एतयोर्मतिशब्देन	१२

श्लोक	पृष्ठ सं.
एतेष्वसर्वपर्याये-	२२
एतस्यानंतभागे स्यात्	३४
एतेन्योन्यमपेक्षायां	१५८
एतेनापि निगृह्येत	२५९
एवं मत्यादिबोधानां	१९
एवं व्याख्यातनिःशेषः	८९
एवं हि प्रत्यवस्थानं	२८८
एवं भेदेन निर्दिष्टा	३२२
एहि मन्ये रथेनेति	१५०
(क)	
कश्चिद्व्यंजनपर्यायौ	१३६
कल्पनारोपितद्रव्य-	१४२
कल्पनार्थांतरस्योक्ता	२६६
करोति क्रियते पुष्यः	१४९
कस्यचित्तत्वसंसिद्धिः	२०७
कस्यचिद्वचनं नेष्ट-	२४५
कश्चिदावरणादीनां	३१४
कानिचिद्वा तथा पुंसो	६१
कारणत्रयपूर्वत्वात्	८४
कालात्ययापदिष्टोपि	८६
कामी यत्रैव यः कश्चित्	९३
कार्यस्य सिद्धौ जातायां	९३
कार्यकारणता चेति	१४५

श्लोक	पृष्ठ सं.
कालादिभेदतोर्थस्य	१४९
कालाद्यन्यतमस्यैव	१५३
कालादिभेदतोप्यर्थ	१६०
कामं घटोपि नित्योस्तु	२०८
कारणाभावतः पूर्वं	२९५
कार्येषु कुंभकारस्य	३०४
कारणस्योपपत्तेः स्यात्	३०९
कारणं यद्यनित्यत्वे	३०९
कारणान्तरतोप्यत्र	३११
किन्न क्षीणावृतिः सूक्ष्मान्	४७
किंचित्तदेव युज्येत	२८३
क्रियाभेदेपि चाभिन्न	१६०
क्रियावानेव लोष्टादिः	२७९
क्रियाहेतुगुणासंगी	२८०
क्रियाहेतुगुणोपेतं	२८३
क्रियाहेतुगुणोपेतः	२८८
क्रियाहेतुगुणोपेतं	२८९
कुतोवधेर्विशेषः स्यात्	१८
कुमारनंदिनश्चाहुः	१९०
कुतश्चिदाकुलीभावात्	२११
कृतकत्वादिना साम्यं	३१६
केवलं सकलज्ञेय	३८
केनाप्युक्ते यथैवं स	२६२

श्लोक	पृष्ठ सं.
क्वचिदेति तथात्येति	२६२
केनानैकांतिको हेतु:	२६३
कैश्चिन्मन्येत तज्ज्ञानं	९०
क्रमजन्म क्वचिद्दृष्ट्वा	५७
क्व मन:पर्ययस्यार्थे	३४
क्वचित्साध्यविशेषं हि	१९५
क्वचित्किंचिदपि न्यस्य	२२८
क्वचिदेकस्य धर्मस्य	३०६
क्वैवं पराजय: सिध्येत्	२५९
(ख)	
ख्याप्यतेऽ प्रतिभान्यस्य	२४५
ख्यापनीयो मतो वर्ण्य-	२८२
(ग)	
गम्यमाना प्रतिज्ञान-	२१२
गुणहेतु: स केषां स्यात्	५
गुण: पर्याय एवात्र	१२७
गृहीतग्रहणात्तस्य	८७
गोदर्शनोपयोगेन	५९
गोचरीकुरुते शुद्ध-	१३८
गोत्वादिना स्वसिद्धेन	२२०
गौणं शब्दार्थमाश्रित्य	२६५
ग्रावृणो घनस्य पात: स्यात्	३०५
(घ)	
घटोऽ सर्वगतो यद्वत्	२१३
(च)	
चशब्दात्संग्रहात्तस्य	५४
चित्राद्वैतप्रवादश्च	७०
(ज)	
जयेतरव्यवस्थायां	१९०
जानतोपि सभाभीते:	२०४
जिगीषद्भ्यां विना तावत्	१७६
जिगीषाविरहात्तस्य	१७९
जिज्ञासितविशेषोत्र	१९४
जिज्ञापयिषितात्मैह	१९५
जैनस्य सर्वथैकांत	७९
(त)	
तच्च सर्वार्थविज्ञानं	४६
तच्चेन्महेश्वरस्यापि	१७७
ततोऽनावरणं स्पष्टं	४६
तत: सातिशया दृष्टा:	४७
तत: समन्ततश्चक्षु-	४८
तत: सर्वप्रमाणानां	८९
तत्क्रियापरिणामोर्थ	१५६
ततो वादो जिगीषायां	१७९
ततोऽनेनैव मार्गेण	२१५
ततो वाक्यार्थनिर्णीति:	२३४
ततोऽर्थानिश्चयो येन	२३५
ततो नित्योप्यसावस्तु	३०९
तेषामेवेति निर्णीते:	७
ततश्चावरणादीनां	३१४
ततो सिद्धिर्यथा पक्षे	३१७
ततो नानित्यता शब्दे	३२०
तत्र त्रिधापि मिथ्यात्वं	६३
तत्र स्वरूपतोऽसिद्धो	७८
तत्र कात्स्न्र्येन निर्णीत:	८४
तत्रापि केवलज्ञानं	८९
तत्र संकल्पमात्रस्य	१३४
तत्र पर्यायगस्त्रेधा	१३५
तत्रर्जुसूत्रपर्यंता	१५८
तत्रेह तात्त्विके वादे	१९४
तत्रेदं चिंत्यते तावत्	२०६
तत्रापि साधने शक्ते-	२२८
तत्राद्यमेव मन्यंते	२४२
तत्राभ्युपेत्य शब्दादि	२५२
तत्राविशेषदिष्टेर्थे	२५६
तत्र स्वयमभिप्रेतं	२५९
तत्र ह्यप्रतिभाज्ञान-	२७२

श्लोक	पृष्ठ सं.
तत्रैव प्रत्यवस्थानं	२७७
तत्रैव साधने प्रोक्ते	२९८
तत्रानित्येन साधर्म्यात्	३०१
तत्रानित्येप्ययं दोषः	३२०
तत्रोत्तरमिदं शब्दः	३२१
तत्रेदं दुर्घटं तावत्	३२३
तत्त्वश्रद्धान संज्ञान-	४०
तत्त्वार्थाधिगमस्तावत्	१७५
तत्त्वार्थनिश्चये हेतोः	२०२
तत्त्वापर्यवसानायां	२३९
तत्त्वावधारणे चैतत्	३०२
तथा चारित्रमोहस्य	५
तथा तत्रोपयुक्तस्य	५८
तथात्मनोपि मिथ्यात्व	६६
तथानध्यवसायोपि	७६
तथैकत्वेपि सादृश्य	७७
तथा द्रव्यगुणादीनां	१३०
तथैवावांतरान् भेदान्	१४०
तथा कालादि नानात्वं	१५३
तथैकांगोपि वादः स्यात्	१७८
तथानुष्णोग्निरित्यादिः	१९५
तथा चैकस्य युगपत्	२०५
तथा दृष्टांतहानिः स्यात्	२०८
तथा सति विरोधोयं	२१८
तथान्यस्यात्र तेनैव	२२२
तथा निदर्शनादौ च	२२६
तथोत्तरा प्रतीतिः स्यात्	२४९
तथैव शून्यमास्थाय	२५२
तथैवास्पर्शवत्वादि	२६२
तथोदाहृतिवैधर्म्यात्	२७१
तथा साध्यप्रसिध्यर्थं	२८९
तथा प्रयत्नजत्वेन	२९९
तथा च तात्विको वादः	३२७
तदसत् सर्वशून्यत्वा-	२२
तदसद्वीतरागाणां	३९
तदवश्यं परिज्ञेयं	४१
तदंशौ द्रव्यपर्याय-	१२६
तद्भेदैकांतवादस्तु	१३७
तदा तत्र भवेद्व्यर्थः	१७६
तदान्योपि प्रवक्तैवं	१७७
तदाभावात्स्वयं वक्तुः	१७९
तदपेक्षा च तत्रास्ति	१७९
तदा तत्समुदायस्य	१९६
तद्विशेषोपि सोन्येन	१९६
तदा वास्तवपक्षः स्यात्	१९८
तदेकस्य परेणेह	२०५
तदसर्वगतत्वेन	२१४
तदा साध्याविनाभावि	२२२
तदेवमेव संभाव्यं	२२६
तदानैकांतिकत्वादि	२२६
तदप्रत्यायि शब्दस्य	२४३
तदेव स्यात्तदा तस्य	२४५
तदेतन्न छलं युक्तं	२६२
तदेतस्मिन् प्रयुक्ते स्यात्	२६९
तदसंबंधमेवास्य	३१४
तद्बुद्धिलक्षणात्पूर्वं	३२१
तन्न श्रेयः परीक्षायां	१५०
तन्निराकृतिसामर्थ्य-	२०५
तन्निमित्तप्रकाराणां	२२५
तन्नभस्येति नित्यत्व-	२६२
तयोरत्यंतभेदोक्तिः	१३६
तयोरन्यतमस्य स्यात्	१७७
तस्यासिद्धत्वविच्छित्तिः	२०२
तस्मात्प्रयुज्यमानस्य	२२३
तत्सर्वथार्थशून्यत्वात्	२२९
तस्मान्नेदं पृथग्युक्तं	२२९
तस्माद्यद्दूष्यते यत्तत्	२४५
तस्करोयं नरत्वादेः	२५०
तत्सामान्याच्छलं प्राहुः	२६२

श्लोक	पृष्ठ सं.
तस्मादनुष्ठेयगतं	३९
तस्य तत्स्मृतय: किन्न	५७
तस्य पर्ययणं यस्मात्तद्वा	१४
तस्येंद्रियमनोहेतु	६३
तस्मात्क्रियाभृदित्येवं	२७४
तस्य साध्यसमा जाति:	२८४
तस्य नित्येन गोत्वादि	३०१
तस्या: साध्याविनाभाव	३०५
तस्मान्न विद्यमानस्य	३१२
तस्य केनचिदर्थेन	३१८
ताभ्यां विशेषमाणत्वं	१५
तादृशेनेति संदेहो	२९९
त्रिविधोऽसावसिद्धादि	७८
त्रिर्नादिनोदितस्यापि	२४४
त्रैकाल्यानुपपत्तेस्तु	३०३
तूष्णींभावोथवा दोष-	२०६
तेनेह प्राच्यविज्ञाने	६
तेष्वेव नियमोऽसर्व	३२
ते विपर्यय एवेति	६२
तेनासाधारणो नान्यो	८३
तेषामनेकदोषस्य	२२२
तेषामेतत्प्रभेदत्वे	२४७

श्लोक	पृष्ठ सं.
(द)	
द्रव्येष्विति पदेनास्य	२१
द्रव्येष्विति बहुत्वस्य	३८
द्रव्ये पर्यायमात्रस्य	७१
द्रव्यपर्यायसामान्य	१२९
द्रव्यत्वं सकलद्रव्य-	१४०
द्रव्यं भिन्नं गुणात्स्वस्मात्	२१६
द्वयोरेवं सदोषत्वं	२४९
दृष्टेष्टबाधनं तस्या-	३७
दृष्टिचारित्रमोहस्य	६१
दृष्टमैंद्रियकं नित्यं	२०८
दृष्टांतस्य परित्यागात्	२०८
दृष्टश्चांते स्थितश्चायं	२०९
दृष्टांतस्य च यो नाम	२१९
दृष्टान्तधर्मं साध्यार्थे	२८०
दृष्टांतेपि च यो धर्म-	३१८
द्वित्वप्रसंगतस्तत्र	१२
द्विप्रकारं जगौ जल्पं	१९४
द्वितीयकल्पनायां तु	२०६
द्वितीयकल्पनायां तु	२२९
द्विप्रकारस्ततो जल्प:	३२९
दाडिमानि दशेत्यादि	२३१
दूषणांतरमुद्भाव्यं	२००

श्लोक	पृष्ठ सं.
दूषणाभासता त्वत्र	२८५
द्रुतोच्चारादितस्त्वेतौ	२३१
द्वेषो हानमुपादानं	४०
द्वेधा मतिश्रुते स्यातां	५०
दोषानुद्भावने तु स्यात्	२०४
दोषानुद्भावनाख्यानात्	२०४
दोषानुद्भावनादेकं	२०४
दोषहेतुमभिगम्य	२५०
(ध)	
धर्मादन्यत्परिज्ञानं	४१
धर्माध्यारोपनिर्देशे	२६५
धर्मिणीति स्वयं साध्या-	८६
धर्मिणापि विनाभावात्	१९६
(न)	
न मतिज्ञानतापत्ति:	१४
ननूत्तरत्र तद्भेद-	१६
न चैवं संभवेदिष्ट	२४
न साध्यसाधनत्वादि	२६
नयेन व्यभिचारश्चेत्	२८
न सिद्धसाध्यतैवं स्यात्	४४
नन्वश्वकल्पनाकाले	५९
न चेदं परिणामित्व-	६७
न निर्विकल्पकाध्यक्षात्	८०

श्लोक	पृष्ठ सं.
नयो नयौ नयाश्चेति	१२५
नयानां लक्षणं लक्ष्यं	१२६
नन्वयं भाविनीं संज्ञां	१३४
नर्जुसूत्रादिषु प्रोक्त-	१३५
नवधा नैगमस्यैवं	१३९
नर्जुसूत्रप्रभूतार्थो	१६०
नयार्थेषु प्रमाणस्य	१७४
न धर्मी केवलः साध्यो	१९६
न प्रतिज्ञांतरं तस्य	२१४
निग्रहस्थानसंख्यान-	२१९
न प्रतिज्ञाविरोधेंत-	२२०
ननु चाज्ञानमात्रेपि	२४९
नवकंबलशब्देहि	२५७
न चेदं वाक्छलं युक्तं	२६६
न सर्वस्याविशेषः स्यात्	३०७
नामायुरुदयापेक्षो	१
नावधिज्ञानवृत्कर्म	३
नाशेषपर्यायाक्रांत	३०
नाश्रयस्यान्यथाभाव	६६
नामादयोपि चत्वारः	१३०
नात्रादिकल्पना युक्ता	२०६
नात्रेदं युज्यते पूर्व-	२१४
नाश्रयाश्रयिभावोपि	३२०
निर्वर्तित शरीरादि	१२
निःश्रेयसं परं तावत्	४०
नियमेन तयोः सम्यक्	६१
नियोगो भावनैकांतात्	९०
नित्योर्थो निर्मूर्त्तत्वादिति	८५
निर्देश्याधिगमोपायं	१२१
निराकृत विशेषस्तु	१४०
निराकरोति य द्रव्यं	१४४
निगमस्य परित्यागः	२०८
निदर्शनादिबाधा च	२१९
निराकृतौ परेणास्य	२२०
निर्दोष साधनोक्तौ तु	२४८
निर्वक्तव्यास्तथाशेषा	२७३
निषेधस्य तथोक्तस्य	३१७
निग्रहाय प्रकल्प्यंते	३२३
नैगमाप्रातिकूल्येन	१६१
नैगमव्यवहाराभ्यां	१६१
नैरर्थक्यं हि वर्णानां	२३२
नैवमात्मा ततो नायं	२७९
नैवोपलब्ध्यभावेन	३१४
नैताभिर्निग्रहो वादे	३२२
नोपयोगौ सह स्याताम्	५२

श्लोक	पृष्ठ सं.
(प)	
परतोऽयमपेक्षस्या-	१४
पर्यायमात्रगे नैते	२२
परमावधिनिर्णीते	३४
पर्यायेष्विति निर्देशात्	३९
पंचभिर्व्यवधानं तु	५७
पंचषैस्समयैस्तेषां	५८
पररूप्रादितोऽशेषे	७४
पक्षत्रितयहानिस्तु	८४
परापरेण कालेन	८९
परस्पराविनाभूतं	९२
पर्यायशब्दभेदेन	१५४
परार्थाधिगमस्तत्र-	१७५
पक्षसिध्यविनाभावे	१९९
पंचावयवलिंगस्य	२००
पक्षसिद्धिविहीनत्वात्	२०५
पराजयप्रतिष्ठान	२०५
पक्षत्यागात् प्रतिज्ञायाः	२०८
परेण साधिते स्वार्थे	२१२
पक्षस्य प्रतिषेधे हि	२२६
परिषद्प्रतिवादिभ्यां	२३०
पत्रवाक्यं स्वयंवादि	२३१
पदानां क्रमनियमं	२३४

श्लोक	पृष्ठ सं.
पक्षाच्चेत् किं नु तत्साध्यं	३०३
पक्षस्य हि निषेध्यस्य	३१७
परोक्तं पुनरव्याप्तं	३२७
पंचावयववाक्यं वा	३२८
प्रत्ययस्यांतरस्यातः	७
प्रत्यक्षस्यावधेः केषु	३२
प्रत्यक्षादेः प्रमाणत्वे	८०
प्रकृष्यमाणता त्वक्ष-	३७
प्रतिपत्तिरभिप्राय-	६८
प्रत्यक्षं तु फलज्ञानं	८१
प्रधानपरिणामत्वात्	८१
प्रतिज्ञार्थैकदेशस्तु	८१
प्रमेयत्वादिरेतेन	८३
प्रमाणबाधनं नाम	८७
प्रयोजनविशेषस्य	८७
प्रमाणसंप्लवस्त्वेवं	८८
प्रमाणसंप्लवे चैवं	८८
प्रत्ययार्थो नियोगश्च	९१
प्रमाणं किं नियोगः स्यात्	९४
प्रमाणगोचरार्थांशा	१२९
प्रमाणात्मक एवायं	१३४
प्रत्येया प्रतिपर्यायाः	१६२
प्रवक्त्रा ज्ञाप्यमानस्य	१७६

श्लोक	पृष्ठ सं.
प्रभु सामर्थ्यतो वापि	१९०
प्रतिवादी च तस्यैव	१९५
प्रतिज्ञातोर्थसिद्धौ स्यात्	२०२
प्रतिदृष्टांतधर्मस्य	२०७
प्रतिज्ञाहानिरित्येव	२०७
प्रतिज्ञाहानिसूत्रस्य	२०९
प्रतिदृष्टांत एवेति	२१०
प्रतिषेधे प्रतिज्ञातः	२१२
प्रतिज्ञातार्थसिध्यर्थं	२१४
प्रतिज्ञाहानितश्चास्य	२१५
प्रतिदृष्टांतधर्मस्य	२१५
प्रतिज्ञाया विरोधो यो	२१५
प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञात्वे	२१६
प्रतिज्ञा च स्वयं यत्र	२१७
प्रतिज्ञादिषु तस्यापि	२१९
प्रतिज्ञानेन दृष्टांते	२१९
प्रत्यक्षादिप्रमाणेन	२१९
प्रमाणेनाप्रसिद्धौ तु	२२१
प्रतिज्ञावचनेनैव	२२२
प्रतिपक्षाविनाभावि	२२२
प्रतिज्ञार्थापनयनं	२२४
प्रतिज्ञाहानिरेवैतैः	२२५
प्रतिसंबंधशून्यानाम्	२२८

श्लोक	पृष्ठ सं.
प्राग्विकल्पे कथं युक्तं	२३०
प्रतिसंबंधहीनानां	२३१
पुनर्वचनमर्थस्य	२४२
प्रत्युच्चारासमर्थत्वं	२४५
प्रधानं चैवमाश्रित्य	२५२
प्रत्यवस्थातुरन्याय	२५७
प्रसंगः प्रत्यवस्थानं	२७०
प्रयुक्ते स्थापना हेतौ	२७२
प्रतिदृष्टांतरूपेण	२८९
प्रयत्नानंतरोत्थेपि	२९८
प्रक्रियांतनिवृत्या च	३०२
प्रतिपक्षोपपत्तौ हि	३०२
प्रयत्नानंतरोत्थत्वात्	३०४
प्रयत्नानंतरीयत्व-	३०७
प्रयत्नानंतरीयत्वे	३०७
प्रतिज्ञानादियोगस्तु	३१७
प्रयत्नानेककार्यत्व	३२१
प्रयत्नानंतरं तावत्	३२१
पारंपर्येण तु त्यागो	२०८
प्राच्यमेकं मतिज्ञानं	४९
प्रादुर्भवत्करोत्याशु	६०
प्रादुर्भूतिक्षणादूर्ध्वं	८९
प्राधान्येनोभयात्मानं	१३४

श्लोक	पृष्ठ सं.
प्राश्निकत्वप्रवक्तृत्व	१७८
प्राच्ये पक्षे ऽकलंकोक्तिः	२०३
प्राज्ञोपि विभ्रमाद्ब्रूयात्	२१४
प्रागुपन्यस्य निःशेषं	२४४
प्राप्त्या यत्प्रत्यवस्थानं	२८६
प्राप्तयोः कथमेकस्य	२८६
प्राप्तस्यापि हि दंडादेः	२८७
प्रागुत्पत्तेरनुत्पन्ने	२९५
पुद्गलेषु तथाकाशा-	३३
पूर्वसूत्रोदितश्चात्र	२०
पूर्वत्र नोत्तरा संख्या	१७३
पूर्वः पूर्वो नयो भूम	१५९
पूर्वं वक्ता बुधः पश्चात्	१७८
पूर्वं वा साधनात्साध्यं	३०३
प्रेरकत्वं तु यत्तस्य	९१
प्रेरणैव नियोगोत्र	९१
प्रेर्यते पुरुषो नैव	९२
प्रेरणा विषयः कार्यं	९२
प्रेरणा हि विना कार्यं	९२
प्रोक्तः स प्रतिपातो वा	१०
(ब)	
बह्वाद्यवग्रहादीनां	५५
बहुष्वर्थेषु तत्रैको	५५
बहिरंतश्च वस्तूनां	७१
बह्वाद्यवग्रहाद्यष्ट	७७
ब्रह्मात्माद्वैतमप्येवं	२५२
बाह्यौ हि प्रत्ययावत्र	३
बोध्यो द्रव्येषु सर्वेषु	३८
बोध्योऽनैकांतिको हेतु	८३
(भ)	
भवप्रत्यय इत्यादि	१
भवप्रत्यय एवेति	२
भवं प्रतीत्य यो जातो	११९
भवान्विता न पंचैते	१३०
भाज्यानि प्रविभागेन	५१
भावशब्दसमूहं हि	२१८
भिन्ने तु सुखजीवित्वे	१३७
भिदाभिदाभिरत्यंतं	१३९
भिन्नाधारतयोभाभ्यां	३२६
भूयः सूक्ष्मार्थपर्याय	१८
(म)	
मनःपर्ययविज्ञान	११
मनोलिंगजतापत्तेः	१४
मनमर्ययोरुक्त	१५
मतिश्रुते समाख्याते	२०
मत्यादिप्रत्ययो नैव	२२
मतिपूर्वं श्रुतं यद्वत्	३७
मनःपर्ययविज्ञानं	३७
मत्यादयः समाख्याताः	६१
मतिश्रुतावधिज्ञान	६२
मत्यादयोत्र वर्तंते	६९
मत्यज्ञानं विभंगश्च	७०
ममेदं कार्यमित्येवं	९१
ममेदं भोग्यमित्येवं	९३
ममेदं कार्यमित्येवं	९३
मर्यादातिक्रमाभाव	१७८
मर्यादातिक्रमे लोके	१८९
मंत्रशक्त्या प्रभुस्तावत्	१९०
मंचा क्रोशंति गायंति	२६५
मानेनैकेन सिद्धेर्थे	८८
मिथ्यादृग्बोधचारित्र	४१
मिथ्याज्ञानविशेषः स्यात्	६२
मिथ्यात्वं त्रिषु बोधेषु	६४
मिथ्यात्वोदयसद्भावे	६६
मुख्यरूपतया शून्य	२६९
(य)	
यदात्वन्यौ पदार्थौ स्तः	१२
यदा परमनः प्राप्तः	१४
यथाचेंद्रियजज्ञानं	३७

श्लोक	पृष्ठ सं.
यदोपपुज्यते ह्यात्मा	५८
यदा मत्यादयः पुंसः	६५
यथा सरजसालांबू	६६
यतो विपर्ययो न स्यात्	६७
यस्साध्यविपरीतार्थो	८२
यथा हि बुद्धिमत्पूर्वं	८२
यतः साध्ये शरीरे स्वे	८३
यत्रार्थे साधयेदेको	८५
यः स्वपक्षविपक्षान्य	८६
यद्वा नैकंगमो यत्र	१३४
यथा प्रतिक्षणं ध्वंसि	१३६
यस्तु पर्यायवद्द्रव्यं	१३७
यत्र प्रवर्तते स्वार्थे	१७३
यथा चैकः प्रवक्ता च	१७७
यंथा वाद्यादयो लोके	१७९
यथोपात्तापरिज्ञानं	२०३
यदैव वादिनो पक्ष	२०६
यस्त्वाहैंद्रियकत्वस्य	२११
यथात्र प्रकृते हेतौ	२२६
यदि हेत्वंतरेणैव	२२६
यथा चोद्भाविते दोषे	२२७
यदा मंदमती तावत्	२३०
यदा तु तौ महाप्राज्ञौ	२३०
यथापशब्दतः शब्द	२३४
यथा च संस्कृताच्छब्दात्	२३५
यथा हि सति संकल्प	१५९
यथा चार्थाप्रतीति स्यात्	२३९
यन्नांतरीयकासिद्धिः	२४४
यः पुनर्निग्रहप्राप्ते	२४७
यदात्वनिग्रहस्थाने	२५०
यथैकलक्षणो हेतुः	२५४
यस्मादाद्यत्वसंसिद्धिः	२५७
यत्र पक्षे विवादेन	२५९
यत्र संभवतोर्थस्य	२६१
यस्येष्टं प्रकृते वाक्ये	२६२
यथा विपर्ययज्ञान	२७१
यत्राविशिष्यमाणेन	२७३
यथा क्रियाभृदात्मायं	२७३
यथा लोष्ठो न चात्मैवं	२७७
यथायं साधयेद्धेतुः	२८६
यथा रूपं दिदृक्षूणां	२८९
यथा पुंसि विनिर्णीते	२९९
यदि प्रयत्नजत्वेन	३०५
यथैवास्पर्शवत्वं खे	३०५
यथा च प्रत्यवस्थानं	३०५
यथा न विद्यमानस्य	३१४
यस्तूक्तः प्रातिभो वादः	३२८
यथा पद्यं मया वाच्यं	३२८
यथा संगरहान्यादि	३२९
यथा द्यूतविशेषादौ	३२९
या वैधर्म्यसमा जातिः	२७८
येऽग्रतोत्र प्रवक्ष्यंते	२
ये प्रमाणादयो भावाः	१३०
येषां प्रयोगयोग्यास्ति	२११
येन हेतुर्हतस्तेन	२१६
योर्थारोपोपपत्या स्यात्	२५६
यो यं क्रियार्थमाचष्टे	१५७
यो ह्यसिद्धतया साध्यं	२५४
योर्थसंभावयन्नर्थः	२५९
योगेन निग्रहः प्राप्यः	२६९
या प्रत्यवस्थितिः सात्र	३०४
(र)	
राजापेक्षणमप्यस्तु	१७७
रागद्वेषविहीनत्वं	१९०
रूपं पुद्गलसामान्य	३२
(ल)	
लघुवृत्तेर्न विच्छेदः	५७
लंघनादिकदृष्टांतः	४८
लिंगागमादिविज्ञानं	४३

श्लोक	पृष्ठ सं.
लिंगात्साधयितुं शक्यो	१९५
लिंगं येनाविनाभावि	१९६
लोकसंवृत्तिसत्यं च	१४५
लोष्ठः स्यात्सक्रियाश्चात्मा	२८४
लौकिकार्थविचारेषु	१९१
लोष्ठः क्रियाश्रयो	२८१
(व)	
वर्द्धमानोवधिः कश्चित्	१०
वक्ष्यमाणत्वतश्चास्य	१९
वक्तृवाक्यानुवदिता	१७८
वस्तुन्येकत्र वर्तेते	१९८
वर्णक्रमस्य निर्देशो	२२८
वर्णक्रमादिशब्दस्य	२२९
वक्तुः प्रलापमात्रे तु	२३१
वक्तुः संभाव्यते तस्मात्	२५७
वर्ण्यावर्ण्यविकल्पैश्च	२७९
वक्तव्यं साधनस्यापि	२८८
वस्तुतस्तादृशैर्दोषैः	३२६
वाद्यसिद्धौ प्रसिद्धौ च	७९
वादिनः स्पर्धया वृद्धिः	१७६
वादिनोर्वादनं वादः	१९०
वादीतरप्रतानेन	२२१
वादेप्युद्भावयन्नैतत्	२४८
वाचो युक्तिप्रकारणाम्	२५०
विशुध्यनुगमात्पुंसो	९
विशुध्यनन्वयादेशो	९
विशुद्धेरनवस्थानात्	१०
विषयेण च निःशेष	१८
विषयेषु निबंधोस्ति	२१
विनेयापेक्षया हेयं	४०
विशेषापेक्षया ह्येषा	६५
विपर्ययो यथा लोके	६९
विरुद्धान्न च भिन्नोऽसौ	८२
विवादाध्यासितं धीमत्	८२
विना सपक्षसत्त्वेन	८४
विश्ववेदीश्वरः सर्व-	८५
विपक्षे बाधके वृत्ति	८७
विशेषणं तु यत्तस्य	९१
विस्तरेणेति सप्तैते	१२४
विद्यते चापरो शुद्ध	१३८
विश्वदृश्वास्य जनिता	१४९
विशेषैरुत्तरैः सर्वैः	१६१
विश्रुतः सकलाभ्यासात्	१७६
विनापि तेन लिंगस्य	१९६
विरुद्धसाधनोद्भावी	२००
विनश्वरस्वभावोयं	२०८
विरुद्धादिप्रयोगस्तु	२१४
विरुद्धसाधनाद्वायं	२१८
विरुद्धोद्भावनं हेतोः	२२३
विभागेनोदितस्यास्य	२५६
विद्याचरणसंपत्ति	२६२
विभुत्वरहितं दृष्टं	२७८
विपर्यासनतो जातिः	२८२
विधाविव निषेधेपि	३२२
वीर्यांतरायविच्छेद	४८
वीतरागाः पुनः स्वार्थान्	८८
वृद्धप्रसिद्धितस्त्वेष	२३५
वृत्याद्यभावसंसिद्धेः	३१४
वैसादृश्यविवर्तस्य	१२९
वैनीयमानवस्त्वंशाः	१७३
वैधर्म्येणोपसंहारे	२७८
वैधर्म्येणैव सा तावत्	२७८
व्यक्तात्मनां हि भेदानां	८४
व्यवसायात्मकं चक्षुः	५८
व्युत्क्रमादर्थनिर्णीति	२३४
व्योम तथा न विज्ञातो	२७४
(श)	
शब्दसंसृष्टविज्ञाना-	५३
शक्त्यर्पणात्तु तद्भावः	५६

श्लोक	पृष्ठ सं.
शष्कुलीभक्षणादौ तु	५६
शब्दाद्विनश्वराद्धेतु-	७९
शब्दादौ चाक्षुषत्वादि	७९
शब्दत्वश्रावणत्वादि	८३
शब्दव्यापाररूपो वा	९४
शब्दब्रह्मेति चान्येषां	१४०
शब्दकालादिभिर्भिन्ना	१५४
शब्दात्पर्यायभेदेन	१६०
शब्दो सर्वगतस्तावत्	२१३
शब्दान्नित्यत्वसिध्यर्थं	२१५
शब्दान्वाख्यानवैयर्थ्यं	२३५
शब्दो विनश्वरो मर्त्य	२९५
शब्दोऽनित्योस्तु तत्रैव	३०५
शब्दान्नित्यत्वसिद्धिश्च	३१०
शब्दस्यावरणादीनि	३१४
शब्दाश्रयमनित्यत्वं	३२०
शाश्वतस्य च शद्वस्य	२९५
शुद्धद्रव्यमशुद्धं च	१३७
शुद्धद्रव्यार्थपर्याय	१३८
शुद्धद्रव्यमभिप्रैति	१४०
श्रुतेनार्थं परिच्छिद्य	२७
श्रुतस्यावस्तुवेदित्वे	२८
शेषा मनुष्यतिर्यंचो	७
शेषा विप्रतिपत्तित्वं	२७२
(ष)	
षड्विकल्पः समस्तानां	८
(स)	
सर्वपर्यायमुक्तानि	३०
सर्वानतींद्रियान् वेत्ति	४१
सर्वस्य सर्वदात्वे तत्	५७
समोपयुक्तता तत्र	५८
संस्कारस्मृतिहेतुर्या	५९
सर्वघातिक्षयेऽत्यंतं	६१
स च सामान्यतो मिथ्या	६२
समुच्चिनोति चस्तेषां	६२
समानोर्थपरिच्छेदः	६७
स चाहार्यो विनिर्दिष्टः	७०
सति स्वरूपतोऽशेषे	७०
सत्यसत्त्वविपर्यासाद्	७५
सति त्रिविप्रकृष्टार्थे	७५
सत्वादिः सर्वथा साध्ये	७९
संदेहविषयः सर्वः	८०
सन्नप्यज्ञायमानोत्र	८०
सत्वादिः क्षणिकत्वादौ	८२
संशीत्यालिंगितांगस्तु	८३
सति ह्यशेषेवेदित्वे	८५
सर्वथैकांतवादे तु	८५
स च सत्प्रतिपक्षोत्र	८६
संवादित्वात्प्रमाणत्वं	८७
सरागप्रतिपत्तृणां	८८
सत्संयमविशेषोत्थो	११९
संक्षेपाद् द्वौ विशेषेण	१२४
संकल्पो निगमस्तत्र	१३४
संग्रहे व्यवहारे वा	१३५
सप्तैते नियतं युक्ता	१३५
संवेदनार्थपर्यायो	१३६
सर्वथा सुखसंवित्त्यो	१३६
सच्चैतन्यं नरीत्येवं	१३६
सद्द्रव्यं सकलं वस्तु	१३७
सत्त्वं सुखार्थपर्यायात्	१३८
समेकीभावसम्यक्त्वे	१३९
संग्रहेण गृहीतानां	१४२
स चानेकप्रकारः स्यात्	१४२
संयोगो विप्रयोगो वा	१४५
समुदायः क्व च प्रेत्य	१४५
सन्मात्रविषयत्वेन	१५९
संग्रहाद्व्यवहारोपि	१५९
संग्रहादेश्च शेषेण	१६१
सर्वे शब्दनयास्तेन	१७३

श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.
सहस्रेष्टशती यद्वत्	१७३	सधर्मत्वविधर्मत्व-	२७१	सा पक्षांतरसिद्धिर्वा	१९२
संक्षेपेण नयास्तावत्	१७४	संस्कारापेक्षणो यद्वत्	२८९	सामर्थ्यादगम्यमानस्य	२०१
सत्यवाग्भिर्विधातव्यः	१७५	सत एव तु शब्दस्य	२९५	सा तत्र वादिनो सम्यक्	२०६
सभ्यैरनुमतं तत्त्व	१७७	संदेहेत्यंतसंदेहः	२९९	साध्यधर्मविरुद्धेन	२०७
सत्यसाधनसामर्थ्यं	१९१	सर्वार्थेष्वविशेषस्य	३०७	सामान्यमैंद्रियं नित्यं	२१०
समर्थसाधनाख्यानं	१९१	सत्वेन च सधर्म्यत्वात्	३१८	सा हेत्वादिपरित्यागात्	२१०
सद्दोषोद्भावनं वापि	१९१	सर्वदा किमनित्यत्व-	३२०	सास्त्येव हि प्रतिज्ञान-	२११
सभ्यप्रत्यायनं तस्य	१९७	सत्त्वाभावादभूत्वास्य	३२१	सामान्येनैंद्रियत्वस्य	२१३
सत्साधनवचः पक्षो	१९८	समुद्दिष्टो मार्गः-	३३०	साधनावयवस्यापि	२२२
सत्ये च साधने प्रोक्ते	२०३	सामानाधिकरण्यं च	१३	साधनावयवोऽनेकः	२२३
सर्वं पृथक्समुदाये	२१८	साध्ये सत्येव सद्भावात्	३७	साधर्म्येणेह दृष्टांते	२७१
सर्वथा भेदिनो नाना-	२१८	सामर्थ्यं चक्षुरादीनां	८२	साधर्म्येणोपसंहारे	२७३
संधाद्यवयवान्न्यायात्	२३४	साध्ये च तदभावे च	८४	साध्यसाधनयोर्व्याप्ते	२७४
सभ्यप्रत्यायनं यावत्	२४३	साध्याभावे प्रवृत्तो हि	८६	साध्यदृष्टांतयोर्धर्म	२७९
सकृद्वादे पुनर्वादो	२४३	साध्याभावे प्रवृत्तेन	८७	साध्यधर्मिणि धर्मस्य	२८१
सर्वेषु हि प्रतिज्ञान	२४७	साध्यस्याभाव एवायं	८७	साध्यधर्मविकल्पं तु	२८३
संभवत्युत्तरं यत्र	२४८	साध्यरूपतया येन	९३	साध्यदृष्टांतयोर्धर्म-	२८५
संक्षेपतोन्यथा क्वायं	२४९	सामान्यादेशतस्तावत्	१२२	साध्यातिदेशमात्रेण	२८५
सत्यमेतदभिप्रेत-	२४९	सामान्यस्य पृथक्त्वेन	१२९	साधकः प्रतिदृष्टांतो	२८९
सत्स्वपक्षप्रसिध्यव	२४९	सामानाधिकरण्यं क्व	१४५	सामान्यघटयोस्तुल्य	२९८
सभां प्राप्तस्य तस्य स्यात्	२५१	साशब्दान्निगमादन्यात्	१६१	साधनादिति नैवासौ	३१०
स्वयं नियतसिद्धांतो	२५१	साभिमानजनारभ्या	१७६	साध्यधर्मनिमित्तस्य	३११
सर्वथा शून्यतावादे	२६९	सामर्थ्यं पुनरीशस्य	१९०	साधनाभप्रयोगेपि	३२३

श्लोक	पृष्ठ सं.
सांकर्यात्प्रत्यवस्थानं	३२६
सिद्धे साध्ये प्रवृत्तोत्र	८७
सिद्धमेकं यतो ब्रह्म	९२
सिद्धं रूपं हि यद्भोग्यं	९३
सिद्धौ जिगीषतोर्वाद	१७९
सिद्धान्तद्वयवेदित्वं	१९०
सिध्यभावः पुनर्दृष्टः	२०५
सिध्यभावस्तु योगीनां	२०६
सिद्धसाधनतस्तेषां	२११
सुखजीवभिदोक्तिस्तु	१३८
सोपयोगं पुनश्चक्षु	५९
सोप्यनैकांतिकान्नान्य-	८६
सोप्यप्रतिभयोक्तः स्यात्	२५०
सोपि नाप्रतिभातोस्ति	२५१
सोप्ययुक्तः स्वपक्षस्य	२५१
सोपलब्धिसमाजातिः	३११
सोऽयं जिगीषुबोधाय	३२९
स्मृतावननुभूतार्थे	७७
स्यात्तेषामवधिर्बाह्य	७
स्याद्विरोध इतीदं च	२२१
स्वपदार्था च वृत्तिः स्यात्	१३
स्वतो न तस्य संवित्तिः	२४
स्वयं संवेद्यमानस्य	२४
स्वशक्तिवशतोऽसर्व	३३
स्वरूपासिद्धता हेतोः	४४
स्वर्णे स्वर्णमिति ज्ञानं	६९
स्वशरीरस्य कर्तात्मा	८२
स्वव्यक्त्यात्मकतैकांत	१४१
स्वप्रज्ञापरिपाकादि	१७६
स्वयं महेश्वरस्सभ्यो	१७७
स्वयं बुद्धः प्रवक्ता स्यात्	१७८
स्वपक्षसिद्धिपर्यंता	१९४
स्वपक्षं साधयन् तत्र	१९७
स्वपक्षसिद्धये यद्वत्	२१५
स्वयं प्रतिभया हि चेत्	२४८
स्वपक्षदोषमुपयन्	२४९
स्वयं प्रवर्त्तमानाश्च	२५२
स्वसाध्यादविनाभाव	२७०
स्वतंत्रयोस्तयाभाव	२०३
स्वज्ञेये परसंताने	३०४
स्वामित्वेनाभिमानो हि	९३
स्वार्थानुमाने वाद्ये च	१९५
स्वार्थिके केधिके सर्वं	२३९
स्वेष्टधर्मविहीनत्वे	८६
स्वेष्टार्थसिद्धेरंगस्य	२००
स्वाभाविकी गतिर्न स्यात्	४८
(ह)	
हंत हेतुविरोधोपि	२१९
हस्तास्फालनमाकंपः	२२६
हसति हसति स्वामिन्	२४२
हातुं योग्यं मुमुक्षूणां	४०
हीयमानोवधिः शुद्धेः	१०
हीनमन्यतमेनापि	२३७
हेयोपादेयतत्त्वस्य	३९
हेत्वाभासबलाज्ज्ञानं	७८
हेत्वाभासस्तु सामान्यात्	७८
हेतोर्यस्याश्रयो न स्यात्	८०
हेत्वादित्यागतोपि स्यात्	२०८
हेतोर्विरुद्धता वा स्यात्	२१६
हेतुः प्रतिज्ञया यत्र	२१८
हेतुस्तत्र प्रसिद्धेन	२१८
हेतावैंद्रियिकत्वे तु	२२१
हेतोरैंद्रियिकत्वस्य	२२५
हेतूदाहरणाभ्यां यत्	२३९
हेत्वाभासाय योगोक्ताः	२५३
हेत्वाभासत्रयं केपि	२५४
हेत्वादिकांगसामर्थ्य	२८४
हेतुर्विशिष्टसाधर्म्यं	३१८

श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.
(क्ष)		क्षायोपशमिकं ज्ञानं	३६	ज्ञानं प्रकर्षमायाति	४३
क्षणमेकं सुखी जीवो	१३८	क्षायोपशमिकं ज्ञानं	५२	ज्ञानस्यावरणं याति	४६
क्षयहेतुरित्याख्यात:	५	क्षेत्रतोवधिरेवात:	१८	ज्ञानानां सहभावाय	५२
क्षयोपशमतो जात:	५	क्षेत्रद्रव्येषु भूयेषु	३७	ज्ञानोद्वयसकृज्जन्म	५८
क्षयोपशममाबिभ्रत्	१४	(ज्ञ)		ज्ञानं ज्ञानांतराध्यक्षं	८०
क्षायोपशम इत्यंत	६	ज्ञानस्यार्थपरिच्छित्तौ	३१		